हिंदी व्याकरण

रचयिता

पं० कामताप्रसाद गुरु, एम० आर० ए० एस०

काशी नागरीप्रचारिणी सभा की आज्ञा से

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

संशोधित संस्करण]   सं० १९८४   [मूल्य ३॥)

भूमिका

यह हिंदी-व्याकरण काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के अनुरोध और उत्तेजन से लिखा गया है। सभा ने लगभग पाँच वर्ष पूर्व हिंदी का एक सर्वांग-पूर्ण व्याकरण लिखवाने का विचार करके इस विषय के दो-तीन ग्रंथ लिखवाये थे, जिनमें बाबू गंगाप्रसाद, एम० ए० और पं० रामकर्ण शर्म्मा के लिखे हुए व्याकरण अधिकांश में उपयोगी निकले। तब सभा ने इन ग्रंथों के आधार पर, अथवा स्वतंत्र रीति से, एक विस्तृत हिंदी-व्याकरण लिखने का गुरु भार मुझे सौंप दिया। इस विषय में पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी और पं० माधवराव सप्रे ने भी सभा से अनुरोध किया था, जिसके लिए मैं आप दोनों महाशयों का कृतज्ञ हूँ। मैंने इस कार्य में किसी विद्वान् को आगे बढ़ते हुए न देखकर अपनी अल्पज्ञता का कुछ भी विचार न किया और सभा का दिया हुआ भार धन्यवाद-पूर्वक तथा कर्त्तव्य-बुद्धि से ग्रहण कर लिया। उस भार को अब मैं, पाँच वर्ष के पश्चात्, इस पुस्तक के रूप में, यह कहकर सभा को लौटाता हूँ कि—

"अर्पित है, गोविंद, तुम्हीं को वस्तु तुम्हारी।"

इस ग्रंथ की रचना में हमने पूर्वोक्त दोनों व्याकरणों से यत्र-तत्र सहायता ली है और हिंदी-व्याकरण के आज तक छपे हुए हिंदी और अँगरेजी ग्रंथों का भी थोड़ा-बहुत उपयोग किया है। इन सब ग्रंथों की सूची पुस्तक के अंत में दी गई है। द्विवेदीजी-लिखित "हिंदी भाषा की उत्पत्ति" और "ब्रिटिश विश्व-कोष" के "हिंदुस्तानी" नामक लेख के आधार पर, इस पुस्तक में, हिंदी की उत्पत्ति लिखी गई है। अरबी-फारसी शब्दों की व्युत्पत्ति के लिए हम अधिकांश में राजा शिवप्रसाद-कृत "हिंदी-व्याकरण" और प्लाट्स-कृत "हिंदुस्तानी ग्रामर"

Published by
K. Mittra,
at The Indian Press, Ltd.,
Allahabad.

Printed by
A. Bose,
The Indian Press, Ltd.,
Benares-Branch.

के ऋणी हैं। काले-कृत "उच्च संस्कृत व्याकरण" से हमने संस्कृत-व्याकरण के कुछ अंश लिये हैं।

सबसे अधिक सहायता हमें दामले-कृत "शास्त्रीय मराठी व्याकरण" से मिली है जिसकी शैली पर, हमने अधिकांश में अपना व्याकरण लिखा है। पूर्वोक्त पुस्तक से हमने हिंदी में घटित होनेवाले व्याकरण-विषयक कई एक वर्गीकरण, विवेचन, नियम और न्याय-सम्मत लक्षण, आवश्यक परिवर्त्तन के साथ, लिये हैं। संस्कृत-व्याकरण के कुछ उदाहरण भी हमने इस पुस्तक से संग्रह किये हैं।

पूर्वोक्त ग्रंथों के अतिरिक्त अँगरेजी, बँगला और गुजराती व्याकरणों से भी कहीं-कहीं सहायता ली गई है।

इन सब पुस्तकों के लेखकों के प्रति हम, नम्रतापूर्वक, अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

हिंदी तथा अन्यान्य भाषाओं के व्याकरणों से उचित सहायता लेने पर भी, इस पुस्तक में जो विचार प्रकट किये गये हैं, और जो सिद्धांत ठहराये गये हैं, वे साहित्यिक हिंदी से ही संबंध रखते हैं और उन सबके लिए हमीं उत्तरदाता हैं। यहाँ यह कह देना अनुचित न होगा कि हिंदी-व्याकरण की छोटी-मोटी कई पुस्तकें उपलब्ध होते हुए भी, हिंदी में, इस समय अपने विषय और ढंग की यही एक व्यापक और (संभवतः) मौलिक पुस्तक है। इसमें हमारा कई ग्रंथों का अध्ययन और कई वर्षों का परिश्रम तथा विषय का अनुराग और स्वार्थ-त्याग सम्मिलित है। इस व्याकरण में अन्यान्य विशेषताओं के साथ-साथ एक बड़ी विशेषता यह है कि नियमों के स्पष्टीकरण के लिए इसमें जो उदाहरण दिये गये हैं वे अधिकतर हिंदी के भिन्न-भिन्न कालों के प्रतिष्ठित और प्रामाणिक लेखकों के ग्रंथों से लिये गये हैं। इस विशेषता के कारण पुस्तक में यथा-संभव, अंध-परंपरा अथवा कृत्रिमता का दोष नहीं आने

पर इन सब बातों पर यथार्थ सम्मति देने के अधिकारी शेषज्ञ ही हैं।

कुछ लोगों का मत है कि हिंदी के "सर्वांग-पूर्ण" व्याकरण में, मूल विषय के साथ-साथ, साहित्य का इतिहास, छंदो-निरूपण, रस, अलंकार, कहावतें, मुहाविरे, आदि विषय रहने चाहिएँ। यद्यपि ये सब विषय भाषा-ज्ञान की पूर्णता के लिए आवश्यक हैं तो भी ये सब स्वतंत्र विषय हैं और व्याकरण से इनका कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं है। किसी भी भाषा का "सर्वांग-पूर्ण" व्याकरण वही है जिसमें उस भाषा के सब शिष्ट रूपों और प्रयोगों का पूर्ण विवेचन किया जाय और उनमें यथा-संभव स्थिरता लाई जाय। हमारे पूर्वजों ने व्याकरण का यही उद्देश्य माना है* और हमने इसी पिछली दृष्टि से इस पुस्तक को सर्वांग-पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया है। यद्यपि यह ग्रंथ पूर्णतया सर्वांग-पूर्ण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इतने व्यापक विषय में विवेचन की कठिनाई और भाषा की अस्थिरता तथा लेखक की भ्रांति और अल्पज्ञता के कारण कई बातों का छूट जाना संभव है, तथापि हमें यह कहने में कुछ भी संकोच नहीं है कि इस पुस्तक से आधुनिक हिंदी के स्वरूप का प्रायः पूरा पता लग सकता है।

यह व्याकरण, अधिकांश में, अँगरेजी व्याकरण के ढँग पर लिखा गया है। इस प्रणाली के अनुसरण का मुख्य कारण यह है कि हिंदी में आरंभ ही से इसी प्रणाली का उपयोग किया गया है और आज तक किसी लेखक ने संस्कृत प्रणाली का कोई पूर्ण आदर्श उपस्थित नहीं किया। वर्त्तमान प्रणाली के प्रचार का दूसरा कारण यह है कि इसमें स्पष्टता और सरलता विशेष रूप से पाई जाती है

---

* उन्होंने सावधानता-पूर्वक अपनी भाषा के विषय का अवलोकन किया और जो सिद्धांत उन्हें मिले उनकी स्थापना की।—डा० भाण्डारकर।

का तर्क प्रवाह,—अर्थ-शास्त्र के जटिल सिद्धांतों को शत-प्रति-शत सर्वग्राह्य और रोचक रूप देना था। यह लिखाई भी मेरे दिमागी मुसीबत की एक दास्तान है, परन्तु उसका जहाँ तक पाठकों से सम्बन्ध है, इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि किसी न किसी तरह से पाण्डुलिपि तैयार हो गयी।

अब इसे प्रेस में देने का प्रश्न उपस्थित हुआ, सारी पाण्डुलिपी इतनी तेजी से, इतनी अस्थिरता पूर्वक लिखी गयी थी कि पुनः साफ़ किये बिना उसका कम्पोज होना कठिन दीखने लगा। इसके अतिरिक्त अनुच्छेदों का क्रमांक और फिर सारी पाण्डुलिपि में 'मार्जिन—नोट' देना था। गर्जेकि अनेकों काम पूरे करने थे। इन सारे काम में कुछ मित्रों ने, कुछ युवकों ने, मेरी बड़ी सहायता की। इसमें सबसे पहला और सबसे अधिक श्रेय स्व० श्री गिरधर प्रसाद को है जिन्होंने बड़ी उदारता पूर्वक कुछ पाण्डुलिपि साफ की, कुछ 'शब्द-सूची' (इन्डेक्स) तैयार करने में अचूक सहायता की है। उसके पश्चात् श्री छन्नूलाल विद्यार्थी, एम० ए०, बी० टी०, ने भी 'मार्जिन-नोट' तैयार करने में कम सहायता नहीं की। मथुरा प्रसाद पाण्डेय, बलदेव दीक्षित—इन उत्साही युवकों ने भी कुछ न कुछ हाथ बँटाने की चेष्टा की है। इन सब का मैं अतीव आभारी हूँ।......

अब, स्वयं 'नवभारत' के सम्बन्ध में भी दो शब्द कह देना आवश्यक है। 'नवभारत' है क्या, 'नवभारत' की आवश्यकता क्या है, इन सब का विषय-प्रवेश में यथेष्ट रूप से उल्लेख किया जा चुका है। यहाँ केवल इतना और कहना है कि भारतवर्ष, विश्व के अन्य भागों के समान ही दारिद्र्य और अभाव की कठोर यातनाएँ झेल रहा है। सदियों की गुलामी के पातक और कलमयी शोषण से जर्जरी भूत, महायुद्ध के घातक आक्रमण से निर्जीव और पतनोन्मुख देश एक बार पुनः क्रान्ति के रास्ते पर जा लगा है। विध्वंस के पश्चात् पुनरुद्धार और पुनर्निर्माण की अनिवार्य आवश्यकताओं ने उसे व्याप्त कर लिया है। देश भर में रचनात्मक कार्य-क्रम का महा मन्त्र फूँक दिया गया है, परन्तु अफसोस है कि अब तक भी अधिकांश कार्यकर्ताओं के पास संचालकों के संक्षिप्त आदेशों के अतिरिक्त कार्यावलि की अपनी कोई सुनिश्चित रूप-रेखा या सिद्धांतों का कोई तार्किक सहारा नहीं है। 'नवभारत' इस कमी को बहुतांश पूरा करेगा, मुझे पूर्ण विश्वास है।

मैं कह चुका हूँ कि भारत का उद्धार कोरे अर्थशास्त्रियों से नहीं होगा। जब तक लोग अपनी जिन्दगी का सवाल स्वयं नहीं समझेंगे, समझकर उसे सुरुचि पूर्वक अपनायेंगे नहीं, लाखों शास्त्रीय पाठ्य क्रम भी बेकार सिद्ध होंगे। गांधी जी और राजेन्द्र बाबू की प्रेरणाएँ आदर्श और श्रद्धा तक ही समाप्त हो

जायेंगी। अतएव एक ऐसी पुस्तक की नितांत आवश्यकता थी जो शास्त्रीय पठन-पाठन के साथ ही सर्वसामान्य का अपना रोचक विषय बन सके। मैं समझता हूँ कि 'नवभारत' इन दोनों दृष्टि से उपयुक्त सिद्ध होगा।

मैं एक गाँव में गया था। वहां एक युवक से भेंट हुई जो अपने को 'राय वादी' कहते थे और प्रांतीय असेम्बली के चुनाव में कांग्रेस के एक प्रतिष्ठित नेता के विरुद्ध खड़े हुए थे। भारत की आजादी और गरीबी के समाधान की ही वह कसम खाये बैठे थे। चुनाव में वह हार चुके थे। मैंने पूछा—'अब आपका कार्य-क्रम क्या है?' उन्होंने निर्लज्ज सा उत्तर दिया—'दो चार दिन में कांग्रेस मंत्रिमण्डल बन जाने पर ही कोई कार्य-क्रम बन सकेगा।' हिन्दुस्तान में गरीबी क्यों और क्योंकर कार्य कर रही है, हिन्दुस्तान की वास्तविक समस्याएँ हैं क्या—इसका उन्हें कोई ज्ञान नहीं था। हिन्दुस्तान तो एक बहुत बड़ी बात हो जाती है। मैंने पूछा—"आपके गाँव की आबादी क्या है?" उत्तर असंतोष जनक। मैंने पूछा—"आपके गाँव में लोगों को अन्न और वस्त्र कैसे मिलता है?"—इसका भी वह कोई ठीक उत्तर नहीं दे सके। मैंने पूछा—"यहाँ लोगों के पढ़ने-लिखने का क्या साधन है?" उत्तर मिला—"कुछ नहीं।" मैंने पूछा—"आप इन समस्यायों को हल करने के लिए स्वयं क्या कर रहे हैं?" तो फिर वही उत्तर मिला कि—"कांग्रेस के पदारूढ़ होने का रास्ता देख रहे हैं।" "कांग्रेस ने शासन करने से इन्कार कर दिया तो क्या होगा?" मैंने तो यही समझा कि रुद्राक्ष की माला फेरने के सिवा उनके पास कोई दूसरा रास्ता ही न था। सारांश यह कि सारे देश में बहुतेरे ऐसे लोग फैले हुए हैं जिन्होंने न तो देश की समस्यायों को समझने की चेष्टा की है और न कुछ ठोस काम करने का व्रत लिया है। कुछ शोर गुल, कुछ शुहरत की उत्कण्ठा उन्हें व्यग्र किये हुए है। जो ईमानदारी से देश के लिए मर-मिट रहे हैं उनके लिए भी तर्क-युक्त कार्य क्रम का अभाव ही देखा गया है। ईमानदार या ग़ैर ईमानदार, 'नवभारत' सबके लिए भारतीय समस्याओं का एक संगठित चित्र लेकर सामने आता है। दृष्टि कोण का अन्तर हो सकता है, सत्य का अभाव नहीं होगा। इतना ही हो तो भी मैं अपने परिश्रम को व्यर्थ न समझूँगा।

मैं उन समस्त विद्वान और विचारकों का भी हृदय से आभारी हूँ जिनकी रचनाओं और लेखों का मैंने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सहारा लिया है।······

अंत में मैं पाठकों तथा विद्वानों से प्रार्थना करूँगा कि 'नवभारत' को एक बार निष्पक्ष दृष्टि से देखें और इसके प्रस्तावों पर उदारता पूर्वक विचार करें। भाषा के दोष की अपेक्षा विचारों की उपादेयता पर ध्यान रक्खा जायगा, ऐसी मुझे आशा है, प्रार्थना भी यही है।

—रा. कृ. श.

शुद्धि पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	१	विभ्रांत	निर्भ्रांत
६	२५८	वैज्ञानिक	वैयक्तिक
१२	४८	in gredient	ingredient
१२	६८	निर्म्मित	निर्मित
१६	१५	मुद्रास्थिति	मुद्रा स्फीति
५३	७	whithers off	withers off
८४	५	अधिकार	अधिकतर
८६	१५	पाति-व्रत	पतिव्रत
६७	५	अनेन	अनेक
११०	५	संवर्य	संघर्ष
१२६	१	परं	पेट भरने
१४१	१६	प्रभृति	प्रभृत
२१५	अंतिम	विध	विधि
३२२	अनुच्छेद २६० (शिर्पक)	बाबू	बापू
३७०	परिशिष्ट (६) शिर्पक	ग्राम लक्ष्म	ग्राम लक्ष्मी
३८२	अंतिम	Accumutlation	Accumulation

विषय-सूची

भूमिका ३–८

विषय-सूची १०–२०

प्रथम खण्ड

विषय-प्रवेश

धारा १—६२ पृष्ठ १-७६

(अ) नवभारत का अर्थ—

नवभारत के आर्थिक पुनरुद्धार की रूपरेखा—भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन और विवेचन में नये लक्षणों का प्रयोग—जेवॉन की अर्थ व्याख्या—अर्थशास्त्र का यथार्थ रूप—"आर्थिक जीव" और भारत— १–२, ३–५

(ब) नवभारत की आवश्यकता—

सरल, सुबोध, और व्यावहारिक ढंग से आगे बढ़ने का साधन—हमारे भावी निर्माण में गांधी विचार धारा का एक प्रमुख भाग है—शोषणात्मक और संहारी प्रवृत्तियों के स्थान में रचनात्मक भाव धारा— ३, ५–७

(स) नवभारत का आर्थिक दृष्टि कोण—

नरभक्षी कङ्काल को दूर करने के लिए वैज्ञानिक आयोजन की आवश्यकता—देश की वस्तुस्थिति—अर्थशाश्त्र ?—दयनीय दुरंगी—अर्थशास्त्र और गांधी जी—अर्थशास्त्र और आचार्य कृपालानी (टिप्पणी)—अर्थ और नीति-शास्त्र, एक दूसरे से पृथक नहीं हैं—किसी भी शुद्ध आर्थिक विधान में शोषण और दासता को स्थान नहीं है—अर्थशास्त्र की नींव समाजशास्त्र पर हो—भारतीय अर्थशास्त्र का मौलिक आधार—सती और सद्गृहस्थ—सुख-सम्पदा और गार्हस्थ्य—भारत की आर्थिक स्थिति को समझने के लिए उसके समाजशास्त्र को समझना होगा—भारतीय सभ्यता 'शहरी संकुचन' नहीं, 'ग्राम्य विस्तार' पर अवलम्बित है—किसी देश का आर्थिक स्वरूप उसकी भौगोलिक स्थिति पर निर्भर है—उत्पादन के दो मुख्य साधन :—श्रम और पूँजी। भारत का आर्थिक संघटन श्रम प्रधान हो—उत्पत्ति और जन-संख्या, सापेक्ष हैं (टिप्पणी)—उत्पादन और साम्यवादी बँटवारे से पहले श्रम प्रधान पुनर्रचना जरूरी–भारतीय सभ्यता ग्राम्य-प्रधान है–स्व-सम्पन्नता,

सीधी-साधी अदल-बदल, उत्पादन का व्यापारी करण, अन्तर्राष्ट्रीय परावलम्बन, मुद्रानीति (Money Economy), "वस्तु विनिमय" (Barter) दूषित विनिमय विधान—जड़ और चेतन के भेद से आर्थिक रचना का भेद—मनुष्य की पाँच मूल भूत आवश्यकताएँ—"क्षेत्रस्थ सम्पन्नता" और "स्वाश्रय" ४-९, ७-१६

(द) नवभारत का रचनात्मक आधार—

संसार की वस्तुस्थिति—कलयुग!—कार्य करने का ढंग, भूत और वर्तमान—मनुष्य है, पर अधूरा ही—मनुष्य या "विशेषज्ञ"?—अब स्वार्थ, मनुष्य का जीवन-लक्षण—मशीन जनित स्वार्थान्धता, बेकारी, पूर्ण कार्य और अपूर्ण मज़दूरी तथा अपूर्ण कार्य और पूर्ण मजदूरी, रूस की समूहवादी और इङ्गलैण्ड का पूँजीवादी श्रम, मशीनाश्रित उपज की लाक्षणिक परिभाषा (टिप्पणी)—चतुर्दिक बेकारी—नरमेध, मशीनों का वाह्य प्रभाव है—कलमय उत्पादन, कृत्रिम माँग और कृत्रिम खपत—नकली और विषैली वस्तुओं की सृष्टि—बाइप्रोडक्टस—रोज का शौक धीरे-धीरे जीवन की आवश्यकता बन जाता है—मशीनें मनुष्य को कृत्रिम बना रहा हैं—प्रकृति का स्वामी बनने के लिए मनुष्य अप्राकृतिक बन रहा है—नकली बच्चे : test tube babies (टिप्पणी)—मनुष्य की असलियत और कल कारखाने—नकली भोजन (टिप्पणी)—सुख-सम्पदा का प्राकृतिक विधान और व्यक्ति का स्वतंत्र सहयोग—कारखानों से बेकारी और दरिद्रता—मशीनें व्यक्ति के अस्तित्व और व्यक्तित्व, दोनों को नष्ट कर रही हैं—साम्पत्तिक सञ्चय या विनाश—कलमयता से मनुष्य का सम्पूर्ण विनाश—जनन निग्रह और समाज नीति—वर्तमान अर्थनीति और नवभारत का दृष्टि कोण—जनाधिक्य, कल कारखाने, सन्तानोत्पादन, ग्राम्य विस्तार, आश्रमस्थ व्यवस्था (टिप्पणी)— १०-२२, १६-२६

चर्खे का इष्ट

चर्खे का अर्थ—चर्खात्मक मशीनें—कलयुग की विशेषताएँ, पूँजी की वृद्धि, एकाधिकार, श्रमिक समुदाय की नयी स्थिति, मालिक और मजदूर, मजदूरों के व्यक्तित्व का नाश, पूँजी पर व्यापारियों की प्रभुता, साम्पत्तिक विस्तार, पूँजीवादी शोषण, अतिरिक्तार्थ (Surplus value) श्रम साध्य पूँजी (Variable capital) एकत्रीकरण, श्रमिक और पारिश्रमिक, उत्पादन के साधनों में "लाक्षणिक परिवर्तन", "प्रोलेटेरियट" अर्थात् श्रमिक

साँचा, प्रचण्ड मशीनकरण, परम बाहुल्य (Super Abundance), कलमय उत्पादन का दुखद काकपक्ष, बलात अभाव और बलात बेकारी, पूँजीवादी दृष्टि, नफाखोरी, बाहुल्य के मध्य निरीहता और भूख की पाशविक लीलाएँ, समाजवादी दृष्टि, मार्क्सवाद और पूँजीवाद, चर्खा मार्क्स की अस्पष्ट सलाह का स्पष्टीकरण, कलमय उत्पादन का विनाशक गोरखधंधा, कलमय उत्पादन का गुणनफल विश्व युद्ध, चर्खात्मक उत्पादन का लागत पहलू, कृत्रिम साम्य असंभव है, "समन्वयात्मक सम्पूर्ण," चर्खात्मक उत्पादन, उत्पत्ति का निर्यात या बाह्य उपयोग, स्थानीय आवश्यकता के लिए स्थानीय पंचायत, कारखानों पर खड़ा होने वाला राज धोखा है, 'मास प्रोडक्शन,' 'कलेक्टिव् फार्मिंग, सामूहिक उत्पादन, सम्मिलित कृषि, 'सहयोगी' कृषि, 'सामूहिक स्वामित्व', धरती के मालिक, विनोबा का मत, स्वामी और दास, वैयक्तिक उत्पादन के लिए वैयक्तिक मशीनें, चर्खात्मक मशीनों का विवरण, मानव समाज की निर्दोष प्रगति की मौलिक शर्त, चर्खात्मक मशीनों में सुधार, कारखानों की विशेषता, एक-मनुष्यात्मक उद्योग व्यवस्था, शति-प्रति-शत रोजी की गारंटी, कलमय उत्पादन, निःकल उत्पादन का राजनीतिक अंग, वर्ग भेद का सम्पूर्ण अभाव, पुलिस और सेना, शोषण और दमन के प्रतीक, अर्थ और राजनीति, केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण— २३-४३, २६-५६

(य) नवभारत का विषयाधार—

आङ्कणात्मक पक्ष—आङ्कणों का यथार्थ महत्त्व—प्रत्यक्ष सत्य और निर्जीव तथ्य— ४४-४५, ५६-६०

(द) नवभारत का भौगोलिक अर्थ—

मार्क्स का मत : आर्थिक परिस्थितियाँ सामाजिक ढाँचे की जननी—भौगोलिक प्राधान्य—भौतिक प्राचुर्य्य और सांस्कृतिक स्वरूप—भौगोलिक परिस्थितियाँ और जातीय स्वभाव—स्वावलम्बन, भारत और इंगलैण्ड में—व्यक्ति की निर्धारण शक्ति और समाज की सामूहिक अर्थ व्यवस्था नवभारत की मौलिक अर्थ व्यवस्था—स्थिति भूत तथ्य—भारतीय जलवायु की देन : प्राकारिक तथा पारिमाणिक बाहुल्य—दुष्कालों का रहस्य—जनसंख्या और दुर्भिक्ष (टिप्पणी)—भारत की मौलिक बनावट और वितरण व्यवस्था— ४६-५८, ६०-७१

(ल) नवभारत की प्रस्तुति—

नवभारत अर्थशास्त्र की विशुद्ध एवं व्यावहारिक रूपरेखा है—नवभारत की सैद्धांतिक स्थिति—नीति और प्रणाली—नवभारत की योजना : धनिकों की

संख्या वृद्धि नहीं, सर्वसामान्य की सुख-सम्पदा—मनुष्य मनुष्य बना रहे, पूर्ण मनुष्य, न कि विशेषज्ञ अर्थात अधूरा मनुष्य और न कल कारखानों का चलता-फिरता पुर्जा बन कर समाप्त हो जाये— ५६-६२, ७१-७६

द्वितीय खण्ड

नारी धारा १-४७, पृष्ठ ७६-११०

(अ) दम्पति और समाज—

स्त्री और पुरुष का प्रेरणात्मक आधार—दम्पति समाज का आदि कारण और आधार भूत अङ्ग है—दाम्पत्य और समाज का पारस्परिक विकास—स्वच्छंद संयोग (Promiscuity)—बपौती—सरदारी–माँ—सन्तान—सन्तोत्पादन—गृहस्थाश्रम के बिना सामाजिक विकास असम्भव है—दाम्पत्य विधान : गृहस्थाश्रम—पैत्रिक सूत्र—'बहु-पति' (Polyandry)—सन्तान का पालन-पोषण—लड़के-लड़कियाँ—'बहु-पत्नि' (Polygamy) और पुत्र—सम्पत्ति, उसकी सुरक्षा और स्थायित्व—स्त्री, पारिवारिक संचय और स्त्री का साम्पत्तिक स्वामित्व, कौटुम्बिक व्यवस्था (ट)—स्त्रियाँ : घरेलू दासियाँ—वंशावली—बहु-पत्नि और जन-संख्या—नियोग—एक तंत्र : केन्द्रीय शासन—पितृ भक्ति, पुत्री—सहधर्मिणी, अर्धाङ्गिनी—साम्पत्तिक आयतन, सामाजिक शांति—'बहु-पत्नि और सरदारी—'बहु-पत्नि' के दोष—'एक-व्रत' (Monogamy)—स्वयंवर— १-१२, ७९-८६

(ब) नारी और सामाजिक विकास

समाज क्या है?—समाज कैसे बनता है—समाज में पुरुष का प्रभुत्व—स्त्रियों की दासता का उद्गम : मासिक धर्म, गर्भाधान—सभ्यता, केवल पुरुषों की मिलकियत रह गयी—स्त्री-पुरुष का समझौता : विवाह शास्त्र—पुरुषों की आवश्यकता—सन्तान की ममता और गृहस्थाश्रम—राजनीतिक भेद का श्रीगणेश, गृहस्थाश्रम से—कार्यों में सर्वोदय दृष्टि—कार्यों के भेद से वर्ग भेद—सर्वोदय समाज में कार्यों का भेद—दाम्पत्य के दो मुख्य रूप : 'अपिण्ड अगोत्र' (Exogamy) और 'सपिण्ड-सगोत्र' (Endogamy)—दाम्पत्य चक्र और विकास— १३-२८, ८६-९५

(स) श्रम विभाजन और गार्हस्थ्य—

दाम्पत्य विधान के आर्थिक कारण—अनन्तकालीन व्यवहार और पूर्व संस्कार—समाज संगठन और शान्तिकालीन स्थिति—सामाजिक विकास और

विकसित गार्हस्थ्य—स्त्री-पुरुष का पारस्परिक श्रम विभाग : प्राथमिक और द्वितीय—सामाजिक श्रम विभाग का बीजारोपण, स्त्री-पुरुष के स्वभाव-भेद में—स्त्री-पुरुष का वर्ग भेद मिटाने के लिए कार्यों का सम्मिलित उत्तर-दायित्व—प्राथमिक और द्वितीय विभाग का अन्योन्याश्रय—प्राथमिक और द्वितीय का सान्निध्य—कल-युग का प्रभाव— २८-३६, ६५-१०२

(द) गार्हस्थ्य और सम्पत्ति—

स्वतंत्र कुटुम्ब—कार्य विभाजन : प्राथमिक : उदमस्थ (Functional), द्वितीय : आकारात्मक (Structural)—साम्पत्तिक निर्माण के लिए श्रम और कार्य-विभाजन—सुव्यवस्थित गार्हस्थ्य : उत्पादक श्रम : कार्य और श्रम-विभाजन—वैयक्तिक सम्पत्ति का सामूहिक रूप : राष्ट्रीय सम्पत्ति : सामाजिक सम्पत्ति—श्रम और सहयोग का साम्पत्तिक अन्योन्याश्रय—गृहस्थाश्रम : सामूहिक सुख-सम्पदा की अनिवार्य इकाई— ३७-४७, १०२-११०

तृतीय खण्ड

समाज

धारा १—२८२ पृष्ठ ११३—३५४

(अ) व्यक्ति और समूह—

व्यक्ति को समझकर ही समाज को समझा जा सकता है—मनुष्य क्या है ?—युनानी दार्शनिकों का मत—आधिभौतिक और आध्यात्मिक पद्धतियाँ—द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद : Dialectical Materialism, मार्क्स का—आत्मा, चेतन, प्रकृति—मार्क्सवाद : भौतिकवाद—"अनात्मवादी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद"—सांख्य दर्शन का मत—बौद्ध मत—जगत, मार्क्स के मतानुसार—मूल तत्व : 'मैटर'—मनुष्य, मार्क्स के मतानुसार—जड़ और चेतन में कोई भेद नहीं—व्यक्ति, समाज में—जगत, सृष्टि, व्यष्टि, समष्टि—व्यक्ति में चेतन सत्ता—मानव समष्टि के मूल में घटक रूपी चेतन व्यष्टि क्रिया शील है—मनुष्य सामाजिक जीव है समाज—सभ्यता—सभ्यताएँ—समाज जड़, अप्रत्यक्ष और अवैयक्तिक है— १—७, ११३—१२०

(ब) समाज (शहरी और ग्राम्य)—

संसार का अर्थ विधान दो प्रमुख वर्गों में विभक्त है : पूँजीवाद और समूहवाद—पूँजीवाद का सामाजिक महत्व : व्यक्ति की निर्बाध स्वच्छंदता : Laissez Faire—व्यक्तिवाद, पश्चिमी ढंग का —भारतीय विचारधारा भी व्यक्तिवादी

है परन्तु पश्चिम के समान जड़ नहीं, चेतन है—जड़ और चेतन के अंतर से दो प्रकार की सभ्यताओं की सृष्टि : केन्द्रोन्मुखी और केन्द्रापसारी यानी शहरी और ग्राम्य—पूँजीवादी और समूहवादी, दोनों जड़ यानी शहरी हैं—भारतीय सभ्यता चेतन यानी ग्राम्य है—केन्द्र और आयतन—समाज संघटन की बुनियादी बातें—समाज संगठन की मूल प्रेरणा : आर्थिक स्वार्थ—संस्कृति का निर्माण—संस्कार और संस्कृति—सामाजिक विकास का आर्थिक सूत्र—कलयुग—संसार दो दलों में विभक्त हो गया (१) कारखानों वाली केन्द्रित व्यवस्था, (२) चर्खे वाली यानी विकेन्द्रित व्यवस्था—मशीन और मज़दूर—कलमय विधान : शहरी समाज : केन्द्रीकरण—युद्ध और संघर्ष, उद्योगवाद की अनिवार्य शर्त—ग्रामीण समाज : ग्राम्य सभ्यता—पैसा : साधन से साध्य—कृषि, भारतीय संस्कृति का मूल आधार—प्राचीन संस्कृति के आधारात्मक तत्व : सम्मिलित परिवार और जीविका की गारंटी, स्पर्धा और स्वार्थपरता पर वर्ण-गत अंकुश, स्वावलम्बन और आर्थिक सुरक्षा, ग्राम्य पंचायतों द्वारा, आध्यात्मिक विकास की श्रेष्ठता—पश्चिमी सभ्यता प्राण घातक स्पर्धा पर अवलम्बित है—पूँजीवाद और समूहवाद—समूहवाद और व्यक्ति—मशीनों की विराटता को लघुता में बदल देने से समस्या का हल—स्वदेशी 'वसुधैव कुटुम्बकम्'—भारतीय ग्रामोद्योग का लक्ष्य—समाज की बनावट में आर्थिक स्वार्थों का स्थान— ८–२९, १२०–१३४

(स) भारतीय समाज का आधारात्मक तत्व—

समाज की वर्तमान स्थिति—जनसंख्या में वृद्धि और सामाजिक मान्यताएँ—भारत में जनाधिक्य पर डा० ग्रेगरी और डा० केलॉग के मत—जनन निग्रह की प्राकृतिक समाज व्यवस्था : आश्रमस्थ जीवन—प्राचीन सभ्यता पर एक दृष्टि—प्राचीन और अर्वाचीन की तुलना—समाज के आर्थिक जीवन का उत्तरदायित्व व्यक्ति के नैतिक जीवन पर अवलम्बित है—बाह्य और आन्तरिक जीवन का सामञ्जस्य— ३०–३६, १३४–१३९

(द) सहयोग या संघर्ष—

जगत की परिवर्तनीयता, तात्विक या उपकरण गत ?—मार्क्स दर्शन अन्तर्द्वन्द्व : 'डायलेक्टिक्स'—अन्तसंघर्ष और द्वन्द्वात्मक विकास—पशु जीवन में व्यापक और व्यवस्थित सहयोग—सहयोग और सहायता से सामाजिक जीवन में आनन्द का अनुभव—"मत्स्यन्याय" ? (ट)—सहयोग : अनुभूत सत्य—डारविन का मत : एक की दूसरे पर निर्भरता, सन्तति और सुरक्षा की

वृद्धिमान और विकासमान आवश्यकता के लिए—योग्यतम (Fittest) कौन ?—शेर और चींटी की तुलना और निष्कर्ष—सहयोग ही सृष्टि की आधारात्मक शक्ति है—जीवन संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व—प्रकृति में दृश्यगत वैषम्य का अर्थ—कलयुग और कृत्रिम संघर्ष—सामन्त, राजा और प्रजा, शासक और शासित, स्वामी और दास—समाज की स्वयम्भू नियामक शक्ति में हस्तक्षेप—अधिकार और कर्तव्य, वर्णगत—बपौती के अनुचित रूप से सामाजिक वैषम्य की सृष्टि—सामाजिक समीकरण की प्राकृतिक प्रेरणा—भगवान कृष्ण, भगवान बुद्ध, हज़रत ईसा, हज़रत मुहम्मद, महात्मा गांधी—सहयोग और समाज— ३७–४६, १३६–१४८

(य) श्रम और कार्य—

(१)

वस्तुस्थिति—कार्यों का उद्देश्य और अवकाश की आवश्यकता—कलमय और चर्खात्मक श्रम, तुलनात्मक अध्ययन—श्रम और सञ्जीवन—कार्य और श्रम की शुद्धतम प्रणाली— ४७–५२, १४८–१५३

(२)

श्रम में स्त्री-पुरुष के स्वभाव-भेद की आधारात्मक आवश्यकता—स्त्री और पुरुष को एक दूसरे के कार्य में दक्ष होना चाहिये—गांधी जी का मत—कार्यों पर एकाधिकार के कारण वर्गों की घातक सृष्टि—स्त्रियों पर पुरुषों की हुकूमत के अंत की गांधीवादी योजना—कार्यों की सर्वव्यापकता—चर्खा और कताई—चर्खा और गोपालन— ५३–५६, १५३–१५८

(३)

सामूहिक सहयोग ; सामाजिक श्रम—कलमय उद्योग; और सामूहिक श्रम-फल की राष्ट्रीय तुला—सामूहिक श्रम-फल का प्रति व्यक्ति दीर्घकालीन परिमाण योग—श्रम-फल का माप-दण्ड और सामूहिक परिमाण—पण्यों की पारिमाणिक उपज—केन्द्रित और विकेन्द्रित— ५७–६०, १५८–१६२

(४)

भारतीय वर्ण व्यवस्था का व्यापक प्रभाव—चातुर्वर्ण्य विधान : श्रम विभाग प्रधान—ऊँच-नीच की भावना और सामाजिक वैषम्य—गांधी जी की दृष्टि—व्यक्तियों की समानता और असमानता—वर्ण विधान की मूल प्रेरणा—वर्ण विधान और सामाजिक व्यवस्था—वर्ण विधान और

समाज की शैक्षणिक आवश्यकता—वर्णगत सामूहिक जीवन—वर्ण विधान के विरुद्ध आक्षेप—वर्ण विधान, संसार के नक्शे में—जन्मना और कर्मणा—वर्ण व्यवस्था, सामाजिक सहयोग का प्रेरणा बिन्दु, न्यायाधीश के रूप में; वर्ण व्यवस्था और प्रतिस्पर्धा—वर्णाश्रम—कलयुग और वर्णाश्रम—गांधी जी की नयी योजना : नयी तालीम : समस्या का अचूक समाधान—नयी तालीम में कार्य और उद्योग में ही ज्ञान की सिद्धि—गांधीजी की योजना : विश्व धर्म— ६१–७८, १६२–१७९

(५)

भारतीय कुटुम्ब व्यवस्था, संयुक्त परिवार, वैयक्तिक साहस—संयुक्त परिवार सामूहिक कृषि का संतुलित रूप है—विनोबाजी और भू-दान-यज्ञ—सामूहिक सम्पन्नता के लिए वैयक्तिक पैमाना जरूरी—श्रम की गति-हीनता और नवभारत की उत्पादन विधि—संयुक्त व्यवस्था समाज का कर्तव्य विधान है—नवभारत की श्रम नीति— ७९–८५, १७९–१८७

(र) बेकारी—

(१)

प्रारम्भिक—सर्वसुयोग्यों का जीवनाधिकार—भोजनागार में भूख पीड़ा—यंत्रों की मर्यादा कायम करने की जरूरत—नयी तालीम बनाम वर्धा पद्धति— ८६–८८, १८७–१९०

(२)

सच्चा श्रम विधान—अनावश्यक और अनुत्पादक कार्य (१९० ट)— ८९, १९०–१९१

(३)

जनवृद्धि और बेकारी, कृषि जन्य बेकारी, बेकारी और ग्रामोद्योग, वर्णगत और धार्मिक बेकारी, सरकारी और व्यापारी बेकारी, राजस्व और बेकारी—श्रम प्रधान उत्पादन और मँहगी—कलमय उत्पादन बनाम साम्पत्तिक विनाश—कलमय उत्पादन बनाम बेकारी—स्वदेशी समाज—सरकार और समाज— ९०, १९१–१९८

(ल) सम्पत्ति और स्वामित्व—

स्वामित्व से ही सम्पत्ति का स्वरूप स्थिर होता है—सम्पत्ति और व्यक्तिगत स्वामित्व—विश्व के साम्पत्तिक चक्र में व्यक्ति का स्वार्थ और पुरुषार्थ—वैयक्तिक स्वामित्व का विरोधाभास—वैयक्तिक या सामूहिक स्वामित्व—सामूहिक स्वामित्व—सम्पत्ति का सच्चा मूल्य—सामूहिक विधान में साम्प-

त्तिक विकास—सामूहिक विधान से जटिल और बोझिल सरकार की सृष्टि—उत्पादन के साधनों पर सामूहिक स्वामित्व का अर्थ—समस्या का हल—भारतीय कुटुम्ब व्यवस्था—'दायभाग' और 'मिताक्षरा'—संयुक्त परिवार, 'हिन्दू कोड बिल'—भारतीय समाज विधान के दो क्रम और नियम : संयुक्त परिवार और संयुक्त सम्पत्ति—संयुक्त स्वामित्व बनाम समूहवादी स्वामित्व—वंशज पीढ़ियाँ—'आवश्यक' और 'अतिरिक्त' आय—साम्पत्तिक स्वामित्व के पारिवारिक सूत्र—चल और अचल सम्पत्ति—साम्पत्तिक स्वामित्व, वैयक्तिक और सामाजिक—स्वामित्वांतर : उत्तराधिकार, दान और वसीयत, सामाजिक या धार्मिक—सम्पत्ति, मूल्य और उपयोगिता—उत्तराधिकार : राष्ट्रीय निधि—सम्पत्ति क्या है?—सम्पत्ति, एक सामाजिक शब्द है—आवश्यक और अतिरिक्त आय—व्यक्ति पारिवारिक माध्यम से सम्पत्ति का स्वामी—अचल सम्पत्ति की सीमा—चल सम्पत्ति और वैयक्तिक बचत—आवश्यक और अतिरिक्त बनाम 'अर्न्ड' और 'अन-अर्न्ड' आय (२२३-२४८)—वैयक्तिक बचत और उत्तराधिकार, दायभाग और मिताक्षरा का सुमिश्रण—उत्तराधिकार, वैयक्तिक सम्पत्ति की अनिवार्य शर्त—समाज का उत्तरदायित्व : सदस्यों को साधन युक्त और उनकी साम्पत्तिक व्यवस्था करना—दान और वसीयत नामा—सरकारी हस्तक्षेप, सामाजिक स्वतंत्रता का शत्रु—नवभारत का आत्यंतिक ध्येय, साम्पत्तिक योजना में व्यक्ति समाज के लिए क्रियाशील रहे—वैवाहिक तथा अन्य स्वामित्वांतर—स्त्री-धन—मृत्यु कर—पारिवारिक सम्पत्ति में बाहरी लोगों का स्थान और स्वार्थ—दत्तक व्यवस्था—पारिवारिक सम्पत्ति का स्वाभाविक विभाजन—परिवारों के प्रति समाज का उत्तरदायित्व—बाप की जायदाद में बेटी का हक : हिन्दू कोड—

६१–१३२, १६६–२३२

(च) कृषि और खाद्य समस्याएँ—

पृथ्वी और कृषक—कृषि, भोजन के पैमाने में—भोजन, मनुष्य का एक महा प्रश्न—उन्नति की एक बुनियादी शर्त—भोजन के अभाव में आजादी का मतलब—स्वस्थ, स्वतंत्र एवं स्वावलम्बी खाद्य नीति—युद्ध में भोजन का निर्णायक महत्व—भोजन के प्रश्न पर सर्वांगीण दृष्टि की आवश्यकता—खाद्य समस्या में सरकार का निर्णायक स्थान—सिंचाई और ट्रैक्टर—वनस्पति घी—चावल और चावल की मिलें—समर्थ ग्राम पंचायतों की आवश्यकता—कन्ट्रोल—उपयोगिता या रुपये की दृष्टि?—अन्न का ऊँचा दाम—गल्ला वसूली, व्यक्तिगत नहीं, पंचायतों द्वारा—रासायनिक खाद

या कम्पोस्ट ?—नलकूप—गो रक्षा—गाय भारतीय संस्कृति का आधार भूत अंग है—अन्न की समस्या के लिए गाय की समस्या—ट्रैक्टर—साँड़ की समस्या—जंगलों की समस्या—भोजन की समस्या में आदमी का स्थान—सैन्य और शिक्षण नीति—खेती और बाबू वर्ग—वर्तमान शिक्षा पद्धति और कृषि-कार्य—पूर्ण खेती—गृह उद्योग और जापानी पद्धति—वृद्धमान जनसंख्या और अन्नोत्पादन—शरणार्थी समस्या और कृषि—अकाल का सच्चा समाधान, तकावी नहीं, ग्रामोद्योग—पंचायत का पहला काम, विदेशी अन्न का आर्थिक पहलू—गो पालन और कृषि—गाय और खाद्य समस्या—चर्खा और गो पालन—धरती का उपयोग सामाजिक दृष्टि से हो—धरती का आनुपातिक बँटवारा—संतुलित कृषि—खेती पंचायतों की अनुमति और निर्देश से हो—पंचायती माध्यम और खाद्य समस्याएँ—बरसाती पानी का निकास—बाढ़ और कृषि—बन्दर—खूराक की हद कायम करें—जनता के पूरी खूराक की व्यवस्था—खाद्य का पारिमाणिक के साथ तात्विक गठन जरूरी है—तात्विक एवं परिपूर्ण भोजन का प्रमाण—शिक्षा पद्धति में भोजन शास्त्र की जरूरत—स्वावलम्बी दृष्टि चाहिए—समतोल भोजन—एक तालिका—भारतीय खाद्य योजना के दो निर्णायक प्रश्न : भारत की गरीबी और अन्न की कमी—गांधीजी का सुझाव—भोजन और शिक्षण शालाएँ—शिशु और बच्चों की समस्या—गरीबी और मातृत्व—जनसंख्या और खेतिहर जमीन—जनन निग्रह नहीं, उत्पादन बढ़ाने की जरूरत है—जनसंख्या, आँकड़े—जनन निग्रह और औद्योगीकरण—औद्योगीकरण की वृद्धि और गरीबी—उत्पादन की विकेन्द्रित वृद्धि ज़रूरी है—केन्द्रित और विकेन्द्रित उद्योग की तुलना—जीवन स्तर—प्राकृतिक और अप्राकृतिक जीवन—प्रकृति द्रोहियों को निःशस्त्र करने का उपाय—खाद्य समस्या कटुतर क्यों ?—अन्न के मोह के त्याग से खाद्य साधनों में वृद्धि—केला—कद्दू—अकाल और उसके कारण—ग्रामोद्योगों का अभाव और अकाल—ग्रामोद्योगों के अभाव से कृषि पर दबाव—खाद्य समस्या और सहकारिता—खाद्यों की बर्बादी—संतुलित भोजन के लिए संतुलित कृषि—समाज संतुलन का अभाव—मुँहताजी : दासता और केन्द्रीकरण—संतुलित कृषि के अभाव में समाज का पारस्परिक विच्छेद—संतुलित कृषि विना विकेन्द्रीकरण असम्भव— १३३–२१४, २३४–२६१

(श) भू-दान-यज्ञ और ग्रामोद्योग

भारत का ८५% गाँव और इसकी ४५% जनसंख्या बे-ज़मीन है—परिणा-

मतः सारा देश क्षोभ और हिंसा से पूर्ण और विकास से विमुख है। ज़मीन की समस्या के समाधान के दो ही तरीके हैं—हिंसा और प्रेम (भू-दान-यज्ञ)—ज़मीन पर नैसर्गिक अधिकार—भू-दान-यज्ञ, सामाजिक क्रांति की एक मनोवैज्ञानिक पीठिका है; क्रांति का यह त्रिविध सूत्र है—पृथ्वी, सम्पत्ति का बुनियादी स्रोत है—पृथ्वी, व्यक्ति और समूह—आर्थिक पर्याप्त (Economic Holding)—भू-दान और भू-वितरण, ज़मीन किसको?—सामूहिक कृषि और सहयोग एवं सम्मिलित कृषि (२६६ ट)—ज़मीन के छोटे टुकड़े और बिना हल-बैल के उत्तम खेती—चीन और जापान में ज़मीन की समस्या और तत्सम्बन्धित हल, रचनात्मक एवं औद्योगिक विकेन्द्रीकरण, स्वावलम्बन (२६७-६८ट)—सब को काम—कृषि और ग्रामोद्योग, विनोबा के 'सीताराम'–मिल बहिष्कार—औद्योगिक उत्पादन की दो मुख्य शर्तें— २१५–२२८, २६१–३००

(प) यातायात—

स्पष्ट नीति का ज़रूरत—यातायात की वर्तमान स्थिति अनर्थकारी है—सड़कों के किनारे, फलदार वृक्ष, ग्रामोद्योग भण्डार, मार्ग कर—राष्ट्रीय नीति—यातायात और ग्रामोद्योग— २२५–२२८, ३००–३००

(स) शिक्षा : नयी तालीम—

सर्वांगीण क्रांति—उत्पादन यंत्रों का विस्तार—उत्पादन के साधन और समाज व्यवस्था—केन्द्रीय उद्योग से अनुपभोग्य एवं बेकार वस्तुओं की सृष्टि—समाज का दीवालियापन—अत्यंत शोचनीय स्थिति—स्वावलम्बन और सहयोग—केन्द्रीय समाज में पारस्परिक सहयोग का अभाव—जनता का नैतिक ह्रास—चर्खा : स्वावलम्बी उत्पादन का केन्द्र बिन्दु है—नयी तालीम स्वावलम्बन की क्रियात्मक शक्ति—नयी तालीम के शिक्षण केन्द्र स्वावलम्बी हों—शाला की व्यवस्था और शिक्षक—नयी तालीम : वैज्ञानिक एवं प्रगतिशील समाज की संयोजित चेष्टा है—पूँजीवाद?—बाबू वर्ग—श्रेणी हीन समाज—नयी तालीम : समाज को उत्पादक बनाती है—हिंसा, निराशा का प्रमाण—अहिंसात्मक मार्ग, सच्ची और सम्पूर्ण क्रांति का एक मात्र रास्ता—आत्मशुद्धि—नयी तालीम बनाम बुनियादी तालीम—पुरानी तालीम?—श्रम बनाम श्रेणी विभाजन, जन्मना या कर्मणा?—श्रेणीहीन समाज का श्रम विभाग—समान अवसर का सच्चा मतलब—विकेन्द्रित समाज और उत्पादन कार्यों का अभ्यास— २२६–२६०, ३०३–३२२

(ह) विनिमय और माध्यम—

रुपया, सिक्के, और सरकारी नोट—सरकारी नोटों की असलियत (आङ्कड़े)—मुद्रास्फीति—नोटों के पीछे सुरक्षित (स्वर्ण) कोष, एक तुलनात्मक अध्ययन—मुद्रा विस्फीति—सही रास्ता—विनिमय, एक अनिवार्य, आवश्यकता—विनिमय माध्यम की सृष्टि—ग्राम सम्पन्नता और अन्तर्राष्ट्रीय परावलम्बन (३३१-३२ ट) विनिमय माध्यम, "स्वतंत्र" और "स्वगामी"—पैसे की माया—सिक्कों पर सरकारी आधिपत्य—विनिमय माध्यम, सामाजिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय विषमता—रुपये की परिभाषा (३३५ ट) माँग और पूर्ति—सिक्के और जीवनावश्यकता—कृत्रिम मूल्य—वर्तमान मुद्रा विधान और विनिमय माध्यम का अप्राकृतिक आधार—पारस्परिक अदल-बदल द्वारा जीवनावश्यकताओं की पूर्ति—सम्पत्ति की उत्तरोत्तर पेचीदगी और माध्यम की जटिलता—माध्यम में स्थायित्व—माध्यम से ही आर्थिक रोगों की सृष्टि—सरकारी मुहड़ता और सिक्के—मुद्रा विधान की परिवर्तनीय परिस्थितियाँ—मुद्रा ही सर्व व्यापी क्रयशक्ति है—सिक्कों का खर्च और स्वर्ण सनद (३४३ ट)—रूपया : क्रयशक्ति—रूपक मुद्रा और सरकार—हुण्डियाँ और आर्थिक उलट-फेर—मुद्रा विधान में वस्तु-विनिमय—प्रजात्मक सहयोगी बैंक—पंचायत और सहयोगी बैंक—सिक्के और छोटेचार नोट—वैदेशिक व्यापार—वस्तु विनिमय बैंक— २६१–२८२, ३२२—३५४

परिशिष्ट ३५७–७२

शब्द सूची ३७५–४२३

पुस्तक सूची ४२४-२६

प्रथम खण्ड

विषय-प्रवेश

(अ) नवभारत का अर्थ

‘नवभारत’ भारत के आर्थिक पुनरुद्धार की एक सरल और सुबोध-सी रूपरेखा है

१. अर्थशास्त्र मनुष्य के सुख और समृद्धि का एक जटिल विज्ञान है और इसका अनादिकाल से विवेचन होता आया है, परन्तु इस समय हम सभ्यता के ऐसे युग में पहुँच चुके हैं, विकास की एक ऐसी स्थिति पर खड़े हैं, जहाँ से हमें अपने प्रगति पथ को स्पष्ट कर लेना है, अपने दृष्टिकोण की सार्थकता को भलीभाँति परख लेना है और इस विभ्रांत विश्व को दृढ़तापूर्वक बता देना है कि भारतवर्ष का आर्थिक विधान विश्व की मान्यताओं का समादर करते हुए भी भारतीय और केवल भारतीय ही हो सकता है। विश्व से इसकी भिन्नता उतनी ही स्पष्ट है जितनी कि विश्व से इसकी अभिन्नता के लिए आवश्यक है। हम पाश्चात्य परिभाषाओं के संज्ञाहीन अङ्गीकरण और प्रचलित वाद-नानात्व में खो जाने की समस्त सम्भावनाओं को दूर रखना चाहते हैं। इसीलिए हम अपने आयोजन तथा विवेचन का परिचय नवभारत के नाम से करा देना आवश्यक समझते हैं। ‘नवभारत’ भारत के आर्थिक पुनरुद्धार की एक ऐसी सरल सुबोध-सी रूपरेखा प्रस्तुत करता है जिसमें ‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ की प्राण-प्रतिष्ठा हुई है और जिसमें समस्त विश्व के पुनरुद्धार की प्रेरणा और योजना विद्यमान है; यहाँ अर्थशास्त्र के उन्हीं अङ्गों पर और उसी रीति से जोर दिया गया है जो हमें सर्वसाधारण के व्यावहारिक जीवन का प्रत्यक्ष बोध करा सकें। अपने “उसी विवेचन और विश्लेषण समुच्चय” को हम ‘नवभारत’ कहेंगे क्योंकि विश्व के नक्शे में भारत को व्यक्त करना ही हमारा तात्कालिक लक्ष्य है।

२. अतः अपने आर्थिक दृष्टिकोण को निःशङ्क और 'विभ्रांत' रूप से स्पष्ट कर देना ही हितकर प्रतीत होता है। जेवॉन की अर्घ-व्याख्या[1] (Theory of Value) ने पश्चिम में आर्थिक विचारों (Economic Thought) को एक नया रंग दिया और धीरे-धीरे लोग इस मान्यता पर आने लगे कि अर्थशास्त्र में यथार्थतः भौतिक एवं ऐहिक स्वार्थों के साथ ही एक पारमार्थिक तुष्टि का भी विधान होना चाहिये। इसने सम्पत्ति को भौतिक की अपेक्षा मनोवैज्ञानिक महत्त्व प्रदान किया[2] या यों कि पाश्चात्य विद्वानों ने प्राच्य शिखर की ओर ऊपर उठने में दूसरा पग उठाया। यहाँ हम 'अर्थ' की वैदिक परिभाषा को लेकर भारतीय दृष्टिकोण की व्यापकता सिद्ध करने की अपेक्षा यह अधिक आवश्यक समझते हैं कि अर्थशास्त्र की प्रचलित परम्पराओं में हम अपना पारिभाषिक लक्षण एक बार सदा के लिए स्पष्ट कर दें ताकि 'नवभारत' का अर्थ समझने में किसी प्रकार की शंका न रह जाय। वास्तव में, जैसा कि धीरे-धीरे सिद्ध हो जायगा हम उन विचारकों से कुछ हद तक सहमत हैं जिन्होंने स्वीकार किया है कि भारतीय अर्थशास्त्र का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमें इसका एक राष्ट्रीय दृष्टिकोण से अध्ययन करना होगा, बल्कि इसे एक सर्वथा पृथक् विषय ही समझना होगा[3]। जैसा कि रानाडे ने कहा है, भारत में व्यक्ति को अधिकांश पाश्चात्यों के "आर्थिक जीव" का विपर्याय-सा ही समझा जाता है[4] जो गार्हस्थ्य और वर्णाश्रम धर्म के साँचों में ढला हुआ जीवन सिद्धि की ओर निश्चित ढंग से बढ़ता हुआ नजर आता है। अतएव, आवश्यक है कि वर्तमान देश-काल के सामञ्जस्य में भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन

भारतीय अर्थ-शास्त्र के अध्ययन और विवेचन में नये लक्षणों का प्रयोग

---

१ हम अंगरेजी के वैल्यू (Value) शब्द के लिए 'मूल्य' या 'कीमत' का प्रयोग करने के बजाय श्री सम्पूर्णानन्द जी द्वारा प्रचारित संस्कृत के 'अर्घ' शब्द का व्यवहार करना ही उचित समझते हैं और इसके कारण भी वही हैं जो श्री सम्पूर्णानन्द जी ने बताये हैं। देखिये 'समाजवाद' पृष्ठ ४ (भूमिका)।

2 Economics of Inheritance, by Josiah Wedgwood, P. 30

3 Indian Economics, by Jathar & Beri, Vol. 1, P. 4

4 Indian Political Economy, by Ranade, P. 10-11

के लिए नये लक्षणों (New Technique) का प्रयोग किया जाय[1] और यही एक ऐसा विशेषण है जो हमारे इस प्रयास को 'नवभारत' का नाम प्रदान करने की प्रबल प्रेरणा कर रहा है। हम देखते हैं कि एक बात से सिंध प्रान्त के किसान सुखी और समृद्धिशाली होते हुए माने जाते हैं परन्तु जब वही बात बंगाल के अकल्पनीय नरकङ्काल का कारण मानी जाती है[2] तो एक मोटी बुद्धिवाला व्यक्ति भी सहज ही पुकार उठता है कि—"अवश्य, इस वर्तमान अर्थविज्ञान में ही कोई तात्त्विक दोष है, कोई लाक्षणिक दुर्बलता है।" अतएव नये लक्षणों से युक्त एक ऐसी निर्दोष अर्थ-नीति का सहारा लेना है कि प्रचलित अर्थ व्यवस्था के घातक विरोधाभासों में पड़कर समाज नष्ट भ्रष्ट न होता रहे और साथ ही साथ अन्य लोगों को भी आगे के लिए रास्ता मिलता रहे।

(ब) नवभारत की आवश्यकता

३. यह हमारे प्रत्यक्ष अनुभव की बात है कि भारतवर्ष अपने आर्थिक पुनरुद्धार की ओर गत ४५-५० वर्षों से ही विशेष ध्यान देने लगा है, और इस छोटे से काल में हमारे संघर्षों तथा प्रत्येक रचनात्मक कार्यक्रम का अधिकांश, किसी न किसी रूप में, कांग्रेस और गांधी जी से सम्बद्ध रहा। इसी बात को यों भी रखा जा सकता है कि हमारे भावी निर्माण की वर्तमान चेष्टाओं में गांधी विचारधारा का एक प्रमुख भाग है। परन्तु खेद है कि कुछ लोग

सरल, सुबोध, और व्यावहारिक ढंग से आगे बढ़ने का साधन

---

1 Indian Economics by Jathar & Beri, Vol. 1, p. 7

"यहाँ new technique (नये लक्षण) का नाम तो लिया गया है परन्तु खेद है कि ऐसे विद्वान् लेखक भी प्रचलित परिपाटियों तथा भावधारा में सने होने के कारण न तो किसी ऐसे मौलिक लक्षणों का प्रयोग कर सके हैं और न भारत की देश-दशा की कोई व्यावहारिक रूपरेखा ही प्रस्तुत कर सके हैं। अतएव यह स्पष्ट रूप से स्मरण रखने की बात है कि 'नवभारत' के लक्षण तथा इसकी प्रस्तुति—दोनों अपनी नवीनतम वस्तु हैं।

२ देखिये अमृत बाजार पत्रिका, २३–२–४५, में सिंध के प्रधान मंत्री की बजट सम्बन्धी बहस पर टिप्पणी जहाँ युद्ध-जन्य मूल्य वृद्धि को प्रान्त की समृद्धि का कारण सिद्ध करने की चेष्टा की गयी है।

'गांधीवाद'[1] के मर्मज्ञ कहलाते हुए भी उसे एक अज्ञेय वस्तु घोषित करने में ही अपना पाण्डित्य समझते हैं[2]। जब तक सर्व-सामान्य के सम्मुख गांधीवाद की एक सुनिश्चित एवं सुबोध रूपरेखा नहीं प्रस्तुत की जाती, जबतक लोगों के सुख-दुख का तार्किक विश्लेषण नहीं किया जाता जबतक, लोगों के लिए सरल, सुबोध और व्यावहारिक ढंग से आगे बढ़ने का मार्ग

---

१ गांधी जी ने मानवता के समुत्थान के लिए वैज्ञानिक एवं सर्वांगीण योजनाएँ दी; व्यक्ति या समाज का कोई अंग नहीं जिसे उन्होंने नहीं छूया परंतु उन्होंने कोई 'वाद' नहीं चलाया। सामान्यतः 'वाद' का शाब्दिक अर्थ यही होता है कि जब किसी विचारधारा की एक परिधि निश्चित हो जाती है तो उसके दायरे में कसे हुए व्यक्ति और समाज, दोनों घूमने लगते हैं। इस प्रकार, स्वभावतः, वादों में कट्टरता (Rigidity) का समावेश हो जाता है, सारी योजना स्थितिक (Static) बन जाती है। परंतु गांधी जी ठीक इसके विरुद्ध थे; वे नैतिक और भौतिक आकाश के 'गतिमान तत्व' (Dynamic Factor) थे। विवेक और समाधान ही उनकी विचारधारा का प्रमुख लक्षण है, इसीलिए वह नित्य परिवर्तनशील है। परन्तु किसी विचारधारा का जहाँ तक सामूहिक और सम्पूर्ण बोध प्राप्त होता है उसे 'वाद' कहते हैं। 'वाद' शब्द के केवल इसी परिचायक अर्थ में हमने इसे गांधी विचाधारा के साथ जोड़ा है। इस रचना में 'गांधीवाद' शब्द का इसी खुले अर्थ में प्रयोग हुआ है।

२ "समाजवाद की थियरी (सिद्धान्त) निश्चित है परन्तु गांधीवाद का महत्त्व 'थियरी' की अपेक्षा 'प्रैक्टिस' (आचरण) में ही है। कोई मनुष्य गांधीवाद को तब तक नहीं समझ सकता जब तक उसने अपने जीवन को उसी साँचे में न ढाल लिया हो।"—"गांधीवाद की रूपरेखा", पृष्ठ ७१। वास्तव में गांधीवाद के सम्बन्ध में ऐसा कहना, मेरे विचार से, भ्रामक सिद्ध होगा क्योंकि ऐसा होने से वह सर्वसामान्य को प्रेरित करके अपना लेनेवाला मार्ग नहीं हो सकता और न वह अपने आप पनप कर जगत् मात्र को आच्छादित कर सकेगा। कम से कम, वह किसी देश या समाज का सामूहिक मान तो बन ही नहीं सकता। धर्म, मत, वाद या और जो कुछ भी कहें, होना यह चाहिये कि व्यक्ति या समूह, इसे अपने जीवन की व्यवस्था में शामिल कर सकें। यदि गांधीवाद को ही सर्वोदय कहा जाता है तो उसमें उपर्युक्त गुण का होना अनिवार्य होगा। है भी ऐसा ही। जब तक हम गांधीवाद के इसी आधार को उसके वैज्ञानिक विश्लेषणों द्वारा पुष्ट नहीं कर देते, वह सदैव हिलता डोलता-सा नजर आयेगा और लोग उसे अज्ञेय कह कर उपेक्षा करते रहेंगे। वस्तुतः, गांधीवाद को अज्ञेय कहना दुर्बल समीक्षा का दोष बन जायगा और "शव परीक्षकों" को दुष्प्रचार का अवसर प्राप्त होगा। गांधीवाद निरा दर्शनशास्त्र ही नहीं बल्कि वह मनुष्य का एक व्यावहारिक विधान भी है जो वैज्ञानिक और सामूहिक व्यवहार, आत्मानुभूति और वैज्ञानिक विश्लेषण—प्रत्येक के लिए समान रूप से सुलभ है।

निर्धारित नहीं कर दिया जाता हमारी सारी बातें आर्थिक विधान नहीं, केवल दिमागी कसरत रह जायेंगी। संसार के सुख साधन की व्यवस्था केवल बौद्धिक समीक्षा से नहीं, एक ऐसे वैज्ञानिक आयोजन से सम्भव होंगी जिसे लोग शोषणात्मक और संहारी प्रवृत्तियों के स्थान में रचनात्मक और सृजक स्वरूप व्यवहृत कर सकें।

शोषणात्मक और संहारी प्रवृत्तियों के स्थान में रचनात्मक भावधारा

(स) नवभारत का आर्थिक दृष्टिकोण

४. सदियों की दासता के बाद भारत स्वतंत्र हुआ, परन्तु देश का दुख घटने के बजाय बढ़ गया है; जनता दुर्बल और निरीह होती जा रही है, देश का आर्थिक प्रवाह गतिहीन-सा हो रहा है, श्रम और उत्पादन में लोगों को, मानो, उत्साह नहीं, जीवन भारी बोझ बन रहा है; अन्न-वस्त्र के अभाव से उत्पीड़ित, घर-द्वार की तंगी और फटेहाली से व्यग्र, जीवन सुख से शत-प्रतिशत वंचित, दीन, दलित, शोषित और शासित, रोगी तथा चिन्तित जनबाहुल्य स्वतंत्रता के बावजूद भी दिन पर दिन बढ़ता ही जा रहा है। ऐसी दशा में हमारा आर्थिक विवेचन यदि कुछ भी हो सकता है तो वह केवल इस नरभक्षी कंकाल को दूर करने का एक वैज्ञानिक आयोजन ही होगा, जहाँ रोग और भूख से मर-मर कर सड़कों पर सड़ती हुई लाशों के बीच भव्य मोटरों में[1] सुस्वादिष्ट भोजन से परिपूर्ण निर्मोही (unfeeling) सवारियों की स्वच्छन्द गति देखने को न मिले, जहाँ छोटे-बड़े के बीच कोई निर्वन्धनीय दूरी न हो, जहाँ उन्नति और उत्थान की दौड़ में सबके लिए सुख सम्पदा का समान अवसर हो, जहाँ समाज को श्री और समृद्धि की प्राप्ति में कोई कृत्रिम बाधा न हो। यदि ऐसा नहीं है,

नरभक्षी कंकाल को दूर करने के लिए एक वैज्ञानिक आयोजन की आवश्यकता

उन्नति और उत्थान की दौड़ में सबके लिए सुख-सम्पदा का समान अवसर होना चाहिये

---

१. काशी की सड़कों पर भिखमंगों की लाशें प्रायः मिला करती हैं। अभी उस दिन मछोदरी पार्क की सड़क की पटरी पर एक लाश मिली, जो कोई उठानेवाला न होने के कारण बहुत देर तक पड़ी रही। इसके कुछ दिन पहले गायघाट की चौमुहानी पर ऐसी ही एक लाश पड़ी थी। क्या इन भिखमंगों के सम्बन्ध में नगर का कोई कर्तव्य नहीं है? भूखों मरनेवाले इन अभागों को पूछनेवाला भी कोई नहीं?—'संसार'।

यदि करोड़ों भूखी हड्डियों पर कुछ लोगों को गुलगुल मांस का स्तूप बनने का विधान है, यदि घास-फूस के खाली घरों के जोड़ से इम्पीरियल बैंक के स्वर्णपूर्ण केन्द्र स्थापित करने के तरीके हैं, यदि रोटी के टुकड़ों के लिए रें-रें, भिनकते हुए नंगे लोगों को रेशम और किमख्वाब से लदे हुए प्राणियों द्वारा उपेक्षित होना पड़े तो हम ऐसे विधान को अर्थशास्त्र या विज्ञान नहीं, झूठ, फरेब, मक्कारी और राहज़नी कहेंगे और नवभारत में ऐसे आयोजन को स्वप्नवत् भी स्थान नहीं प्राप्त है। यदि भूखे, नंगे, गृहहीन, दीन-दुर्बल लोगों के श्रम और उत्पादन, उनके कर और लगान से अमीरों की सम्पत्ति स्थिर होती है, दिल्ली में या लखनऊ में मंत्री भवन, धारा-सभा तथा आतिथ्य गृह की भव्य अट्टालिकाएँ खड़ी की जाती हैं, यदि धूल और रोग से भरे हुए जीवनहीन गाँवों के नाम पर कनाट सर्कस और हजरतगंज में चौड़ी-चौड़ी सड़कें तैयार की जाती हैं, यदि रोटी-धोती के लिए मुँहताज नर-कङ्कालों पर हुकूमत करने के लिए करोड़ों, अरबों के व्यय से चलनेवाली एक जटिल सरकार का खर्च निकाला जानेवाला करपूर्ण विधान तैयार होता है तो हम निःशंक होकर कह देंगे कि वह व्यवस्था सर्वथा दूषित और मानवता (Human values) से शून्य है, भले ही इसके संचालक और प्रणेता हमारे ही अपने आदमी क्यों न हों। ऐसी व्यवस्था से राष्ट्रीय आय (National Dividend) भी दूषित हो जाती है। नवभारत ऐसी अवैज्ञानिक, दूषित और अमानुषिक व्यवस्था का कदापि समर्थन नहीं कर सकता[1]

---

1. I do not draw a sharp line or distinction between Economics and Ethics. Economics that hurt the wel-being of an individual or a nation are immoral and therefore, sinfull. —Gandhiji, Young India, 13, 10, 21. An Economics that inculcates Mammon worship and enables the strong to amass wealth at the cost of the weak is a false and dismal science—

Gandhiji, Harijan, 9-10-37

The economics that disregard moral and sentimental considerations are like wax works that being life like, still lack the life of the living flesh—

Gandhiji, Young India, 27-10-21.

जिसमें जनता की सुख-समृद्धि को नहीं, कुशल और योग्य पुकारी जाने-वाली केवल एक, अनावश्यकतः, महँगी और जटिल सरकार को ही बल प्राप्त होता है[1]।

५. संसार की वर्तमान दुरंगी को नवभारत अनीति समझता है; वह कभी स्वीकार नहीं कर सकता कि एक को दूसरे के खून से मोटा होने की व्यवस्था की जाय, वह कभी नहीं देख सकता कि हमारी फूल-सी बहनें पेट के लिए दालमंडी, फारस रोड या कलकत्ता के नारकीय जीवन में घुलघुल कर मर मिटें। नवभारत की आर्थिक योजनाएँ नैतिक साम्य से ही संचारित होती हैं। जैसा कि गांधीजी कहते हैं, अर्थ और नीतिशास्त्र को नवभारत एक-दूसरे से पृथक् नहीं समझता[2]। जिस आर्थिक विधान में व्यक्ति

दयनीय दुरंगी

---

1 Industrial Survey Committee Report, C. P. and Berar Govt. 1939, Vol I, Part 1, Page 2,—इस जटिल और महँगी सरकार के स्थान में एक सरल और सस्ता शासन स्थापित करने के लिए ही नवभारत वस्तु विनिमय और पंचायती राज की सलाह देता है।

2 "Ideas of social justice and public morality do enter into what people find to be best and that the ethical aspects of an economic system cannot be regarded as irrational or even as non-economic consideration."—Economics of Inheritance. p. 52.

आचार्य कृपालानी ने 'राजनीतिक बकवास' के शीर्षक से 'विजिल' (२४-६-५० तथा १-७-५०) में एक महत्वपूर्ण लेख लिखते हुए अर्थशास्त्र की व्याख्या की है। वहाँ उन्होंने सुन्दर ढंग से सिद्ध किया है कि अर्थशास्त्र गणित या ज्योतिष शास्त्र के समान कोई स्वतंत्र या अकेला विषय नहीं है। यह, प्राचीन अंग्रेज़ अर्थशास्त्रियों के मतानुसार केवल "उत्पादन, वितरण और विनिमय" तक ही नहीं खतम हो जाता। वस्तुतः, यह जीवन का सम्पूर्ण व्यापार है और इसमें व्यक्ति और समाज की रचना सन्निहित है। प्रत्येक के कार्य से दूसरे का सम्बन्ध है, प्रत्येक लेनदेन में सामूहिक हित-अहित की गति स्थिर होती है इसलिए अर्थशास्त्र को जीवन विज्ञान के पैमाने में रखकर देखना अधिक श्रेयस्कर है।

दूसरी बात उन्होंने यह सिद्ध की है कि अर्थशास्त्र के सिद्धांत विद्युत, गणित या रसायन शास्त्र के समान सार्वभौमिक एकरूपता नहीं धारण कर सकते। भिन्न-भिन्न क्षेत्र और देश, भिन्न-भिन्न राष्ट्र और समाज की स्थानीय और प्रादेशिक आवश्यकताओं के अनुसार ही कार्य होता है। इसका पारस्परिक सहयोग और सामञ्जस्य हो सकता है, एकरूपता नहीं। नवभारत को समझने के लिए हमें इन बातों को ध्यान में रखना होगा।

या राष्ट्र का सौम्य स्वरूप नष्ट हो, उसके कल्याण पर आघात हो, वह विधान नहीं, अनीति है। अनीति अर्थात् पापाचार है। वास्तव में, जब तक आर्थिक निर्माण का उत्तरदायित्त्व मनुष्य की नैतिकता पर अवलम्बित नहीं होता, समाज की संघटन-धुरी टूट जायगी, बेकारी और शोषण[1] का महारोग समस्त संसार को नष्ट-भ्रष्ट कर देगा। किसी भी शुद्ध आर्थिक विधान में शोषण और दासता को स्थान नहीं हो सकता। इतना ही नहीं, बल्कि हमारी अर्थनीति में एक आध्यात्मिक बल भी होना चाहिये[2], ताकि मनुष्य की आर्थिक स्फूर्तियाँ विकास की लम्बी यात्रा में प्रबल परिणाम उपस्थित कर सकें। इसी बात को और भी आगे बढ़ कर गाँधी जी दूसरे ढंग से यों कहते हैं—अर्थशास्त्र का वास्तविक मूल्य यही है कि वह मनुष्य का धर्म बन सके[3] अर्थात् जो बात धर्मरूप से ग्रहण नहीं की जा सकती वह त्याज्य है और समाज का उससे कोई स्थायी हित होना भी असम्भव है।

अर्थ और नीति शास्त्र एक दूसरे से पृथक नहीं हैं

६. भारतीय अर्थशास्त्र की नींव समाज शास्त्र पर खड़ी होनी चाहिये। यही कारण है कि यहाँ सर्वप्रथम मानव समाज के मौलिक तत्त्वों और उसकी अन्तर-धाराओं पर विचार करते हुए मनुष्य की आर्थिक प्रेरणाओं को स्थिर करने की चेष्टा की गयी है। दृष्टान्ततः, भारतीय समाज शास्त्र का अध्ययन करते समय हम देखते हैं कि यहाँ सती और सद्गृहस्थ को विशेष महत्त्व दिया गया है क्योंकि दोनों के पारस्परिक सहयोग और सुपरिश्रम से ही गृहस्थाश्रम की जीवन-बेल हरी-भरी रहती थी, क्योंकि इस गृह समूह से ही उसके

भारतीय अर्थशास्त्र का मौलिक आधार

---

१. शोषण में हिंसात्मक प्रवृत्तियाँ प्रधान होती हैं, इसीलिए गांधीवाद के महापण्डित, अ० भा० ग्रा० उ० संघ के मंत्री, ने '४१ की अपनी वार्षिक रिपोर्ट में आर्थिक आयोजन के लिए अहिंसात्मक आधार की आवश्यकता बतायी है।—पृष्ठ १

२. गांधीजी, यंग इण्डिया; १५-९-२७।

३. गांधीजी, यंगइण्डिया, १५-९-२७। सर अकबाल ने इसी भाव को यों अंकित किया है—"जलवये बादशाही हो या जम्हूरी तमाशा हो। जुदा हो दीन सियासत से तो रह जाती है चंगेजी," अर्थात् धर्महीन व्यवस्था केवल लूट खसोट है।

समाज का रूप निर्म्मित हुआ था अर्थात् समाज की सुख-सम्पदा का सूत्र सुदृढ़ गार्हस्थ्य और दाम्पत्य विधान में छिपा हुआ है। यह भी एक सर्वनिष्ट (Common) बात है कि समाज की श्री और समृद्धि, उसका विकास, दृढ़ता और स्थायित्व, उसके आकार-प्रकार, उसके पोषक और विधायक अवयवों से ही संपुष्ट होते हैं; अतएव भारत की आर्थिक स्थिति को समझने के लिए समाजशास्त्र पर भी एक सूक्ष्म दृष्टिपात करना आवश्यक हो जाता है, ताकि भारत की उस विशेष समाज रचना को समझने में सहायता मिले जिसने इसे एक विशेष आर्थिक विधान की प्रेरणा दी थी।

भारत की आर्थिक स्थिति को समझने के लिए उसके समाज शास्त्र को समझना होगा

७. किसी देश का आर्थिक स्वरूप उसकी भौगोलिक स्थिति पर निर्भर करता है, यही कारण है कि भारतीय सभ्यता, स्वभावतः, पाश्चात्य के प्रतिकूल 'शहरी' संकुचन की अपेक्षा ग्राम्य विस्तार पर अवलम्बित है जो (ग्राम्य विस्तार) हमारी भौगोलिक परिस्थितियों में सहज ही प्राचुर्य्य को प्राप्त करने की असीम क्षमता रखता है। इसे समझे बिना लन्दन और न्यूयार्क की योजनाएँ अपनाने से नतीजा भयंकर होगा, हो रहा है। अस्तु, यहाँ हम केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि हमें जनवृद्धि के लिए अमित और स्वच्छन्द साधन प्राप्त हैं[1] और इस विशेषता का ही प्रभाव कहना चाहिये कि उत्पादन के दो मुख्य साधनों—श्रम और पूँजी—में से हमारे पास श्रम (मानव तथा पशु) का बाहुल्य सदा से चला आया है। परिणामतः भारत का आर्थिक संघटन, पूँजी नहीं, श्रम-प्रधान होना चाहिये[2]। परन्तु

किसी देश का आर्थिक स्वरूप उसकी भौगोलिक स्थिति पर निर्भर करता है

---

१. इस सम्बन्ध में यह भी समझ रखने की बात है कि किसी देश की जनसंख्या को ही देखकर हम जनाधिक्य (Over Population) की घोषणा नहीं कर सकते। यदि लोगों को भोजन तथा जीवन सुविधाओं के पर्याप्त साधन प्राप्त हैं अथवा बढ़ती हुई जनसंख्या के साथ ही हमारी उत्पत्ति भी बढ़ रही है तथा उसे बढ़ने के पर्याप्त साधन उपलब्ध हैं तो हमारे सम्मुख जनाधिक्य का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। अभिप्राय यह कि जनसंख्या और उत्पत्ति, दोनों परापेक्षित शब्द हैं। (Relative terms) शब्द हैं।

2 Industrial Survey Committee Report, C. P. & Berar Govt. 1939 Vol. 1, Part 1, p. 2-3—वर्तमान युद्धोत्तर बेकारियों को ध्यान में रखते हुए यह प्रस्ताव और भी पुष्ट हो जाता है।

इन पिछली दो शताब्दियों से उलटी ही धारा बही है जिसने हमारे समस्त जीवन क्रम को विघटित-सा कर दिया है। आज वस्तुस्थिति यह है कि हमें न तो उत्पादन क्रम को तीव्र करना और न साम्यवादी बटवारे की समस्या सुलझानी है बल्कि इन सबको हाथ में लेने के पहले, सबसे पहले, श्रमबाहुल्य को लेकर सारा आर्थिक ढाँचा ही फिर से खड़ा करना है।

भारतीय सभ्यता ग्राम-प्रधान है

८. हम कह चुके हैं कि भारतीय सभ्यता ग्राम्य-प्रधान है अतएव इसके आर्थिक संघटन की भित्ति ग्राम्य सम्पन्नता पर ही खड़ी की जा सकती है। देश-देशान्तरों के व्यापक संपर्क, वाणिज्य-व्यवसाय के वैदेशिक श्रेय को लेते हुए हमारे आर्थिक विधान में स्वसम्पन्नता (Self-contentedness) की ही प्राण-प्रतिष्ठा होनी चाहिये। जीवन पदार्थों की पूर्ति यथा-साध्य, उसी गाँव या प्रान्त की सीधी-सादी अदल-बदल द्वारा सुलभ बना लेना अधिक हितकर है।[1] परिणामतः, सरल से विनिमय के लिए किसी दुरूह और पेचदार माध्यम की आवश्यकता ही नहीं प्रतीत होगी। परन्तु आज हम कच्चे माल के उत्पत्ति स्थान और उनके कारखानों के बीच लम्बी दूरी होने तथा उत्पादन के व्यापारीकरण और अंतर्राष्ट्रीय परावलम्बन[2] की लाचारियों के साथ ही एक कृत्रिम और अस्वाभाविक "मुद्रानीति" (Money Economy) के शिकंजे में फँसकर जीवन-मरण की श्वासें ले रहे हैं। पश्चिम में मुद्रा की आवश्यकता अनिवार्य हो सकती है जहाँ एक देश को किसी दूर दराज देश की उपज से जीवन की आवश्यकताएँ पूरी करने के निमित्त सुगम विनिमय तथा

---

१. नवभारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ६३, टिप्पणी।

२. अन्तर्राष्ट्रीय परावलम्बन का विरोध करते समय नवभारत के सम्मुख प्रतिरोधी राष्ट्रों का प्रश्न नहीं उठता। वास्तव में नवभारत का राष्ट्रवाद 'नाजी' या 'फासिस्ट' विचारों के विरुद्ध विश्व व्यवस्था के एक आधारात्मक अवयव (ingredient) के रूप में ही प्रस्तुत होती है, ठीक उसी प्रकार जैसे स्वतः राष्ट्र का अपने देश के स्वसम्पन्न नगर तथा ग्राम्य विस्तार के योग से ही स्थितिभूत होना सम्भव है। दुःख-दारिद्र्य से उत्पीड़ित प्रतिस्पर्धीय तथा प्रतिहिंसक राष्ट्रों के कृत्रिम समूहकरण को नवभारत अशान्तिकर तथा अनर्थ (Non Economic) समझता है। नवभारत का लक्ष्य वह व्यवस्था है जो सुखी, स्वस्थ और सबल राष्ट्रों को लेकर निर्मित होती है, जैसे एक उन्नतिशील समाज के लिए सुखी, सम्पन्न और स्वतंत्र व्यक्तियों का स्वयम्भू सहयोग प्राथमिक आवश्यकता प्रतीत होती है।

स्वगामी मुद्रा से ही स्वार्थ सिद्ध होता है, परन्तु भारतीय परिस्थितियाँ पश्चिम के बिलकुल विपरीत हैं; अतएव यहाँ 'मुद्रानीति' के बजाय "वस्तु विनिमय" (Barter) को ही प्रामुख्य प्राप्त हो सकता है। नवभारत में इस विषय पर विशेष विस्तार से विचार किया गया है, परन्तु

वस्तु विनिमय और 'मुद्रानीति'

यहाँ इतना तो कह ही देना चाहिये कि मुद्रा के असीमित व्यवहार और स्वच्छन्द प्रवाह ने संसार के प्राकृतिक "अर्थ" (Economics) को ही नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है। नवभारत में इसे आर्थिक वैषम्य का एक प्रबल कारण सिद्ध किया गया है जहाँ मुद्राधिपतियों को साधारण लोगों पर सहज ही सौदागरी प्रभुत्व (Bargaining power) प्राप्त हो जाता है। एक मुद्राधिपति मुद्राहीन लोगों से अधिक दृढ़ता और स्वार्थपूर्वक सौदा करता है और इस प्रकार वस्तु का वस्तु से कभी भी समान और स्वाभाविक विनिमय हो ही नहीं सकता। विनिमय विधान के दूषित हो जाने से समाज का जीवन क्रम ही दूषित हो जाता है। इतना ही नहीं, वस्तु के बजाय माध्यम अर्थात् साध्य (End) के बजाय साधन (Means) का प्राबल्य स्थापित हो जाता है, "माँग और पूर्ति की प्रेरणाएँ" अर्थहीन हो जाती हैं[१]। मुद्रानीति को वर्तमान रूप में ग्रहण

दूषित विनिमय विधान का परिणाम

कर लेने का अर्थ यह है कि नश्वर (वस्तु पदार्थ) का 'अविनाशी' (मुद्रा) से विनिमय किया जाता है और इस प्रकार एक को दूसरे के साथ अनुचित दौड़ लगानी पड़ती है[२]। यह तो हम नित्य देखा करते हैं कि बेचारे गरीब किसानों को केवल अपना कर्ज और सरकारी लगान चुकाने के लिए अपने खून से उपार्जित अन्न का अधिकांश खेत से घर आने के पूर्व ही, सेठ-साहूकारों के हाथ, उन्हीं के मनचाहे दामों पर, बेंच देना पड़ता है। यह दशा और भी हृदय विदारक बन जाती है जब बेचारे उस किसान को उन अपने ही उपार्जित दानों-दानों के लिए मुहताज हो जाना पड़ता है अथवा अपने पाये हुए मूल्य

---

१. नवभारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ६७-६६

2. Industrial Survey Committee Report C. P. & Berar Govt. Part 1, Vol 1. P. 4.

से भी अधिक चुकाने के पश्चात् उसे उन दोनों को फिर वापस लेना पड़ता है।[1]

मुद्रा में स्थायित्व का होना परमावश्यक हो गया है ताकि वह वर्षों तहखानों में दबे रहने पर भी खराब न हो सके परन्तु विरोधाभास तो यह है कि इस स्थायित्व ने ही संसार की व्यवस्था को भ्रष्ट कर दिया है। इससे लोगों को मनमाना खर्च करने का अवसर मिलता है और वे अपने खर्च में समाज या राष्ट्र की आवश्यकताओं को सुगमतापूर्वक नजर अन्दाज कर जाते हैं[2]। अतएव नवभारत के आर्थिक आयोजन में "मुद्रानीति" की अपेक्षा "वस्तु विनिमय" को विशेष स्थान प्राप्त है।

मुद्रा के स्थायित्व ने संसार की अर्थ व्यवस्था को भ्रष्ट कर दिया है

मुद्रानीति को यदि त्याग दिया जाय तो, विवशतः, सरकार को अपनी शासन व्यवस्था-वस्तु पदार्थ के आधार पर खड़ी करनी पड़ेगी। परिणामतः, शासन अति सरल और अधिक निर्दोष तथा सरकार सस्ती हो जायेगी।[3]

९. देशस्थ व्यवहार में सरकारी सुव्यवस्था के अतिरिक्त, सामाजिक शान्ति के निमित्त भी मुद्रा-नीति का परित्याग आवश्यक प्रतीत होता है। यह सर्वविदित दशा है कि वर्तमान युग में आर्थिक अस्थिरता का एक बहुत बड़ा कारण मुद्रानीति से ही उत्पन्न होता है जहाँ नित्य साम्पत्तिक उलट-फेर की हृदय विदारक लीलाएँ देखने में आया करती हैं जो सामाजिक अशान्ति की कटुतर प्रेरणा करती रहती हैं। अतएव नवभारत को, विवशतः, ऐसी व्यवस्था पर दृष्टि डालनी पड़ती है जहाँ समाज विकासमान दृढ़ता के साथ उन्नति पथ में न्यूनतम अड़चनों के साथ अग्रसर हो सके।

मुद्रानीति का परित्याग आवश्यक है

(अ) इतना कहने के बाद नवभारत के आर्थिक दृष्टिकोण का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पक्ष उपस्थित करना नितांत आवश्यक मालूम होता है :—

---

1. Indian Economics, Jathar & Beri, Vol. I p. 150.

२. नवभारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १०६-१०७

३. देखिये नवभारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ११६

कुछ लोगों का ख्याल है कि प्रकृति ही इस सृष्टि का मूल कारण है; जो कुछ है प्रकृति ही है। इसमें यह जो जीवन नजर आता है वह भी इस जड़ प्रकृति का ही रासायनिक क्रम है। बुद्धि, विवेक, मन, अंतःकरण, सबको इसी संदर्भ से समझना होगा। इसीलिए वे व्यक्ति को नहीं, समूह को ही स्वीकार करते हैं—व्यक्ति तो समूह का एक अंश, एक अंग मात्र है। और इसीलिए वे राष्ट्रीय यानी केन्द्रित उद्योग और सामूहिक कृषि के विरुद्ध व्यक्तिगत व्यवस्थाओं को अप्राकृतिक बताते हैं।

जड़ और चेतन के दृष्टि भेद से आर्थिक रचना का भेद

(ब) परन्तु नवभारत इस जड़ प्रकृति के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए भी इसके लिए एक चेतन सत्ता को अनिवार्यतः आवश्यक समझता है। इसीलिए वह आदमी को लेकर, न कि उसकी सड़क और उसके मकानों को लेकर, अपनी सारी योजना तैयार करता है।

पहली दृष्टि में वैवाहिक भत्ते और कृत्रिम मैथुन के द्वारा आदमी की पैदावार, आवश्यकतानुसार, लोहे और सीमेन्ट के समान बढ़ाने और घटाने के तरीके होते हैं, हरी-भरी बस्तियों को उजाड़ कर सड़कें सुन्दर और चौड़ी की जाती हैं, प्राकृतिक साधनों को, आदमी को नहीं, विकसित किया जाता है। दूसरी दृष्टि में आदमी को सुखी, स्वालम्बी और स्वसम्पन्न बनाने की आवश्यकता होती है। यही सही और नवभारत की दृष्टि है।

इसी सिलसिले में पूँजी और श्रम के सवाल को समझ लेना जरूरी है। हमारा सारा साम्पत्तिक उत्पादन पशु, मनुष्य और उसके पुरुषार्थ को लेकर आयोजित होता है, पूँजी के आधार पर नहीं। मनुष्य के बजाय पूँजी को महत्त्व देना शुद्ध पूँजीवाद है, भले ही पूँजी पर एक के बजाय अनेक का, व्यक्ति के बजाय सरकार का नियंत्रण हो। पर है यह पूँजीवाद यानी जड़वाद। जबतक हम पूँजी का आश्रय नहीं छोड़ते मानव का मूल्य स्थापित हो ही नहीं सकता।

जड़ और चेतन के इस दृष्टिभेद को ध्यान में रखकर ही हमें नवभारत का अध्ययन करना है।

(स) अब अन्त में, यह भी समझ लेने की जरूरत है कि 'नवभारत' व्यक्ति को समाज की एक सुदृढ़ और चेतन इकाई के रूप में पुनर्स्थापित करना चाहता है। इसके लिए आवश्यक है कि मनुष्य अपनी मूल

भूत आवश्यकताओं के बारे में अधिकाधिक स्वावलम्बी और स्वसम्पन्न हो। अन्न, वस्त्र, निवास, स्वास्थ्य और शिक्षा—ये मनुष्य की पाँच मूलभूत आवश्यकताएँ हैं। इनकी व्यवस्था "क्षेत्रस्थ सम्पन्नता" एवं "स्वाश्रय" सिद्धांतों से होनी चाहिये। इस प्रकार "क्षेत्रस्थ सम्पन्नता" और "स्वाश्रय" नवभारत की अर्थनीति के दो महत्त्वपूर्ण अँग और दो प्रमुख लक्षण हैं। इन दो सूत्रों को समझ लेने से नवभारत के सारे प्रस्ताव, सारी योजनाएँ आसानी से समझी जा सकती हैं।

(-द) नवभारत का रचनात्मक आधार*

१०. वर्तमान संसार की दशा बड़ी शोचनीय है। विश्व में संहारी नरमेध की प्रचण्ड ज्वालाएँ धायँ-धायँ जलती हुई फैलती ही जा रही हैं। करोड़ों, अरबों लोग भूख, दरिद्रता, रोग और उत्पीड़न के चक्र में नियमित रूप से घुलघुल कर नष्ट हो रहे हैं। गार्हस्थ्य विधान छिन्नभिन्न हो गया है। बड़े-बड़े बैंकों के सुदृढ़ 'स्ट्राँग रूम' भी सुरक्षित नहीं मालूम पड़ते। हमारी धन राशि को मुद्रास्थिति बहाये ले जा रही है।

वस्तुस्थिति

विमानों द्वारा देवलोक की सैर के स्थान में विस्फोट वर्षाये जा रहे हैं। नित्य नये रोग पैदा हो रहे हैं, डाक्टरी विज्ञान भी परेशान है। चारों ओर खून की नदियाँ बह रही हैं, व्यभिचार और भ्रूण हत्या, चोरी और राहजनी का बाजार गर्म है। रोटी के लाले पड़े हुए हैं, भाई-भाई का गला काटकर आराम की खोज में भटक रहा है। एक देश दूसरे को हाड़ और माँस सहित हड़प जाने की फिकर में सर्वस्व की बाजी लगा बैठा है। कोकेन और गुलामी का व्यापार संगठित रूप से चल रहा है। उद्धार का मार्ग छोड़कर हम तेजी से पतन की ओर बढ़ते जा रहे हैं।

आखिर यह सब है क्या? प्रो० टॉसिग लिखते हैं—'यह कलयुग (Age of Machinery) है। इसकी विशेषता है मशीन प्रयोग की पारिणामिक दशा।"

यह कलयुग है!

११. हमारे कार्यक्रम का ढंग बदल गया है। जुलाहे, बढ़ई, किसान और कारीगर का अस्तित्व मिटता जा रहा है, जो प्रत्येक वस्तु बनाकर

---

* यह स्थल मेरी बहुत पूर्व प्रकाशित रचना 'कलयुग' से लिया गया है। 'कलयुग' कल निराकरण के प्रस्ताव में विशेष रूप से लिखा गया था।

कार्य करने का ढङ्ग-भूत और वर्तमान

देखते थे, देखकर पहले स्वयं प्रसन्न होते थे और इसमें अपना पुरुषार्थ मानते थे; उन्हें कार्य में अभिरुचि थी, आत्मसंतोष होता था और इस प्रकार संसार के प्रत्येक कार्य, प्रत्येक पदार्थ, में मानव (Human Touch) का समावेश होता था। खरीदार के साथ विचार-विनिमय के पश्चात् आवश्यकतानुसार, चीजों में पुनः सुधार या कमी-वेशी की जाती थी। इस प्रकार बनाने और बरतनेवालों के पारस्परिक आत्म-संतोष के साथ प्रत्येक कार्य में अभिरुचि और प्रत्येक वस्तु के सदुपयोग की व्यवस्था की जाती थी। परन्तु अब कारीगर मनुष्य नहीं, "कल-कारखानों" का एक अंग है, जो प्रतिक्षण, प्रतिदिन उसी नन्हें से कार्य में लगा हुआ है ?[1] बल्कि वह अब "स्वगामी यन्त्र" (Automaton) मात्र अवशेष रह गया है जिसके 'भरोसे' पर कलकारखानों की दुनिया घड़घड़ाती हुई आगे ही आगे लड़खड़ाती जा रही है।

अब कारीगर मनुष्य नहीं, कल का पुर्जा मात्र है

वास्तव में मनुष्य अब मशीनों का पुर्जा मात्र रह गया है, जैसे पुर्जा संपूर्ण मशीन के बिना व्यर्थ है, उसी प्रकार मनुष्य मशीनों के बिना कार्य करने के गुण को त्यागता जा रहा है और इस प्रकार मशीनों पर उसकी आत्मनिर्भरता उसके मानव माहात्म्य को निर्मूल बनाती जा रही है। मशीनों को लेकर मनुष्य प्रकृति पर विजय का सिंहनाद करने लगा है। वह रोज कारखाने जाता है, निश्चित समय तक काम करके चला आता है। उसने क्या बनाया, शायद उसे यह भी नहीं मालूम। कार्य या वस्तु के संपूर्ण ज्ञान से भी बेचारा यह विशेषज्ञ वञ्चित हो गया है। वह शकल तो अब भी मनुष्य की पूरी-पूरी रखता है परन्तु उसका वस्तु-ज्ञान घटता ही जा रहा है। हम उसे मनुष्य कह सकते हैं पर वह अब पूरे के बजाय आंशिक ज्ञान को लेकर अधूरा ही रह गया है। उसने जो कुछ बनाया—कहाँ गया, कौन जाने ? परिणामतः, बनानेवाले का बरतनेवाले से कोई लगाव, कोई सरोकार नहीं। अमेरिका में पशु मारे

मनुष्य है, पर अधूरा ही

1. A factory hand, attending hour after hour, week after week, to the same minute piece of work—Principles of Economics, Prof. Taussig P. 10

जाते हैं, वहीं पकाकर डिब्बों में बन्द करके इंग्लैण्ड के घरों या चीन की खाइयों में खाये जाते हैं, परन्तु पकाया किसने, खाया किसने—कोई नहीं जानता। न किसी को किसी से शिकायत है, न कोई किसी के भले-बुरे का देनदार है। इतना ही नहीं, बनानेवाले का बनानेवाले से भी कोई वास्ता नहीं। हजारों लोग, एक-एक कारखाने में, प्रातः भेड़-बकरियों के समान घुस जाते हैं और सन्ध्या समय कुछ पैसों के लिए पशुवत् परिश्रम के उपरान्त, घर रूपी दो चार हाथों के संकुचित परिमाण से बने हुए 'दरबों' में भेड़-बकरियों के समान ही रोग ग्रस्त और अभावपूर्ण जीवन की यातना झेलने के लिये जा रहते हैं। इस प्रकार बढ़ी हुई मजदूरी की तृष्णा में मानव अपने स्वत्व का ही दाँव लगाकर, नित्य, निरन्तर, गाड़ी के पहिये के समान घूमता जा रहा है।

१२. मशीनों के साथ मशीन बनकर, लोग निश्चित ढर्रे में लगे रहते हैं, उन्हें आपस में निजी सलाह-मशिवरे की भी जरूरत नहीं पड़ती।

अब स्वार्थ मनुष्य का जीवन लक्षण बन गया है

मशीनों के ढाँचे में, हमारा उत्पादनक्रम स्वच्छन्द विस्तार को प्राप्त हो रहा है। परिणामतः, लोगों का पारस्परिक सम्बन्ध कृत्रिम हो गया है। इस प्रकार कारखानों की परिधि में संसार की गाड़ी उलट-पुलट रही है और वस्तुस्थिति यह है कि लोग अपनी-अपनी में उलझ गए हैं, स्वार्थ मनुष्य का जीवन लक्षण बन गया है।[1]

१३. पहले जुलाहे कपड़े बुनते थे, कारीगर घर बनाते थे, लुहार, सुनार, जौहरी सभी अपने-अपने धंधे में लगे हुए थे। आज चारों ओर बेकारी नजर आ रही है[2]। अब ग्राम्य व्यवस्था नष्ट-भ्रष्ट हो गयी है,

---

१. करोड़ों प्राणी की बलि देकर भी संसार में मिल कर रहने और जीने, बढ़ने योग्य किसी समझौते के लक्षण दृष्टिगोचर नहीं हो रहे हैं जो इसी मशीन जनित स्वार्थान्धता का प्रमाण है।

२. यदि रूस को लेकर कहा जाय कि वहाँ बेकारी नहीं है तो इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान में रखना होगा कि वहाँ कार्य और श्रम के कृत्रिम अनुपात का व्यवहार हुआ है और लोगों की आवश्यकता की पूर्ति भी कृत्रिम रूप से की गयी है, अर्थात् अपूर्ण कार्य के लिए पूर्ण मजदूरी दी गयी है या राष्ट्रीय आयोजन के नाम पर उचित से अधिक परिश्रम लिया गया है। पहली दशा में इंग्लैण्ड की बेकारी के भत्ते और रूस की मजदूरी में कुछ अन्तर नहीं; वास्तव में दोनों बेकारी के केवल दो रूप हैं। दूसरी दशा में रूस के समूहवादी और इंग्लैण्ड के पूँजीवादी श्रम को समान ही समझना चाहिये। अन्तर केवल यही है कि वहाँ वैयक्तिक पूँजीवाद है, यहाँ सरकारी। इसके अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता क्योंकि मशीनाश्रित उपज की लाक्षणिक परिभाषा ही ऐसी है।

स्वसम्पन्नता एक दुःखान्त स्वप्न के रूप में शेष है।

चतुर्दिक बेकारी गाँववालों को खेत में बीज डालकर फसल काट लेना भर ही शेष रह गया है, यहाँ तक कि धान की भूसी भी खेत से सैकड़ों मील की दूरी पर छुड़ाई जाती है। तैयारी यह है कि जोतना, बोना, या खेत काटना, मनुष्य को कुछ भी न करना पड़े और पका-पकाया सुन्दर, स्वादिष्ट भोजन उसके मुँह से अपने आप उसके पेट में जा बैठे। प्रत्येक काम के लिए मशीनें बन रही हैं और एक-एक मशीन हजारों मनुष्य का कार्य करती हैं और एक-एक कारखाने में अनेकों कार्य होते हैं। कारखाने में थोड़ा काम होता नहीं, वरना कारखाने का खर्च भी निकालना कठिन हो जाय। इस प्रकार एक कारखाना हजारों, लाखों लोगों की आवश्यकता पूरी करता है। जितने कारखाने होंगे उतनी ही अधिक उपज होगी और फिर उसकी खपत के लिए ग्राहक और बाजार चाहिये। यहाँ आकर प्रतिस्पर्धा, द्वन्द्व और वैमनस्य का जन्म होता है। बाजार और खरीदारों को काबू करने के लिए जब चालबाजी और धोखे से भी काम नहीं चलता तो युद्ध छिड़ता है। रूस और जापान, जापान और अमेरिका, अमेरिका और जर्मनी, जर्मनी तथा इंग्लैण्ड का मरणान्तक युद्ध इसीलिए होता है[1]। राष्ट्र-राष्ट्र में खून की नदियाँ बहती हैं, प्रतिस्पर्धा तथा व्यावसायिक द्वन्द्व के कारण व्यापार

मशीनों का बाह्य प्रभाव मारे जाने से लगे-बंधे मजदूरों की भी मजदूरी घटने लगती है। बेकारी बढ़ने लगती है, बेकारी की बाढ़ से गरीबी, गरीबी में अनाचार और अराजकता का साम्राज्य स्थापित होता है, धीरे-धीरे गृह-युद्ध से नरमेध की आ बनती है और यह नरमेध मशीनों का केवल बाह्य प्रभाव है।

१४. इस कलमय उत्पादन का जरा ध्यान से देखिये। कारखानों में लोगों की जरूरत और माँग के हिसाब से नहीं, कारखानों की उत्पादन

---

१. समूहवादी रूस का जो अन्य देशों से बराबर संघर्ष चल रहा है वह व्यावसायिक कारणों से ही है। वर्तमान रूस अपने व्यावसायिक पण्य अब बाहर भेजने लगा है और वह चाहता है कि उसे अन्य देशों के समान ही व्यावसायिक सुविधाएँ प्राप्त हों। वह यह भी चाहता है कि रूमानिया, ईरान, बाल्टिक, तथा बालकन प्रदेशों में उसका प्रभाव क्षेत्र स्थापित हो ताकि राजनीति के साथ उसे व्यावसायिक विस्तार में सुविधा प्राप्त हो।

कृत्रिम माँग और कृत्रिम खपत

शक्ति के हिसाब से उत्पत्ति होती है और फिर उस उत्पत्ति को खपाने के लिए प्रचण्ड प्रचार और व्यापक प्रलोभनों का आश्रय लिया जाता है। इस प्रकार यहाँ लोगों की आवश्यकता और माँग की पूर्ति के लिए उत्पादन नहीं किया जाता, उत्पत्ति की खपत के लिए लोगों में कृत्रिम आवश्यकता और माँग पैदा की जाती है। चाय और काफीवालों की चाय और काफ़ी खपाने के लिए भारत सरकार का 'इण्डियन टी मार्केट एक्सपैंशन बोर्ड' इसका एक ज्वलन्त नमूना है।

नक़ली और विषैली वस्तुओं की सृष्टि

१५. यहीं तक होता तो ग़नीमत थी। असली चीज ही नहीं, नकली और विषैली चीजों की बे-लगाम उत्पत्ति और उनकी खपत के लिए जो प्रचार और जाल खड़ा किया जाता है, उसके दुष्परिणामों को हम भोग रहे हैं। वनस्पति घी हमारे सामने है। इस नकली और जहरीली चीज़ की उत्पत्ति और खपत के पीछे लगी हुई शक्तियों को देखकर इस बात को आसानी से समझ सकते हैं।

'बाइ-प्रोडक्ट्स' (बेकार वस्तुओं की सृष्टि) और उनकी प्रतिष्ठा !

१६. एक कदम और आगे बढ़िये। मिलों द्वारा चीनी पैदा करने में पैसा मिलता है। जौ और गेहूँ को छोड़कर गन्ना पैदा होने लगा और चीनी की जगह-जगह मिलें खड़ी हो गयीं। सरकार ने भी भरपूर मदद की। गल्ला छोड़कर लोग चीनी पर तो आये पर बात यहीं नहीं समाप्त हुई। चीनी की मिलों में जूसी होती है। उसका भी सदुपयोग करना कारखाने के आर्थिक स्वार्थ में दाखिल है। इसलिए 'अलकोहल' तैयार किया गया। सगुण गुड़ के बजाय गुणविहीन सफ़ेद चीनी तो खिलायी ही जाती थी, उसके 'बाई-प्रोडक्ट' के इस्तेमाल पर भी हमें बाध्य कर दिया जाता है। बाइप्रोडक्ट्स की शृङ्खला अनन्त है। कोयला, लोहा, मिट्टी के तेल या चीनी—सभी के 'बाइ प्रोडक्ट्स' होते हैं। वस्तुतः, कलमय उत्पादन में वस्तुओं से अधिक उनके 'बाइ प्रोडक्ट्स' का महत्त्व है—यह है "कारखाने की अर्थनीति" यानी 'फैक्टरी एकॉनॉमी'! यहाँ रोग से अधिक भय उनके उपसर्गों का हो गया है।

संक्षेप में, मशीनों ने केवल उत्पादन पद्धति को ही नहीं दूषित किया है

बल्कि उत्पादन की वैचारिक भित्ति को भी खतम कर दिया है। परिणामतः, हम असल को छोड़ कर नक़ल को पकड़ बैठे हैं, सही तरीकों को छोड़ कर गलत तरीकों को अपनाने लगे हैं। गेहूँ और चावल के उत्पादक "आइसक्रीम" और "कोको कोला" के उत्पादन में लग रहे हैं। अन्न की दूकानें गन्दे घरों और अन्धेरी गलियों में पायी जाती हैं, लेकिन "कोको कोला" का विक्रय बाज़ार की सुन्दर से सुन्दर दूकानों पर मनमोहक तरीकों से किया जाता है। सारे बाज़ार में टक्कर मार आइये वक्त पर आपको सेर भर दाना भी मिलना कठिन हो जायगा परन्तु आइसक्रीम की लच्छियाँ और प्लास्टिक के कंघे आप जितना चाहें, जहाँ चाहें, चलती गाड़ी और हवाई जहाज़ में भी ले सकते हैं।

यह हैं आज हमारे तौर-तरीके और इसके नतीजों को भी हम स्वयं समझ सकते हैं।

हमारा रोज़ का शौक़ हमारी ज़िंदगी की आदत और फिर आवश्यकताओं में बदल जाता है

१७. हम बड़े-बूढ़ों से सुनते रहे हैं कि "पहले आज जैसा फैशन न था" और यह फैशन रोज बढ़ता ही जा रहा है। हम पहले जंगली थे, सो बात भी नहीं। ताजमहल की कारीगरी, इंजीनियरिंग तथा कला आज के वैज्ञानिकों के लिए भी आश्चर्य है। भारतीय वैभव का इतिहास हमारे लिए हसरत बन रहा है और फिर भी हम फैशनेबिल कहलाते हैं—क्यों? हमारी इच्छा हुई और ढेर की ढेर वही चीजें बाज़ार को आच्छादित करने लगती हैं। इतना सरल हो जाने से हमारी इच्छाएँ भी स्वच्छन्द होकर फैलने लगती हैं। कालरदार कोट, बे-कालर का, दो जेब, चार जेब वाला, छोटा कोट, लम्बा कोट, पायजामे का कोट, धोती का कोट अर्थात् पचीसों कोट भिन्न-भिन्न ढङ्ग से वही मनुष्य काम में लाता है। यही दशा प्रत्येक कार्य और प्रत्येक वस्तु की है और इस प्रकार केवल शौक पूरा करने के लिए कार्य और उत्पादन होने लगा। सारी चीजें, सारी बातें निरन्तर ढेर की ढेर मिलती रहने के कारण उनकी अपनी-अपनी एक निश्चित प्रयोग-धारा बन जाती है अर्थात् हमारा रोज का शौक हमारी जिन्दगी की आदत और फिर आवश्यकताओं में बदल जाता है। दफ्तर में टाई लगाकर जाने की वैसे ही आदत पड़ जाती है जैसे भोजन के

मशीनें मनुष्य को कृत्रिम बना रही हैं

पश्चात् विश्राम की। हम देखते हैं कि एक स्त्री को हृष्ट-पुष्ट एवं स्वास्थ्यकर जीवन के लिए शुद्ध और पर्याप्त खाद्य पदार्थ नहीं मिल रहा है, पर वह इसके लिए उतना चिन्तित नहीं है जितना कि वह कौंटे-क्लिप, स्नो, क्रीम, लिप-स्टिक या अन्य नकली सजावट की चीजों के लिए परेशान है। स्पष्टतः, यह हमारे मानसिक विकार का प्रमाण है। कहना न होगा कि हमारे सरल प्राकृतिक जीवन में अप्राकृतिक आडम्बरों की एक वृद्धमान सत्ता ने घर कर लिया है[1]।

प्रकृति का स्वामी होने के लिए मनुष्य अप्राकृतिक होता जा रहा है

१८. इस प्रकार मशीनें मनुष्य को बेकार ही नहीं, कृत्रिम भी बनाती जा रही हैं। हम शीशे के मर्तबान में बच्चे पैदा करने का प्रयत्न करने लगे हैं।[2] लाखों मील गैर-आबाद जमीन को तोड़-फोड़ कर उपज करने के बजाय हम कूड़े-करकट, चिथड़े और लकड़ी के बुरादे से खाद्य पदार्थ बना लेना अच्छा समझते हैं। इस प्रकार हम संसार को अन्न के बजाय कारखानों की सहायता से ईंट-पत्थर खाना सिखा देना चाहते हैं। हमारा कल-युग का वैज्ञानिक फसल की अनिश्चितता और प्रकृति के आश्रय को त्याग कर चौबीसों घण्टे कारखानों में भोजन बनते रहने की व्यवस्था कर देने पर तुल गया है। प्रकृति का स्वामी होने के लिए वह अप्राकृतिक हो जाना अच्छा समझता

---

1 Our modern civilization under conditions of industrial progress is continually manufacturing new & previously unwanted sources of pleasure, so that the old luxuries become new necessities alike for those who can afford and those who cannot. Thus a continually increasing amount of income becomes necessary in order to produce the same degree of material welfare—Economics of Inheritance by Joshiah Wedgwood, p. 39.

२. अमेरिका के एक स्त्री चिकित्सक के प्रयोगों की ओर जनता का ध्यान आकर्षित हुआ है। उसने मर्तबान (Test tube) में बारह प्रयोग किये हैं: उनमें से एक बच्चा तो ६ मास का स्वस्थ और सजीव है। दूसरा भी शरीर धारण करना चाहता है—रूटर, न्यूयार्क, १ मई, '३४।

हार्वर्ड विश्वविद्यालय में शरीर विज्ञान के डा० ग्रेगरी पिंकस ने नकली बच्चा पैदा करके कमाल कर दिया है।—बम्बई क्रानिकल २६-३-३६

है और कल-कारखाने उसकी सहायता कर रहे हैं। हो सकता है हमें बहुत सी बातों के लिए आवश्यकता ही मजबूर कर रही हो। पर यह मजबूरी भी मशीनों की ही देन है। कारखानों की उपज को खपाने के लिए बाजार और ग्राहक को दूसरे की ओर से अपनी ओर खींचने का प्रयत्न करना पड़ता है। इस प्रयत्न में राष्ट्र-राष्ट्र में मनोमालिन्य तथा संघर्ष होता है; परिणामतः, एक राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र की आवश्कता से मुक्त होने की चेष्टा करनी पड़ती है। जापान को भारतीय रूई, इटली को फ्रान्सीसी गेहूँ, इंग्लैण्ड को मिस्री कहवा और जर्मनी को रूसी अन्न की आवश्यकता से मुक्त होने का मार्ग ढूँढ़ना अनिवार्य हो जाता है। यदि जर्मनी की पूर्णतः नाकाबन्दी कर दी जाय तो उसे अन्नाभाव में भूखों ही मरना पड़े, अतएव जर्मन सरकार जनता को भूखों मर जाने देने के बजाय जंगलों को काट कर बुरादे से भोजन बना लेना अच्छा समझेगी।[1] भले ही यह दशा अस्थायी हो, परन्तु व्यावसायिक रूप से, यदि लोगों को कारखानों में भोजन बना लेना सहज हो तो वह कभी खेत में दाना छींट कर महीनों फसल की अनिश्चित प्रतीक्षा न करेंगे। उसी प्रकार यदि जीवन-संघर्ष में पड़े रहने के कारण चूहे उड़ना सीखकर चमगादड़ बन गये या चार टाँगों पर चलनेवाला पशु बदलते-बदलते बन्दर से बदल कर दो टाँगों पर दौड़नेवाला मनुष्य बन गया तो कौन कह सकता है कि व्यावसायिक संभावना के प्राप्त होते ही लोग माँ के पेट से निकलने के बजाय शीशे के मर्तबानों

कल-कारखाने मनुष्य की असलियत को मिटा देना चाहते हैं

---

१. एक शठ और चपल वैज्ञानिक ने जर्मन राष्ट्र को छाल और बेकार लकड़ी का भोजन करने योग्य बना दिया है। वह समस्त राष्ट्र को खराब से खराब चीजों के अपार साधन पर स्वावलम्वी बना देना चाहता है।...सरकार की इसमें पूरी सहायता है ताकि जर्मनी को रोटी-धोती के लिए किसी का मुहताज न होना पड़े।"

—लिटरेरी डाइजेस्ट १९३६

—"Japan is prepared to feed its entire population, if needs be, on weeds, roots and even insects, but it would be adequate. Already thousands of persons are thriving on it. —Literary Digest, 1936.

में न ढलने लगेंगे। अभिप्राय यह कि कल-कारखाने मनुष्य की असलियत को भी मिटा देना चाहते हैं[1]।

सुख-सम्पदा के प्राकृतिक विधान में व्यक्ति के स्वतंत्र सहयोग के लिए आवश्यक स्थिति

१६. इस कल प्राबल्य को मिटाकर यदि हम शुद्ध उत्पत्ति और स्वस्थ मानवता की पुनर्स्थापना पर कटिबद्ध नहीं होते तो हमारे लिए नवभारत की कल्पना भी दुष्कर हो जायगी। परन्तु प्रश्न यह होता है कि शुद्ध व्यवस्था की पड़ी किसे है। जिस ग़रीब को रोटी भी मुहाल हो रही है वह नकली भोजन से प्राण बचाये या प्राकृतिक जीवन की रक्षा करे? परन्तु वास्तव में देखा जाय तो ऐसी किसी भी लाचारी का हमारे सामने प्रश्न नहीं है। यह सब केवल हमारी कलमयता का दोष है, जिससे मुक्ति प्राप्त करके नवभारत एक ऐसी स्थिति उत्पन्न करना चाहता है जहाँ व्यक्ति सुख-सम्पदा के प्राकृतिक विधान में सामूहिक दबाव से अप्राकृतिक हुए बिना ही, स्वतंत्रतापूर्वक योग दे सकता है।

२०. इसके पश्चात् हमें यह भी समझ लेना चाहिये कि संसार की वर्तमान दुर्दशा केवल पेट न भरने से ही नहीं, अन्य अनेक कारणों से

---

१. 'संसार', १२-४-४५। डेलीमेल ने एक अग्रलेख में स्वास्थ्य विभाग के मंत्री विलिंक से इसके लिए जवाब तलब किया है कि उन्होंने लोक सभा में यह क्यों कहा है कि नकली ढंग से मानव बच्चे पैदा करने की दिशा में क्या हो रहा है, इसकी मुझे अति सामान्य जानकारी है या बिलकुल नहीं है।

पत्र ने लिखा है कि यह ज्ञात है कि ब्रिटेन में तीन तथाकथित 'टेस्ट ट्यूब बच्चे' काफी आगे पैदा हुए हैं, इसलिए स्वास्थ्य विभाग के मंत्री को काफी समय मिला है कि वे जाँच-पड़ताल करके इस सम्बन्ध में कोई वक्तव्य देते। पत्र का कहना है कि "डाक्टरों ने एक ऐसा काम आरम्भ किया है जो इनकी कार्य सीमा से काफी बाहर का है। इसके नैतिक, सामाजिक, तथा कानूनी पहलू हैं जिनकी पूरी जाँच होनी चाहिये। नकली ढंग से बच्चा पैदा करना ऐसा काम नहीं जो डाक्टरों की मर्जी पर छोड़ दिया जाय बल्कि इसे समाज की इच्छानुसार या तो स्वीकार किया जाना चाहिये या, यदि आवश्यक हो, तो प्रतिबन्ध लगना चाहिये।" डेलीमेल ने प्रश्न किया है कि ऐसे बच्चे वैध माने जायँगे या अवैध? जायदाद आदि के सम्बन्ध में उनकी क्या स्थिति होगी? टेस्ट ट्यूब बच्चा यदि ब्रिटिश माता तथा विदेशी वीर्यदाता के द्वारा हुआ है तो वह ब्रिटिश कहलायेगा या नहीं?

भी है। हम कल-कारखानों द्वारा बनी हुई वस्तुओं का जितना ही अधिक उपयोग कर रहे हैं, उतना ही अधिक रोग और व्याधि फैल रही है। भारी-भारी मशीनों की रगड़ में भोज्य पदार्थों की प्राकृतिक शक्ति क्षीण हो जाती है। जब वस्तु में उसका गुण ही नहीं, तो उससे स्वास्थ्य कैसे ठीक रह सकता है? उसीका दूसरा रूप यह है कि कारखानों की बढ़ती से, स्वभावतः[1], बेकारी और परिणामतः, दरिद्रता फैल रही है। दरिद्र लोगों के लिए अच्छा भोजन असम्भव है, वे जो कुछ भी खाते हैं वह, केवल पेट भरने के लिए, बलहीन पदार्थ ही होता है। ऐसे भोजन से लोगों का कद और वज़न घटता जा रहा है[2]। लोग पहले जितने लम्बे होते थे, गरीबों की सन्तान, फिर उस सन्तान की सन्तान, उतनी ही बड़ी नहीं होती। यदि यही प्रगति रही तो लम्बे-लम्बे आदमी घट कर, फिर छोटे-छोटे बन्दरों के बराबर हो जायँगे। कल-कारखानों की चिल्ल-पों तथा शोर-गुल से हमारी श्रवण-शक्ति, बिजली की चकाचौंध और मिट्टी के तेल के प्रयोग से हमारी दृष्टि,

संसार की वर्तमान दुर्दशा केवल पेट न भरने से ही नहीं, अन्य अनेक कारणों से भी है

कारखानों की वृद्धि से स्वभावत: बेकारी और परिणामत: दरिद्रता फैल रही है

1. "A permanent margin of unemployment among industrial workers is a feature of Economic system called into existence by Industrial Revolution in western countries. Palliatives, as unemployment Insurance allowances or relief funds etc. don't touch the fundamental cause of the unemployment.........unemployment in India is not so acute as in the west, simply because India's industrial development is not yet of an advanced character." [i. e. unemployment is inherently a progressive feature of the mechanised production.]

—Indian Economics—Jathar & Beri, Vol. 1, p. 558.

2 An enquiry in the U. K. has shown that in a group of poor families nearly 50% children are undersized & under-weight as compared with 50% in well-to-do families......the more the cereals are refined the lesser is their protective power—Times of India.

कलमय ढाँचे और कल-प्रेरित केन्द्रित संकुचन में मनुष्य की स्वच्छन्दता, सभी विनष्ट होती जा रही हैं। इतना ही नहीं, मनुष्य को अपनी रहन-सहन और अपनी रूपरेखा भी मशीनों के अनुसार बनाने पर विवश होना पड़ रहा है। सन्तानोत्पत्ति तथा सामाजिक विकास का कलमयता के साथ सामञ्जस्य बनाये रखना हमारे जीवन की शर्त बन गया है। या यों कहिये कि मशीनें मनुष्य की देन होकर भी मनुष्य की स्वामी बनती जा रही हैं। वे उसके अस्तित्व और व्यक्तित्व, दोनों को बदलती ही नहीं, निर्मूल भी बनाती जा रही हैं।

मशीनें मनुष्य के अस्तित्व और व्यक्तित्व, दोनों को निर्मूल बनाती जा रही हैं

जरा गौर से देखिये। आज चारों ओर वृहत् आधार पर उत्पादन हो रहा है। जहाँ नहीं है, वहाँ भी बड़े-बड़े कारखानों द्वारा अधिकाधिक उत्पादन की व्यवस्था की जा रही है। परन्तु इस प्रकार जो कारखानों द्वारा वस्तु पदार्थों का बृहत् स्तूप खड़ा किया जा रहा है क्या यह साम्पत्तिक विस्तार हमने उनके मूल्यों के आधार पर स्थापित किया है ? चीजों के आकार-प्रकार और परिमाण में वृद्धि अवश्य हो गयी है, परन्तु इन चीजों का वास्तविक गुण विनष्ट हो गया है। आज मिलों के चावल के कारण मनुष्य का स्वास्थ्य और उसकी शक्ति नष्ट हो रही है; बेरी-बेरी का रोग आक्रान्त हो उठा है। उसी प्रकार गौओं और वनस्पतियों से शुद्ध घी या तेल प्राप्त करने के बजाय हम इन्हें नष्ट करके कारखानों द्वारा नकली घी तैयार करना अच्छा समझते हैं। इस उत्पत्ति को हम साम्पत्तिक संचय कहें या साम्पत्तिक विनाश ?

साम्पत्तिक सञ्चय या विनाश

सारांश, कलमयता और उसकी पारिणामिक पेचीदगियों से मानव समाज का नैतिक, मानसिक, शारीरिक और साम्पत्तिक, प्रत्येक रूप से भीषण ह्रास हो रहा है। नवभारत मानव समाज की इस दुर्दशा की पूर्ण अनुभूति रखते हुए उत्पादन के स्वाभाविक तरीकों की सलाह देता है और उस उत्पत्ति शृंखला से ही उसके पारिभाषिक लक्षणों का रूप निरूपण हो सकता है।

कलमयता से मनुष्य का सम्पूर्ण विनाश

२१. वस्तुतः, नवभारत स्वीकार करता है कि कलमय जीवन में मनुष्य का कर्मकाण्ड, उसकी कार्यप्रणाली, अन्त में उसकी विचारधारा भी बदलने लगी है। इस वैचारिक परिवर्तन ने एक नयी सभ्यता को जन्म

दिया है जिसकी रीति-नीति निराली और प्रवृत्तियाँ खूँख्वार हैं। प्रो० सोरोकिन कहते हैं—"हमारे विचार और संस्कृति में घुन लग गया है।" अभिप्राय यह कि विचार भ्रष्ट हो जाने के कारण हम गलत रास्ते पर जा रहे हैं, उद्धार के बजाय पतन की ओर बढ़ रहे हैं। प्रो० सोरोकिन तो इसे स्पष्ट शब्दों में "कुसंस्कृति" (Bad culture) का ही फल बताते हैं। इसीलिए नवभारत, जैसा कि अभी कहा जा चुका है, अमीर-गरीब को लेकर पूँजीवादी शोषण अथवा साम्यवादी बँटवारों की कृत्रिम और ऊपरी समस्या में उलझ जाने की अपेक्षा सर्वप्रथम उत्पादन और वितरण के नैसर्गिक उपाय को ही हाथ में लेता है जिसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि मानव समाज का समस्त जीवन प्रवाह, स्वतः, एक प्राकृतिक गतिक्रम को प्राप्त हो जायगा।

जनन-निग्रह और समाज नीति

२२. नवभारत वस्तुस्थिति की कभी उपेक्षा नहीं करता। अपर्याप्त मजदूरी की प्रार्थना अनसुनी हो जाने पर मजदूरों ने हड़ताल कर दी है; मिल मालिकों ने Lock out (निकल जाओ) की आज्ञा दे दी है; पुलिस लोगों को सरकारी घरों से बाहर निकालने आ पहुँची है। एक मजदूर के सात बच्चे हैं, स्त्री आठवें का गर्भ लिये हुए है। इधर रोग और भूख के शिकार, उधर बच्चे पर बच्चे! तो क्या जनन-निग्रह, भ्रूण-हत्या और पापाचार को भी समाज नीति में सम्मिलित करना होगा? यदि नहीं तो प्रश्न हल कैसे होगा? कलमय उत्पादन की तीव्रतम गति से भी उद्धार होता नहीं दीखता—रूस हो या अमेरिका, मशीनों के संघटित विकास के साथ ही बेकारी का भी विस्तार होता जाता है। कल-कारखानों के, स्वभावतः, आवश्यक केन्द्रीयकरण से जन समुदाय का जमाव भी घनोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता है। एक ओर तो अतीव संकुचन के कारण निकृष्टतम वातावरण का प्रसार होता है[1] दूसरी ओर कलमय जीवन में जनसंख्या भी

1"Highly insanitary conditions prevail in big cities—" Indian Economics, Jathar & Beri Vol. I (This is in reference to New York, London and Bombay, where all the Scientific achievements of Man are at his disposal.)

अटूट तार के साथ बढ़ती है।[१] दृष्टि को तनिक और दूर ले चलिये। मई का महीना है। गर्मी से बुरा हाल है। धूप और लू से किसान भी घबड़ा रहे हैं। दोपहर को आधी रात के समान सन्नाटा छाया हुआ है। पक्षी भी डाली और पत्तों में छिप जाना चाहते हैं। इसी समय एक बुढ़िया, अति मैली, सत्तर पेवन्द की साड़ी पहने हुए आम बीन रही है, पेट भरने के लिए। इस दीनता और लाचारी को देखकर वर्तमान अर्थनीति (Economic order) पर शंका होने लगती है। नवभारत इन समस्याओं को सरकारी रक्षण, बेकारी का भत्ता, मजदूरी का बीमा—इन कृत्रिम साधनों से दबा नहीं रखना चाहता। वह हमारे साम्पत्तिक विधान और उत्पादन रीति को ही इस प्रकार बदल देना चाहता है, वह उत्पादन के साधनों का इस प्रकार रूप परिवर्तन कर देना चाहता है, कि ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न ही न हों; वह उन प्राकृतिक और सामाजिक उपायों का अनुसरण करना चाहता है जो वर्द्धक और सृजक होने के साथ ही "स्वयम्भू अनुशासन" का गुण रखते हैं। वह जनाधिक्य और जनन-निग्रह की समस्याएँ 'निःफल विस्तार' के मध्य

वर्तमान अर्थ-नीति और नव भारत का दृष्टिकोण

---

1. During the 1st hundred years or so, the population of the world has increased roughly from 910 millions to 1900 due to great scientific discoveries and epoch making inventions of machines and processes of the 19th and 20th censturies.

—Indian Economics, Jathar & Beri, Vol. I p 63

२. जनाधिक्य के सम्बन्ध में १९३१ ई० की जनसंख्या की रिपोर्ट में भी लगभग इसी विचार का प्रकाश मिलता है। जब हम निःफल और फलमय क्रम को देखते हैं तो निम्न रूप से दो चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं। (अ) कल-कारखाने के चारों ओर चूहों के समान ठसाठस भरे हुए लोग भोजन तथा सन्तानोत्पादन की अगाध सुविधाएँ पाकर बढ़ते ही जा रहे हैं। (ब) ग्राम्य विस्तार में फैले हुए स्त्री-पुरुष दोनों एक-दूसरे से व्यवस्थित दूरी के साथ अपने अपने काम में व्यस्त आश्रमस्थ व्यवस्था के अनुकूल (देखिये खण्ड ३) जीवन विकास का संयत गतिक्रम सँभाले हुए हैं। यहाँ ठसाठस भरमार में स्वच्छन्द समागम की सुविधाएँ नहीं हैं और इसीलिए पैदाइश भी चूहों के समान नहीं बढ़ पाती। '३१ की रिपोर्ट का कहना है—"सुखी और समृद्धिशाली जीवन में उत्पत्ति कम हो जाती है। स्त्रियों के सन्तानोत्पत्ति और घरेलू उलट-फेर में फंसी रहने के बजाय नाना प्रकार के सदुपयोगी कार्य में लग जाने से सन्तानोत्पत्ति की स्वच्छन्दता नष्ट हो जाती है।"

आश्रमस्थ जीवन के द्वारा सुलझाना चाहता है। रोटी के हल को वह उत्पादन रीति और साम्पत्तिक नियमन की एक स्वयम्भू देन बना देना चाहता है। इन सबके लिए वह कल-कारखानों के स्थान में चर्खे का इष्ट स्थापित करना चाहता है और धीरे-धीरे समस्त आर्थिक ढाँचे को भौतिक सुख और आध्यात्मिक विकास का सच्चा साधन बना देना चाहता है।

चर्खे का इष्ट[1]

२३. चर्खा से केवल सूत कातनेवाले लकड़ी या बाँस के गोल चक्रे-वाले ढाँचे का अर्थ नहीं; नवभारत का यह एक प्रतीकात्मक शब्द मात्र है। वास्तव में यह उन समस्त यंत्रों के लिए प्रयुक्त हुआ है जो मानव बल की 'क्रियात्मक शक्ति' (Motive Force) से, एक-एक मनुष्य द्वारा, उसकी इच्छा और सुविधानुसार चलाये जा सकते हैं। हम उन बड़े-बड़े कल-कारखानों को भी 'चर्खात्मक' मशीनें कहेंगे जो चलती तो बिजली, भाप-गैस, तेल या अणु शक्ति से हैं परन्तु संपोषण और बल इनसे प्राप्त होता है चर्खात्मक विधान के 'विकेन्द्रीकरण,' 'स्वावलम्बन' और स्वसम्पन्नता को। मशीनों की इस गांधीवादी व्यवस्था को ही हम 'चर्खे का इष्ट' (कल्ट आव् चर्खा) कहते हैं। इसको आगे चलकर हम आसानी से समझ जायँगे।

चर्खे का अर्थ

२४. यह कहा जा चुका है कि हम इस समय कलयुग में चल रहे हैं जिसकी विशेषताएँ हैं "कलमय कार्यक्रम की पारिणामिक पेचीद-गियाँ।" इसका पहला रूप यह है कि पूँजी की वृद्धि होती है, व्यवसाय वाणिज्य की वृद्धमान सत्ता स्थापित होती है और व्यवसायी वर्ग पूँजी पर प्रभुता प्राप्त कर लेता है। उत्पादन बृहत् आधार पर फैलता है, उद्योग-धंधों पर एकाधिकार[2] की परिपाटी को प्रोत्साहन मिलता है। श्रमिक

कलयुग की विशेषताएँ

---

१. यह सारा विवेचन थोड़ा हेर-फेर के साथ, मेरी पुस्तक 'कलयुग' से लिया गया है।

२. एकाधिकार का सीधा सा अर्थ है कि उस चीज के चाहनेवाले उस चीज के एकाधिपतियों की मर्जी पर क्रीत दास के समान जीवन बसर करें।

समुदाय की एक नयी स्थिति का उदय होता है, मालिक और मजदूर की विभिन्नता के साथ ही उनकी विभाजक दूरी भी निर्बन्धनीय गति से बढ़ती जाती है। सामाजिक समस्याएँ भयंकर होने लगती हैं। मजदूरों का व्यक्तित्व नष्ट हो जाता है। सारा समाज श्रेणियों में बँट कर दूर-दूर हो जाता है[1]। यहाँ दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं—"पूँजी की वृद्धि" और "वाणिज्य व्यवसाय की वृद्धमान सत्ता के साथ ही पूँजी पर व्यापारियों की प्रभुता," या यों कि साम्पत्तिक विस्तार और पूँजीवादी शोषण को जन्म देकर मशीनों ने दुःख-दारिद्र्य की घातक सृष्टि की है। समाज के सम्मुख भारी समस्याएँ उपस्थित हो जाती हैं जिनसे हमारी प्रसन्नता नहीं, चिन्ताएँ ही बढ़ती हैं, मनुष्य का व्यक्तित्व नष्ट हो जाता है।

कलमय उत्पादन और पूँजी का घनोत्तर एकत्रीकरण

२५. यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि "पूँजी का पादार्थिक (physical) स्वरूप बढ़ा ही नहीं बल्कि अमित राशि से बढ़ता जा रहा है। इसका अवरोधन उसी अनुपात से हो सकता है जिस गति से हम अतिरिक्तार्घ (Surplus Value) की मात्रा को बढ़ायेंगे।......मार्क्स के मतानुसार, यह लाक्षणिक परिवर्तन के विशेष उपायों से ही संभव हो सकता है ताकि अतिरिक्तार्घ की मात्रा तो बढ़ जाय परन्तु श्रमसाध्य पूँजी (Variable Capital)[2] की घटंत मात्रा बढ़ने न पाये।......[3]कहने का अभिप्राय, पहले तो संसार की पूँजी बढ़ती है और चूँकि पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था "वास्तव में एकत्रीकरण का एक तरीका है[4], विशेषतः इसलिए कि कलमय उत्पादन में एकाधिकार की अन्तर्प्रेरणा निहित है (क्योंकि समाज की सारी उपज एकत्र होकर उसी के हाथ लगती है जिसने किसी प्रकार वैयक्तिक या

---

१. प्रो० टॉसिग, Principles of Economics, Vol, 1, पृष्ठ ३६-३७।

२. Variable Capital का अर्थ विशेष होने के कारण इसका हिन्दी रूपान्तर, श्री स्ट्रेची के अनुसार, "श्रमसाध्य पूँजी" करना ही अधिक उपयुक्त समझा गया है।

३. The Nature of Capitalist Crisis, by John Strachy, p. 26

४. Capital Vol.3. XII, p. 255. Pelican Publications.

सरकारी रूप से पूँजी पर प्रभुत्व प्राप्त कर लिया है), परन्तु लाचारी तो तब दुखदायी बन जाती है जब हम देखते हैं कि मशीनें पूँजी को विस्तीर्ण ही नहीं, "उनके घनोत्तर एकत्रीकरण" की प्रबल प्रेरणा करती हैं[1] जो बढ़ते-बढ़ते अन्त में हमारे काबू के बाहर हो जाना चाहती हैं, अर्थात् हम सम्पूर्ण विनाश की ओर तेजी से दौड़ रहे हैं। जैसा कि ऊपर दर्शाया गया है पूँजी का पादार्थिक स्वरूप बढ़ता जा रहा है, मशीनें मशीनों को बढ़ा रही हैं, और श्रमसाध्य पूँजी की मात्रा घटती जा रही है, अर्थात् श्रमिक और पारिश्रमिक, दोनों की दशा शोचनीय है। इसका यह अर्थ नहीं कि श्रमसाध्य पूँजी बढ़ती ही नहीं, बढ़ती है, परन्तु उसी गति से नहीं जिस गति से श्रमिक समुदाय बढ़ रहा है[2] (क्योंकि सभ्यता के अधिकाधिक कलमय होने के साथ ही मानव समाज अधिकाधिक श्रमिक रूप धारण करता जाता है जिसे मशीनों के साथ दौड़ने के लिए वैयक्तिक स्वार्थ या सामूहिक दबाव से बाध्य किया जाता है) परन्तु विचित्रता पूर्वक, "जगह नहीं" की दुत्कार से उन्हें हतोत्साह होना पड़ता है। यह या वह, जो भी हो, समस्या यह है कि पूँजीवादी अर्थात् कलमय उत्पादन का यह उद्भूत संकट (crisis) दूर कैसे हो ? मार्क्स का कहना है "उत्पादन के साधनों में लाक्षणिक परिवर्तन और कार्य-काल की खेप" (Shifts) को बढ़ा देना चाहिये ताकि अधिकाधिक लोग कार्ययुक्त रखे जा सकें। परन्तु अभी कहा जा चुका है कि लाक्षणिक परिवर्तन हो या खेप वृद्धि, श्रमिकों की संख्या उन्हें कार्य युक्त करने की गति से भी तेज बढ़ रही है (मार्क्सवाद का प्राथमिक उद्देश्य भी तो यही है कि समाज को 'प्रोलेटेरियट' अर्थात् श्रमिक साँचे में ढाल दिया जाय)[3]। अब रही मार्क्स तथा समाजवादियों के अनुसार "प्रचण्ड" (Intensive) मशीनकरण के द्वारा "परम बाहुल्य" (Super Abundance) के निर्बंध व्यवहार को लोगों के लिए सुलभ किये जाने की बात।

कलमय उत्पादन का यह उद्भूत सङ्कट दूर कैसे हो ?

1. "When an Industry is conducted on large scale with elaborate machinery it tends to be concentrated—" Young India, p. 46.

2. The Nature of Capitalist Crisis, by John Strachy p.246.

3. It renders idle greater number of men than it is possible to employ—Industrial Survey Com. R. P. I. Vol. II, Sec. 1. p. 12.

परन्तु हमारी दृष्टि तो एक दूसरी ही बात पर है। कहा जाता है कि जो कमायें वही खायें, परन्तु जो कुछ करते ही नहीं, उनका क्या होगा? पूँजीवाद का मुख्य दोष यह है कि अनेक लोग कमाकर भी अपनी ही उत्पत्ति से वञ्चित कर दिये जाते हैं, ज्यों-ज्यों मशीनों में सुधार होता जाता है (जैसा कि उनकी सफल और वृद्धमान स्थिति के लिए होना ही चाहिये[1]) उतने ही कार्य को कम से कम लोग पूरा करने लगते हैं, अर्थात् अधिक से अधिक लोग बेकार रहने लगते हैं। इस प्रकार जहाँ तक कार्य का प्रश्न है निखट्टू पूँजीपति या 'कलोपेक्षित' समाजवादी समुदाय, दोनों कार्य नहीं कर रहे हैं। यदि दूसरे (कलोपेक्षित समाजवादी समुदाय) को विना कमाये खाने को मिल सकता है तो भला पहले (पूँजीपति) को क्यों भोजन नहीं मिल सकता? इस दृष्टि से पूँजीपति तथा साधारण व्यक्ति में अन्तर ही क्या है? और यही है कलमय उत्पादन का दुखद काकपक्ष।

कलमय उत्पादन का एक दुखद काकपक्ष

२६. "जबरियन अभाव के साथ ही जबरियन बेकारी" (enforced want and enforced idleness) पूँजीवादी और मार्क्सवादी, दोनों के साथ लगी हुई है और बे-लगाम विनाश के राक्षसी विरोधाभास पर विचार करने के पूर्व हम इस हृदय विदारक परिस्थिति का दोनों दृष्टिकोण से निरीक्षण कर लेना चाहते हैं।

बलात् अभाव और बलात् बेकारी

२७. नाफाखोरी ही पूँजीवादी अर्थनीति की क्रियात्मक शक्ति है। अन्य बातों के अतिरिक्त अधिकाधिक उत्पत्ति के लिए प्रचण्डतम मशीनकरण द्वारा उत्पादन व्यय जितना ही कम होगा, मुनाफा उतना ही अधिक होगा, जिसका अर्थ है कम से कम लोगों से अधिकाधिक उत्पादन कराया जाय अर्थात् अधिक से अधिक लोग बेकार रहें। बेकारों को, स्वभावतः, जीवनावश्यकताओं की भी अभाव यातनाएँ झेलनी पड़ेंगी, अधिक से अधिक उन्हें "बेकारी के भत्ते" (dole) पर ही जीने का सहारा

पूँजीवादी दृष्टिकोण

---

1. It is the condition of their very existence.-Gandhi ji. Young India, 13-10-27.

ढूँढ़ना पड़ेगा; इस प्रकार, एक ओर तो हमें बेकारी और अभाव की नग्न लीलाएँ देखने को मिलती हैं, दूसरी ओर पूँजीपति अधिकाधिक मशीनकरण द्वारा प्राप्त उत्पत्ति का एक बहुत बड़ा अंश नष्ट कर देता है ताकि शेष भाग को बाजार में रखकर उत्कट माँग की परिस्थिति उत्पन्न करके, वह समस्त उपज के "संपूर्ण" दाम से भी अधिक प्राप्त कर सके, अर्थात् अति उपज और व्यापारिक मन्दी की पेचीदगियों से बचने के साथ ही वह अधिकाधिक मुनाफा भी प्राप्त कर सके। यह पूँजीवादी रीति सदा से चली आयी है। डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी अठारहवीं शताब्दी में लौंग की फसल का एक बहुत बड़ा भाग उपर्युक्त रीति-नीति से नष्ट करती रही। अमेरिका में गेहूँ और रूई की खड़ी-खड़ी फसलें इसी प्रकार नष्ट कर दी जाती हैं, ब्राज़ीलियन काफी की भी यही दशा है। कलमय बाहुल्य के मध्य बेकारी, अभाव, निरीहता और भूख की पाशविक लीलाएँ इसी प्रकार स्थितिभूत और गतिमान बनी हुई हैं।

कलमय बाहुल्य के मध्य निरीहता और भूख की पाशविक लीलाएँ

२८. परन्तु समाजवादियों के सम्मुख नफाखोरी का प्रश्न नहीं है। वह प्रचण्डतम मशीनकरण के द्वारा निर्बंध उपभोग के लिए परम बाहुल्य स्थापित करना चाहते हैं और हमने देखा है कि मशीनवाद जितना ही प्रचण्ड होता है उतने ही अधिक लोग बेकार होते जाते हैं (बेकारी मशीनवाद की एक अखण्ड और अमिट विशेषता है)। निर्बंध उपभोग की नीति का अर्थ है कि कुछ लोगों के परिश्रम से अनेक बेकारों का भरण-पोषण किया जाय।[1] मार्क्स ने इस दोष को समझ लिया था और इसीलिए लाक्षणिक परिवर्तन और अधिक 'खेप' की सलाह दी थी। परन्तु

समाजवादी दृष्टिकोण

---

1. "Large scale production may be advocated on the ground of maximum benefit with the minimum effort. It my be argued that it can produce sufficient wealth to maintain the whole population without any effort on the part of the recipient. This is again impractical & undesirable. It will perpetuate idleness & attendant evils"—Industrial Survey Committee Report C. P. & Berar Govt. 1939 Part. I, Vol. II Sec. 1, p. 12.

इसमें भी श्रमसाध्य (Variable) और 'स्थायी' (Constant) पूँजी का अनुपात होता है।[1] यदि लोगों को केवल कार्ययुक्त रखने के लिए हम इस अनुपात की उपेक्षा भी कर जायँ तो इस श्रम का बदला क्या होगा? क्या इस प्रकार उत्पत्ति का मूल्य लागत से भी कम न हो जायगा, जो आत्मघात के समान है? इसके अतिरिक्त श्रम और विश्राम का एक तार्किक अनुपात है। सभी को कार्ययुक्त रखने मात्र के लिए यदि इस अनिवार्य अनुपात से भी छोटी 'खेप' का आश्रय लिया जाय तो लोग शेष समय में क्या करेंगे? क्या लोग विश्राम की एक आत्मघातक अवधि के शिकार न हो जायँगे? क्या इस प्रकार शक्ति का अवाञ्छनीय ह्रास[2] होकर धीरे-धीरे समाज का अस्तित्व भी न मिट जायगा? और यदि हम कार्य और श्रम का स्वाभाविक अनुपात स्थिर रखते हैं तो लोग बेकार रहते हैं। बेकारों को, चूँकि, जीवन सुविधा का हक नहीं, इसलिए "परम बाहुल्य" प्राप्त करके भी उसे विनष्ट कर देना होगा,-पूँजीवादी नफाखोरी की रीति से न सही, विश्वक्रान्ति के प्रसीरम्भ युद्धों के लिए ही, जब कि जन-समुदाय अनुत्पादक (Non-productive) संघर्ष में व्यस्त रहता है, जैसे रूस का युद्ध।

मार्क्सवाद और पूँजीवाद, दोनों समानतः निराधार हैं

२९. इस प्रकार, मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मक विकास अथवा ट्राट्सकी की प्रसिद्ध अनन्तक्रान्ति के विस्तार में प्रवेश किये बिना ही हम अब समझ सकते हैं कि पूँजीवादी और मार्क्सवादी, मशीनाश्रित उत्पादन को लेकर दोनों समान रूप से निराधार हो जाते हैं।

"चर्खा"—मार्क्स की अस्पष्ट सलाह का स्पष्टीकरण है

३०. मार्क्स ने स्वयं कलमय उत्पादन की इस दुर्बलता को समझ लिया था और इसीलिए उसने "लाक्षणिक परिवर्तन" की आवाज उठायी थी। मार्क्स की उसी अस्पष्ट सलाह का स्पष्टीकरण बनकर "चर्खा" अब हमारे सम्मुख उपस्थित है, उसे

---

1. There is an economic speed below which we can not work without incurring a loss—War, A Factor of Production by J. C. Kumarappa.

२. या हमें अपूर्ण कार्य के लिए पूर्ण मजदूरी देनी होगी जो सामूहिक शक्ति और सामाजिक सम्पत्ति, दोनों के लिए अहितकर है।

लेकर ऊपर उठ जाना या उसके बिना कलमय गोरखधंधे में फँसकर नष्ट-भ्रष्ट हो जाना हमारी अपनी जिम्मेदारी है।

३१. इस गोरखधंधे को जरा गौर से समझिये। एक कारखाने को खड़ा करने में एक लाख की पूँजी लगा दी गयी। इस लाख रुपये वाले कारखाने को चलाने के लिए प्रति मास १००००) खर्च होते हैं। इन १००००) में से ८०००) तो मजदूरी में जाते हैं। असल खर्च यही है क्योंकि यह धन क्रयशक्ति के रूप में लोगोंको वितरित किया जाता है। २०००) जो कलों के पुर्जे आदि में जाते हैं, इनको हम कहेंगे १०००००) की पूँजी को सुरक्षित रखने के लिए २०००) प्रति मास सूद के रूपमें दिये जाते हैं, परन्तु यह २०००) का सूद किसी व्यक्ति को नहीं दिया जाता जो क्रयशक्ति बन सके। और न ये रुपये पूँजी को बढ़ाते हैं क्योंकि ये तो केवल १ लाख को १ लाख बनाये रखने का काम देते हैं, अन्यथा एक लाख की निधि केवल ९८०००) रह जाये। इसलिए प्रतिमास २०००) की पूँजी मूल्यहीन अर्थात् नष्ट की जा रही है।

कलमय उत्पादन का विनाशक गोरखधन्धा

अच्छा, अब दूसरी बात देखिये। ८०००) जो खर्च किया जाता है उससे २५०००) प्रति मास का माल तैयार होता है। इसका अर्थ यह होता है कि प्रति ८०००) की क्रयशक्ति के लिए १७०००) की क्रयशक्ति की हम एक भीषण समस्या खड़ी करते हैं। यह समस्या व्यक्तिगत या सरकारी पूँजीवाद अथवा राष्ट्रीय सरकार हो, सर्वत्र एक समान है। जैसे दो और दो मिलाकर चार होते हैं उसी प्रकार यह एक निश्चित सत्य है कि कारखानों द्वारा उत्पादन करने में जितनी क्रयशक्ति वितरित की जाती है उससे अधिक उत्पन्न की जाती है। अभिप्राय यह कि धीरे-धीरे, लाख करने पर भी, अति उत्पादन के रूप में पूँजी एकत्रित और घनीभूत होती रहती है और प्रति आठवें दसवें वर्ष विश्वव्यापी मन्दी और परिणामतः युद्ध का भयावह प्रश्न उपस्थित होता रहता है। हम देख भी रहे हैं कि प्रति २०–२५ वर्ष पर विश्व युद्ध लड़ा जाने लगा है। दूसरा युद्ध समाप्त होते न होते तीसरे की तैयारी शुरू हो गयी है। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि

कलमय उत्पादन का गुणन फल : विश्वयुद्ध

कलमय उत्पादन का गुणन फल ही विश्वयुद्ध है। यह संसार के सम्पूर्ण विनाश का प्रबल कारण है।

चर्खात्मक उत्पादन का लागत पहलू

३२. अब चर्खात्मक उत्पादन को देखिये। १०००००) में कम-से-कम १०००० चर्खें चलाये जा सकते हैं और १०००० व्यक्तियों से चलनेवाले पचीसों खादी-केन्द्र खड़े हो सकते हैं जब कि कारखानों में इतनी ही पूँजी से अधिकाधिक १५००-२००० मजदूरों से चलनेवाला केवल एक कारखाना चलता है। खादी-केन्द्रों का अर्थ है सम्पूर्ण ग्रामोद्योगों की शृंखला जीवमान और गतिमान हो उठती है जब कि कारखाना सैकड़ों केन्द्रों के जीवन को चूस कर अपने में ही पी जाता है।

चर्खात्मक मशीनें

३३. ऊपर कहा गया है कि "चर्खात्मक मशीनें एक-एक मनुष्य द्वारा प्रत्येक की सुविधा और स्वेच्छानुसार चलायी जाने योग्य होनी चाहियें, जिनमें बिजली, भाप, गैस या तेल की नहीं मानव बल की क्रियात्मक शक्ति कार्य करेगी ताकि मशीनें मनुष्याधीन रह सकें न कि मनुष्य से स्वतंत्र होकर, स्वच्छन्द विस्तार पूर्वक मनुष्य को ही 'कल का पुर्जा' (Tools of Machines) बना लें। मार्क्सवाद और नवभारत का यही एकमात्र लाक्षणिक अन्तर है। परन्तु मार्क्सवादी विरोध कर सकते हैं कि इस प्रकार उत्पादन के साधनों का प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र स्वामी हो जायगा, जो पूँजीवाद के समान ही प्रतिस्पर्धा इत्यादि को जन्म देकर समस्त आर्थिक सन्तुलन को नष्ट-भ्रष्ट कर देगा। इसके पहले कि हम 'चर्खात्मक' मशीनों की लाक्षणिक परिभाषा करें, हमें, दो-चार बातें स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहियें।

कृत्रिम साम्य असंभव है

३४. वास्तव में, नवभारत न तो किसी कृत्रिम साम्य को संभव समझता है[1] और न उसमें विश्वास ही करता है। सब सुखी, सम्पन्न, क्रियाशील और विकासोन्मुख हों, भौतिक संघटन का बस इतना ही उद्देश्य होना चाहिये। सबके लिए समान अवसर हो, बिना किसी कृत्रिम बाधा के, संयम और स्वातंत्र्यपूर्वक आगे बढ़ने के साधन सुलभ हों, इससे अधिक

1. Even in the most perfect world we shall fail to avoid inequality—Gandhi ji, Young India, 7-10-26.

की चेष्टा करना केवल प्रतिकृत मनोभावना का सूचक बन जायगा। सब सुखी और सम्पन्न हों, सबके लिए संयम और स्वातंत्र्य पूर्वक आगे बढ़ने का अवसर हो, फिर अमीर और गरीब का न तो सवाल उठता है और न किसी कृत्रिम साम्य की अपेक्षा रह जाती है। दूसरा प्रश्न यह होता है कि आखिर वह संयत स्वातंत्र्य है क्या जो उलट-पुलट कर फिर उसी अनुचित असमानता को लौट आने से रोक सके? इस विषय में भी नवभारत की वही अपनी ग्राम्य-पंचायती व्यवस्था है जो केन्द्र के अस्वाभाविक अस्तित्व से नहीं बल्कि अपने ही आन्तरिक और सहयोगी सन्तुलन तथा संयम द्वारा एक "समन्वयात्मक संपूर्ण" (Synthetic Whole) की स्थापना करता है जहाँ आधार के सुपुष्ट निर्माण से 'शिखर विन्दु' और परिधि की स्पष्टता से ही केन्द्र का अस्तित्व कायम होता है। इस बात को हम राज और समाज की व्याख्या में अधिक स्पष्टता पूर्वक समझाने की चेष्टा करेंगे, यहाँ केवल इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि नवभारत उत्पादन और वितरण को एक ऐसी 'स्वयम्भू शृंखला' में गतिबद्ध कर देना चाहता है जो वर्तमान स्वच्छन्दता (Laisser Faire) और वैयक्तिक पूँजीवाद के स्थान में सरकारी पूँजीवाद (State Capitalism) को न जन्म दे दे। जबतक कर्तृत्व और सृजनशक्ति तथा व्यक्तित्व के विकास में व्यक्ति किसी वाहरी हस्तक्षेप से आवश्यक स्वतंत्रता प्राप्त नहीं कर लेता, उत्पत्ति सम्बन्धी अथवा उन अन्य समस्त चीजों का मूल्य ही क्या जो समूहवाद श्रम समुदाय के लिए उपस्थित करना चाहता है?

चर्खात्मक उत्पादन

२५—(अ) उत्पादन के दो स्वाभाविक रूप हैं—वैयक्तिक और सामूहिक। अन्न, वस्त्र, फर्नीचर, खिलौना, जेवर आदि की भाँति वस्तु श्रेणी का उपभोग प्रत्येक व्यक्ति पृथक्-पृथक् करता है। अतएव हितकर यही है कि इनका उत्पादन भी प्रत्येक व्यक्ति पृथक्-पृथक् करे। सिनेमा, जिसे सब एक साथ देखते हैं, रेलगाड़ी जो सारे समाज के सम्मिलित उपयोग में आती है, अथवा बिजली और पानी का कारखाना जो सारे गाँव और नगर को सम्मिलित सुख देता है—किसी एक व्यक्ति या सम्प्रदाय की सम्पत्ति बना देने से शेष के स्वार्थ पर आघात होने की सम्भावना उपस्थित हो जाती है। इस प्रकार हमारे उत्पादन के दो रूप हुए—वैयक्तिक

और सामूहिक। उनका स्वामित्व भी उसी प्रकार वैयक्तिक और सामूहिक होना चाहिये। वैयक्तिक उत्पादन न तो समूह के हाथ में हो और न सामूहिक किसी व्यक्ति के हाथ में। सामूहिक उत्पादन समूह के हाथ में होना चाहिये; समूह का अर्थ है उस गाँव या नगर से जहाँ से कि उसका सम्बन्ध है। इसके उत्पादन और वितरण में उसी गाँव या नगर पंचायत का प्रामुख्य होगा और उसमें सभी बिना किसी विशेषण के भाग लेंगे। इस प्रकार हम केन्द्रीयकरण और सरकारी पूँजीवाद, दोनों से साफ बच जायँगे।

(ब) परन्तु रेल, तार, सड़क, डाकखाना, हवाई जहाज या नहरें या जल मार्ग[१] किसी एक नगर या प्रान्त से ही सम्बन्ध नहीं रखते, इनका राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय उपयोग होता है। उसी प्रकार कुछ ऐसे उत्पादन हैं जिनका उत्पत्ति स्थान से बढ़ कर समस्त राष्ट्र या विदेशों में उपयोग होता है—जैसे बिजली के बल्ब, सिलाई की मशीनें बनानेवाले बड़े-बड़े कारखाने, कैनाडा में वायुयान बनाने के लिए भारत के मध्य प्रदेश में 'मैंगानीज' की खानें, अथवा स्थानीय आवश्यकता से बहुत ऊपर पैदा होनेवाले निर्यात-योग्य झरिया के कोयले की उपज। इस श्रेणी का उत्पादन या वितरण अथवा दोनों व्यवस्था ग्राम्य या नगर नहीं, राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय पंचायत के हाथ में होगा। यहाँ स्थानीय पंचायत के परामर्श द्वारा स्थानीय "आवश्यकता" की पूर्ति के उपरान्त ही वस्तुओं का निर्यात या उनका बाह्य उपयोग किया जा सकेगा।

उत्पत्ति का निर्यात या बाह्य उपयोग

(स) हाँ, तो हमने अभी वैयक्तिक उत्पादन की बात कही है। वास्तव में, नवभारत, यथाशक्य सामूहिक (Mass) उत्पादन से बचना ही चाहता है; कृषि में सामूहिक और सम्मिलित विधान तो नवभारत की योजना में अवश्य आता है परन्तु वह सभ्यता की भित्ति कारखानों की नींव पर नहीं खड़ा करना चाहता। न सामूहिक उत्पादन होगा, न बड़े-बड़े कारखाने बनेंगे (कारखानों के कुछ दोष हम दिखला चुके हैं कुछ आगे दिखलायेंगे); कारखानों पर खड़ा होनेवाला समाज दूसरों तथा दूसरी शक्ति का अपेक्षित रहता है।

यथाशक्य सामूहिक उपज से बचना नवभारत का लक्ष्य—कारखानों पर खड़ा होनेवाला समाज परापेक्षित है

१ इस विषय को और भी समझने के लिए नवभारत का तत्सम्बन्धी अध्याय देखिये।

वहाँ थोड़े बहुत से कारखानों पर अधिकार करके समस्त देश या समाज को दास बनाया जा सकता है। अतएव आवश्यक है कि व्यक्ति-उपयोगी अर्थात् उपभोक्ता पदार्थों का उत्पादन प्रत्येक व्यक्ति स्वयं करे और उनके उत्पादन साधनों पर स्वामित्व भी उसी का हो। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को उत्पादन का साधन और उपभोग का संयत स्वातंत्र्य प्राप्त होगा। कोई किसी का मुहताज या किसी से उपेक्षित नहीं होगा।

अंग्रेजी में दो शब्द हैं—'मास प्रोडक्शन' और 'कलेक्टिव् फार्मिंग'। 'मास प्रोडक्शन' का शब्दार्थ तो 'सामूहिक उत्पादन' ही होता है परन्तु भाव यह है कि एक साथ, बृहद् आधार पर उत्पादन करना जैसे बाटा कम्पनी में एक साथ हजारों-लाखों जोड़े जूते, एक-एक मिल में लाखों मन चीनी, अथवा एक-एक सूत्र से लाखों गज जूट या कपड़े का उत्पादन। यह सब 'मास प्रोडक्शन' है जिसे सामूहिक उत्पादन कहते हैं। परन्तु कृषि में 'सामूहिक' का अर्थ होता है बहुत से लोगों यानी किसी समूह का मिल-जुल कर कृषि करना। इसके लिए, यथार्थतः, अंग्रेजी में सही शब्दावली है 'कलेक्टिव् फार्मिंग' यानी 'सम्मिलित कृषि'। इसी अर्थ में 'सामूहिक कृषि' का भी व्यवहार होता है। वस्तुतः कृषि, गाँवों के आधार पर, सामूहिक, सम्मिलित और सहयोगी रूप से ही फलीभूत हो सकती है क्योंकि सम्बद्ध समूह के प्रत्येक प्राणि के श्रम और सहयोग का बहु-विध लाभ मिलने का यह श्रेष्ठतम मार्ग है।

इस प्रकार उद्योगों में 'नवभारत' सामूहिक उत्पादन का विरोध करते हुए भी सामूहिक और सहयोगी कृषि का समर्थन करता है। विनोबा जी कहते हैं पृथ्वी सबकी माँ है यानी उस पर सबका अधिकार है। जिस चीज पर सबका अधिकार है उसके लिए सबको मिल-जुलकर सम्मिलित और सामूहिक रूप से कार्य करना अश्रेयस्कर नहीं हो सकता।

इसी प्रसंग में, विषयांतर होते हुए भी, समझ लेना है कि सामूहिक कृषि या सामूहिक उत्पादन का अर्थ हम सामूहिक स्वामित्व नहीं करते। विनोबा जी ने स्पष्ट किया है कि "लोग कहते हैं कि हम धरती के मालिक हैं परन्तु यह बिल्कुल गलत है। धरती तो जहाँ की वहीं रहती है और उस पर लोग आते हैं, चले जाते हैं, मर-खप कर उसी धरती में समा जाते हैं। इसलिए, वे पूछते हैं कि, तुम धरती के मालिक हो या धरती तुम्हारी मालिक है?"

परन्तु जहाँ स्वामित्व का प्रश्न उपस्थित होता है वहाँ भी हमें व्यक्तिगत और सामूहिक स्वामित्व के भेदों को बारीकी के साथ समझना होगा। इस पर यथास्थान चर्चा की गयी है।

समाज की कलमय स्थिति में स्वामी और दास का अस्तित्व अनिवार्य है

(द) कारखानों पर खड़ा होनेवाला राज केवल धोखा है; वहाँ से स्वामी और दास की सत्ता मिट ही नहीं सकती। मनुष्य के सम्मुख नित्य नयी आवश्यकताएं उत्पन्न होती रहती हैं; उनका न तो अन्त होता है और न तो स्वार्थ और कृत्रिम पेचीदगियों से समाज मुक्त हो सकता है। कारखानों में काम करनेवाले हजारों लोग किसी व्यक्ति, सम्प्रदाय, समुदाय या सरकार द्वारा सञ्चालित मजदूरी पानेवाले मजदूर भर हैं, "अधिकाधिक स्वतंत्र गुलाम।" अपनी मजदूरी के लिए उन्हें दूसरों की इच्छा पर जीना मरना पड़ता है। समाजवादी व्यवस्था में मजदूर को मालिक कहना अच्छा समझते हैं; मालिक कहिये या मजदूर, जितना उसने पैदा किया उससे कहीं अधिक उसकी आवश्यकताएँ बढ़ गयी हैं। वह मालिक होकर भी मुहताज बना हुआ है।

(य) वस्तुतः, मानव सुख समृद्धि का धरातल अपने पहले स्थान पर ही टिका-सा दीखता है, वल्कि, उससे भी नीचे गिरा हुआ।[1]

वैयक्तिक वस्तु उत्पादन के लिए वैयक्तिक मशीनें

अतएव "वैयक्तिक वस्तु उत्पादन" के लिए कारखानों को मिटाकर, ऐसी वैयक्तिक मशीनों की व्यवस्था करनी होगी, जिन्हें प्रत्येक व्यक्ति स्वयं सुविधानुसार पृथक्-पृथक्, स्वामित्व पूर्वक, सामूहिक एवं सामाजिक हितों के लिए आवश्यक उत्पत्ति करने में सहज ही समर्थ सिद्ध हो सके। बड़े-बड़े, बिजली और भाप वाले, कारखाने कम से कम समय में अति उपज के द्वारा खपत की भयंकर

---

1. Though the amount of goods and services enjoyed by the poor man in 1924 be more than those enjoyed by his predecessor in 1824, the former's poverty is probably little less tedious and unpleasant to him than an actually more grinding poverty was to the latter—

Economics of Inheritance p. 40.

समस्या खड़ी कर देते हैं।[1] वैयक्तिक मशीनें इस महामारी से मनुष्य की सफलतापूर्वक रक्षा करती हैं। उपर्युक्त ढंग से बनी हुई, उपर्युक्त विधि से कार्य करने वाली, सुविकसित मशीनें वस्तु उत्पादन में मानव अंश को सुरक्षित रखती हैं तथा हमें ज्ञान और मनोरंजन का यथेष्ट अवसर देती हैं। चर्खा, करघा, कोल्हू, घानी, पनचक्की, रहट अथवा सिलाई के लिए सिंगर मशीनें इस श्रेणी की मशीनें हैं। इस सम्बध में निम्नलिखित बातों पर विशेष ध्यान रखना होगा :—

(१) अच्छे और सुविकसित ढंग की होनी चाहियें ताकि एक मनुष्य कम से कम समय में, अच्छे से अच्छे माल का, कम से कम शक्ति द्वारा, अधिक से अधिक उत्पादन कर सके।

(२) स्थानीय, और यदि स्थानीय निर्माण असम्भव हो तो देशी तौर पर, यथाशक्य वहीं की चीजों से इन्हें तैयार किया जाय, ताकि हमारे उत्पादन के साधनों का सूत्र पर-स्वार्थों या पर-राष्ट्रों के हाथ में न हो।

(३) तैयार कहीं हों, उनकी मरम्मत चलाने वाला स्वयं नहीं तो गाँव में तो अवश्य ही करा सके ; इस प्रकार यही नहीं कि गत्यावरोधन की सम्भावना दूर होगी, बल्कि अधिक और व्यवस्थित रूप से कार्य हो सकेगा।

(४) मशीनों में प्रयुक्त वस्तु पदार्थ, उनकी बनावट, उनमें सुधार,[2] स्थानीय तथा देशी विशेषता को ध्यान में रख कर ही होना चाहिये ताकि उनके उपयोग में शारीरिक, भौगोलिक, सामाजिक अथवा अन्य ऐसी ही कोई असुविधा न हो।

(५) उनकी रचना, यथाशक्य, सरलतम हो ताकि उनको छोटा, बड़ा, स्त्री-पुरुष, बूढ़ा या जवान, कोई भी बिना किसी विशेष अथवा दीर्घ-कालीन शिक्षा-दीक्षा के ही काम में ला सके और साथ ही साथ लोगों को विशेषज्ञों का मुहताज न होना पड़े।

---

1. समाजवादी व्यवस्था में भी अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय की अनिवार्य आवश्यकता का यहीं से उद्भव होता है। रूस भी अपनी उपज को बाहर भेजने लगा है, बाहर भेजना चाहता है और बाहर भेजने पर बाध्य है ताकि अपनी अति उपज के बदले उसे बाहर से अपने लिए आवश्यक वस्तु प्राप्त हो सके। वह स्व-सम्पन्नता को अपनाने के बजाय अन्तर्राष्ट्रीय परावलम्बन पर विवश है।

२. Secure improvements in it in special keeping with the special conditions of India, Young India 3-11-21.

(६) उपभोक्ता पदार्थों की इन "वैयक्तिक वस्तु उत्पादक" मशीनों की रचना और इनकी क्रियात्मक शक्ति (मोटिव फोर्स), दोनों वैयक्तिक अर्थात् असामूहिक होनी चाहियें। असामूहिक का दूसरा नाम है विकेन्द्रित। उदाहरण के लिए चर्खे को लीजिये। चर्खा सूती मिल का विकेन्द्रित रूप है। इसकी क्रियात्मक शक्ति क्या है ?—मनुष्य की इच्छा-शक्ति या उसका शरीर बल। इस चर्खे को यदि बिजली से चलाया जाय तो गलत होगा। बिजली विकेन्द्रित नहीं, केन्द्रित शक्ति है। केन्द्रित का दूसरा नाम है सामूहिक। बिजली स्वभावतः सामूहिक चीज है। इस पर एक नहीं, अनेकों का अधिकार होता है, भले ही वह गाँव की पंचायत ही क्यों न हो। इसलिए बिजली से चलनेवाला चर्खा विकेन्द्रीकरण का प्रतिपादन नहीं कर सकता। उपभोक्ता पदार्थों के उत्पादन में किसी भी रूप में सामूहिक हस्तक्षेप नहीं होना चाहिये क्योंकि इससे व्यक्ति के चेतन स्वरूप पर आघात होने का भय रहता है। आकार या रचना विकेन्द्रित हो और शक्ति केन्द्रित हो, इससे विकेन्द्रीकरण का चित्र पूरा नहीं होता। अतः इन 'वैयक्तिक-वस्तु-उत्पादक' मशीनों को पूर्णतः विकेन्द्रित होना चाहिये।

मानव समाज की निर्दोष प्रगति की मौलिक शर्तें

(२) उत्पादन क्रम को उपर्युक्त आधार पर बदल देने से एक स्वसम्पन्न वातावरण की सहज ही स्थापना की जा सकेगी। लोग ख्वाह-म-ख्वाह, दिन-दिन, रात-रात खून पसीना करके भी अभावपूर्ण जीवन के लिए विवश न होंगे (विवशता का ही नाम दासता है)। लोगों को शारीरिक तथा मानसिक स्फूर्ति का अनुभव होगा, विकास का पथ निष्कण्टक हो जायगा। थोड़ी बहुत असमानता जो शेष रहेगी भी वह केवल प्राकृतिक, अनिवार्यतः आवश्यक और इसीलिए प्रेरणात्मक सिद्ध होगी। अब यह स्पष्ट हो गया है कि चर्खे का प्रतीकात्मक तथा सैद्धान्तिक अर्थ यह है कि कम-से-कम 'वैयक्तिक वस्तु उत्पादक' मशीनें सरल और सुबोध हों, जिसे केवल विशेषज्ञ लोग ही नहीं, सहज बुद्धिवाले सर्वसाधारण लोग भी सरलतापूर्वक उपयोग में ला सकें। यदि हम ऐसा नहीं करते तो हमें कल-विशेषज्ञों (Specialised Mechanics) के एक विशेष वर्ग की निरन्तर आवश्यकता बनी रहेगी और उनके लिए हमें अपनी मशीनों को विशिष्टतम करते जाना होगा। इस प्रकार कल-विशेषज्ञों तथा विशिष्टतम मशीनों का प्रगत पारस्पर्य

हमारे समस्त उत्पादन क्रमको निर्बंधनीय रूप दे देता है जो समाज में साम्पत्तिक वैषम्य का विध्वंसक कारण बन जाता है। इसके विपरीत मशीनों की सरलता हमारे उत्पादन को, स्वभावतः, सरल बना देगी। उत्पादन के सरल होने का अर्थ है वितरण और खपत का सरल हो जाना, या यों कि उत्पादन, वितरण और खपत की सम्मिलित और सामूहिक सरलता, हमारी रहन-सहन, बल्कि समस्त सामाजिक जीवन को सरल बना देगी। सरलता का ही दूसरा नाम शुद्धता है, अर्थात् समस्त मानव समुदाय निर्दोष गति से आगे बढ़ने में समर्थ होगा।

चर्खात्मक मशीनों में क्योंकर सुधार किया जाय

(ल) यह यथेष्ट रूप से स्पष्ट कर दिया गया है कि संसार के सारे कारखानों को बन्द कर देना नवभारत का अभीष्ट नहीं। रेल को त्याग कर पैदल अथवा इमारतों को गिराकर जंगल में जा बसने की आवश्यकता नहीं और न यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी प्रत्येक आवश्यकता का बोझ स्वयं अपने ऊपर लेना पड़े। यह हमारे सहज ज्ञान की बात है कि अभी १००—५० वर्ष पहले स्त्रियाँ सूत कातती थीं, जुलाहे कपड़ा बुनते थे, लुहार, बढ़ई, तेली, कारीगर, किसान सभी अपने-अपने क्षेत्र विशेष में तत्परता-पूर्वक व्यस्त थे और सहयोगी व्यवस्था तथा स्वतंत्र अदल-बदल के द्वारा (हमें समय तथा परिस्थितियों के अनुसार उनमें सुधार-बधार कर लेना होगा) स्वसम्पन्नता से व्याप्त रहते थे। हमें उसी सिद्धान्त का व्यवहार करना है। नवभारत कभी नहीं कहता कि मनुष्य केवल पेट भरकर जीने मात्र के लिए जीवित रहे; उसे जीवन पदार्थों की उत्पत्ति तथा कार्यों के सम्पादन के पश्चात् लोक-परलोक, काव्य, कला, ज्ञान तथा मनोरंजन के के लिए भी अवकाश चाहिये, अतएव उपर्युक्त लक्षणों से परिपूर्ण विशिष्टतम मशीनों की आवश्यकता है जो उसके उत्थान मूलक और सम्मिलित (Corporate) जीवन को एक सुनिश्चित सत्य का रूप देने में अचूक सहायता करें। सब अपना-अपना कार्य करेंगे और उन सबके सहयोग से समाज की पूर्ति होगी। "अधिक-से-अधिक उत्पादन" की आवश्यकता तथा "निर्यात योग्य" उत्पादन का उल्लेख किया गया है; यह भी कहा जा चुका है कि पारस्परिक अदल-बदल से ही जीवनावश्यकता की पूर्ति होती है।

इन सबका सामूहिक अर्थ यह है कि हमें सम्मिलित जीवन द्वारा अपनी उत्पत्ति (Produce) में आवश्यक आधिक्य (Surplus)

स्थापित करना ही होगा।[१] इसलिए हमें अपनी मशीनों को उपर्युक्त लक्षणों के अनुसार विशिष्टतम बनाना होगा ताकि उनकी उत्पादन शक्ति इतनी परिमित न हो जाय कि थोड़े से दायरे की आवश्यकता पूर्ति करने में ही वह समाप्त हो जायँ। हमें, यदि आवश्यक हुआ तो, अपनी मशीनों में सुधार भी करना पड़ेगा, परन्तु इस प्रकार नहीं कि गुड़ का कोल्हू चीनी का कारखाना और जुलाहे का कर्घा कपड़े की मिल बन जायें। निर्यात योग्य पदार्थों के विषय में भी हम यह स्वीकार करने को तैयार नहीं कि गुजरात में रूई या बंगाल में कोयले का आधिक्य होने से अहमदाबाद की मिल-शृंखला या जमशेदपुर में टाटानगर का उहापोह खड़ा कर दिया जाय। भारतीय वस्त्रागार पहले भी, बम्बई और अहमदाबाद की मिल शृंखलाओं के बहुत पूर्व से, देश-विदेश को वस्त्रांकित करता रहा है; भारतीय लोहे तथा अन्य धातुओं का व्यापक व्यवहार होता रहा है, परन्तु टाटानगर जैसे लौह नगरों से हम सर्वथा वंचित ही रहे।[२]

कारखानों की विशेषता

(व) कारखानों का अर्थ है—कच्चे माल का अनेक स्थानों से चलकर एक स्थल में एकत्रित होना, अर्थात् थोड़े लोगों के हाथ में बहुत से वस्तु पदार्थ तथा शक्ति का आ जाना और स्वभावतः, वितरण की कुंजी का भी उन्हीं के हाथ लग जाना। संक्षेप में, वैयक्तिक अथवा सरकारी पूँजीवाद, प्रतिस्पर्धा, बेकारी, अनेक दोषों का कारण उपस्थित हो जाता है।

(श) अतएव उत्पादन की 'प्रेरणा' तथा उसका आकारात्मक आधार (Structural Basis), यथाशक्य, उपर्युक्त लक्षणों के अनुसार

---

१. इसको विस्तार से समझने के लिए नवभारत का तत्सम्बद्ध परिच्छेद देखिये।

२ लोहे के सम्बन्ध में अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संघ ने महत्त्वपूर्ण खोज और वक्तव्य प्रकाशित किये हैं जो हमारे मत को पुष्ट करने में यथेष्ट रूप से सहायक सिद्ध हुए हैं और उनका यथास्थान हम उल्लेख करेंगे। यहाँ केवल एक वाक्य का उद्धरण ही पर्याप्त होगा—"काफी समय से लोहे और फौलाद की मिलों द्वारा ही लोहे की गलाई के लिए धुआँ उड़ाये जाने के बारे में हम सोचने के इतने आदी हो गये हैं कि हममें बहुत से लोग यह कल्पना भी नहीं कर सकते कि कभी यह एक ग्रामोद्योग था और छोटे-छोटे औजारों की मदद से छोटी-छोटी इकाइयों में उसे चलाया जाता था। फिर भी हम जानते हैं कि कारखानों की कल्पना से पहले भी भारत में बढ़िया से बढ़िया लोहे और फौलाद की चीजें तैयार होती थीं।"

"एक मनुष्यात्मक उद्योग व्यवस्था"

वैयक्तिक (Individualistic) ही होना चाहिये। इस उत्पादन क्रम को हम "एक मनुष्यात्मक उद्योग व्यवस्था" (Mono-Homo-Industrial-System) कहेंगे। आजकल मशीन भक्तों ने ऐसे धंधों को (Cottage Industry) या गृह-उद्योग का महा भ्रामक और अपूर्ण नाम देकर इन्हें एक उपेक्षणीय आवरण से ढक देने का प्रबल दाँव खेला है। अतएव हमें सावधान हो जाना चाहिये ताकि हमारी पुनर्निमाण की चेष्टाएँ इनकी चालबाजियों की शिकार न हो जायें। हमें सतर्क होकर सर्वसामान्य को नवभारत की योजनाओं का यथार्थ शब्दों में परिचय कराना इसलिए और भी आवश्यक हो गया है कि चर्खात्मक व्यवस्था के कई आचार्यों ने भी अंग्रेजी के उसी प्रचलित गृह-उद्योग शब्द को असावधानीपूर्वक अपना लिया है।

इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट कर लेना है कि वैयक्तिक मशीनें उसी श्रेणी के वस्तु पदार्थ के लिए प्रयुक्त होंगी जिनका उपयोग तथा अनुपयोग वैयक्तिक आधार पर होता है। यह श्रेणी समस्त वस्तुपदार्थों की है। निर्यात-योग्य (For export) पदार्थ अथवा कलोत्पादक मशीनों, जैसे रेलगाड़ी, बिजली का वल्व, सिंगार मशीन इत्यादि को बनाने के लिए बड़े बड़े कल-कारखाने—इस सम्बन्धमें हमें फिलहाल कुछ अधिक स्पष्ट करने को नहीं रहा। हमें तो अब यह स्पष्ट कर देना है कि शक्ति-उत्पादक मशीनें (जैसे नगर प्रकाश तथा ट्राम के लिए गैस और बिजली, शहरों में पीने या बाग सींचने के लिए पानी का कारखाना) उपर्युक्त वस्तु उत्पादक मशीनों से सर्वथा भिन्न हैं। इनसे भी भिन्न एक तीसरी श्रेणी है—रेल, ट्राम, हवाई जहाज, तार, फोटो कैमरा, अथवा ऐसे ही अन्य साधन यंत्र। इन्हें हम साधक मशीनें कहेंगे। शक्ति उत्पादक तथा साधक मशीनों के सम्बन्ध में हमें विशेष चिन्ता नहीं है।[1] इन्हें परिस्थिति तथा आवश्यकतानुसार स्थानीय या राष्ट्रीय पंचायत की कड़ी सार्वजनिक देख-

---

1. I have no quarrel with steamships or telegraphs. They may stay if they can without the support of Industrialism and all it connotes...although they are not indispensible for the improvements, of Human race—Gandhi ji. Young India, 7-10-26.

रेख में रख देने से बात बन जायगी; हमें तो वस्तु उत्पादक मशीनों का सम्पूर्णतः (Total) निराकरण (De-Mechanisation) करके नव-भारत के निर्माण की नींव "एक मनुष्यात्मक-उद्योग व्यवस्था" पर ही खड़ी करनी है।

(प) वस्तु उत्पादक मशीनों का आधार (बनावट) वैयक्तिक होगा; शक्ति उत्पादक मशीनों का आधार (बनावट) स्थानीय (Local) होना चाहिये ताकि बम्बई में बिजली देनेवाला कारखाना अहमदाबाद के प्रकाश का भी प्रबन्ध अपने हाथ में न ले ले। इसमें दो बड़े दोष पैदा हो सकते हैं :—पहले तो अहमदाबाद को बम्बई की सुविधा और व्यवस्था के अनुसार अपना जीवन क्रम बनाना पड़ेगा और सदा बम्बई का मुहताज रहना होगा; दूसरे बम्बई में इतने बड़े कारखानों की रचना होगी जिसमें लाखों की ठसम ठस से रोग, अस्वास्थ्य, जनाधिक्य, संकुचन, चोरी, व्यभिचार आदि की सृष्टि हो जायगी। रहीं साधक मशीनें, वे साधन मात्र हैं। वस्तु उत्पादक, शक्ति उत्पादक या साधक प्रत्येक के पीछे सार्वजनिक देख-रेख का विधान[1] होगा। वस्तु पदार्थ के उत्पादन और उपभोग का प्रत्येक प्राणी स्वतंत्र स्वामी होगा, परन्तु सामाजिक आधिक्य (Social Surplus) को सुरक्षित रखने के लिए कार्य करना ही होगा ताकि समाज का जीवन क्रम लोगों के अकर्म या कर्म विमुखता के कारण भंग न हो जाय। दूसरे शब्दों में व्यक्ति का स्वातंत्र्य और स्वामित्व इसीलिए मान्य है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्वचेतना का लोक संग्रह में उपयोग कर सके।

मशीनों का आधार (बनावट)

वैयक्तिक स्वामित्व, लोक संग्रह के लिए

३६. हम समाजवाद, समूहवाद, आर्थिक आयोजन, किसी की भी शरण लें, रोटी-धोती की समस्याएँ भी हल कर लें, परन्तु जबतक कलमय संकुचन के बाहर नहीं निकलते, जनाधिक्य की चिन्ताएँ हमारा पीछा नहीं छोड़ सकतीं, स्वतंत्र और स्वच्छन्द जीवन प्रवाह को स्वाभाविक प्रसार से समेट कर थोड़े में ही ठूँसना पड़ेगा, ट्राफिक रूल के शिकंजों में फँसकर प्राण गँवाते रहने की उत्पीड़ाओं से बचने के लिए, चलने फिरने तथा

कलमय सभ्यता

---

१. इसका विषयानुक्रम से अपने अपने स्थान पर सविस्तार उल्लेख किया गया है।

हवा पानी के व्यवहार में भी कमी करने की आवश्यकता पड़ेगी। संक्षेप में, प्राकृतिक जीवन को भी अप्राकृतिक बना देना पड़ेगा। यह तो कहा ही गया है कि कलमय उत्पादन में सम्पत्ति सर्वसामान्य के हाथ से निकल कर इने-गिने लोगों अथवा सरकारी अधिकार में एकत्रित हो जाती है। इसका अर्थ यह है कि उसकी रक्षा तथा व्यवस्था के लिए पुलिस और सेना आदि का जाल फैलाना पड़ता है। यही विश्व संहार के कारण बनते हैं। शान्तिकाल में भी इनका अनावश्यक और अनुचित भार सर्व-सामान्य को सरकारी टैक्सों के रूप में उठाना पड़ता है अर्थात् यह वैयक्तिक आवश्यकता सार्वजनिक बोझ बन जाती है। परिणामतः मानव विकास का कोमल पौधा टैक्सों के बोझ से दब-दब कर मुरझाया सा रहता है। अतएव, नवभारत उत्पादन का एक अपना ही रचनात्मक आधार लेकर बाहर आता है और उसे भलीभाँति समझ लेने से ही नव-भारत को समझा जा सकता है।

३७. आयोजित उत्पादन (Planned Production) के सम्बन्ध में नवभारत यही सलाह देता है कि आवश्यकता और परिस्थिति के अनुसार उसे उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर व्यवहृत किया जा सकता है। वास्तव में इसे कोई विवेचनात्मक महत्त्व नहीं दिया जा सकता; वह तो उत्पादन के आधारात्मक लक्षणों को ही निश्चित कर देता है। कुछ लोगों का कहना है कि "संसार की वर्तमान बनावट को देखकर ही हमें अपना रास्ता बनाना है।" नवभारत भी यही कहता है कि

आयोजित उत्पादन

संसार की बनावट को देखना होगा, यह देखना होगा कि उसका हम पर, हमारी आनेवाली सन्तान पर, क्या प्रभाव पड़ रहा है। और यदि गाड़ी गलत रास्ते पर दौड़ रही है तो हमें सर्वस्व का दाँव लगाकर भी उसे ठीक रास्ते पर लाना होगा। उदाहरण के रूप में, भारत में अफीम की पैदावार होती है जिसे चीनी लोगों के सिर ठोंक कर भारत का धन और कर बढ़ाया जाता है। भारत को भले ही साम्पत्तिक धक्का लगे, नवभारत अफीम की उत्पत्ति को बन्द कर देगा; वह नहीं चाहता कि एक देश दूसरे के अधःपतन से अपने धन और वैभव का सामान करे। 'नवभारत' यह हर्गिज नहीं स्वीकार कर सकता कि औद्योगीकरण के नाम पर नकली घी की मिलें, गुड़ और शक्कर के बजाय "निर्गुण" सफेद चीनी की मिलें। (चीनी की मिलें

जो चीनी देती हैं वह गुणहीन होने के कारण अस्वास्थ्यकर तो है ही, साथ ही साथ अनाजों को मार कर गन्ने की खेती की जाती है जिससे भारत जैसे अन्नपूर्णा के भण्डार में भी अन्न का अभाव बढ़ता जा रहा है। इतना ही नहीं, गन्ने की खेती से पृथ्वी भी निःस्वत्व होती जा रही है) खड़ी करके जनता को धोखा दिया जाय या सच्चे मूल्यों का हनन करके झूठे मूल्यों से सरकारी कोष खड़ा करने की झूठी कोशिश की जाय।

शत-प्रति-शत रोजी की गारंटी

"भारतवर्ष ने औद्योगिक क्रान्ति से पूरा-पूरा लाभ नहीं उठाया है और इसीलिए उसकी दुर्गति हो रही है"—इस मत को नवभारत गलत सिद्ध कर चुका है और आगे चल कर प्रमाणित कर देगा कि भारत के अधःपतन का मुख्य कारण पश्चिम की औद्योगिक क्रान्ति है और उस मार्ग पर बढ़ते जाने का अर्थ सर्वनाश से कम नहीं। यह यथेष्ट रूप से स्पष्ट किया जा चुका है कि कारखाने शतप्रतिशत लोगों के रोजी की भी गारंटी कारखानों से नहीं, एक "मनुष्यात्मक उद्योगव्यवस्था" से ही होगी।

नवभारत की उत्पादन नीति और आर्थिक परिणाम

सबसे बड़ी बात तो यह है कि नवभारत की उत्पादन नीति की श्रेष्ठता पण्यों को सस्ता बनाने की अपेक्षा उसमें मानवता का मूल्य स्थापित करने में है। कल-कारखानों से पैदा की हुई चीजें यदि सस्ती पड़ती हैं (वास्तव में सस्ती नहीं पड़तीं, क्योंकि पण्यों के मूल्य में पुलिस, सेना आदि का खर्च नहीं होता जिसे प्रजा अलग से टैक्सों के रूप में अदा करती है और जिसका लाभ उपभोक्ता को नहीं प्राप्त होता) तो साथ ही साथ मनुष्य को तुच्छ भी बना देती हैं। इसका प्रमाण बम्बई की चालों में मिलेगा जहाँ लोग मनुष्य नहीं, कुत्ते बिल्ली के समान जीवन बिता रहे हैं; गांधी जी के अनुसार, नवभारत आर्थिक उत्पादन को "अस्वस्थ सम्पत्ति नहीं, स्वस्थ जीवन" के रूप में ही देखता है; वह कारखानों की सृष्टि से मानव समाज के एक भाग को दूसरों की पीठ में बाँध कर आगे नहीं ढकेलना चाहता; वह सबको साधनयुक्त बना कर जीवन संघर्ष की दौड़ में स्वतंत्र और समर्थ बना देता है। यह तो दर्शाया ही जा चुका है कि, कारखाने, स्वभावतः असंख्य लोगों को बेकार बना देते हैं; बहुतों को बे-रोजी करके कुछेक को रोजी देने का मतलब है-मजदूरी के सामूहिक मान का गिर जाना,—इसीको

यों समझिये कि वस्तु पदार्थ का मूल्य बढ़ गया है। इसके साथ जब हम देखते हैं कि कलमय उत्पादन की सुरक्षा के लिए जल, स्थल, वायु सेनाएँ, पुलिस, सस्ती रेल शृङ्खला का निर्माण किया जाता है जिसका भार दूसरों को सरकारी करों के रूप में उठाना पड़ता है तो हम कलमय उत्पादन को यथार्थतः सस्ता नहीं बहुत ही मँहगा कहेंगे। जब हमारा ध्यान इस बात पर जाता है कि इस कलमय उत्पादन को जीवित रखने के लिए, लाखों, करोड़ों, अरबों जानें दुर्घटनाओं तथा अस्वास्थ्यकर परिस्थितियों में फँस कर विनष्ट होती जा रही हैं, जब हम देखते हैं कि इस कलमय उत्पादन ने वस्तुओं के वास्तविक मूल्य को नष्ट कर देने के साथ

कलमय उत्पादन

ही विश्व व्यापी हिंसा, रक्तपात, अनीति, अनाचार, और बर्बरता की सृष्टि की है, तो इस बड़ी मँहगी का मँहगापन आँकना हमारे लिए असम्भव हो जाता है। कलमय उत्पादन की दृश्यतः सस्ती किन्तु यथार्थतः विनाशक महँगी के विरोधाभास से मुक्त करने के लिए नवभारत उत्पादन क्रम का समस्त ढाँचा उपर्युक्त ढंग से बदल देने के लिए प्रकृतितः बाध्य है क्योंकि कल-कारखानों की सर्वत्र, सुविधापूर्वक स्थापना असम्भव है। कारखानों का वहीं निर्माण हो सकता है जहाँ आयात-निर्यात के सुव्यवस्थित साधन सुलभ हों, जहाँ कच्चा माल एकत्रित करने में विशेष कठिनाई न हो, जहाँ का वातावरण उस अमुक कार्य के लिए प्रतिकूल न हो और इसका अर्थ यह है कि देश की व्यापक उत्पत्ति निश्चित केन्द्रों में ही संपादित होने लगती है, या यों कि समाज का उत्पादन क्रम कुछ क्षेत्र या केन्द्रों में ही सीमित हो जाता है; परिणामतः देश के बहुत बड़े भाग को अकर्मण्य अथवा अनावश्यक कार्य में और प्राथमिक (Primery) उत्पादन को छोड़कर द्वितीय कोटि (Secondery Type) में लगना पड़ता है।

लोग कारखानों में लगे हैं; उनका एक बहुत बड़ा भाग अपने स्वाभाविक क्षेत्रों को त्याग कर इन कलमय केन्द्रों में एकत्रित हुआ है और इसका अर्थ यह है कि समाज का स्वाभाविक तथा

कलमयता—समूह और समाज

सुदृढ़ विस्तार छिन्न-भिन्न होकर कलमय केन्द्रों के डोलायमान धरातल पर संकुचित हो उठा है। बहुधा ऐसा होता है कि यहाँ भिन्न-भिन्न रीति नीति, जाति तथा धर्म के लोग केवल कमाने खाने के लिए ही एकत्र हुए

हैं और इसीलिए लोगों का समूह वास्तविक अर्थों में समाज बन ही नहीं पाता। केवल स्वार्थवश एकत्रित समुदाय का पारस्परिक सम्बन्ध सामाजिक आदान-प्रदान तथा सामाजिक अवयवों से परिपुष्ट नहीं हो पाता। अभिप्राय यह कि कलमय उत्पादन से मनुष्य की सामाजिकता क्षीण हो जाती है, समाज के संघटन की धुरी टूट जाती है, नैतिक विकास गतिहीन हो जाता है और हमें आये दिन रेलगाड़ी के डिब्बों के समान झगड़े और साम्प्रदायिक दंगों की यातना झेलनी पड़ती है। स्पष्ट रूप से कहने के लिए सारा समाज स्थानच्युत और फलतः लक्ष्य हीन यात्रियों के समान जीवन यातनाओं में निराधार-सा हिलने डोलने लगता है जो कलमयी व्यवस्था की मौलिक त्रुटियों से ही सञ्चालित हो रहा है।

कलमय उत्पादन-गलत स्थान पर गलत लोगों के द्वारा सम्पन्न किया जाता है

कारखाना तो उचित स्थान पर बनता है परन्तु कारखाने में जो कार्य होता है वह गलत स्थान पर हो रहा है, गलत लोग कर रहे हैं। शक्कर वहीं बन रही है जहाँ आस-पास पचीसों मील गन्ने का एक पौधा भी नहीं; गाँव-गाँव के खेत-खेत से बटुर कर सारे गन्ने किसी एक कारखाने में शक्कर की शकल में ढाल दिये जाते हैं जिसे वास्तव में अनेक लोगों द्वारा अनेक गाँव में स्वास्थ्यकर रीतिसे और बहुतों की अभिरुचि से बनना था। इस शक्कर को बनानेवाले भी उसके स्वाभाविक उत्पादक किसान नहीं, हथौड़ी चलाने वाले और पेंच कसने-वाले मजदूर हैं जो यह जानते ही नहीं कि गन्ना खेत में कैसे उपजता है। इस प्रकार सारा समाज स्थान-च्युत और परिणामतः व्यवस्था-भ्रष्ट हो गया है जिसका जीवन-मरण ही नहीं, अस्तित्व भी व्यावसायिक तेजी-मन्दी तथा कल-पुर्जों की उलट-फेर पर निर्भर है। आज फोर्ड साहब ने देखा कि अमुक माडल का तैयार करना बेकार है, उस माडल का तैयार करने वाला सारा कारखाना ही बन्द कर दिया गया और हजारों लोग, सैकड़ों गृहस्था-श्रम उखड़ गये। आज एक मिल मालिक व्यावसायिक मन्दी से विवश होकर कारखाना बन्द कर देता है और उसको लेकर जीवन-व्यापार करने वाला सारा समाज ही नष्ट-भ्रष्ट और अस्तित्वहीन हो जाता है। इसी-लिए कलमय तथा शोषणात्मक के बजाय सहयोगी और विकासमान

समाज व्यवस्था के लिए नवभारत 'ए० म० उ० व्य०' का एक मात्र प्रस्ताव प्रस्तुत करता है।

३८. अब, हमें अन्त में, इस 'एक मनुष्यात्मक उद्योग व्यवस्था' (निःकल उत्पादन) के राजनीतिक अंग पर भी दृष्टिपात कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। युद्ध और क्रान्ति की सर्वसंहारी ज्वालाएँ धाँय-धाँय कर रही हों, दुष्काल और दुर्भिक्ष से मानवसमाज पंगु और लाचार हो उठा हो, रेल और सवारी तथा आयात-निर्यात के साधन ध्वस्त हो चुके हों, फिर भी, समाज का उत्पादन क्रम अविचलित रूपसे चला जाता है क्योंकि यहाँ कल-कारखानों की सामूहिक उपज के लिए लोगों को संघटित व्यवस्था में केन्द्रीभूत होने की आवश्यकता नहीं है और न सामूहिक उपज के लिए सार्वदेशिक वितरण शृङ्खला ही अनिवार्य प्रतीत होती है; केन्द्रबद्ध सामूहिक उपज के लिए कच्चे माल के संघटित और सामूहिक एकत्रीकरण की भी आवश्यकता नहीं होती। प्रत्येक व्यक्ति जहाँ भी हो, जिस परिस्थिति में भी हो, मैदान या छप्पर में हो, उत्पादन क्रम में लगा रह सकता है क्योंकि उसके कच्चे माल के प्राप्ति साधन निकटतम और असामूहिक सूत्र से बँधे होते हैं और वितरण व्यवस्था सामाजिक आधिक्य तथा ग्राम्य सम्पन्नता के आधार पर ही विरचित हुई है।

निःकल उत्पादन का राजनीतिक अंग

३९. इस बात का सूक्ष्म, परन्तु, व्यापक अर्थ यह है कि समाज की सुख-सम्पदा में सब का सम्मिलित श्रेय है, न कि कलमय व्यवस्था के समान कुछ कार्य करें और शेष बेकार रहें। सब लोग वैयक्तिक और सम्मिलित रूप से कार्य करते हैं और जीवनावश्यकताओं की पूर्ति के लिए उन्हें अनिवार्यतः पारस्परिक विनिमय क्रम में, व्यक्तिगत और सम्मिलित रूप से बँधा रहना पड़ता है जहाँ बनाने और बरतनेवालों का अन्तिम वर्ग भेद भी समाप्त हो चुका होता है। अतएव, लेन-देन की समस्या सब की सम्मिलित और प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व बन जाती है, न कि किसी दल विशेष का कार्य। अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए यों कहा जायगा कि प्रचलित समाजवादी प्रणालियों के समान समाज के सुख स्वातंत्र्य का प्रश्न किसी राजनीतिक 'प्रोग्राम' में

वर्ग भेद का सम्पूर्ण अभाव

नहीं, जीवन के रचनात्मक रूप में ही प्रकट होता है।[1] उसी प्रकार उसका अङ्गीकरण और हल भी है। सब का प्राप्त करके उपभोग करना और कुछ लोगों का छीन कर सब को बाँटना—इन दोनों का सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक अन्तर सहज ही समझा जा सकता है। वर्ग भेद का सम्पूर्ण अभाव ही इसका प्रमुख लक्षण है।

पुलिस और सेना—शोषण, दमन और "अनर्थ" की प्रतीक

४०. यह कहना न होगा कि जिस प्रकार युद्ध और क्रान्तिकालीन दशाओं में लोग सुख-सम्पदा के विधान में कार्यरत रह सकते हैं उसी प्रकार राजनीतिक पराधीनता में भी। यथार्थतः यहाँ समस्त कार्यक्रम सरकारी शिकंजों की अपेक्षा सामाजिक सहयोग से ही प्रेरित होता है। फलतः यहाँ पुलिस या सेना को शोषण और दमन का प्रतीक ही नहीं बल्कि 'अनर्थ' (Non-Economic) भी समझा जाता है। अतएव, नवभारत का रचनात्मक आधार पुलिस और सेना के प्राधान्य की उपेक्षा से ही सुदृढ़ हो सकता है। इस बात का विचारणीय अर्थ यह होगा कि हमें अपनी अधिकार-प्राप्ति की सुचेष्टाओं में पुलिस और सेना के महत्त्व को नगण्य समझ कर अपनी कार्यावली स्थिर करनी होगी। गांधी जी भी कहते हैं—"हम उस भौतिक सभ्यता को कदापि स्वीकार नहीं करेंगे, जिसकी रक्षा जहाजी और हवाई बेड़ों से होती है। हम उस व्यवस्था के इच्छुक हैं जिसकी नींव त्याग

---

१. महात्मा गांधी, अमृत बाजार पत्रिका, २०-२-४५—

Congressmen in Behar were busy devising concerted measures to give effect to the fifteen-point constructive programme sketched by me and in a manner suggested by me when the principal men were arrested, though the programme has no political flavour, using the term politics in its understood sense. I have not hesitated to say that 'the universal adoption in practice in India of the programme must lead to the attainment of complete independence without either civil non-violent disobedience or even a parliamentary programme. There would then be no necessity for either.

और सहयोग पर निर्भर करती है, न कि शक्ति पर।"[1] अतएव राजतंत्र पर कब्जा करने का भार किसी दल विशेष को सौंप कर शेष लोग उस शुभ घड़ी की प्रतीक्षा में एक व्यग्र अकर्मण्यता को प्राप्त हों—नवभारत किसी ऐसी व्यवस्था का प्रस्ताव नहीं करता। वास्तव में यहाँ लोग स्वतः धीरे-धीरे स्वत्वों पर सुदृढ़ स्वामित्व प्राप्त करते जा रहे हैं और हेगेल की ही अन्तः वांछा के अनुसार राज एक दिन स्वतः मुरझा कर झड़ जाता है (Whithers off)। एच० जी० वेल्स के अनुसार (जैसा कि उन्होंने 'शेप आव् थिंग्स टु कम' में अभिप्रीत किया है) राज की एक अन्तिम घोषणा के साथ उसके स्वतः विघटन का कौतूहल हमारे साथ नहीं लगा रहता।

लक्ष्य के अधूरे नहीं, सम्पूर्ण चित्र की आवश्यकता

४१. "एक मनुष्यात्मक उद्योग व्यवस्था" राजयंत्र को सामाजिक सम्पत्ति की अनिवार्य शर्त नहीं बनाती क्योंकि इसकी उत्पादन रीति केवल राजकीय साहाय्य से ही नहीं जीवमान होती; इसीलिए राजयंत्र पर बलात् कब्जा करने का प्रश्न यहाँ उठता ही नहीं। एक स्थान पर गांधी जी कहते हैं—"हमारे सम्मुख तात्कालिक प्रश्न यह नहीं है कि देश का राज संचालन किस प्रकार हो बल्कि प्रश्न यह है कि हमलोग अन्न और वस्त्र किस प्रकार प्राप्त करें।"[2] ध्यान में रखने की बात है कि यह निर्देश उस गुलाम भारत के लिए था जो अपने स्वातंत्र्य युद्ध में लिप्त था और निर्देश भी उसी महापुरुष का जो स्वयं इस संग्राम का प्रणेता और सञ्चालक था। बात को स्पष्ट करने के लिए कहना होगा कि यहाँ स्वतंत्रता की कल्पना विभागों में नहीं की गयी है। यहाँ राजनीतिक और आर्थिक, अर्थात् पहले राजनीतिक फिर आर्थिक उलट-फेर नहीं है। यहाँ हम लक्ष्य का सम्पूर्ण चित्र लेकर उसके पूर्ण संकल्प के साथ सम्पूर्ण चेष्टा करते हैं। अतएव आगे-पीछे या नरम-गरम होने का दाव-पेंच तथा कृत्रिम प्रणाली को त्याग कर हम एक-रस, एक-भाव से नित्य, निरन्तर आगे ही आगे बढ़ते जाते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे शिथिल या तीव्र प्रवाह हो, गंगा पीछे नहीं, आगे ही बढ़ती जाती है।

---

1. Young India, 29 6-25.
2. Young India, 10-12-19

“ए० म० उ० व्य०” और अहिंसा

४२. (अ) मानव विकास के लिए व्यक्ति को सम्पूर्णतः स्वतंत्र होना चाहिये और इस दृष्टि से राजनीतिक स्वातंत्र्य अनुकूल वातावरण उपस्थित करता है। परन्तु केवल राजनीतिक स्वातंत्र्य की पृथक् और एकांगी कल्पना ही यहाँ कब की गयी है?[1] 'ए० म० उ० व्य०' का लाक्षणिक अर्थ ही यह है कि वह व्यक्ति को सम्पूर्णतः स्वतंत्र बना दे। यह एक ऐसी दुधारा व्यवस्था है जो प्रत्येक व्यक्ति और परिणामतः उनके समूह अर्थात् समस्त समाज को स्वत्वों पर स्वामित्व प्रदान करने के साथ ही विपक्षी तथा विरोधी समुदाय को जीवनाधिकार तथा लोक-संग्रहार्थ अस्तित्व तो प्रदान करती है पर उनके शोषणात्मक साधनों को अस्तित्वहीन भी कर देती है, और नवभारत की अर्थनीति का यही विशेष लक्षण है। मृतप्राय प्राणी जैसे फटफटाता है, क्षीणप्राय वर्ग या राजसत्ता भी उसी प्रकार बाधाएँ उपस्थित करे तो वह समाज की सम्मिलित शक्ति के सम्मुख अधिक अहिंसात्मक और अधिक गौण होंगी। पहिले तो 'एक म० उ० व्य०' धीरे-धीरे स्वत्वों पर उस हद तक स्वामित्व प्राप्त कर चुकी होती है जहाँ तक कि राज्य (सरकार) को सशंक होकर कार्य करने का अवसर ही नहीं प्राप्त होता और जब वह अवसर आ ही जाता है तो आघात-प्रतिघात नहीं, आघात और आत्मरक्षण की नीति (क्योंकि ए० म० उ० व्य० का अर्थ अशोषणात्मक अर्थात् अहिंसात्मक होता है) पर कार्य होने से हिंसा एकांगी और परिणामतः कम कटु और कम विनाशक होती है। एकांगी (One sided) होने के कारण वह शीघ्र ही क्षीण हो जाती है। और नवभारत की अर्थनीति का यह सब से प्रबल आधार है।

(ब) अब प्रश्न है अर्थशास्त्र और राजनीति का। कुछ लोगों का कहना है कि गांधीवाद के अनुसार हम अधिकारों को तो विकेन्द्रित कर

---

१. 'संसार' २७-३-४५—अखिल भारतीय चर्खा संघ के तत्वावधान में होनेवाली ट्रस्टियों एवं खादी कार्यकर्ताओं की बैठक में कल एक प्रश्न के उत्तर में महात्मा जी ने कहा—रचनात्मक कार्यक्रम रहित स्वराज्य से लाभ न होगा। अगर देश को केवल राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करनी है, तो मेरे लिए हिमालय की शरण ही श्रेयस्कर होगी। अगर देश रचनात्मक कार्यक्रम चरम सीमा तक अपनाने तो अंग्रेजों से नाराज होने की नौबत न आयेगी, और न व्यवस्थापक सभाओं की ही कोई जरूरत रहेगी।

देना चाहते हैं परन्तु उद्योगों को वैसे ही विकेन्द्रित नहीं करेंगे। इस प्रकार, यही नहीं कि विकेन्द्रीकरण का सिद्धान्त अपूर्ण रह जाता है, बल्कि यह भी कि उद्योगों के केन्द्रित रहने से अधिकार भी विकेन्द्रित नहीं हो सकते। समस्या इस प्रकार की है कि विकेन्द्रीकरण या तो पूर्ण रूप से अपनाया जा सकता है या बिलकुल नहीं अपनाया जा सकता। जरा गौर से सोचिये। कहा जाता है कि अधिकारों को तो विकेन्द्रित कर दीजिये परन्तु उद्योगों को विकेन्द्रित मत कीजिये। मतलब यह कि उत्पादन का काम केन्द्रित रूप से होना चाहिये। आर्थिक दृष्टि से सामाजिक जीवन के दो ही पहलू होते हैं:—उत्पादन और वितरण। उत्पादन केन्द्रित रूप से होने के कारण सम्पत्ति का वितरण भी तो कुछ लोगों के हाथ में ही केन्द्रित रहता है। भले ही बँट जाने के पश्चात् धन विकेन्द्रित हो जाये परन्तु स्वयं बाँटने का काम तो केन्द्रित ही है। बाँटने के काम का मतलब ही है अधिकार। फिर अधिकार विकेन्द्रित कहाँ हुए? हो नहीं सकते। धन हो या शक्ति अर्थात् अधिकार—किसी का भी केन्द्रीकरण "अनर्थ" और अनाचार उत्पन्न करता है। दोनों अन्योन्याश्रित हैं।

(हाशिया: अर्थ और राजनीति—हिंसात्मक पहलू)

एक को विकेन्द्रित करने के लिए दूसरे को भी विकेन्द्रित करना ही होगा। यह कहना बिलकुल गलत होगा कि अधिकारों के विकेन्द्रीकरण के लिए पंचायत, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, या म्युनिसिपल राज कायम किया जाये और उद्योगों के लिए टाटानगर का निर्माण हो। जमशेदपुर की म्युनिसिपलिटी के भरोसे टाटानगर की सभ्यता की सुरक्षा नहीं हो सकती। उसके लिए दिल्ली की अति संघटित सरकार की आवश्यकता है। अतः शुद्ध अहिंसात्मक समाज की स्थापना के लिए नवभारत की शुद्ध चर्खात्मक व्यवस्था के अतिरिक्त दूसरा कोई रास्ता ही नहीं है। यही एकमात्र रास्ता है और यह ऐसा रास्ता है जिसमें राजनीतिक कारण अर्थात् वितरण व्यवस्था सन्निहित होने के कारण हिंसा स्वतः क्षीण हो जाती है।

(हाशिया: केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण—व्यवस्थात्मक पारस्पर्य्य)

४२. चर्खात्मक व्यवस्था के विरुद्ध एक दलील यह भी दी जाती है कि पहले भी भारत की औद्योगिक और सामाजिक रचना लगभग वैसी ही थी जैसा कि हमने ऊपर कहा है, फिर भी समाज दूषित हुआ, विदेशी दासता और देशी शोषण का शिकार हुआ।

परन्तु हमने जो कुछ ऊपर कहा है उसे ध्यानपूर्वक समझने से साफ हो जायेगा कि हमारी प्राचीन व्यवस्था विकेन्द्रित अवश्य थी परन्तु केन्द्रवादी तत्वों का अभाव भी था। ऊपर कहा गया है कि कुछ उद्योग, कुछ बातें, केन्द्रवादी ढंग से ही चल सकती हैं—जैसे झरिया की निर्यात योग्य कोयले की उपज, टाटानगर की छोटी मशीनें बनानेवाला बड़ा कारखाना, भारतीय रेल, नहर और सड़कों की राष्ट्रीय व्यवस्था, भारत का दूसरे देशों से चलनेवाले व्यापार का शासकीय एवं सामूहिक उत्तर-दायित्व। इनके लिए दिल्ली और लखनऊ में उसी प्रकार सरकारी एवं व्यवस्थापक केन्द्र होंगे जैसे प्रत्येक गाँवों की अपनी स्वतंत्र, स्वावलंबी एवं समर्थ पंचायतें। दोनों के सुसामञ्जस्य से ही कोई परिणामजनक एवं स्थायी रचना संभव हो सकती है।

संक्षेप में, नवभारत का रचनात्मक दृष्टिकोण केन्द्रित और विकेन्द्रित के नियोजन से ही सुस्थिर होता है। हमने जिस विकेन्द्रीकरण का विवेचन किया है वह एक स्वतंत्र समाज विज्ञान है जिसमें केन्द्र के आवश्यक अवयवों को निर्देशक एवं व्यवस्थापक स्थान अवश्य प्राप्त है परन्तु उसके शोषक या व्यक्तिविरोधी विस्तार का पूर्णतः अभाव है।

(य) नवभारत का विषयाधार

४४. यह स्पष्ट रूप से समझ लेने की आवश्यकता है कि नवभारत वाइसराय, गवर्नर, मोटे वेतनवाले मंत्री तथा कर्मचारियों अथवा अन्य देशी और विदेशी अमीरों की आय को दरिद्र किसानों की आय में जोड़कर भारत की "औसत आय" (Income per capita) स्थिर करनेवाले गलत और भ्रामक सिद्धान्त का शिकार नहीं हुआ है। १०–५ बन्दरगाह, कारखाने, कम्पनी, बैंक, अथवा कुछ सरकारी कागजात या धारा-सभाओं के भाषणों को उलट-पुलट कर भारत की राष्ट्रीय आय को ढूँढ़ निकालने की वह निष्प्रयोजन चेष्टा नहीं करता। भारतवर्ष के करोड़ों नवनिहाल बच्चे तथा असंख्यों नर-नारी नित्य-निरन्तर शोषणात्मक दुरंगी के पाट में निर्दयतापूर्वक पीसे जा रहे हैं, लाखों स्त्री-पुरुष दुर्भिक्ष और महामारी से त्रस्त होकर, कुत्ते-बिल्ली के समान, भूखे-नंगे, झुण्ड के झुण्ड, इधर से उधर, फिरते नजर आ रहे हैं—इस भयावह आक्रमणात्मक पक्ष सत्य को घोषित करने के लिए, बिजली के पंखों के नीचे, भव्य कमरों में बन्द होकर, क्रक्स के कीमती

चश्मों द्वारा, अर्थशास्त्रियों के पेचीदे अङ्कगणित या आँकड़ों को खोजते रहना नवभारत को अपेक्षित नहीं। वस्तुतः, परिस्थितियाँ ऐसी हैं कि हमें सम्पूर्ण और सच्चे आँकड़े प्राप्त भी नहीं हो सकते।[1] राजकीय संघटन की सीमितता, सरकारी कर्मचारियों की शोचनीय अविद्या, ऐसी बाधाएँ हैं कि विश्वसनीय और सर्वव्यापक आँकड़े एकत्रित भी नहीं किये जा सकते। आँकड़ों की अविश्वसनीयता का दोष केवल निम्न कोटि के कर्मचारियों तक ही सीमित नहीं है। यह अविश्वसनीयता सरकार के उन अर्थसदस्यों की प्रमुख विशेषता है, धारासभा में जिनके प्रस्तावों तथा योजनाओं को लेकर ही आज का हमारा अर्थ विधान तैयार किया जा रहा है। इसका उदाहरण इसी बात से मिलता है कि सिंध सरकार पण्यों के वढ़े हुए मूल्य को प्रान्त के समृद्धिशाली होने का कारण बताती है परन्तु वही बात बंगाल में नर-कङ्काल का कारण बनती है। इतना ही नहीं। काँग्रेस और समाजवादी दल, दोनों देश के लिए मर रहे हैं; परन्तु उसी देश के लिए दोनों दो आँकड़े और दो योजनाएँ देते हैं। हम किस बात पर, किस धारा पर विश्वास करें? हमारे विश्वास का, हमारी योजना का आधार ही क्या रहा? भारत सरकार के अर्थ सदस्य सर जेरेमी रैसमन कुछ आँकड़ों के आधार पर, बड़े जोर-शोर के साथ, मूल्यों की सुदृढ़ता का चित्र उपस्थित करने की चेष्टा करते हैं, परन्तु जब हम देखते हैं कि वास्तव में मूल्यों की चंचलता ने ही समस्त देश को खँडहर और वीरान बना दिया है तो उसके सारे प्रस्ताव और उन प्रस्तावों के आधार-स्वरूप उसके सारे आँकड़े एक विचित्र मायाजाल से प्रतीत होने लगते हैं।[2] भारत सरकार के सप्लाई सदस्य सर मुदालियर खानों में कोयले की उत्पत्ति की मात्रा बताते हैं, पर यह किस आधार पर है, इसके लिए उनके

---

1. "There are certain areas which, for a season, are not accessible to the district administrative personnel...... in other places, it is the ill paid, ill trained and illiterate Chowkidar who does the job of collecting statistics."—Amrit Bazar Patrika, 20-2 45.

2. "Sir Jeremy Raisman is satisfied that the general picture is one of comparitive stabilisation, It is, however, poor comfort for the average citizen having regard to the glaring disparity between his earnings (शेष पृष्ठ ५८ पर)

पास कोई आँकड़े ही नहीं।[1] ऐसी दशा में नवभारत को, अनिवार्यतः, आँकड़ों की अपेक्षा सिद्धान्तों का ही सम्बल ग्रहण करना पड़ता है। आँकणात्मक गणनाओं की अपेक्षा ऐतिहासिक निष्कर्ष तथा सैद्धान्तिक अनुसन्धानों को ही नवभारत ने अपना विषयाधार बनाया है।

आङ्कड़ों का यथार्थ महत्त्व

४५. यथार्थतः, आँकड़ों के सम्बन्ध में नवभारत का अपना दृष्टिकोण और अपना ही पक्ष है। आखिर आँकड़े हैं क्या ? यही न कि किसी बात या परिस्थिति की 'नाप-जोख' अथवा उनकी "गणित औसत" (Arithmatical Mean)। सबसे पहले तो "औसत" से सम्पूर्ण सत्य का सम्पूर्ण ज्ञान होता ही नहीं। हम कहते हैं कि मध्य प्रदेश की

---

and the general level of prices. The Finance Member tells us that although certain classes of population have suffered and continue to suffer, large and very important classes of population are now in receipt of money incomes very much higher than those they previously enjoyed. This is misleading ......the fact is that the population as a whole has been impoverished, its physique undermined and the country's entire economy violently thrown out of a gear."—A. B. Patrika, 2-3 45.

1. In answer to a question in the Indian Legislative Assembly the Supply Member of Viceroy's Executive Council stated that the coal position was gradually improving, and the employment of women in the mines had much to do with it, Asked to give the figures regarding the alleged increase......Sir Mudliar said that the figures are not available, but if women were not employed there would be a drop of 25% in the output of coal. One wonders how the Supply Member had arrived at this figure if the figures were not available."—

A. B. Patrika, 24. 2. 45.

औसत वार्षिक आय १२) है।[1] इस प्रकार अधिक से अधिक हमने यह समझा कि एक व्यक्ति को वर्ष भर जीवित रहने के लिए केवल १२) उपलब्ध हैं, अर्थात् वहाँ बे-हिसाब ग़रीबी है। परन्तु इस बारह रुपये का हिसाब हमें मिला कहाँ से ? लाखों की १२) से भी कम आय है और कुछ इने-गिने लोगों को १२) से अधिक, और बहुत अधिक प्राप्त हैं। जब हम सबको मिलाकर औसत निकालते हैं तो हिसाब में १२) आते हैं। कहने का अभिप्राय हमारी गरीबी की मात्रा उससे कहीं अधिक भयानक है जिसकी कि हमें १२) वाली संख्या बोध कराने का दावा करती है। अतएव, सत्य को समझाने के लिए आँकड़ों से आगे बढ़कर परिस्थितियों का साक्षात् करना होगा और फिर उन्हें यथोचित रूप से प्रस्तुत करके लोगों को यथार्थ का ज्ञान कराना होगा।[2] गांधी जी ने बहुधा दृष्टान्त देते हुए कहा था कि "नदी की औसत गहराई को लेकर उसे पार करने की चेष्टा करना डूब मरने से कम न होगा और इसीलिए जो आँकड़ों के विरचित मृगतृष्णा पर भरोसा करे उसे पागल कहना चाहिये।" ऐसी ही अनेक त्रुटियों के अतिरिक्त, आँकड़ों को अनावश्यक महत्त्व देने में एक सैद्धान्तिक दोष उत्पन्न होने का भी भय है। वर्तमान उत्पादन तथा वितरण क्रम कल-कारखानों की ही उपज है और परिणामतः हमारा समस्त विधान कलमय केन्द्रीयकरण के शोषणात्मक जाल में उलझा हुआ है, जिसकी परिचायक विशेषता अन्तर्राष्ट्रीय परावलम्बन से परिलक्षित होती है, अर्थात् वैयक्तिक स्वच्छन्दता और एकाधिकार के विरोधाभास में ही उसे एक उद्वेलित विस्तार प्राप्त होता है। परन्तु नवभारत का आर्थिक विधान 'एक मनुष्यात्मक उद्योग व्यवस्था' की नींव पर खड़ा है जिसका ध्येय है स्वसम्पन्नता और जो एक सबल राष्ट्र की प्राथमिक आवश्यकता है। नवभारत वर्तमान

---

1. Industrial Survey Committee Report, Part 1. Vol. 1, p. 6.

2. It is therefore, necessary for a prudent man, who is not concerned with merely providing a preconceived proposition but who is concerned solely with finding the truth, to probe beneath statistics and test independently every proposition induced from them.

—Gandhi ji, Young India, 28 3 20

साम्पत्तिक केन्द्रीकरण का सिद्धान्ततः विरोधी है क्योंकि केन्द्रीयकरण का अर्थ ही है समाज की व्यापक सम्पत्ति को केन्द्रवत् घनीभूत कर देना। वस्तुतः खोखले विस्तार पर बोझिल केन्द्रों का अस्तित्व स्थायी रह ही नहीं सकता। अतएव, वर्तमान आँकड़ों से नवभारत का कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध भी नहीं हो सकता क्योंकि यह केन्द्रित अर्थनीति के फल हैं जो नवभारत की विकेन्द्रित अर्थनीति के ठीक विरुद्ध है। अतः यदि प्राप्त हों तो, उसे अपने ही समानुकूल आँकड़ों (नाप-जोख की आवश्यकता होगी। परन्तु यह बात कोई विशेष आशाजनक नहीं है। अतएव, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, नवभारत इन आँकड़ों से, यथाशक्य स्वतंत्र होकर ही अपनी भित्ति खड़ी करता है। या यों कि यहाँ आँकड़ात्मक गणना की अपेक्षा सैद्धान्तिक विवेचन अधिक है। यह स्पष्ट किया जा चुका है कि

प्रत्यक्ष सत्य और निर्जीव तथ्य

नवभारत प्रमुखतः भारत की समस्याओं को समझते और समझाते हुए अपना परिस्थितिभूत प्रस्ताव रखता है, समस्याओं की अंकगणित या आँकड़ों का लाक्षणिक विवेचन उसका लक्ष्य नहीं है। यही कारण है कि 'प्रत्यक्ष सत्य' (Axiomatic Truth) को स्वीकार कर लेने में 'उसे आँकड़ों के समर्थन' का अभाव विचलित नहीं करता। मनुष्य की सजीव आवश्यकताओं को सिद्ध करने के लिए निस्सार बातों (Dead Facts) का आश्रय ढूँढने में वह उलझता ही नहीं। उसके प्रत्येक प्रस्ताव मानवी समस्याओं और उनकी पारिणामिक आवश्यकताओं के एक व्यापक दृष्टिकोण से ही प्रस्तुत हुए हैं। नवभारत की रूपरेखा सत्यानुभूतियों के आधार पर भावी संभावनाओं को लेते हुए स्थितिभूत हुई है। आँकड़ों का अस्तित्व भूत और वर्तमान घटनाओं पर अवलम्बित होता है, भविष्य के अवलोकन में उसका सामर्थ्य अचल विश्वसनीयता का अधिकारी नहीं हो सकता। भविष्य में परिस्थितियाँ बदल सकती हैं, नयी घटनाएँ घटित हो सकती हैं और उनके आँकड़े तथा निष्कर्ष भी बदल सकते हैं, अतएव भावी योजनाओं के लिए आज के उपलब्ध आँकड़ों का महत्त्व गौण भी हो सकता है। परन्तु नवभारत का समस्त आयोजन अधिकतर भविष्य से ही सम्बद्ध है, इसलिए नवभारत ने इन आँकड़ों को उसी दृष्टि से देखा है।

(र) नवभारत का भौगोलिक अर्थ

४६. मार्क्स का मत है कि मानव जगत् का ढाँचा इसकी आर्थिक

व्यवस्था का ही परिणाम होता है और आर्थिक व्यवस्था को, यथार्थतः, उसके उत्पादन क्रम का उद्भूत रूप समझना चाहिये। इस बात का स्पष्टीकरण मानव समाज की ऐतिहासिक समीक्षा से किया जाता है। कभी ऐसी स्थिति रही होगी कि लोग स्वच्छन्द होकर यहाँ, वहाँ, कहीं भी, आखेट आदि अथवा प्राकृतिक साधनों से ही उदर पोषण तथा जीवनावश्यकताओं की पूर्ति कर लिया करते थे। स्वभावतः ऐसी अस्थिर और निर्बन्ध दशा में मनुष्य का सामाजिक स्वरूप स्थिर नहीं हो पाता। मनुष्य की सामाजिक स्थिति के अभाव में, इसके राजनीतिक, व्यावसायिक, सांस्कृतिक—इत्यादि अनेक गुणों को सहज ही समझा जा सकता है। वास्तव में यदि यहाँ कुछ भी है तो वह केवल पारस्परिक सम्पर्क और संघर्ष में आनेवालों की रीति-रिवाजों का समुच्चय मात्र ही है। उसी प्रकार एक के उपरान्त दूसरी परिस्थितियों के तारतम्य से, खेती, किसानी और उद्योग-धंधों की शृंखला बँधी हुई है या यों कि हमारे उत्पादन का आधार और उसका पारिणामिक स्वरूप बदलता रहा है और जब जैसा रहा हमारा सामाजिक ढाँचा भी तदनुरूप बनता गया।

मार्क्स का मत—आर्थिक परिस्थितियाँ सामाजिक ढाँचे की जननी

४७. उपर्युक्त बात, दृष्टितः, अपना अकाट्य अर्थ रखती है, परन्तु इसे मूल कारण मान लेना और इस गौण बात को प्रधान रूप दे देना ही अनर्थ बन जाता है। हमारा अभिप्राय जगत् के भौगोलिक प्राधान्य से है जिसकी प्रेरणा से ही हमारा उत्पादनाधार निश्चित हो पाता है। इस भौगोलिक प्राधान्य का अर्थ केवल इसी एक प्रश्न से स्पष्ट हो जाता है कि विश्व की सभ्यताओं ने उत्तरीय अथवा दक्षिणीय ध्रुव या सहारा की मरुस्थली के बजाय दजला-फरात, सिन्धु, गंगा या नील नद की घाटियों में ही क्यों जन्म लिया? इस प्रश्न की उत्तरात्मक व्याख्या सिद्ध करती है कि मनुष्य की सामाजिक प्रेरणाएँ भौगोलिक प्राधान्य में निहित हैं अर्थात् हमारा उत्पादन क्रम हमारी भौगोलिक परिस्थितियों का परिणाम मात्र है। रूप-रेखा में परिवर्तन होना असम्भव नहीं, परन्तु सैद्धान्तिक आधार तथा क्रियात्मक और प्रेरणात्मक शक्तियों में अन्तर नहीं होता—वे सदा, सर्वत्र, शाश्वत रूप से कार्य करती रहती हैं। जब

भौगोलिक प्राधान्य

हम कहते हैं कि रूस अथवा भारतवर्ष कृषिप्रधान देश हैं तो हमारे वाक्य उसी भौगोलिक सत्य को प्रकट करते हैं। भारतवर्ष कृषिप्रधान देश रहा है और रहेगा भी। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि, यहाँ वाणिज्य-व्यवसाय, उद्योग-धंधे कला-कारीगरी का अभाव अथवा स्थान गौण रहा है। भारत के उत्पादनाधार में परिवर्तन हुआ है और होना स्वाभाविक भी है, परन्तु यह अधिकाधिक स्वरूप परिवर्तन ही रहा, न कि तात्विक परिवर्तन। भारत के उद्योग-धंधे, कला-कारीगरी, वाणिज्य और व्यवसाय विश्व विस्मय के कारण बने रहे, परन्तु वह सब कुछ कृषि के आधार पर, उसके सामञ्जस्य और सन्तुलन को लेकर ही प्रस्फुटित हुए थे। नवभारत का समस्त आर्थिक आयोजन इसी मूल तत्त्व से निर्मित हुआ है।

भौतिक प्राचुर्य्य और सांस्कृतिक स्वरूप

४८. ब्रिटिश द्वीपसमूह के जल-वायु तथा वानस्पतिक उपज को ध्यान में रखते हुए जब हम नकशे में उसकी भौगोलिक स्थिति पर दृष्टिपात करते हैं तो हमें यह समझने में कष्ट नहीं होता कि अपनी जीवनावश्यकताओं की पूर्ति तथा अपने वृद्धमान अस्तित्व को सुदृढ़ विस्तार देने के लिए साहस तथा कुशल नाविकता उसका जातीय स्वभाव क्योंकर बन गया जिसने उसे समस्त संसार पर आच्छादित होने में सहायता दी और इन्हीं अन्तर्धाराओं ने उसे नयी तथा पुरानी दुनिया का विनिमय केन्द्र बना दिया। ब्रिटेन को एक सफल व्यापारी जाति बनने में, उसकी उपज तथा उद्योग-धंधों की विशेषता में, उसकी भौगोलिक परिस्थितियाँ विशेष महत्त्व रखती हैं। उसीके अनुसार उसके रीति-रिवाज, समाज रचना तथा राजनीति का विकास हुआ है। वर्तमान कलमयता तथा 'औद्योगीकरण' के बावजूद ब्रिटेन, जर्मनी, रूस, प्रत्येक की सामाजिक बनावट, रीति-नीति तथा राजनीति, अर्थात् समस्त जातीय विशेषता में महान् अन्तर है; इतना ही नहीं, तुर्की, अरब और भारतवर्ष में उसी एक इसलाम धर्म का व्यावहारिक स्वरूप विभिन्न प्रकार से प्रकट होता है। यह भौगोलिक प्राधान्य का ही प्रतिफल है कि सीता के सतीत्व का आदर्श भारत के भौतिक प्राचुर्य्य में ही फूला फला जब कि यूनान के संकुचित जीवन में हेलेन की पति-भक्ति

से आगे बढ़ना उसके लिए कठिन सिद्ध हुआ[1]। देश-देश का अपना चरित्र और स्वभाव, अपनी रीति-नीति, सामूहिक अर्थों में अपनी जातीय विशेषता, इसी भौगोलिक प्राधान्य से निर्मित होती है।

४९. ब्रिटेन और रूस के प्रजावाद में महान अन्तर है और रहेगा—क्यों? क्योंकि उनकी अपनी-अपनी जातीय विशेषताएँ हैं जो भौगोलिक परिस्थितियों से ही संचारित होती हैं। जर्मन जनता सदा से ही यूरोप की अग्रसर जाति रही है और गेहूँ तथा अंगूर के लहलहाते हुए खेतों में आनन्दपूर्वक विचरनेवाले फ्रांस का जातीय स्वभाव सुख-भोग तथा आत्मरक्षात्मक नीति बन गया है। प्रत्येक जाति और प्रत्येक देश की रीति-नीति, रंग-ढंग तथा उत्पादन क्रम में उसका भौगोलिक प्राधान्य ही क्रियात्मक शक्ति बनता है। समान मशीनाधार होते हुए भी जर्मनी, फ्रांस और रूस का उत्पादन क्रम प्रादेशिक विभिन्नता से ही प्रयुक्त होता है। औद्योगीकरण को जिस प्रकार इंग्लैंड अपना सकता है, उसका जो रूप और परिणाम इंग्लैंड में होता है, जर्मनी और भारत में उसी का अङ्गीकरण, रूप और परिणाम उससे भिन्न ही होगा। इस प्रकार इग्लैण्डवाले औद्योगीकरण का भारत की सामाजिक बनावट पर भिन्न प्रभाव पड़ेगा। इंग्लैण्ड, जर्मनी, तथा भारत का भेद, इसी भौगोलिक प्राधान्य के अन्तर्गत समझा जा सकता है और मार्क्स की ऐतिहासिक पद्धति का कौतूहल भी इस स्थल पर शिथिल पड़ जाता है।

भौगोलिक परिस्थितियाँ और जातीय स्वभाव

५०. इस सिद्धान्त को समुचित रूप से समझने के लिए कहना पड़ता है कि यदि इंग्लैण्ड का उत्पादनक्रम स्वाभाविक स्वत्वों के आधार पर

---

१. जोशिया वेजउड ने विभिन्न देशों की उत्तराधिकार-परम्परा और कायदे-कानून का विवेचन करते हुए एक स्थान पर इसी मत का प्रकाश किया है—

"The difference in the distribution of the land as between France and England must, therefore, be traced to differences in social characteristics and institutions, other than the laws of successions, and the latter themselves owe their special forms not so much to political accident as much to differences in character and customs."

प्राकृतिक आधार और पारिणामिक अर्थ-व्यवस्था

हो, अर्थात् गुलाम भारत से बलात् तथा कुटिलता पूर्वक प्राप्त किये हुये कच्चे मालपर निर्भर और निर्धारित न हो तो ब्रिटेन में मॉंचेस्टर या लङ्काशायर बनने की अपेक्षा भारत में सूरत, अहमदाबाद या बम्बई की स्थापना से ही खेल समाप्त हो जायगा। ब्रिटिश जहाजरानी, उसका साम्राज्यवाद, लन्दन का विनिमय-बाजार, इन सारी उत्पीड़ाओं से संसार का उद्धार हो जायगा। यूनान या ब्रिटेन में कृषि के बजाय उद्योगों को अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो सकता है, पर वह विदेशों के कच्चे माल और बाजार पर खड़ी होनेवाली आज की सी हिंसात्मक उद्योग व्यवस्था न होगी। वह होगी एक प्रकृतिस्थ स्वावलम्बी और स्वसम्पन्न व्यवस्था, जिसकी पूर्ति में भारत या चीन का उतना ही स्थान होगा जितना कि इन देशों के प्राकृतिक आधिक्य में सम्भावना होगा। यह नहीं कि ब्रिटेन के कृत्रिमता पूर्वक चढ़ाये हुए जीवन-मान की अन्तर्पूर्ति के लिए भारतीय उद्योग और उत्पादन को अप्राकृतिक विस्तार दिया जाय या अप्राकृतिक रूप से घनीभूत किया जाय। और नतीजा यह होगा कि इस दुनिया की एक दूसरी ही शक्ल नजर आयेगी। कहने का अभिप्राय, विश्व की आर्थिक व्यवस्था को समझने के लिए उसकी भौगोलिक विशेषता को समझना होगा। नवभारत के सिद्धान्तों की यही विशेषता है कि वह मास्को में गढ़े हुए साँचे को भारत या चीन के कन्धों पर फिट नहीं करना चाहता। वह केवल शाश्वत सत्यों को सामने रख देता है जिन्हें विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न रूप से व्यवहृत किया जा सकता है।

सार्वभौम आर्थिक व्यवस्था—आत्मा और शरीर

५१. यहाँ एक महत्त्वपूर्ण बात ध्यान में रखने की यह है कि जिस प्रकार तत्वों में परिवर्तन नहीं होता, परिवर्तन उनके रूप में ही होता है, उसी प्रकार नवभारत के सिद्धान्तों में परिवर्तन नहीं होता, उनके व्यावहारिक विस्तार में देशस्थ अन्तर अवश्य हो सकता है। या यों कि शरीर में अन्तर हो सकता है, आत्मा में नहीं। इसी बातको और भी स्पष्ट रूप से व्यक्त करने के लिए कहना होगा कि नवभारत का विकेन्द्रीकरण तो, भारत, रूस, इंग्लैण्ड या अमेरिका—सर्वत्र समान रूप से लागू हो सकता है, परन्तु उसके आकार प्रकार में अन्तर होगा। भारत में यह कृषि प्रधान और श्रम प्रधान हो सकता है तो इंग्लैण्ड

में यह उद्योग और पूँजी प्रधान भी बन सकता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि इंग्लैण्ड के भरण-पोषण के लिए भारत में अन्न पैदा किया जाय और भारत को वस्त्रांकित या आडम्बर-युक्त करने के लिए इंग्लैण्ड में बड़े-बड़े कारखाने खड़े किये जायँ। जीवन की प्राथमिक अवस्थाओं की पूर्ति में तो प्रत्येक देश को स्वावलम्बी बनना ही होगा। इंग्लैण्ड अपने लिए पर्याप्त खाद्य पदार्थों का उत्पादन कर लिया करता था। अब भी वही हो सकता है। अभिप्राय केवल इतना ही है कि इंग्लैण्ड में औद्योगिक और वह भी 'निःकल' (डिमेकानाइज्ड) प्रवृत्तियों पर जोर दिया जा सकता है जब कि भारत में कृषि पर।

५२. यहाँ व्यक्ति की "निर्धारण शक्ति" और समाज की "सामूहिक अर्थ व्यवस्था" के सूक्ष्म भेद को विशेष रूप से ध्यान में रखने की आवश्यकता है। व्यक्ति परिस्थितियों का क्रीत दास नहीं है। वह जड़ नहीं, चेतन सत्ता है। परिस्थितियों से वह लाभ तो अवश्य लेता है, परन्तु परिस्थितियों का वह निर्माण भी करता है; परिस्थितियों को वाञ्छित दिशा में प्रवाहित करने की भी उसमें शक्ति और चेतना होती है, परन्तु जब तक बात व्यक्ति के चेतनमय स्वधर्म और स्वभाव के विरुद्ध न हो, व्यक्ति, सामान्यतः, परिस्थितियों की पारस्परिक अन्तर्धारा में ही बहता रहता है। और इस कुल को मिलाकर समष्टि का एक निश्चित रूप और एक निश्चित धारा बनती है, जिसका हमें सामाजिक संस्कृतियों से बोध होता है, जिसका हम भौगोलिक प्राधान्य से परिचय प्राप्त करते हैं। इस बात पर जरा गौर से विचार कीजिये। गांधी जी की चर्खात्मक योजना में भारतोयता का प्राकृतिक तत्त्व है परन्तु भारत की विकृत दशा को सुधारने के लिए गांधी जी ने भारत की वर्तमान परिस्थितियों के समक्ष आत्मसमर्पण नहीं किया, बल्कि गलत रास्ते से उसका मुँह मोड़कर सही रास्ते पर लाने की उन्होंने व्यवस्था की है। इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यक्ति की निर्धारणा भौगोलिक प्राधान्य के साथ-साथ चलती है। गंगा को गंगोत्री की ओर नहीं बहाया जा सकता, परन्तु गंगा निश्चित मार्गों से ही बंगाल की खाड़ी की ओर बहे, इसकी जिम्मेदारी व्यक्ति अवश्य ले सकता है। इससे व्यष्टि, समष्टि और भौगोलिक प्राधान्य का पारस्परिक महत्त्व स्पष्ट हो जाता है।

व्यक्ति की "निर्धारण शक्ति" और समाज की "सामूहिक अर्थ-व्यवस्था"

५३. इस प्रकार यह भी असन्दिग्ध रूप से स्पष्ट हो जाता है कि इंगलैण्ड, अमेरिका या रूस का आर्थिक विधान भारत को उसी रूप में कदापि मान्य नहीं हो सकता। हम अपनी भारतीय स्वसम्पन्नता को 'कल'प्रेरित अन्तर्राष्ट्रीय परावलम्बन के हवन-कुण्ड में भस्मीभूत करके कलाधिपतियों का शिकार नहीं बनना चाहते। नवभारत की प्रत्येक योजना इसी भौगोलिक सत्य को लेकर निर्मित होती है। पुनर्निमाण की सारी योजनाओं (वह भारतीय धनकुबेरों की 'बम्बई योजना' हो, भारत सरकार का राष्ट्रीय नियोजन या समाजवादी प्रस्ताव हो) को इसी एक भौगोलिक सत्य की कसौटी पर कसा जा सकता है।

नवभारत की अर्थ-व्यवस्था—किसी की नकल नहीं

५४. बात को और भी स्पष्ट रूप से समझने के लिए भारत की भौगोलिक विशेषता पर ध्यान देना होगा। पूर्वी गोलार्ध के मध्य में, दक्षिणीय भूतल स्वरूप, भूमध्य रेखा के थोड़े ही ऊपर से लगभग ३५° अक्षांश तक, गगनचुम्बी हिमालय की 'हिमपूर्ण' दीवारों से घिरा हुआ लगभग ६२° पूर्व से १००° पूर्व देशान्तर में फैला हुआ हमारा भारत देश प्राकृतिक प्राचुर्य्य की एक सुपुष्ट रूपरेखा प्रस्तुत करता है। गंगा, गोदावरी और ब्रह्मपुत्र की उपजाऊ तलहटियाँ संसार का अन्न भण्डार बनने का दावा करती हैं (इस भौगोलिक स्थिति में आज अन्तर हो गया है। परन्तु हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के रूप में बँट जाने के बावजूद भी भारत के स्वसम्पन्न और स्वावलंबी राष्ट्र बनने के मार्ग में कोई मौलिक बाधा नहीं उत्पन्न हुई है)। गुजरात, मालवा और बरार आदि की काली मिट्टी, बंगाल, मद्रास तथा पूर्वी और पश्चिमी घाट के समुद्र तट रूई, चावल, जूट और तेलहन इत्यादि का बाहुल्य उपस्थित करने के लिए पर्याप्त हैं। हिमालय, विंध्य, पूर्वी और पश्चिमी घाट, सुन्दरवन, झारखण्ड आदि के वन्य प्रदेश समस्त देश को धन-धान्य से परिपूर्ण रखने के लिए यथेष्ट हैं। अन्न तथा वानस्पतिक उपज के अतिरिक्त देश के खण्ड-खण्ड में भाँति-भाँति के खनिज पदार्थ पर्याप्त मात्रा में पाये जाते हैं। कोयला, लोहा, सोना, चाँदी, हीरा रत्नादि सभी सुलभ हैं। इस प्रकार भारत की खनिज और वानस्पतिक उपज ने इसे एक स्वसम्पन्न भूपिण्ड की सुषमा प्रदान की है। दक्षिण की प्रचण्ड उष्णता से लेकर हिमालय की हिमाश्रित शीत,

स्थितिभूत तथ्य

थार की भयावह मरुस्थली से लेकर आसाम और बंगाल के जलपूर्ण प्रान्त— सभी वर्तमान हैं। इन सबके साम्य और समुच्चय से ही भारत को विश्व की वसुन्धरा बनने का प्राकृतिक यश प्राप्त हुआ है। उपज तथा जल-वायु के संयोग और संतुलन से जो भौतिक प्राचुर्य्य निर्मित होता है वही हमें एक स्वसम्पन्न विस्तार पर बाध्य करता है और हमारी स्वसम्पन्नता को, अनिवार्यतः, व्यापक भी बना देता है। इसके विपरीत जो भी होगा वह हमारे लिए अभौगोलिक और सर्वथा अप्राकृतिक विधान मात्र रहेगा जो हमारे कंधों पर बाहर से लाकर लादे हुए पंजर के समान कष्टकर बोझ बना रहेगा। नवभारत का आर्थिक आयोजन ऐसे किसी भी अप्राकृतिक प्रस्ताव के दोष से मुक्त रहने की प्रबल चेष्टा करेगा। उसका दृष्टिकोण, यथाशक्य, उपर्युक्त सैद्धान्तिक आधार तथा भारत की एक स्वाभाविक व्यवस्था को ही लेकर विरचित होता है। इस प्रकार स्थितिभूत तथ्यों की सुव्यवस्था एवं सुसञ्चालन से ही नवभारत की योजना गतिमान होती है।

भारतीय जल-वायु की देन : प्राकारिक तथा पारिमाणिक बाहुल्य

५५. बहुधा लोगों को ऐसा कहते देखा गया है कि भारतवर्ष के जल-वायु में शीतोष्ण प्रदेशों के समान उत्कृष्ट स्वास्थ्य के साधन नहीं हैं, अर्थात् यहाँ के लोग वहाँ वालों के समान परिश्रमी नहीं हो सकते। परन्तु अनेक आचार्य्यों ने इस बात को अतिशयोक्ति के रूप में देखा है।[1] इस अतिशयोक्ति का प्रमाण इसी बात से मिलता है कि प्रत्येक काल और प्रत्येक परिस्थिति में भारत के सैनिकों ने विश्व-विजय का श्रेय प्राप्त किया है।[2] भारत का भूखा और नंगा किसान, मुट्ठी भर अन्न और अभावपूर्ण जीवन के बल पर जितना परिश्रम करता है अमेरिका का परितुष्ट किसान भी नहीं कर सकता। वास्तव में हमारे रोग और दौर्बल्य का कारण हमारी जल-वायु में नहीं समाप्त हो जाता। यदि निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाय तो हमारी जल-वायु ही एक ऐसी

---

1. "Influence of climate must not be exaggerated"— Indian Economics, Jathar & Beri, p. 16.

२. मौर्य साम्राज्य का सैनिक विस्तार, अथवा लीबिया की मरुभूमि या इटली के मैदान में भारतीय सेनाओं का प्रशंसनीय कार्य देखकर हमारे मत को यथेष्ट बल प्राप्त होता है। हमारे सैनिक पराजय की ऐतिहासिक श्रृंखला को समझने के लिए, हमारे शारीरिक दौर्बल्य में नहीं, अन्यत्र खोज करनी होगी।

विभूति है जो हमें स्वसम्पन्न और विकासमान बनने में साहाय्य प्रदान करती है। श्री कार-सान्डर्स ने एक स्थान पर लिखा है—"जिन प्रदेशों में प्राकारिक तथा पारिमाणिक बाहुल्य होगा, उनकी उपयोगिता की अधिकतम परख होगी और उनका प्रति व्यक्ति मूल्य भी अधिक प्राप्त होगा।" यह बात स्वयंसिद्ध है कि भारत के भौमिक विस्तार और विशेषता तथा उसकी जल-वायु की व्यापकता में यहाँ वस्तु-पदार्थ का प्राकारिक तथा पारिमाणिक बाहुल्य एक प्राकृतिक देन है।

५९. परन्तु प्रश्न तो यह होता है कि इतना सब होते हुए भी हम दीन और दुर्बल क्यों हैं ? संसार की श्रेष्ठतम सभ्यता के जन्मदाता होकर भी हम आज फिसड्डी जातियों के समान एड़ियाँ क्यों रगड़ रहे हैं ? इसका एक मात्र उत्तर यह है कि ऐहिक सम्पन्नता के कारण हमारा जीवन निश्चेष्ट और आलस्यपूर्ण हो गया और विदेशियों ने जब हम पर सैनिक और राजनीतिक पराजय का बोझ लाद कर अपनी समाजधारा का हमारे ऊपर प्रयोग किया तो हमारा अपना आधार छिन्न-भिन्न होने लगा और धीरे-धीरे जब १९वीं और २०वीं शताब्दी का कलमय केन्द्रीकरण प्रारम्भ हुआ तो, स्वभावतः, हमारा रहा-सहा ढाँचा भी अस्त-व्यस्त हो गया। हमारे समस्त प्राकृतिक साधन नष्ट-भ्रष्ट हो गये, दुष्काल तथा अन्य प्राकृतिक प्रकोपों के स्वयम्भू प्रतिरोधी साधनों से हम सर्वथा वञ्चित पाये गये, जिसका सब से बड़ा प्रमाण यह है कि १९वीं और २०वीं शताब्दी की प्रगति के साथ-साथ हमारे दुष्कालों का रूप उत्तरोत्तर जघन्य ही होता गया है। १९४३ ई० का बंगाली दुर्भिक्ष इतिहास में अपनी समता नहीं रखता।[1] भारत की वर्तमान महँगाई और दरिद्रता हमारी कल्पना के बाहर

साधन सम्पन्न होकर भी हम फिसड्डी क्यों हैं ?

---

१. भारतीय दुर्भिक्ष तथा दारिद्र्य का कारण भारत की वृद्धमान जनसंख्या बतायी जाती है। हम इस कथन को सरासर झूठा प्रचार और धोखादेही कहते हैं। भारतीय जनसंख्या के एक वृद्धमान आँकड़े पर जरा ध्यान दीजिये—

सन्	१८९१–१९०१	१९०१–१९११	१९११–१९२१
भारत	२·५	१·७	१·२
ब्रिटेन	१२·२	११·९	५·४

"इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जनसंख्या हमारे लिए कोई प्रश्न नहीं है" Public Finance & Poverty by J. C. Kumarappa, p. 20 वास्तव में हमें जनसंख्या के सम्पूर्ण आँकड़े प्राप्त भी नहीं हैं (शेष पृष्ठ ९९ पर)

की बात सिद्ध हो रही है। यह सब क्यों ? ठीक उसी प्रकार जैसे जल के प्राणियों को धरती पर या आकाश में चलनेवालों को पृथ्वी पर निवास करने पर बाध्य किया जाय। कहने का अभिप्राय, जब तक हमारा आर्थिक आयोजन हमारे भौगोलिक प्राधान्य पर निर्धारित नहीं होता, हम व्यापक सम्पन्नता के बजाय एक संकुचित केन्द्रीकरण में फँस कर नष्ट-भ्रष्ट हो जायेंगे और यही है नवभारत का भौगोलिक अर्थ।

अब भारत की भौगोलिक स्थिति और भौमिक बनावट के सम्बन्ध में भी दो चार शब्द कह देना आवश्यक प्रतीत हो रहा है। जैसा कि अभी ऊपर कहा गया है, भारतवर्ष पूर्वीय गोलार्ध के मध्य में, संसार के प्रमुख जल मार्गों पर स्थितिभूत हुआ है, इसके पूर्वीय, पश्चिमीय तथा दक्षिणीय—तीनों किनारे समुद्र से घिरे हुए हैं। इस प्रकार इसे, स्वाभावतः, विश्व के व्यापार में एक अनुपेक्षणीय स्थान प्राप्त हुआ है। अमेरिका, जापान, चीन, आस्ट्रेलिया, अफ्रीका, यूरोप और इंगलैण्ड के सामुद्रिक पथ में बसा हुआ यह एक महत्त्वपूर्ण व्यापारी स्थान रखता है। कहने का

और जो हैं उनका निष्पक्ष तथा निःस्वार्थ दृष्टि से विश्लेषण भी नहीं हुआ है। जो कुछ हुआ भी है उसमें देश के साम्पत्तिक साधनों तथा उसकी वृद्धमान सम्भावनाओं का हिसाब नहीं लगाया गया है। किसी देश में जनाधिक्य उसी समय घोषित किया जा सकता है जब कि देश के भौतिक तथा साम्पत्तिक साधन अपर्याप्त सिद्ध हो चुके हों। वास्तव में जनसंख्या और साम्पत्तिक स्थिति—दोनों सापेक्षित दशाएँ हैं। जनाधिक्य का प्रश्न जनसंख्या के अन्तर्गत एक स्वतन्त्र विषय है, और यहाँ उसका विवेचन असम्भव है, परन्तु इतना तो हम कहेंगे ही कि भारतीय दारिद्र्य जनाधिक्य के कारण नहीं, अन्य अनेक कारणों से है। उदाहरणार्थ बंगाल में चावल की उपज को दबाकर जूट पर जोर दिया गया। युद्ध या राजनीतिक कारणों से जब हम बर्मा या पाकिस्तानी चावलों से वंचित हो गये तो वहाँ अन्न का अभाव उपस्थित हो गया। लोग कहने लगे कि बंगाल की जनसंख्या बढ़ जाने से चावल की कमी हो गयी। इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी हैं, जिन पर अन्यत्र विस्तार से विचार किया जायगा। यह समझ लेने के पश्चात् कि भारतीय दुर्दशा जनाधिक्य के कारण नहीं, यह भी जान लेना चाहिये कि जनाधिक्य की सम्भावनाएँ हमारी बढ़ती हुई गरीबी के साथ उत्तरोत्तर उग्र होती जा रही हैं क्योंकि गरीबों का सन्तानोत्पादन अनुपात अमीरों से अधिक होता है (देखिये ब्रिटेन की जनसंख्या पर रजिष्ट्रार जनरल की रिपोर्ट)—

यद्यपि इस विषय पर टिप्पणी द्वारा विचार नहीं हो सकता फिर भी प्रसंगवश कहना ही होगा कि भारत की बढ़ती हुई गरीबी के साथ उसकी जनवृद्धि का उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ अनुपात, कम से कम, दारिद्र्य और जनवृद्धि का पारस्परिक सम्बन्ध स्थिर करने के लिए उपर्युक्त वाक्यों के सन्दर्भ में, कम तार्किक महत्त्व नहीं रखता।

प्रयोजन, राष्ट्रीय सम्पन्नता के साथ ही वैदेशिक व्यापार की विशेषता का भी इसे समादर प्राप्त है और इस बात को ध्यान में रखकर अपना आर्थिक आयोजन बनाना ही उपपरोक्त भौगोलिक सत्य को चरितार्थ करना है।

५७. इसके पश्चात् जब हम भारत की भौमिक बनावट पर दृष्टि डालते हैं तो यह समझने में देर नहीं लगती कि सारा देश खण्ड विशेष में विभक्त होते हुए भी किस प्रकार प्राकृतिक मार्गों द्वारा एक दूसरे से गुंथा हुआ है। इतना ही नहीं, सीमान्त प्रदेशों से भी उसी प्रकार आवागमन के मार्ग सुलभ हैं। प्रत्येक देश की आर्थिक रूपरेखा उसके उत्पादन के साथ ही उसकी वितरण-व्यवस्था से मिलकर प्रस्तुत होती है। उत्पादन के सम्बन्ध में अब तक बहुत कहा जा चुका है। फिलहाल इतना और कहना यथेष्ट होगा कि भारतीय जल-वायु में यूरोप की भाँति, कलमय, केन्द्रित तथा कल-कारखानों द्वारा संगठित और निरन्तर उत्पादन अस्वास्थ्यकर ही नहीं, पूर्णतः फलदायी भी नहीं होगा। यहाँ की जल-वायु में लोग पश्चिम के समान ही निरन्तर, विश्रामरहित, परिश्रम कर भी नहीं सकते,[1] जो सफल कलमयी उत्पादन व्यवस्था की एक प्रमुख शर्त है। परिणाम यह होगा कि प्रतिस्पर्धा के धरातल पर भारत पीछे ढकेल दिया जायगा, या उत्पत्ति की उसी मात्रा के लिए इसे दूसरों से अधिक श्रम-बल नष्ट करना होगा, जो अन्त में, कुल मिलाकर, राष्ट्र के साम्पत्तिक क्षय का कारण सिद्ध होगा।[2] अस्तु, उत्पादन के साथ जहाँ तक वितरण का सम्बन्ध है, भारत की भौगोलिक स्थिति तथा भौमिक बनावट पूर्व कथित उत्पादन क्रम के अनुसार एक अपने ही वितरण व्यवस्था की माँग करती है।

भारत की भौमिक बनावट और वितरण व्यवस्था

नवभारत केवल वैदेशिक व्यापार के निमित्त किसी भी देश के कृषि या उद्योग का व्यापारीकरण नहीं चाहता; वैदेशिक व्यापार के लिए राष्ट्रीय सम्पन्नता की होली करना नवभारत को अभीष्ट नहीं। वह भारतवर्ष को ब्रिटेन या अमेरिका के कारखानों के लिए कच्चा माल पैदा करनेवाले एक निरीह देश के रूप में कदापि नहीं देख सकता। इन सब बातों

---

१. यदि दूसरे देशों के व्यापार को अपने अत्यधिक उत्पादन द्वारा हथियाने का उद्देश्य न हो तो ऐसे परिश्रम की आवश्यकता भी नहीं होती।

२. देखिये 'श्रम और विश्राम' परिच्छेद।

को ध्यान में रखकर देखने से वितरण के प्राकृतिक मार्ग तथा साधनों को त्याग कर, रत्ती-रत्ती भूमि को रेल की पटरियों से बाँध देना नवभारत की वितरण व्यवस्था से मेल नहीं खाता। अपने सामुद्रिक तट विस्तार को ब्रिटिश जहाजरानी का एकाधिकार बनाकर स्वयं अपने वैदेशिक व्यापार के प्राकृतिक यशों से वञ्चित हो जाना नवभारत को स्वीकार नहीं, और न यही कि देश को अपनी जीवनावश्यकताओं के लिए सरकारी केन्द्रों, 'राशन शाप' या स्टोरों अथवा पूँजीवादी कारखानों के 'सेल्स डिपो' का मुँहताज बना दिया जाय। प्रत्येक क्षेत्र, प्रत्येक गाँव, प्रत्येक परिवार को अपनी उत्पत्ति और उपभोग के लिए साधनयुक्त बनाना ही नवभारत का अन्तिम ध्येय है और यह तब तक सम्भव न होगा जब तक कि उत्पादन के साथ ही तदनुकूल वितरण व्यवस्था न हो।

नवभारत की योजना सार्वभौम सत्य का आधार है

५८. सारांश, नवभारत का उत्पादन और वितरण—दोनों एक भौगोलिक अर्थ रखते हैं, जिसे समझे बिना नवभारत की आर्थिक रूपरेखा समझना कठिन होगा। 'नवभारत' भारतवर्ष की सुख-समृद्धि की एक रूपरेखा है, परन्तु, वस्तुतः, इसकी सैद्धान्तिक भित्ति में एक सार्वभौम सत्य की प्राणप्रतिष्ठा हुई है जो भिन्न-भिन्न देशों और परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार धारण कर सकता है, पर जीवन प्रेरणाएँ सबकी एक समान होंगी—सत्य, अहिंसा, स्वावलंबन, स्वसम्पन्नता, सहयोग, सामञ्जस्य और विकेन्द्रीकरण।

(ल) नवभारत की प्रस्तुति

'नवभारत': भारतीय अर्थशास्त्र की विशुद्ध, व्यावहारिक रूपरेखा

५९. नवभारत किसी दल या समुदाय की नीति व्याख्या नहीं है और न तो यही कि वह किसी मत विशेष या वाद का प्रचार है; वास्तव में यह भारतीय अर्थशास्त्र के विशुद्ध और व्यावहारिक स्वरूप की एक सरल और सुबोध रूपरेखा प्रस्तुत करता है जो भारत के पुनर्निर्माण का रचनात्मक आधार बन सके। यथाशक्य, यहाँ लाक्षणिक विवेचनों को गौण बना दिया गया है ताकि यह केवल अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों की अपेक्षा सर्वसामान्य की एक अपनी पुस्तक

बन सके। हमारा विचार है कि जब तक सर्वसाधारण अपनी जीवन समस्याओं पर कार्यशील होने की क्षमता नहीं प्राप्त कर लेते, करोड़ों के बीच कुछ इने-गिने अर्थशास्त्री पैदा कर देने से ही वास्तविक कल्याण नहीं हो सकता,—सुधार हो सकता है, परन्तु उद्धार नहीं। या यों कि वह कुछ वेतनभोगी विशेषज्ञों या शासकों द्वारा बहुतों पर लादा हुआ एक बाह्य ढाँचा होगा, न कि अपनी बनायी और समझी हुई कोई सुनिश्चित योजना।

नवभारत की सैद्धांतिक स्थिति

६०. नवभारत को हम, यथार्थतः, भारतीय अर्थशास्त्र की एक व्यावहारिक रूपरेखा ही कहेंगे, जो इस देश के भौगोलिक प्राधान्य के अन्तर्गत हमारे सदियों से पद-दलित और मरणासन्न समाज के पुनर्निर्माण का एक स्थायी और निष्पक्ष आयोजन लेकर सामने आता है। इसी बात को हम यों भी कह सकते हैं कि नवभारत में अवसरवाद को स्थान नहीं। इसकी योजनाएँ आज कुछ, और कल कुछ हों—ऐसी बात नहीं। नवभारत परिस्थितियों की उपेक्षा नहीं करता, वह युग-युगान्तर तथा देश-काल की परिवर्तनीयता को भी अच्छी तरह समझता है। परन्तु साथ ही साथ वह यह भी समझता है कि यदि कोई सिद्धान्त भारत के लिए भौगोलिक महत्त्व रखता है तो जब तक उसका नैतिक तथा सामाजिक आधार गलत न सिद्ध कर दिया जाय, उसे निःशङ्क होकर अङ्गीकार करना ही चाहिये। प्रत्येक शोषणात्मक व्यवस्था में हिंसा और प्रतिहिंसा का भाव भरा होता है जो सामाजिक शान्ति के लिए घातक है। बिना अविचल शान्ति के समाज का शुद्ध विकास असम्भव है[1]। जब तक इस

---

१. हमारा आज का संसार दो-चार हजार वर्ष पूर्व वाले संसार से अधिक उन्नतिशील है, हम इस मत से पूर्णतः सहमत नहीं। हो सकता है कि संसार ने भौतिक साधनों की एक अपार राशि एकत्र कर ली हो, परन्तु वह सब आवश्यक और हितकर हैं, ऐसा कहना सर्वथा विवादपूर्ण होगा। यह बात भी ठीक नहीं मालूम होती कि यह सब हैं तो सुख-सम्पदा और उन्नति के ही साधन, पर हमारे अपने दुरुपयोग से ही वे बुरे हो जाते हैं, अर्थात् हमारा प्रत्येक पग उन्नति की ओर ही उठता है। ऐसा दावा करने के लिए सर्व प्रथम हमें अपने प्रत्येक पग की निर्विवाद आवश्यकता को ही सिद्ध करना होगा। इसी के साथ हमें यह भी देखना होगा कि हम आज जहाँ हैं वह स्थान सामूहिक कल्याण की दृष्टि से हमारी विगत स्थिति से अधिक सुखकर और उन्नतिशील हो, जहाँ सामाजिक वैषम्य की उत्पीड़ाएँ, स्वतंत्रता तथा समानता का अभाव हमें द्रवित नहीं कर पाता। वास्तव में उन्नति तो इसी को कहेंगे, न कि न्यूयार्क और (शेष पृष्ठ ७३ पर)

बात को असैद्धान्तिक नहीं सिद्ध कर दिया जाता, नवभारत अपनी समस्त आर्थिक तथा राजनीतिक व्यवस्था की प्रत्येक स्थिति और परिस्थिति में शुद्ध रूप से अहिंसात्मक ही देखना चाहेगा, या यों कि वह प्रतिकूल परिस्थितियों से समञ्जस्य स्थापित करने के लिए अपनी सैद्धान्तिक स्थिति का कदापि परित्याग नहीं करेगा क्योंकि नवभारत का यह दृढ़ विश्वास है कि जो बात सत्य है वह असम्भव या अव्यवहार्य हो ही नहीं सकती, विरोधों पर उसे विजय प्राप्त होगी, और उसके सुसञ्चालन में ही उन्नति का मूल निहित है[1]। यह कोई ज्ञानियों का उपदेश या महात्माओं की शुभेच्छा मात्र नहीं, सुदृढ़ व्यवस्था तथा स्थायी शान्ति के लिए आवश्यक भी है। संक्षेप में, नवभारत की सैद्धान्तिक स्थिति एक व्यवहार्य्य स्थायित्व से ही प्रतिपादित हुई है और उसके प्रत्येक प्रस्ताव, यथाशक्य, इसी दृष्टिकोण का पोषण करते हैं।

नवभारत की नीति और प्रणाली

६१. अतएव यह कहना न होगा कि नवभारत अर्थशास्त्र के उन अङ्ग-प्रत्यङ्गों पर विशेष जोर देता है जो राष्ट्र के पुनर्निर्माण में अपना प्राथमिक महत्त्व रखते हैं। यहाँ उन विषयों को समुचित प्रामुख्य दिया गया है जो एक सम्पन्न समाज के नैसर्गिक अङ्ग सिद्ध हुए हैं। उदाहरणार्थ कर अथवा लगान का विवेचन करते समय यह आवश्यक नहीं समझा गया है कि नाना प्रकार के करों की निष्प्रयोजन

लन्दन, बम्बई या टोकिओ की जगमग ज्योति की झुरमुट में अधिकांश लोगों को दरिद्र जीवन में रखकर कुछ थोड़े लोगों को उन्नति का झूठा प्रचार करने को उन्नति कहेंगे। ट्रेवल्यान ने अपने इंग्लैण्ड के संक्षिप्त इतिहास में लिखा है—"The dark ages progressed into the middle ages, the barbarism grew into civilization but decidedly not along the path of liberty and equality ...."—p, 33, उसी प्रकार जैसे चोरी और राहजनी, कोकेन या स्त्रियों के व्यापार से एकत्र धन और साधन सभ्यता का सूचक नहीं हो सकता अथवा बड़े-बड़े केन्द्रों में कला भवन स्थापित करके अखिल समाज को कलाविज्ञ बताना झूठा होगा। सर्वसामान्य के सुखी और सुसंस्कृत हुए बिना हम समाज को विकासमान नहीं कह सकते। यदि विश्व की इस सारी प्रगति का फल ऐटम बम या कृत्रिम मैथुन के कृत्रिम साधनों में प्रकट हुआ है तो इसे हम उत्थान नहीं, विश्व का पतन ही कहेंगे।

१. इसी बात को तिलक ने गीता रहस्य में यों व्यक्त किया है—"अहिंसा, सत्य, आदि धर्म कुछ बाह्य उपाधियों अर्थात् सुख-दुःख पर अवलम्बित नहीं हैं। वे सभी काल में और सब अवसरों के लिए एक समान उपयोगी हो सकते हैं।"

खतौनी के पश्चात् भारत के आय-व्यय के आँकड़े तैयार किये जायँ और फिर इनमें कमी-बेशी का लेखा-जोखा तैयार किया जाय। नवभारत, सर्व प्रथम, इनकी नैतिक और सैद्धान्तिक परिभाषा स्थिर करने के पश्चात् निःशङ्क होकर घोषित करता है कि प्रचलित पद्धति में अमुक दोष या गुण है और परिणामतः हमारे नवनिर्माण में किन सिद्धान्तों के आधार पर और किस प्रकार कर लगाया जाना चाहिये ताकि सामाजिक सुख-सम्पदा और राजकीय सुव्यवस्था का एक स्थायी विधान सुलभ हो सके। उसी प्रकार आर्थिक वैपम्य पर विचार करते समय वह मजदूरों की औसत आय अथवा पूँजीपतियों के संगृहीत कोप के आँकड़ों में उलझने की अपेक्षा विषमता के मूल कारणों पर ही उँगली रखते हुए ऐसा प्रस्ताव रखता है कि विषमता उत्पन्न ही न हो; विपम समाज को कृत्रिम साधनों द्वारा सम करने के विवादास्पद उपायों का उल्लेख करना उसको श्रेयस्कर नहीं दीखता।

इस प्रकार नवभारत की नीति निश्चित और प्रणाली स्पष्ट हो जाती है। उसका सारा विवेचन, उसका सारा आयोजन मानव सुख-सम्पदा का एक नैसर्गिक विधान बन जाता है। अतएव यह ज़ोर देने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती कि नवभारत किसी व्यवस्था के स्थान में अपनी कोई नयी व्यवस्था नहीं प्रचलित करना चाहता और न तो वह कट्टर-पंथियों के समान पुरातनवाद का अस्तित्व अमिट बनाये रखने के ही पक्ष में है। समाज की जो स्वाभाविक अवस्था होनी चाहिये नवभारत उन्हीं के संपोषक अवयवों का विश्लेषण तथा विवेचन करते हुए अपने आयोजन का एक अटल आधार निश्चित करता है ताकि लोग सुगमता और सुरुचिपूर्वक उस पर कार्यशील हो सकें।

उपर्युक्त कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि नवभारत समाज के जीवन में अनावश्यक प्रवाह उत्पन्न करने के लिए कोई अप्राकृतिक प्रस्ताव नहीं रखता। राष्ट्रीय सन्तुलन को ध्यान में रखते हुए, यदि देश तेलहन की यथेष्ट उपज करता है तो नवभारत बाकू या मैक्सिको की खानों से तेल लाकर भारत का चिराग रोशन करना अर्थ विरुद्ध समझता है। यदि आवश्यक आधिक्य को ध्यान में रखकर स्वाभाविक तरीकों से यथेष्ट उपज कर ली जाती है तो वह उत्पादन को व्यापक के बजाय प्रचण्ड बनाना अहितकर ही नहीं अनर्थ भी समझता है और स्वाभाविक उपायों को छोड़कर उत्पत्ति को घनीभूत करना व्यर्थ समझता है बशर्ते कि देश की शक्ति और साधन फालतू (Extra) वैदेशिक

माँगों की पूर्ति तथा आयात की स्वयंभू प्रेरणा न करते हों। नवभारत का समस्त उत्पादन तथा वितरण विधान इसी मूल सत्य से प्रतिपादित होता है।

अब यह समझने में अधिक उलझन न होगी कि नवभारत के प्रस्तावों का "आयोजित अर्थविधान" या "राष्ट्रीय नियोजन" की प्रचलित धारणाओं से कहाँ तक मेल हो सकता है। अनेक विद्वानों ने रूस मार्का आर्थिक आयोजन का प्रचार प्रारम्भ कर दिया है, पाश्चात्य की चमक-दमक के आगे प्राच्य के मौलिक आयोजन को वह विस्मरण से कर बैठे हैं। यह ठीक है कि, सदियों सहस्त्रों वर्ष पूर्व का होने के कारण हमारे प्राच्य आयोजन में आजके संसार के साथ, सामञ्जस्य स्थापित करने की आवश्यकता उपस्थित हो गयी है, परन्तु केवल विगत इतिहास बताकर उन्हें ठुकरा देना गलती होगी। नवभारत का यह पक्ष नहीं कि वर्तमान की उपेक्षा करके भूत का अन्धानुकरण किया जाय। नवभारत केवल वस्तुस्थिति को आपके सम्मुख प्रस्तुत करता है और यदि उसमें सत्य और बल है तो आप चाहें या न चाहें, आपको उसे स्वीकार करना ही होगा।

नवभारत की योजना : धनिकों की संख्या वृद्धि नहीं, सर्व-सामान्य के सुख और सम्पन्नता पर आधृत है

६२. यह ठीक है कि नवभारत भारतवर्ष के आर्थिक समुत्थान को ही लेकर आगे आता है, परन्तु चूँकि वह एक सर्वथा अशोषणात्मक अर्थात् अहिंसात्मक समाज की कल्पना से ही आविर्भूत हुआ है, अतएव वह भारत की साम्पत्तिक उन्नति को धनिकों की संख्या वृद्धि से नहीं, सर्वसामान्य के सुखी और सन्तुष्ट जीवन से ही सम्बद्ध करता है। परिणामतः, नवभारत की योजनाएँ उत्पादन की अपेक्षा वितरण, पूँजी की अपेक्षा कर और श्रम, आलम्बन की अपेक्षा स्वावलम्बन पर जोर देते हुए, नवीन और प्राचीन, दोनों पक्ष के सुसाम्य से ही निर्मित हुई हैं और यदि हम इस आधारात्मक भेद को ध्यान में रख कर नवभारत को समझने की उदारता करेंगे तो मुझे विश्वास है कि इस रचना से यथेष्ट सहायता मिलेगी।

अन्त में, यह स्पष्ट कर देने की ज़रूरत है कि इस पुस्तक की सारी चेष्टा केवल यही है कि मनुष्य मनुष्य बना रहे, पूर्ण मनुष्य बना रहे, न कि विशेषज्ञों के रूप में आधा-अधूरा मनुष्य रह जाये और फिर इससे भी अधिक "उन्नति" करके कल-कारखानों के चलते-फिरते पुर्जों के रूप में समाप्त हो जाये। आज तो मनुष्य का सारा अस्तित्व ही ख़तरे में पड़ गया है। इसलिए रँग-बिरँगे सिद्धान्तों के संकलन या उनकी आलोचना-प्रत्यालोचना से पुस्तकें तैयार करने की ज़रूरत नहीं है; ज़रूरत है सत्य का दिग्दर्शन करने और कराने की। नवभारत इसी आवश्यकता की पूर्ति में पाठकों को विनम्रता पूर्वक भेंट किया जा रहा है।

द्वितीय खण्ड

नारी

(मनुष्य के सामाजिक उद्भव का आदि कारण)

मानव समूह को समाज का रूप धारण करने में
नारी आदि और प्रेरक कारण तथा संगठन और
विकास के प्रवाह में प्रमुख माध्यम सिद्ध हुई है।

(अ) दम्पति और समाज

१. प्रकृति हमें बताती है कि स्त्री और पुरुष का मूल सम्बन्ध सृष्टि-विस्तार की मूल प्रेरणाओं से ही आबद्ध है, अन्यथा दो भिन्न-भिन्न योनियों के बजाय सभी स्त्री या सभी पुरुष होते। हम यहाँ नारी को केवल मनुष्य की सामाजिक स्थिति के आदि कारण और मानव जीवन की क्रियात्मक शक्ति के रूप में ही समझने का प्रयास करेंगे।

स्त्री और पुरुष के सम्बन्ध का प्रेरणात्मक आधार

२. सृष्टि-विस्तार के विचार से प्रत्येक स्त्री के लिए पुरुष और प्रत्येक पुरुष के लिए स्त्री का होना नितान्त आवश्यक है, और यदि स्त्री-पुरुष की रचना का चरम लक्ष्य सृष्टि-विस्तार मान लिया जाय तो किन्हीं दो स्त्री-पुरुषों के संयोग में शरीर-विज्ञानात्मक (Physiological) तथा कुछ ऐसी ही बातों के अतिरिक्त कोई विशेष विरोध नहीं हो सकता था। परन्तु धीरे-धीरे मनुष्य ने इससे भिन्न रचना की। भाई बहन, मौसी, तथा साढू—इत्यादि वर्गीकरण अथवा अन्य अनेक व्याख्या और प्रतिबन्धों का जाल फैलाकर इसने मानव सम्बन्ध के प्रारंभिक रूप को सर्वथा बदल दिया है। सम्भवतः, यह सब विकास का निश्चित परिणाम माना जा सकता है, परन्तु एक सूक्ष्म विश्लेषण के बिना यह कहना कठिन होगा कि संसार की अग्रसरता का प्रभाव 'स्त्री और पुरुष' पर कैसा पड़ा है—भला या बुरा ?

प्रारम्भिक रूप में परिवर्तन—भला या बुरा

३. हम मानते हैं कि समाज-संगठन, फिर समाज विकास, फिर

विकास के परिणाम में अधिक परिपक्व संगठन—इसी प्रकार संगठन और विकास का पारिस्परिक चक्र चलता रहता है।

दम्पति—समाज का आदि कारण और आधारभूत अङ्ग है

परन्तु समाजशास्त्र का अध्ययन कोई सरल बात नहीं, और चूँकि दम्पति उसी का आदि कारण और एक आधारभूत अङ्ग है, इसलिए हमारे विषय अनुसन्धान में भी कठिनाइयाँ मौजूद हैं। फिर भी मैं प्रयत्न करूँगा कि एक सरल और सुबोध रूपरेखा पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत की जा सके जो हमारी व्यावहारिक अनुभूतियों द्वारा हमें सहज ही ज्ञानगोचर हो सके।

मनुष्य—प्रारम्भिक स्थिति में

४. दलबद्ध पशुओं में देखा जाता है कि नर मादा को प्राप्त करने के लिए दूसरे नर से जूझता है। सभ्यता के आदिकाल में मनुष्य की भी यही दशा होती है। आस्ट्रेलिया की जातियों में देखा गया है कि परास्त लोगों की स्त्रियाँ स्वतः विजेताओं के साथ चली जाती हैं। मनुस्मृति (७-१६) में भी इसी भाव की झलक मिलती है। जब तक लोगों का सु-संगठन नहीं हो जाता, कोई स्पष्ट दम्पति-विधान भी सुनिश्चित नहीं हो पाता। इच्छा और काम प्रेरणा तथा उनकी पारिणामिक परिस्थितियों के अतिरिक्त स्त्री-पुरुष के समागम में कोई विशेष बात बाधक नहीं होती। श्वेत केतु के पूर्व हमें किसी वैवाहिक परिपाटी का पता नहीं चलता। श्वेतकेतु की माँ को एक ब्राह्मण पकड़ ले चला, परन्तु उनके पिता ने इसमें कोई दोष न देखा। मनुष्य की इसी प्रारम्भिक दशा का उदाहरण देते हुए बैंक्राफ्ट साहब लिखते हैं—"कैलिफोर्निया की नीच श्रेणी में लोग पशु-पक्षी के समान स्वच्छन्द होकर विषय-संयोग करते हैं।"

दाम्पत्य का विकास अनिवार्य है

५. मानव-विकास के साथ ही दाम्पत्य का भी विकास होता है। परन्तु सीलोन, मालाबार, तिब्बत में अब भी 'बहु-पति-विधान (Polyandry) तथा अन्य अनेक देशों में 'बहु-पत्नि' (Polygamy) की प्रथा देख कर हमें, स्वभावतः, शङ्का होती है कि क्या मनुष्य के विकास के साथ ही उसके दाम्पत्य जीवन का भी विकास होता है? परन्तु इसमें तो सन्देह ही नहीं कि समाज का विकास हुए बिना दाम्पत्य का विकास हो ही नहीं सकता और जब तक दाम्पत्य का विकास नहीं

होता सामाजिक विकास में प्रगति आ ही नहीं सकती। संसार की अग्रिम जातियों में दाम्पत्य का उत्कृष्ट रूप देख कर केवल यही अनुमान किया जा सकता है कि त्रुटियाँ भले ही रह गयी हों, परन्तु इसका विकास अवश्य हुआ है।

‘स्वच्छन्द संयोग’ और उसके दुष्परिणाम

६. मानव-समाज की प्रारम्भिक स्थिति में ‘स्वच्छंद संयोग’ (Promiscuity) का होना स्वाभाविक है। परन्तु इसका फल? —बच्चों के बाप का पता नहीं, वंश स्नेह तथा अन्य बन्धनों का अभाव है। कौन किसका बाप, कौन किसका बच्चा, किसका कौन वंश—पिता पक्ष के अन्धकार में रहने से किसी का निश्चय नहीं हो पाता। केवल माँ पक्ष के आधार पर वंशावली दूर तक नहीं फैल सकती। परिणाम यही होता है कि मनुष्य की सङ्गठन शक्ति क्षीण हो जाती है। बिना बाप के बपौती प्रथा नहीं चलती और बिना बपौती के सुदृढ़ सरदारी नहीं होती; ‘जिसकी लाठी उसकी भैंस’ का प्रश्न रहता है। इसलिए राजनीतिक स्थिति भी स्थायी नहीं रहती। बड़ी बात तो यह है कि बच्चों के पालन-पोषण का सारा भार अकेली माँ से सम्हाला नहीं जाता। सन्तान स्वभावतः विनाश के गढ़े में क्षीण हो जाती है। कहना न होगा कि जहाँ स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध सुदृढ़ और सुविकसित दाम्पत्य-विधान से परिपूर्ण तथा अनुशासित नहीं, वह समाज स्थायित्व को प्राप्त हो ही नहीं सकता, न हुआ और न होगा।

गृहस्थाश्रम और सामाजिक विकास

७. इसलिए सम्भवतः माता-पिता अधिक काल तक एक साथ रहने लगे[1] ता[illegible] सन्तान का सुन्दर रीति से पालन-पोषण हो सके। माता सन्तान पर अधिक ध्यान और अधिक समय व्यतीत करके बच्चों को सुदृढ़, सुन्दर तथा विद्वान बना सके, इसलिए आवश्यक था कि पिता, कम से कम कुछ समय तक, दोनों की जीवन-सुविधा का प्रबन्ध करे। यहीं से गृहस्थाश्रम का प्रारम्भ हुआ। वास्तव में बिना

१. प्रोफेसर केसलर का मत है कि सन्तानोत्पादन के लिए प्राणियों का एक साथ रहना आवश्यक प्रतीत हुआ; साथ रहने से वे स्वभावतः एक दूसरे की सहायता करने लगे। साथ रहने से उनकी सहयोग भावना दिनोदिन बढ़ती जाती है और धीरे-धीरे वह उनके बौद्धिक विकास का भी कारण बनती है।

गृहस्थाश्रम के सामाजिक विकास असम्भव है। यह तो प्रत्यक्ष अनुभव की बात है कि सुन्दर सुदृढ़ गृहस्थाश्रम में अधिक से अधिक सुख-शान्ति मिलती है। विकास तथा विजय उसी राष्ट्र को सुलभ है, जहाँ दाम्पत्य विधान (गृहस्थाश्रम) अधिक विकसित है।

'बहुपति' विधान

८. 'स्वच्छंद संयोग' से बढ़कर जब हम 'बहुपति' विधान पर आते हैं तो हमारे गृहस्थाश्रम का स्वरूप अधिक स्पष्ट हो जाता है। कई पुरुष एक स्त्री को पत्नी बनाकर घर में रहते हैं, बच्चों का पालन-पोषण करते हैं। इस प्रकार कुछ अंशों में पैतृक सूत्र का भी प्रकाश होता है। यहाँ लोगों का झुण्ड छोटे-छोटे दल का रूप धारण करता है। परन्तु जब यही 'बहुपति' पाण्डवों के समान भाई-भाई होते हैं तो गृहस्थाश्रम का एक पग और आगे बढ़ता है। दोनों धाराएँ स्थिर हो जाती हैं। वंशावली का अभाव मिटने-सा लगता है और सन्तान का पालन-पोषण अधिक सुगम हो जाता है।

प्रारम्भिक स्थिति में ज्ञान और विज्ञान की कमी के कारण अथवा अन्य कारणों वश भोजन कठिनाई से मिलता था। पर बहुत काल के उपरान्त भी जब लोगों को यथेष्ट मात्रा में भोजन पाना कठिन बना रहा, तो कुछ लोग लड़कियों को मार डालने लगे[१] क्योंकि लड़के बड़े होकर युद्ध और संघर्ष में काम देते थे, परन्तु लड़कियाँ व्यर्थ का बोझ समझी जाती थीं। इस प्रकार विवशतः कई लोगों को मिलकर एक ही स्त्री से (बहुपति रूप) सम्बन्ध स्थापित करना पड़ता था। ऐसी दशा में स्वभावतः सन्तानोत्पत्ति में कमी होगी और साथ ही वंशावली भी अधिक स्पष्ट, घनिष्ठ या विस्तृत नहीं होती। यहाँ गृहस्थाश्रम 'स्वच्छन्द संयोग' वाली स्थिति से अधिक संघटित अवश्य है पर अधिक विकसित और सौम्य है—सो बात नहीं। सुन्दर गृहस्थाश्रम के बिना समाज भी विकसित और सुसभ्य नहीं हो पाता।

९. 'बहुपति' के ठीक विपरीत 'बहुपत्नि' प्रथा है और संसार के

---

१. पर्याप्त भोजन के बावजूद भी जहाँ लड़कियों को मार डालने की प्रथा देखी जाती है वहाँ अन्य सामाजिक तथा राजनीतिक कारण हैं, जो इस रचना के बाहर का विषय है।

बहुत से देशों में प्रचलित है। अमीरों में इसका बड़ा जोर है। अफ्रीका में अनेक स्त्रियाँ होना सरदार या अमीरों का लक्षण माना जाता है। संघर्षकालीन स्थिति में इसका प्रावल्य परिस्थिति के अनुकूल प्रतीत होता है क्योंकि युद्ध में पुरुषों की हानि होने से या परास्त लोगों की स्त्रियों को विजेताओं द्वारा एकत्रित कर लिये जाने से स्त्रियों की अधिकता हो जाती है और एक-एक पुरुष कई-कई स्त्रियाँ रख लेता है। संघर्षप्रिय जातियों में यह प्रथा और भी जोर पकड़ लेती है ताकि एक पुरुष बहुत से बच्चों का पिता हो सके। सैनिकों की इस सन्तान आवश्यकता को पुजारियों ने शास्त्रोक्ति द्वारा पूरा किया और 'बहु-पत्नि' विधान ने सामाजिक, धार्मिक तथा नैतिक स्वीकृति प्राप्त कर ली। समाज में जब निजी और वैयक्तिक सम्पत्ति की स्थापना हो गयी तो लोगों ने अनुभव किया कि सम्पत्ति का सुरक्षित सञ्चालन और उसका विकास बिना पुत्र के नहीं हो सकता। सम्पत्ति, सदैव एक ही वंश में स्थिर रहे और उसका सञ्चालन सुन्दर ढंग से हो, वह दूसरों के हाथ में पड़ कर नष्ट न हो जाय,[१] इसलिए पुत्र की आवश्यकता हुई। यही कारण है कि केवल

'बहुपत्नि' विधान

---

१. समाज में पुरुष का प्राधान्य होने से स्त्री उसी की मानी जाती है; स्त्री प्राप्त करने के साथ पुरुष स्त्री के साम्पत्तिक सूत्रों को भी प्राप्त कर लेता है। अतएव यदि एक विधवा पुनर्विवाह करती है तो सम्पत्ति के चलविचल और पारिवारिक सञ्चय के छिन्न-भिन्न हो जाने का भय उपस्थित हो जाता है। यही कारण है कि हिन्दू धर्म ने विधवा विवाह को निषिद्ध घोषित कर दिया था। साम्पत्तिक कारणों के साथ, सन्तान को मातृ स्नेह तथा पालन-पोषण से वञ्चित न होने देना तथा कौटुम्बिक व्यवस्था को सुदृढ़ और सुरक्षित बनाये रखने की दृष्टि से स्त्रियों को पुनर्विवाह से वर्जित किया गया था। परन्तु यह नहीं कि विधवा विवाह सम्पूर्णतः अमान्य था; भिन्न-भिन्न दशाओं में; विभिन्न प्रतिबन्धों के साथ विधवा विवाह की सम्मति तथा दृष्टान्त बराबर मिलते हैं जैसे कि पुरुष संसर्ग से सर्वथा मुक्त युवती विधवा (अक्षतयोनि) या जैसा कि कौटिल्य अर्थशास्त्र में उल्लेख है—यदि कोई स्त्री ऐसे पुरुष से विवाह करती है जो उसके स्वामी का सम्बन्धी या सम्पत्ति का अधिकारी नहीं है तो वह दोनों और जो उनके विवाह में सम्मिलित हों, वे सब व्यभिचार सम्बन्धी अपराध के अपराधी समझे जायँ। पहले में सन्तान के अभाव के कारण छूट है तो दूसरे में साम्पत्तिक सुरक्षा पर दृष्टि रखी गयी है।

उपर्युक्त सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर ही हमें 'हिन्दू-कोड' पर विचार करना होगा क्योंकि इसमें साम्पत्तिक स्वामित्व और स्थायित्व की जटिल समस्याएँ, कौटुम्बिक व्यवस्था की अनेक गुत्थियाँ पैदा हो जाती हैं।

पुत्र के लिए कई विवाह करके भी अनेक लोग पवित्र और मान्य नागरिक बने रहते हैं। इस गद्दीनशीनी की आवश्यकता ने 'बहुपत्नि विधान' को और भी व्यापक बना रखा है। बहुत-सी स्त्रियाँ रखने का कहीं-कहीं यह भी अभिप्राय होता है कि अधिक काम-काज करनेवाली दासियाँ मिल जायँ। एक या अनेक स्त्रियाँ तो अब भी अधिकार, विशेषतः भारत में, घर का बोझ ढोने के लिए, रोटी-धोती पर जीनेवाली सस्ती मजदूरनी के रूप में रखी जाती हैं।

'बहुपति' विधान में और जो कुछ भी हो, कम से कम बाप का स्पष्ट पता तो रहता ही नहीं, 'बहुपत्नि' में माँ-बाप दोनों का स्पष्ट पता रहता है। माता-पिता का स्पष्ट पता रहने से सन्तान का माता-पिता से तथा स्वयं आपस में भाई-बहिनों से घनिष्ट सम्बन्ध रहता है। परिणामतः समाज संघटन अधिक दृढ़ हो जाता है। पीढ़ी पर पीढ़ी, निश्चित व स्पष्ट वंशावली की शृंखला बँध जाती है और फिर गृहस्थाश्रम का संघटित विकास संभव हो सकता है। घर से घरानों की नींव पड़ती है और समाज का विस्तार सुलभ हो जाता है। संघर्षकालीन समाज में जनसंख्या क्षीण न होने देने के लिए 'बहु-पत्नि' बड़ी आवश्यक प्रथा मालूम पड़ती है; नियोग रीति की स्वीकृति का कारण भी, सम्भवतः, यही हो सकता है।

'बहु - पत्नि' और जनसंख्या

'बहुपत्नि' द्वारा बपौती स्थिर हो जाती है, बपौती से सरदारी, सरदारी से राजनीतिक संघटन सुदृढ़ होता है क्योंकि प्रारम्भिक स्थिति में जब तक लोग जनसत्तात्मक भावों का स्वतंत्र रूप से समुचित सदुपयोग करने के योग्य न हो गये हों, "एकतंत्र" अथवा केन्द्रीय शासन की अत्यन्त आवश्यकता जान पड़ती है। जब तक समाज धीरे-धीरे विकसित, शान्तिप्रिय और जनसत्तात्मक स्थिति को न पहुँच जाय, तब तक अर्थात् समाज के आदिकाल के लिए सरदारी परम आवश्यक है और सरदारी के लिए 'बहु-पति' से बढ़कर 'बहु-पत्नि' विधान की आवश्यकता होती है। बपौती स्थिर हो जाने से पितृ-भक्ति का उद्भव होता है। फिर बच्चों के बच्चे, उनके बच्चे, पीढ़ी दर पीढ़ी, उसी एक 'पुर्खा' की आराधना की जाती है और, स्वभावतः, बहुत से लोग उसी एक के भक्त होने से अधिक निकट और सङ्गठित हो जाते हैं।

'बहु-पत्नि' और सरदारी

१०. परन्तु इतना सब होते हुए भी 'बहुपत्नि' विधान में मानव की उन उच्च भावनाओं का नाश हो जाता है जो दाम्पत्य विकास के लिए परम आवश्यक हैं। स्त्रियाँ सहधर्मिणी और अर्द्धांगिनी के बजाय भौतिक सुख-साधनों से अधिक नहीं समझी जातीं। यह कहने में दोष नहीं कि दाम्पत्य सम्बन्ध में एक प्रकार की पशु-वृत्ति का समावेश होता है और परिणाम स्वरूप समाज का समुचित विकास नहीं हो पाता। स्त्रियों की लूट या चोरी, मोल-भाव, लेन-देन, दहेज तथा नाना प्रकार के दोष 'बहुपत्नि' विधान से विशेष सम्बन्ध रखते हैं। संघर्ष काल में 'बहु-पत्नि' की शरण लेने से बहुत से स्त्री-बच्चों की जानें बच गयीं परन्तु अनेक बुराइयाँ भी साथ लगी रहीं। सौतियाडाह, सौतेले भाइयों का हक, समाज में कलह और कोलाहल ही नहीं उत्पन्न कर देता बल्कि कौटुम्बिक विस्तार में भी बाधा उत्पन्न होती है जो साम्पत्तिक आयतन को फैलाने की अपेक्षा संकुचित ही अधिक करता है। यह तो कहना ही नहीं कि यहाँ सामाजिक शान्ति के सुदृढ़ और अविचल बने रहने की सम्भावनाएँ क्षीण हो जाती हैं। राम वनवास, महाभारत युद्ध, शाहजहाँ की कैद—असंख्य में से केवल दो चार दृष्टान्त हैं।

बहु-पत्नि विधान के दोष

११. परन्तु यही नहीं कि 'स्वच्छंद संयोग' प्रथा प्रारम्भिक काल के लिए अनिवार्य थी। जब तक लोग किसी एक स्थान में एकत्रित होकर दलबद्ध रूप से पशुपालन, खेती या उद्यम नहीं करने लगे थे अर्थात् जब तक लोग अत्यन्त तितर-बितर स्थिति में आखेट आदि से जीवन निर्वाह करते थे, संभवतः एक स्त्री और एक पुरुष का एक-एक जोड़ा दुःख-सुख में सदा साथ बना रहा होगा। यह भी सम्भव है कि एक पुरुष एक स्त्री को पसन्द करके उसे अपने संग लिये फिरे। इसलिए 'स्वच्छंद संयोग' 'बहु-पति', 'बहु-पत्नि' के समान ही 'एक पति' और 'एक पत्नि' विधान (Monogamy) का भी प्रारम्भिक सूत्र मिलना यथार्थ है। मध्यकालीन युग में यही प्रथा भ्रष्ट हो जाने के कारण, आगे चलकर फिर प्रकट हुई। सम्भवतः आर्य लोग इसीलिए आदि से ही 'एक पति' और 'एक पत्नि' का 'एक व्रत' जपते आ रहे हैं।

'एक व्रत'

अब तक के अनुभवों पर हम निःशंक कह सकते हैं कि 'एक व्रत'

सर्वोत्तम विधान है। 'स्वच्छंद संयोग' अथवा 'बहु-पति' का तो कहना ही नहीं, 'बहु-पत्नि विधान' में भी वंश सूत्र इतना घनिष्ठ नहीं होता जितना 'एक व्रत' में। बहुत माताओं के कारण स्वभावतः बच्चों में कुछ न कुछ विच्छेद भाव रहता है। परन्तु एक माता और एक पिता के बच्चों में तुलनात्मक दृष्टि से अधिक घनिष्ठता होती है। स्वभावतः, उनमें अधिक आकर्षण, संयोग, सहयोग, सद्भाव होता है। गृहस्थाश्रम सुदृढ़ और सुसंघटित हो जाता है।

'स्वयंवर'

१२. धीरे-धीरे प्रारम्भिक बुराइयों से निकलते हुए जब 'स्वयंवर' पद्धति का उदय होता है तो स्त्री-पुरुष दोनों वास्तविक साथी बनकर जीवन संघर्ष को सुखी, सम्पन्न और प्रेमपूर्ण बनाते हैं। जहाँ प्रेम नहीं वहाँ शान्ति नहीं। बिना शान्ति के साम्पत्तिक सञ्चय कठिन हो जाता है और मानव का ज्ञान भी परिमार्जित नहीं होता, सद्भावनाओं का विकास नहीं होता। फिर भला सङ्गीत, कला और कौशल का उत्कर्ष कहाँ से हो? 'एक व्रत' में ही मानव का विकास निर्मल रूप धारण करता है। सच्चा दाम्पत्य प्रेम सम्पूर्ण रूप से 'एक व्रत' में ही सम्भव है।

(ब) नारी और सामाजिक विकास

समाज—क्या है

१३. समाजशास्त्रियों का मत है कि बहुत सी जंगली और असभ्य-जातियाँ, जो बञ्जारों के समान घूमती-फिरती थीं, धीरे-धीरे एक स्थान पर जम कर खेती करने लगीं और अन्त में सभ्य और संघटित हो गयीं। प्रारम्भिक काल में मनुष्य की ठीक यही दशा थी। स्त्री-पुरुषों का झुण्ड बिना किसी नियम या संघटन के चलता-फिरता नजर आता था। कोई समाज न था, क्योंकि लोगों का एकत्रित होकर जीवन बिताना ही समाज नहीं कहलाता। जब लोग दुःख-सुख, संघर्ष और शान्ति, सर्वत्र सहयोगपूर्वक सामूहिक सिद्धान्त और यम-नियम के अन्तर्गत कार्य करते हैं तो हम उसे समाज कहते हैं।

१४. "मारती-खाती बद्दू" अवस्था के पश्चात् खेतिहर या व्यावसा-

यिक दशा प्रारम्भ होती है और लोग अधिकांश में एक स्थान पर स्थित और स्थिर होकर कार्य आरम्भ करते हैं। लोगों के विशाल समूह से निकल कर एक भूला-भटका झुण्ड, बहुधा एक ही घराना, आकर किसी सुविधानुकल स्थान पर बस जाता है। विशाल समूह से पृथक् होकर स्वतंत्र रहने ही का अर्थ है कि स्त्री-बच्चे उसके हैं। बच्चे किसी स्त्री के न कहलाकर पुरुष के नाम से पुकारे जाते हैं। स्त्रियाँ भी उसी पुरुष के सम्बन्ध से जानी जाती हैं। असभ्य या सुसभ्य, मानव समाज इस प्रकार के बहुत से गृहस्थाश्रम रूपी इकाइयों का समुच्चय मात्र है। जिस समाज में गृहस्थाश्रम का विकास नहीं हुआ वह कदापि सुसंस्कृत अवस्था को नहीं पहुँच सकता। एक घराने से दूसरा घराना, फिर तीसरा, इसी प्रकार बहुत से घरानों के मेल से समाज बनता है। उनकी रूढ़ियाँ, उनका दैनिक जीवन, उनके परस्पर व्यवहार धीरे-धीरे समाजिक नियमों का रूप ग्रहण कर लेते हैं। नियम निर्धारित हो जाने से समाज संघटन का पहला कदम रखा जाता है। ज्यों-ज्यों हमारा संघटन बढ़ता जाता है, हमारा ज्ञान और विज्ञान भी बढ़ता जाता है।

समाज-कैसे बनता है

१५. यह बता देना आवश्यक है कि प्रारम्भ से ही पुरुष स्त्रियों पर सामूहिक आधिपत्य जमा चुका था। स्त्री कोमल थी, पुरुष में शारीरिक बल अधिक था, अपने शारीरिक प्राबल्य के कारण पुरुष सैनिक और कठोर कार्य करता रहा परन्तु स्त्रियाँ अपनी नैसर्गिक दुर्बलताओं तथा असुविधाओं के कारण स्वभावतः कोमल और सरल कार्य का ही सम्पादन करती रहीं। ऐसी अवस्था में धीरे-धीरे स्त्रियों का स्थान दूसरे दर्जे पर रह गया। वे आनन्द-प्रमोद और गृह शोभा की सामग्री बन गयीं। उनका अधिकार क्षेत्र घर में ही सीमित हो गया। परन्तु पुरुष अधिक परिश्रमी होने के कारण समाज में अधिक प्रभावशाली बन गया। सदा, सर्वत्र कार्य करते रहने के कारण समाज में पुरुष का प्रभुत्व स्थापित हो गया।

समाज में पुरुष का प्रभुत्व

१६. फिर भी, बात केवल इतने से ही पूरी नहीं होती। जब हम

गम्भीरतापूर्वक विचार करते हैं तो हमें पता चलता है कि स्त्रियों की दासता का श्रीगणेश इनके मासिक धर्म से होता है।

स्त्रियों की दासता का उद्गम और कारण

मासिक धर्म बन्दर, वनमानुष तथा कुछ दूध पिलाने-वाले पशुओं में भी होता है परन्तु मनुष्य जाति में यह दशा स्पष्ट तथा विकसित अवस्था को पहुँच जाती है। देश, काल, जल-वायु, शारीरिक बनावट तथा स्वास्थ्य इत्यादि के कारण कुछ अन्तर अवश्य होता है परन्तु अधिकांशतः गुण और लक्षण सर्वत्र मिलते-जुलते से पाये जाते हैं। इस दशा का विशेष लक्षण शिथिलता है; अन्य बातें स्वास्थ्य पर ही निर्भर हैं। इस अवसर पर किसी प्रकार की शारीरिक स्फूर्ति का कार्य असुविधाजनक सिद्ध होता है। इस प्रकार बेचारी स्त्री प्रति मास पाँच-सात दिन तक सामाजिक संघर्ष से अनुपस्थित रहने लगी। परन्तु पुरुष इस काल में भी संघर्ष करता रहा और स्त्रियों की अनुपस्थिति में सामाजिक शक्ति को अपने हाथ में करता गया।

मासिक धर्म

गर्भाधान

दासता का दूसरा कारण स्त्रियों के गर्भाधान से सम्बद्ध है। विकास की दौड़ में स्त्रियों के लिए गर्भाधान प्राकृतिक असुविधा का कारण सिद्ध हुआ। हम नित्य देखते हैं कि गर्भावस्था में स्त्रियाँ अधिक परिश्रम के योग्य नहीं रह जातीं। कुछ समय तक तो वे किसी प्रकार का कार्य नहीं कर सकतीं। आज हमारा जीवन पूर्णतः प्राकृतिक नहीं रहा है; इसलिए गर्भकालीन शिथिलता को लम्बी होने में बहुत बड़ी प्रेरणा मिली है।

सभ्यता केवल पुरुषों की मिलकियत रह गयी

यही नहीं; चूँकि वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण हमारी आवश्यकताएँ सरलता से पूरी होने लगीं, इसलिए स्वभावतः हमें जीवन संघर्ष से बचने का भी अवसर मिलने लगा। परिमाण यह हुआ कि हमें कला और क्रीड़ा की सूझी। फलतः स्त्रियों को शृङ्गार देवी बना कर उन्हें संघर्ष से दूर-दूर रखने की चेष्टा की गयी। इस अवस्था का उचित या अनुचित लाभ उठाकर यदि पुरुष ने सामाजिक शक्ति को अपने हाथ में कर लिया तो कोई आश्चर्य नहीं। धीरे-धीरे हमारी सभ्यता केवल

पुरुषों की मिलकियत रह गयी, और उसमें स्त्रियों का कोई हाथ ही न रहा।

१७. स्त्रियों के इस पृथक्करण से भले ही हमारे विकास की गति रुक गयी, परन्तु जो कुछ संघर्ष करके हमने प्राप्त किया वह स्त्रियों के लिए भी उतना ही आवश्यक था जितना पुरुषों के लिए। इसलिए पुरुषों ने स्त्रियों से समझौता किया—'पुरुष स्त्रियों की रक्षा और आदर करें और स्त्रियाँ पति-व्रत धर्म का पालन करें।' एक ओर आदर्श था मर्यादा पुरुषोत्तम राम का, दूसरी ओर था सती सीता का। परन्तु केवल "पति-लोक" का आदर्श खड़ा कर देना ही यथेष्ट न था। इसमें भी विद्रोह होने का भय था। इसलिए विवाह-शास्त्र की (और भारत में तो वर्ण विधान की भी) एक जटिल (Complex) रचना करके प्रचलित अवस्था को स्थायी बना दिया गया। विवाह-विधान का विशेष महत्त्व पाति-व्रत धर्म में ही प्रस्फुटित होता है। आज हम सैकड़ों स्त्रियों का गुणगान करते हैं क्योंकि वे पतिव्रता थीं। देवी जोन या लक्ष्मी-बाई को उतना महत्त्व नहीं दिया जाता जितना सती सीता, सावित्री या हेलेन को। मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र इसलिए नहीं प्रसिद्ध हैं कि वे पत्नी-भक्त थे, वरन् इसलिए कि वे वीर और न्याय के भक्त थे। हमारे उस विवाह-शास्त्र में पुरुषों के लिए भी कड़े बन्धन भले ही थे, परन्तु यह न भूलना चाहिये कि वे सब केवल स्त्रियों के हित-साधन के लिए नहीं, वरन् समस्त समाज व्यवस्था को स्थिर रखने के लिए थे। दूसरी बात यह भी है कि पुरुषों के अनेक कर्तव्यों में से पत्नीव्रत भी एक था, जब कि स्त्रियों का सारा क्षेत्र पुरुषों में ही सन्निहित कर दिया गया।

स्त्री और पुरुष का समझौता

विवाह-शास्त्र

१८. प्रारम्भ में मनुष्य चाहे बद्दू रहा हो या खेतिहर, विज्ञान के अभाव से जीवन सम्बन्धी सुविधाओं की कमी तो थी ही, इसलिए निरन्तर संघर्ष लगा रहा। संघर्ष के लिए स्त्रियों की दुर्बलता और अयोग्यता के कारण स्वभावतः पुरुषों की बड़ी आवश्यकता थी, जो समाज-संचालक और सैनिक बन सकें। इसके लिए स्त्रियों की भी आवश्यकता थी जो पुत्र पैदा करें और उनका लालन-पालन करें। पुत्रों की रक्षा और विकास के

लिए सुन्दर गृहस्थाश्रम की आवश्यकता पड़ी। इसी से धीरे-धीरे 'बहु-पति' विधान के स्थान पर 'बहु-पत्नि' विधान का प्रचार बढ़ा। यह बात दूसरी है कि प्रारम्भ में पुत्रियों का कोई मूल्य न था, परन्तु ज्यों-ज्यों हम शान्तिप्रिय और विकसित अवस्था को प्राप्त करते गये, पुत्र और पुत्री का भेद कम होता गया। सम्भव है, शान्ति के मध्य संघर्ष छिड़ जाने से लोग फिर उसी पहले के स्तर पर आ जाते रहे हों। परन्तु यह ध्यान में रखना चाहिये कि सन्तान की ममता मनुष्य को बार-बार गृहस्थाश्रम की निश्चल छाया में पहुँच जाने के लिए लालायित करती रही

सन्तान की ममता और गृहस्थाश्रम

क्योंकि जहाँ सन्तान की ममता नहीं वह जाति शीघ्र ही विनाश को प्राप्त होती है। जहाँ सन्तान की रक्षा नहीं वहाँ जनवृद्धि नहीं; जनवृद्धि बिना लोकशक्ति और मानव विकास कठिन है। अनेक देशों की घटती हुई आबादी ने उनके लिए जनक्षय का बड़ा भय उत्पन्न कर दिया है।

सन्तान की रक्षा और लोकशक्ति

स्त्री-पुरुष का भेद संघर्षकालीन समाज में उत्कट हो जाता है और 'बहु-पत्नी' विधान की प्रथा चल पड़ती है।[1] विशेषकर युद्ध के पूर्व जब तक एक दल दूसरे को गुलाम नहीं बना लेता, स्त्रियाँ ही गुलामों का काम देती हैं। पुरुष संघर्ष और युद्ध करता है, स्त्रियाँ खेती, गृहस्थी, बोझा ढोना तथा सैनिकों की सहायता करती हैं। परन्तु जब दल के दल लोग परास्त होकर गुलाम बनने लगते हैं तो स्त्रियों की गुलामी बहुत कम हो जाती है। फिर भी स्त्रियों की दशा और श्रम विभाजन में संघर्षकालीन अन्याय लगा ही रहता है।

१९. समाज में राजनीतिक भेद का यहीं (हमारे गृहस्थाश्रम) से श्रीगणेश होता है। स्त्री और पुरुष गृहस्थाश्रम में विभिन्न कार्य करते हैं; गृहस्थाश्रमों के समूह से समाज बनता है, इसीलिए समाज में विभिन्न कार्य करते रहने के कारण स्त्री और पुरुष की अवस्था में भिन्नता उत्पन्न हो जाती है जिससे हमारी राजनीतिक भेद-भावना का उदय होता है, शासक और शासित।

राजनीतिक भेद का श्रीगणेश—गृहस्थाश्रम से

---

[1] आज के युद्धों का अनुभव तो यह है कि 'स्वच्छन्द संयोग' की प्रचण्डता बिराजने लगती है। सैनिकों के छोड़े हुए असंख्य अनाथ हरामी बच्चे और क्षत-विक्षत स्त्रियों का झुण्ड आज राष्ट्रों की समस्या हैं।

इसी के साथ शारीरिक विभिन्नता का भी श्रीगणेश होता है। निरन्तर कम परिश्रम और कम स्फूर्ति तथा कम संघर्षवाले कार्य करते रहने के कारण स्त्रियों का शारीरिक और मानसिक विकास भी कम हुआ, उसी प्रकार जैसे दाहिना हाथ बायें हाथ से अधिक बलवान और कार्यशील होता है, या जिस प्रकार ब्राह्मण शूद्रों से अधिक चतुर और संस्कृत हुआ करते थे। सहस्रों वर्ष यही चक्र चलते रहने के कारण हमारी मनोभावना भी शासक और शासित के साँचे में ढल गयी।

२०. इसीलिए मानव मात्र के सर्वोदय के लिए गांधी जी ने स्त्री-पुरुषों के कार्यों में एकाधिकार को मिटा देने की सलाह दी है। गांधी जी कहते हैं कि कोई कार्य किसी के लिए वर्जित या सुरक्षित नहीं है। भले ही कार्यों के कोमल भाग को सम्पन्न करना स्त्रियों के लिए अधिक सुविधाजनक और स्वास्थ्यकर हो, पर पुरुषों के कठोर कार्य को पूरा कर लेने की भी स्त्रियों में क्षमता और योग्यता होनी ही चाहिये। यही कारण है कि उन्होंने स्त्रियों को कताई के साथ बुनाई में भी दक्षता प्राप्त करने का आदेश दिया है। उसी प्रकार पुरुषों को भी चक्की चलाने का अभ्यास होना चाहिये। कार्यों का यह भेद-भाव स्त्री-पुरुष के बीच ही नहीं, मनुष्य मात्र के बीच दूषित वर्गों की स्थापना करता है। कुछ कार्य कुछ निश्चित लोग करते हैं इसलिए वे हरिजन और अछूत समझे जाते हैं। उन कार्यों को कुछ लोग नहीं करते क्योंकि वे ब्राह्मण कहलाते हैं और उनके लिए दूसरे ही प्रकार का कर्मकाण्ड रचा गया है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न लोगों के लिए कार्यों का भिन्न-भिन्न कर्मकाण्ड रच देने से भिन्न-भिन्न वर्गों की स्थापना होती है और सारा समाज सम्प्रदायों या फिरकों में बँट कर हिंसात्मक संघर्ष का शिकार हो जाता है। इसीलिए गांधी जी कहते हैं कि इतना ही नहीं कि हरिजनों को कोई कार्य करने की मनाही न हो, बल्कि यह भी कि जिन कार्यों को निकृष्ट समझकर हरिजनों से कराया जाता है उन्हें अपने को ब्राह्मण समझनेवालों को पूरा करने में दोष, बाधा, या लज्जा न होनी चाहिये। परिणामतः टट्टी साफ करना ही नहीं, वर्धा के चर्मालय में ब्राह्मण कहे जानेवाले लोग भी कार्य करते हैं। इसके बिना यही नहीं कि सामाजिक गढ़-बन्दी का

सर्वोदय दृष्टि

कार्यों के भेद से वर्ग-भेद

अन्त नहीं होगा, बल्कि, वर्णविहीन और वर्गविहीन समाज की स्थापना भी नहीं हो सकती।

सर्वोदय समाज में कार्यों का भेद

२१. यह स्पष्ट है कि गांधी जी की योजना केवल भारत या हिन्दू समाज के लिए ही नहीं है। यह समस्त विश्व की एक जीवन-योजना है। इसीलिए यहाँ हिन्दू, मुसलमान, ब्राह्मण या शूद्रों को ही ध्यान में नहीं रखा गया है। यहाँ मनुष्य मनुष्य का सम्पूर्ण भेद समाप्त कर देने की योजना प्रस्तुत की गयी है। सर्वोदय में विश्वास करनेवाले प्रोफेसर और अध्यापक को पुस्तकें पढ़ने और पढ़ाने तथा पाठशालाओं के व्यूह चक्र में बैठकर शिक्षण और अध्यापन कार्य से ही पूर्णता नहीं प्राप्त होती, उसे कताई, बुनाई, धुनाई, गोपालन, कृषि तथा सामाजिक सेवा के अन्य अनेक कार्यों में व्यावहारिक एवं सक्रिय रूप से भाग लेना होता है। व्यवहारों पर यह आग्रह केवल उसी समय तक है जब तक कि गांधी जी की नयी तालीम द्वारा उद्योगमय और उद्योगजन्य ज्ञान के आधार पर एक सम्पूर्ण सर्वोदय समाज की स्थापना नहीं कर दी जाती। सर्वोदय समाज में बौद्धिक एवं शारीरिक कार्यों का भी भेद नहीं रह जाता। यहाँ ब्राह्मण और शूद्र का ही नहीं, प्रोफेसर और मजदूर का भी भेद मिट जाता है। उसी प्रकार स्त्री और पुरुष के संघर्षात्मक और सञ्चयात्मक स्वाभाविक भेदों को सुरक्षित रखते हुए भी यहाँ उनके एकाधिकारों की अभेद्य गढ़ियाँ नहीं खड़ी होने दी जातीं। अतः दोनों के कार्यों में भेद होते हुए भी दोनों का एक दूसरे के कार्यों से व्यावहारिक सम्बन्ध होना चाहिये।

स्त्री-पुरुष की असमानता से हानि

२२. खैर, भिन्न-भिन्न देशों के दाम्पत्य विधान में विभिन्नता अवश्य होती है, परन्तु उसकी क्रियात्मक शक्ति, साधारणतः, सर्वत्र एक सी ही रहती है और परिणामतः स्त्री-पुरुष की पारस्परिक योग्यता और अयोग्यता के अनुसार श्रम और सामाजिक भेद स्थिर होता है। जेम्स नेविल का कहना है—"यदि आज से ४००० वर्ष पूर्व स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध आज ही जैसा रहा होता तो हमारा इतिहास अधिक प्रिय हुआ होता।" इसका यही अर्थ है कि मनुष्य का विकास उचित गति से न हो सका, जैसे दो भाइयों में से एक के बीमार हो जाने के कारण व्यापार की उन्नति मारी जाती है।

२३. दम्पति की प्रत्येक अवस्था में, प्रत्येक काल, प्रत्येक देश और प्रत्येक धर्म में, दो स्पष्ट पद्धतियाँ पायी जाती हैं : 'अपिण्ड-अगोत्र' या 'सपिण्ड-सगोत्र' (Exogamy or Endogamy)

दाम्पत्य के दो मुख्य रूप

२४. यह तो सर्वमान्य बात है कि प्रारम्भ में प्रत्येक जाति किसी न किसी कारण से आपस में निरन्तर युद्ध किया करती थीं। अब भी बहुत से स्थान हैं, जहाँ एक सम्प्रदाय या जाति या गाँव वाले दूसरे पर सामूहिक आक्रमण करते देखे जाते हैं। विजयी दल लूटमार के साथ पशु और स्त्रियों को भी ले जाता है।[1] सरहदी प्रदेश और पश्चिमी पंजाब में ऐसे किस्से रोज सुनने में आते हैं। ऐसी ही संघर्षकालीन परिस्थिति में 'अपिण्ड-अगोत्र' की पद्धति प्रचलित हुई थी। धीरे-धीरे परास्त लोगों की स्त्रियों को छीन ले जाना सफलता का चिह्न गिना जाने लगा। अपिण्ड-अगोत्र अर्थात् दूसरी जाति और सम्प्रदाय की स्त्रियों को पत्नी बनाने की यह दूसरी सामूहिक प्रेरणा थी।

'अपिण्ड-अगोत्र' प्रथा

हम देखते हैं कि पुरुषों की कठोरता या वर्बरता अथवा अपनी स्वाभाविक लज्जा के कारण स्त्रियाँ पुरुषों से छिपना या भागना चाहती हैं। पुरुषों को इसलिए स्त्रियों पर आक्रमण करने का और भी प्रलोभन होता है। यह सारी छीन-झपट दूसरी जाति पर ही की जाती थी, ताकि आपस में गृहयुद्ध और फूट न उत्पन्न न हो जाय। धीरे-धीरे इस प्रथा ने सामाजिक स्वीकृति प्राप्त कर ली। जब हम संघर्षकाल को समाप्त करके शान्तिप्रिय, सामाजिक स्थिति में आ गये या जब अपने शासक प्रभुओं (क्षत्रिय तथा सैनिक) को प्रसन्न रखने के लिए अन्य जातिवालों ने भी इस प्रथा को प्रचलित रखना चाहा तो अनेक रूप से दूसरे सम्प्रदाय की स्त्रियों को पत्नी बनाया गया। सम्भव है, दूसरी जाति की स्त्रियों को पत्नी बनाने में किसी अंश तक गौरव समझा जाता रहा हो, जैसे कैकेयी को कैकेय देश की नारी बताकर या कृष्ण की बहन सुभद्रा को यादवों की कन्या कहकर, या द्रौपदी को द्रुपद-पुत्री बताने से दशरथ और अर्जुन ने

---

१. इस वर्तमान युग में भी हिन्दुस्तान-पाकिस्तान की नारकीय लीलाएँ इसी बात के नग्नतम प्रमाण हैं।

गौरव समझा था। कुछ भी हो, क्षत्रियों ने जब अपिण्ड-अगोत्र प्रथा को अपनाया तो पण्डित पुजारियों ने इस पर धार्मिक मुहर लगाकर इसे सामाजिक जामा पहना दिया। यह न भूलना चाहिये कि अपिण्ड-अगोत्र विवाह के कारण सुन्दर, सुदृढ़, विकसित सन्तान होती है, परन्तु आदि-कालीन जातियों ने इसे वैज्ञानिक प्रेरणावश ही अपनाया था, यह नहीं कहा जा सकता।

'सपिण्ड-सगोत्र'

२५. दाम्पत्यशास्त्र का दूसरा रूप है: सपिण्ड-सगोत्र। जिस जाति में सपिण्ड-सगोत्र प्रथा की चलन है वह निस्सन्देह व्यवसायी और शान्ति-प्रिय रही होगी। या तो वह कभी युद्ध और संघर्ष में पड़ी ही नहीं या बहुत काल से गृहशान्ति तथा पास-पड़ोसियों के साथ सुलहपूर्वक रहती आयी होगी क्योंकि दूसरी जाति की स्त्री लेना या तो युद्ध का लक्षण है, या कलह उत्पन्न करने का कारण है जो शान्तिप्रिय लोगों को स्वीकार नहीं।

एक साथ दोनों प्रथाएँ

२६. बहुत सी जातियों में अपिण्ड-अगोत्र और सपिण्ड-सगोत्र दोनों प्रथाएँ प्रचलित हैं क्योंकि विजय-पराजय उनका जीवनक्रम रहा है। सैकड़ों सहस्रों वर्ष के इस जीवनक्रम से एक ही जाति में दोनों रीतियाँ परम्परा का रूप धारण कर लेती हैं।

अपिण्ड-अगोत्र रूप भेद

२७. अपिण्ड-अगोत्र के दो रूप होते हैं—वाह्य और आन्तरिक। संघर्षकालीन दशा को त्यागकर जब हम स्थिर व शान्तिप्रिय स्थिति में पदार्पण करते हैं तो विदेशी स्त्रियों को पत्नी बनाने का प्रयत्न युद्ध और संघर्ष का कारण बनता है जो विकास के लिए हानिकारक है और शान्त स्थिति में आने के पूर्व ही अपिण्ड-अगोत्र प्रथा सामाजिक नियम बन चुकी है तो विवश होकर इसमें थोड़ा बहुत परिवर्तन करके इसे आन्तरिक रूप देना पड़ता है जैसे एक गोत्र के लोग उसी गोत्र में शादी न करके दूसरे गोत्र वालों से सम्बन्ध करते हैं।

अपिण्ड-अगोत्र के कुछ समर्थक कहते हैं परोक्ष में अधिक प्रीति होती है।[1] इतरवर्गीय योग में वैयक्तिक आकर्षण के अतिरिक्त अन्य आकर्षण भी हैं जो नित्य साथ रहनेवालों में नहीं होते। साथ ही Eugenics

---

१. स्वामीदयानन्द, सत्यार्थप्रकाश

का भी ध्यान रखना होगा जिसके अनुसार दो के गुण-संघर्ष से तीसरा गुण प्रकट होता है और विकास में सहायता मिलती है।

२८. इस प्रकार दाम्पत्यचक्र मानव समाज को एक निश्चित गति से, एक निश्चित साँचे में ढाल देता है।

दाम्पत्य-चक्र और विकास

(स) श्रम विभाजन और गार्हस्थ्य

इतिहासों से पता चलता है कि लोग अनेक काल तक युद्ध, संघर्ष और भूलने-भटकने के पश्चात् भिन्न-भिन्न देशों और भिन्न-भिन्न स्थानों पर स्थायी रूप से बस जाते थे। गार्हस्थ्य जीवन और फिर सामाजिक संघटन का यहीं से श्रीगणेश हुआ।

२९. अस्तु, संघटन और विकास में पुरुष ने बढ़ कर प्रथम स्थान लिया तो यह प्रकृति की एक सरल-सी बात थी। स्त्रियों का झुण्ड का झुण्ड युद्ध में जीत कर गुलाम बना लिया गया तो इसमें पुरुषों ने उनकी सामूहिक दुर्बलता का ही लाभ उठाया था। परन्तु बात तो यह है कि स्त्रियों के बिना सृष्टि ही नहीं, फिर समाज कहाँ? संघर्ष-कालीन उथल-पुथल से निकल कर स्थिर और शान्तिप्रिय जीवन में प्रवेश करते ही स्त्रियों का निर्बन्ध "आयात-निर्यात" बन्द नहीं तो कम अवश्य हो गया और साथ ही साथ पुरुष गुलामों की भी बाढ़ मारी गयी। फिर तो जीवन संघर्ष और सञ्चय, उत्पादन और सञ्चालन में "विवाहित" स्त्रियों का ही सहारा मुख्य रहा। इस सहयोग व्यवस्था को अटल-अविच्छिन्न रूप देने के लिए शारीरिक बल नहीं, मानसिक बन्धन की आवश्यकता थी। "नारी धर्म" और "पति-लोक" की प्रेरणा इसी आवश्यकता के अन्तर्गत हुई थी। कहने का अभिप्राय यह कि स्त्री और पुरुष की परस्परता के पीछे स्थायी सुख, शान्ति और समृद्धि की अनंत कामना ही मनुष्य के सारे ऐहिक जीवन का प्रेरणा सूत्र रहा है। जरा गौर से देखिये :—

दाम्पत्य विधान— आर्थिक कारण

सती और सद्‌गृहस्थ

(अ) एक किसान प्रातःकाल से खेत में परिश्रम करते-करते थक

कर, भूख और पसीने में डूबा हुआ, दोपहर को थोड़ा सा विश्राम करने के लिए, खेत के किनारे ही एक पेड़ के नीचे आ बैठा है। थोड़ी दूर पर, जलती हुई धूप में, वृक्षहीन मार्ग से, प्रातः ४ बजे से अब तक लगातार, हज़ारों गृहकार्य निपटा कर, एक स्त्री सिर पर रोटी और मट्ठा और हाथ में पानी का लोटा लिये झपटती चली आ रही है। साक्षात् होते ही दोनों ने मुसकरा दिया—उस कठोर परिश्रम और कड़ी धूप में भी ! पुरुष ने जो कुछ रूखा सूखा था, भोजन किया और घर की दो चार बातें कीं, फिर शारीरिक और मानसिक तुष्टि के साथ वह काम में लगा और स्त्री लौट पड़ी, घर की गाड़ी हाँकने के लिए, बच्चों की व्यवस्था और सन्ध्या समय परिश्रान्त पति को भोजन और विश्राम का साधन प्रदान करने के लिए। यह सती और सद्गृहस्थ का आदर्श है, प्रेम और श्रद्धा का एक मनोहर दृश्य है। यदि स्त्री घर के आर्थिक और सामाजिक तत्वों से विमुख हो, यदि वह अपने व्यस्त पति को भोजन न पहुँचा सके, विश्राम और शान्ति का उपाय न सोच सके, तो खेती और व्यापार सब बन्द हो जायें, जीवन का सारा तार ही टूट जाये और सती तथा सद्गृहस्थ की कोई महिमा ही न रहे। यदि कृषि ट्रैक्टरों से नहीं,[१] हलों से ही करनी है तो स्त्री और पुरुष के बीच ऐसा सहयोग और कार्य सामंजस्य आवश्यक प्रतीत होता है।

(ब) एक व्यापारी आज महीनों पर घर लौटा है। घर पहुँच कर वह देखता है उसके बच्चे स्वस्थ और स्वच्छ, प्रसन्न मन खेल रहे हैं। उसकी अनुपस्थितियों में भी सारी गृहस्थी निश्चित ढङ्ग से चल रही है, उसकी सामाजिक मर्यादा सुस्थिर है, जो कुछ वह पिछली बार छोड़ गया था, सब सुरक्षित है। जीवन संघर्ष से बच कर विश्राम और शान्ति का साधन है, स्वस्थ शरीर और मन से नव शक्ति के साथ फिर जीवन-संघर्ष में जा लगने की प्रेरणा है। यह सब उसी "विवाहिता" नारी के कारण है जिसे 'गृह लक्ष्मी' कहा जाता है।

सती और सद्गृहस्थ, गृह लक्ष्मी और गृह देव के इन्हीं आदर्शों से एक सुदृढ़ समाज की रचना हुई थी जहाँ मनुष्य के जीवन व्यापार की

---

१. ट्रैक्टर और हलों का विवेचन कलमय एवं चर्खात्मक उद्योग व्यवस्था का विषय है जिस पर अन्यत्र विस्तारपूर्वक विचार किया गया है।

अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति और आर्थिक संघटन के प्रबल साधन थे। यह सत्य है कि मनुष्य को केवल आर्थिक कारणों से ही जीवन प्रेरणा नहीं प्राप्त होती, परन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि दो-चार या अनेन के परिमित और काल-बद्ध स्वार्थ के आयतन से बढ़कर जब हम समाज के सामूहिक और अनन्तकालीन संघटन की व्यापक परिधि में प्रवेश करते हैं तो वहाँ हमें आर्थिक मसाले का बहुत बड़ा पुट मिलता है। और अब, हमारे नित्य निरंतर के नैमित्तिक व्यवहार ने काल-कालान्तर से, पीढ़ी-दर-पीढ़ी, सैकड़ों, हजारों वर्ष तक चलते रहने के कारण मानव-मनस्थिति और पूर्व-संस्कारों का रूप धारण कर लिया है।

अनन्तकालीन व्यवहार: पूर्व संस्कार

हमारा प्रस्तुत विषय बड़ा गम्भीर है, इसमें समाजशास्त्र और मानव के जीवन व्यापार की अनेक समस्याएँ उलझी हुई हैं। यह एक स्वतंत्र विषय है। यहाँ हम केवल आधारभूत बातों के उल्लेख से ही बस करेंगे।

३०. जीवन-पदार्थों की छीन-झपट के लिए एक दल का दूसरे से युद्ध हो या प्रकृति के अनन्त भण्डार से ढूँढ़ लाने के लिए संघर्ष अथवा सहयोग हो, जब तक द्वन्द्वात्मक कटुता से दूर, एक स्थान या प्रदेश में, भ्रामरी दशा (Wandering stage) को तजकर स्थिर और स्थायी जीवन की व्यवस्था नहीं हुई,[१] गृहस्थाश्रम, नारी धर्म या गृह-लक्ष्मी—कुछ भी सम्भव नहीं था। हमारे कहने का यह मतलब नहीं कि गङ्गा की तलहटी में बसने के पूर्व आर्य जाति ने स्त्रियों का मूल्य न समझा था, परन्तु यह निर्विरोध कहा जा सकता है कि उनका वह आदर-सम्मान सामाजिक नहीं, वैयक्तिक था जहाँ नित्य निरन्तर संघर्ष में भूलने-भटकने, मरने-मिटने वाले दो साथी एक दूसरे का मूल्य समझ कर आदर और प्रेम करते हैं। यह भी कहा जा सकता है कि युद्ध में व्यस्त रोमन और क्षत्रिय जातियों का एक अपना सुसंगठित समाज था। पर यह ध्यान में रखने की बात है कि इस युद्धकालीन अवस्था के पहले इन

समाज संघटन के लिए शांतिकालीन स्थिति की आवश्यकता

---

१. मनुष्य प्रारम्भ से ही समूहों में, उच्चतम श्रेणी के दूध देनेवाले जानवरों की भाँति जातियों में विभक्त होकर रहता हुआ मिलता है। अत्यन्त मन्द और दीर्घकालीन विकास के पश्चात् ही इन समूहों को वंशगत संघटन का रूप मिल सकना सम्भव था। इसी तरह प्रकारान्तर से बहु-नारीत्व अथवा एक-नारीत्व के आधार पर बने कुटुम्ब के प्रथम बीज प्रकट होने के पूर्व वंशगत संगठन के लिए भी बहुत लम्बे विकास काल में से होकर गुजरना आवश्यक था।

जातियों का समाज संगठन हो चुका था और साथ ही समाज का बहुत बड़ा अंश खेती और व्यापार में व्यस्त था, सामाजिक तन्तुओं को कार्य-शील रख रहा था। यहाँ लड़ना, मरना या रक्षा-कार्य उसी प्रकार सामाजिक अंग बन गया था जैसे ब्राह्मण का विद्या दान या जुलाहों का कपड़ा बुनकर लोगों को वस्त्रयुक्त करना।

सामाजिक विकास के लिए विकसित गार्हस्थ्य आवश्यक

३१. हम यहाँ समाज के उस आदि कालीन युग से प्रारम्भ कर रहे हैं जब पुरुष तलवार और तीर के 'करतब' में व्यस्त थे और स्त्रियाँ पुरुषों के लिए गर्भाधान, शिशु-पालन और जीवन जाल सम्हालती रहीं। उस समय कोई आर्थिक या व्यावसायिक संगठन दुष्कर था। आवश्यक समय, सुविधा और वातावरण को पाकर लोग स्थान-स्थान पर आबाद हुए और उन्हें सम्मिलित जीवन के लिए एक जटिल विधान करना पड़ा। स्त्रियों के सिर से संघर्षकालीन अनुचित बोझ और असंयत परिश्रम तो हटा, परन्तु स्थिर जीवन के साथ ही समाज के सम्मुख कार्य-विभाजन और उसके कुशल सम्पादन की नयी पेचीदगियाँ भी उपस्थित हो गयीं; यहाँ मिल-जुलकर कार्य करना और उसका संगठित संचय उससे भी अधिक आवश्यक था। यही नहीं कि पुरुषों ने जाति और समाज की आवश्यकताओं के अनुसार अपना-अपना कार्य बाँट लिया—जुलाहा, खेतिहर और कारीगर, बल्कि उससे भी पहले यह आवश्यक हुआ कि स्त्री और पुरुष भी अपना-अपना पारस्परिक कार्य क्षेत्र स्थापित कर लें। स्त्री और पुरुष से गृहस्थाश्रम, गृहस्थाश्रमों के समीकरण से समाज और फिर राष्ट्र निर्मित होता है। गृहस्थाश्रम के सुसंगठन का अर्थ था सामाजिक उत्थान और यह सर्वसिद्ध बात है कि संसार की अग्रसर जातियाँ गार्हस्थ्य विकास का दावा रखती हैं।

स्त्री-पुरुष का पारस्परिक श्रम विभाग

३२. अस्तु, संगठन और विकास की आवश्यकताओं से स्त्री-पुरुष का निम्न प्रकार से पारस्परिक श्रम-विभाजन (Division of Labour) हुआ :—प्राथमिक (Primary) और द्वितीय अथवा निम्न (Secondary)। प्राथमिक विभाजन[1] समाज की पूर्ति के लिए था, जैसे अन्न के लिए खेती किसानी, वस्त्र के लिए चर्खा इत्यादि।

---

१. प्राथमिक विभाजन को 'कार्य-विभाजन' (Division of work) और द्वितीय विभाजन को श्रम-विभाजन भी कहा जाता है। परन्तु हम प्राथमिक को भी श्रम-विभाजन के (शेष पृष्ठ ९९ पर)

परन्तु समाज के प्रत्येक कार्य को स्त्री और पुरुष को ही मिलकर करना था। इसके लिए लोगों ने अपने-अपने प्रबन्ध किये, या यों कि स्त्री और पुरुष का पारस्परिक "श्रम समझौता" हुआ। इसे हम द्वितीय की गणना में ले सकते हैं।

प्राथमिक और द्वितीय कोटि में घपला

३२. संघर्षकालीन अवस्था में न तो "प्राथमिक" का विकास और प्रसार हो पाता है और न "द्वितीय" की व्यवस्था और इसका माहात्म्य स्थापित हो सकता। दोनों की विभाजक रेखा का रूप भी स्पष्ट नहीं हो पाता। युद्ध और संघर्षकालीन अवस्था में स्त्री-पुरुष के कार्यों के बीच बड़ी लम्बी खाई होती है; पुरुष अधिकांश मार-काट और छीन-झपट में लगा रहता है और शेष सारा कार्य स्त्रियों को पूरा करना पड़ता है—रोटी पकाने, जनन और शिशु-पालन से लेकर बोझ ढोने और युद्ध में सहायता देने तक। परन्तु यहाँ न तो प्राथमिक और द्वितीय का कोई सैद्धान्तिक निर्णय और संगठन हुआ है और न तो कोई सामाजिक मान। हो सकता है लोग इस प्रकार वर्षों वही कार्य करते-करते अपने कार्य में दक्ष हो जाते हैं और जब हम शान्तिमय जीवन में आकर समाज का निर्माण और संगठन करते हैं तो हमारे मजे हुए कार्य—जैसे पुरुषों की चौकीदारी और गल्लाबानी या स्त्रियों का रोटी पकाना—प्राथमिक और द्वितीय का रूप धारण कर लेते हैं।

समाज के श्रम-विभाग का बीजारोपण स्त्री-पुरुष के स्वभाव-भेद में होता है

परन्तु समाज के श्रम-विभाजन का बीजारोपण स्त्री और पुरुष के स्वाभाविक भेद में ही हुआ था। युद्ध और संघर्षकाल में भले ही इसका अनादर कर दिया जाय, भले ही स्त्रियों पर अनुचित भार लाद दिया जाय, परन्तु शान्तिपूर्ण जीवन में समाज संगठन की आवश्यकता होते ही उनका स्वाभाविक भेद अपना रूप प्रकट करता है। फिर स्त्री और पुरुष श्रम-

---

अन्तर्गत ले रहे हैं क्योंकि यह न तो सम्पूर्णतः कार्य-विभाजन है और न श्रम-विभाजन,—इसमें यदि श्रम-विभाजन प्रमुख नहीं तो कम से कम, कार्य और श्रम, दोनों की स्पष्ट प्रेरणा है। उदाहरण के लिए कृषि एक कार्य है, परन्तु सम्पूर्ण किसानी एक ही वर्ग पूरा नहीं करता—श्रम-विभाजन की दृष्टि से किसान के उप-वर्ग बन जाते हैं जैसे अन्न और साग-भाजी तथा फलादि उत्पन्न करने वाले भिन्न-भिन्न वर्ग, लुहार और बढ़ई का उप-भेद अथवा जुलाहे के वस्त्र उत्पादन कार्य में उसे समस्त समाज द्वारा सूत प्राप्त होता है।

विभाजन में आवश्यकता, स्वभाव, और परिस्थितियों के अनुसार अपना-अपना स्थान बना लेते हैं।

३४. दोष वहीं से उत्पन्न होता है जब स्त्री और पुरुष अपने-अपने काम को केवल अपना ही काम समझने लगते हैं, सारे घर का नहीं। बच्चे भूखों मरें, पर पुरुष रोटी पकाना या चक्की चलाना लज्जा समझता है क्योंकि उन्हें वह स्त्रियों का अग्राह्य काम समझ बैठा है। सामाजिक जीवन ज्यों-ज्यों असलियत से दूर होता जाता है त्यों-त्यों यह अवस्था जटिल होती जाती है। आदिम वासियों को देखने से पता चलता है कि वहाँ पुरुष बहुत से काम कर लेता है जिसे आज के सभ्य समाज में स्त्रैण समझा जाता है। मतलब यह नहीं कि हमें आदिम अवस्था की ओर लौटना है। परन्तु इतना तो अवश्य है कि कार्यों का जब तक सम्मिलित उत्तरदायित्व स्थापित नहीं होता स्त्री-पुरुष का वर्ग-भेद मिट नहीं सकता। स्मरण रहे स्त्री-पुरुष के कार्यों में स्वाभाविक भेद तो है पर उनका सम्मिलित उत्तरदायित्व भी है क्योंकि दोनों समाज के अविभाज्य अङ्ग हैं।

दोषों का प्रारम्भ

स्त्री-पुरुष के वर्ग-भेद को मिटाने के लिए कार्यों का सम्मिलित उत्तर-दायित्व आवश्यक

कार्यों के इस प्रकार पृथक् रहने पर भी उनके सम्मिलित उत्तरदायित्व का उदाहरण आज के मंत्रिमण्डलों के सदस्यों से मिलेगा। प्रत्येक मन्त्री अपने-अपने विभाग का अलग और विशेषज्ञ-रूप से कार्य करता है परन्तु प्रत्येक मन्त्री पर सम्पूर्ण सरकार का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व रहता है। उत्तरदायित्व ही नहीं, व्यवहार में भी यही होता है। पं० जवाहरलाल नेहरू बाह्य विभाग में दक्ष समझे जाते हैं, सरदार पटेल गृह विभाग में। परन्तु आवश्यकता पड़ने पर दोनों एक दूसरे का कार्य करते हैं। इसी प्रकार अन्य मन्त्रियों के कार्यों में भी आवश्यकता पड़ने पर अदल-बदल होती रहती है। अध्यापक विद्यालय में शिक्षण और घर में आराम से अध्ययन करता है, पर इसका यह अर्थ नहीं कि वह अपने रोज साफ होने वाले कपड़ों को स्वयं न धो ले या बाजार से धूप में जाकर घर के सामान न खरीदे। मेहनत-मशक्कत मजदूरों का और कुर्सी पर मौज से बैठकर पढ़ना-पढ़ाना प्रोफेसर का काम है—यह बिलकुल गलत बात है, उसी प्रकार जैसे बच्चों को पालना-

पोसना स्त्रियों का काम होते हुए भी बच्चों के पालन से अनभिज्ञ न रहकर उसमें सक्रिय भाग लेते रहना या जरूरत से उन्हें पाल लेना—यह सब पुरुषों की कार्यशीलता और कार्यक्षमता में दाखिल होता है। स्त्रियाँ भी पुरुषों के कार्य में सक्रिय भाग नहीं लेती हैं तो जरूरत पर उन कार्यों को सँभाल लेने की क्षमता भी नहीं रख सकतीं। 'जरूरत पर कर लेंगे'—यह भाव उन कामों को दैनिक व्यवहार से अलग रखकर उनके प्रति धीरे-धीरे स्वभाव सिद्ध अरुचि और अनुत्तरदायित्व की भावना को जन्म देता है। इसलिए स्त्री को पुरुष के और पुरुष को स्त्री के कार्य में व्यावहारिक भाग लेते रहना ही श्रेयस्कर है।

प्राथमिक और द्वितीय विभाग का अन्योन्याश्रय

३५. ख़ैर, प्राथमिक आवश्यकताओं को देखकर ही द्वितीय विभाजन का विधान होता है परन्तु यहीं यह भी ध्यान में रखने की बात है कि द्वितीय के विकास और सुसङ्गठन से प्रभावित होकर प्राथमिक का विस्तार एक निश्चित गति और एक व्यवस्थित ढंग से प्रभावित होने लगता है।

प्राथमिक और द्वितीय का सान्निध्य

यहाँ पहुँच कर श्रम-विभाजन में उत्पादक दृष्टिकोण का प्रभुत्व स्थापित हो जाता है। परिणामतः, एक का कार्य दूसरे पर लाद देने अथवा एक की अनिच्छा होते हुए भी उसे दूसरे को पूरा करना होगा—ऐसा प्रश्न नहीं रह जाता। यहाँ तो एक दूसरे से मिल-जुल कर, एक दूसरे के कार्य में हाथ बँटाते हुए, सच्चे सहयोग से कार्य करना पड़ता है। इसलिए प्राथमिक कार्यों का पारस्परिक भेद तो रह जाता है—जैसे मछुए का लुहार से, जुलाहे का सुनार से और बढ़ई का किसान से—परन्तु प्राथमिक और द्वितीय में वह उग्र भिन्नता नहीं रह जाती जो युद्धकाल में थी क्योंकि पुरुष यदि पानी में रातों-रात खड़े होकर मछलियाँ पकड़ता है तो स्त्री झट पहुँचकर उसे बीनती-बटोरती या पकाने अथवा बेंचने का प्रबन्ध करती है। उसी प्रकार जुलाहे के कार्य में उसकी स्त्री कातने से लेकर ताने-बाने तक उसके साथ लगी रहती है; जुताई-बुआई और फसल काटकर खलिहान से घर में सुरक्षित रखने तक, किसान और उसकी स्त्री, दोनों साथ लगे हैं।

३६. यद्यपि कलयुग ने हमारे श्रम विभाजन की प्राकृतिक भित्ति

को बिलकुल हिला दिया है (इस पर फिर विचार होगा) परन्तु उसका स्वाभाविक आधार अब भी ज्यों का त्यों है। देखिये, पुरुष हुंकार कर फावड़ा चला रहा है तो स्त्रियाँ मिट्टी ढोती हैं; पुरुष ऊपर दीवार चुन रहा है तो स्त्रियाँ नीचे से सामान पहुँचा रही हैं; पुरुष 'व्वायलर' पर है तो स्त्रियाँ स्टोर में कार्य कर रही हैं; पुरुष संगीन की मार और हवाई संहार में हैं तो स्त्रियाँ स्टोर, अस्पताल और 'सप्लाई' में व्यस्त हैं।

कलयुग का प्रभाव

मुख्य बात यह है कि अब समाज की सम्पदा में स्त्री-पुरुष दो अलग-अलग जातियाँ नहीं, स्त्री और पुरुष के सम्मिलित हाथ लगे हुए हैं। यह स्त्री और पुरुष नहीं, अनेक घरों का समूह है। यहाँ आकर गृहस्थाश्रम ने श्रम-विभाजन द्वारा अपना सामाजिक माहात्म्य प्रकट किया।

यहाँ से समाज का उत्पादक श्रम और उसमें गृहस्थाश्रम का रचनात्मक अंश तथा दोनों की पारस्परिक प्रतिक्रियाओं का विवेचनात्मक क्रम प्रारम्भ होता है।

(द) गार्हस्थ्य और सम्पत्ति

३७. दल-बादल, एक स्थान से दूसरे स्थान को चलायमान अवस्था, आदिकालीन जीवन और प्रकृति से संघर्ष, या युद्ध तथा अशान्ति की अव्यवस्थित दशा हो, मानव समूह के उस अस्थिर जीवन में लोगों के सम्मुख उत्पादक श्रम या सम्पत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। पेट भरने, तन ढकने या अन्य आवश्यकताओं को पूरी करने के लिए लोग कार्य कर लेते हैं, परिश्रम और उपाय भी। युद्ध के कैदी हों या गुलाम लोगों की स्त्रियाँ—उन्हें गुलाम के रूप में स्वीकार करके जीवन आवश्यकताओं की पूर्ति करवाते रहना, स्वतः समय, सुविधा और आवश्यकतानुसार युद्ध और संघर्ष से बचे हुए समय और शक्ति को इच्छा या अनिच्छा वश, स्त्री और पुरुष गुलामों के साथ कार्य में लगाना या गुलामहीन संघर्ष में स्वतः तथा अपनी जीवन संगिनी के साथ कार्य करते रहना—यह सब एक बात है। यहाँ कोई संगठित विधान नहीं, कोई निश्चित व्यवस्था नहीं। परन्तु जब हम किसी स्थान को स्वार्थ-साधक समझकर या अपने ज्ञान और परिश्रम के भरोसे उसे स्वार्थ साधक बनाने के विचार से बस जाते हैं तो हमारी डाँवांडोल दशा स्थायित्व ग्रहण करती है। हमारे प्रत्येक कार्य

स्थायित्व की दृष्टि से ही प्रतिपादित होते हैं। जहाँ हम बसे हैं वह धरती, जिसे हमने बनाया वह मिलकियत, हमारी है और हमारी ही बनी रहे, उस पर दूसरे का अधिकार न हो—इसका मतलब स्वतन्त्र कुटुम्बों की स्थापना है।[1] जिस छीन-झपट को तजकर हम एक स्थान पर आ बँधे हैं, उस छीन-झपट से बचते रहना ही हमें शान्तिप्रिय प्रतीत होता है; हम धरती के मालिक हैं, मिलकियत हमारी है, हम जोतेंगे, बोयेंगे, खायेंगे, कमायेंगे, हम, हमारे बच्चे, फिर उन बच्चों के बच्चे, खाते-कमाते जायेंगे और सर्वस्व सदा हमारा ही बना रहेगा—मिलकियत की यही ममता हमारे स्थायित्व को प्रगाढ़ बना देती है। स्थायित्व का अर्थ है शान्तिप्रियता अर्थात् सुदृढ़ गार्हस्थ्य। एक बार शान्तिमय जीवन में पदार्पण करते ही हम चाहने लगते हैं कि हमारी नित्य, नैमित्तिक आवश्यकताएँ एक तार से पूरी होती रहें, जीवन निश्चिन्त, निर्विघ्न रूप से चलता रहे, समाज हो, सामाजिक जीवन हो, परस्पर सहयोग द्वारा शक्ति और बुद्धि पूर्वक विकसित जीवन को प्राप्त हुआ जाय, परन्तु एक दूसरे के जीवन में, एक दूसरा हस्तक्षेप न करे, अर्थात् सामाजिक जीवन के बीच प्रत्येक व्यक्ति सुख और शान्ति पूर्वक जीवन का आनन्द लेते हुए विकास पथ में अग्रसर हो सके—सुख की इस आकांक्षा और शान्ति रक्षा के इस उपक्रम का अर्थ है गार्हस्थ्य सञ्चालन। गार्हस्थ्य संचालन अर्थात् अविचल शान्ति के लिए संघटन और व्यवस्था की आवश्यकता होती है।

स्वतन्त्र कुटुम्ब

३८. सङ्गठित व्यवस्था का सूत्राधार कार्य-विभाजन में छिपा हुआ है। कार्य-विभाजन के दो रूप हैं—

(अ) प्राथमिक, जिसे उद्यमस्थ (फंक्शनलः Functional) कहना चाहिये। सामूहिक सुख-शान्ति के लिए अन्न, वस्त्र, घर इत्यादिक का निश्चित साधन आवश्यक है। एक मनुष्य अकेले सारा कार्य पूरा कर नहीं लेता। समाज के सम्मिलित जीवन के लिए भोजन, वस्त्र और मकान की आवश्यकता होती है; कोई खेती किसानी तो कोई लुहार, बढ़ई, जुलाहा,

प्राथमिक—उद्यमस्थ

१. "स्वतन्त्र कुटुम्बों का अर्थ ही यह है कि उनकी पृथक् सम्पत्ति हो और उनके लिए धन-दौलत का संग्रह किया जाय"—पृष्ठ १६३, "स्वतन्त्र कुटुम्बों का धीरे-धीरे दृढ़तापूर्वक विकास हुआ और सम्पत्ति पर वंश, परम्परागत अधिकार स्थापित हुए"। पृ० १७१

—प्रिन्स क्रॉपॉट्किन (संघर्ष या सहयोग)

राज, मोची या धोबी का कार्य करने लगता है। एक-एक कार्य को लेकर लोगों का अलग-अलग एक-एक दल खड़ा हो जाता है। इसीलिए हम प्राथमिक विभाजन को उद्यमस्थ भी कह सकते हैं।

(ब) परन्तु समस्या इतनी सरल नहीं। प्रत्येक उद्यम को उत्पादक रूप देने के लिए उप-विभाजन करना पड़ता है। इसे हम द्वितीय विभाजन के रूप में स्वीकार करेंगे। अन्न के लिए किसान और वस्त्र के लिए जुलाहों का अपना-अपना दल बन जाने से ही बात पूरी नहीं हो जाती। दल या कार्य-विभाजन के सफल सम्पादन के लिए, प्रमुखतः, उद्यमस्थ आधार उतना ही आवश्यक है जितना कि स्वयं एक आकारात्मक (स्ट्रक्चरलः Structural) भेद का होना। 'उद्यमस्थ' को हम प्राथमिक गणना में लें तो 'आकारात्मक' भेद का 'द्वितीय विभाजन' से ही परिचय प्राप्त करना होगा। कहने का तात्पर्य्य, शान्तिमय जीवन और उत्पादक श्रम के साथ सुख और समृद्धि की प्रेरणा से मानव समाज कार्य और श्रम विभाजन की शरण लेता है जो देश-काल के भेद से प्राथमिक और द्वितीय के तार में बँधा हुआ आचार, विचार, व्यवहार, व्यापार तथा वैधानिक परिपाटी के रूप में परिणत हो जाता है।

द्वितीय—आकारात्मक

३९. यहाँ तक जो हुआ अधिकांश परिस्थिति और आवश्यकता वश ही था या यों कहना चाहिये कि हमारे सामाजिक जीवन का इतिहास प्रारम्भिक कार्य और श्रम-विभाजन का ही प्रतिकृत तथा परिवर्तित रूप है। बिना श्रम-विभाजन के पञ्चायती या सामाजिक ही नहीं, वैयक्तिक सम्पत्ति भी नगण्य सी रहती है। एक जुलाहा कपड़ा तैयार करता है जिससे समाज या समूह की वस्त्र समस्या सिद्ध होती है; यदि किसान कपास न पैदा करे तो बेचारे जुलाहे को करघे के साथ खेती भी संभालना पड़े और उत्पत्ति का अंश बहुत ही कम हो जाय। बस, यहीं कार्य और श्रम-विभाजन का महत्त्व स्थापित होता है। जुलाहे और किसान ने अलग-अलग कार्य क्षेत्र बाँट लिया है; दोनों के विभाजित श्रम और पारस्परिक सहयोग से वही एक कार्य समस्त समाज को सुखी और समृद्ध बनाता है जो अकेले एक के द्वारा इस आधिक्य को न प्राप्त होता।

साम्पत्तिक निर्माण के लिए श्रम और कार्य-विभाजन आवश्यक

४०. इस कार्य विभाजन का दूसरा कदम है श्रम-विभाजन। जुलाहे ने अपना कार्य क्षेत्र बाँट लिया है, उसके उत्तरदायित्व को भी अपने ऊपर ले लिया है। अब उसे योग्यता पूर्वक पूरा करने के लिए वह नजर उठाता है तो सदा उसके साथ रहने वाली उसकी जीवन-संगिनी उसके सहयोग में तत्पर मिलती है। स्त्री और पुरुष, दोनों का जीवन और सुख-दुख एक साथ है; स्वभावतः उनका श्रम और विश्राम भी मिल-जुल कर एक दूसरे की स्वार्थ रक्षा करते हुए चलता है। जुलाहा समाज को वस्त्र युक्त करने के लिए करघा सम्हालता है और उसकी स्त्री स्वयं उसी को सुखी, स्वस्थ, और कार्यशील बनाये रखने का साधन करती है। इतना ही नहीं; वह जुलाहे के लिए सूत की नरियाँ भी भर देती है; सुविधानुसार ताने-बाने में भी हाथ बँटा देती है। इस प्रकार दोनों के सम्मिलित श्रम और कार्य से समाज की वस्त्र समस्या सहज ही कुशलता पूर्वक हल की जाती है। यदि जुलाहे को करघा और चूल्हा, दोनों सम्हालना पड़े या उसकी स्त्री को जनन और शिशु-पालन के साथ ही रोटी के लिए भी संघर्ष करना पड़े तो यही नहीं कि उनके उत्पादन का साम्पत्तिक परिमाण परिमित हो जायगा, बल्कि उनकी स्वयं अपनी सुख और शान्ति भी खतरे में पड़ सकती है। इसीलिए आवश्यक है कि स्त्री और पुरुष, दोनों एक दूसरे में रत होकर, कार्य और श्रम सिद्धांतों की प्राकृतिक प्रेरणाओं के अनुसार, सहयोग पूर्वक कार्य करें ताकि वैयक्तिक और पारिवारिक सुख-समृद्धि के साथ ही सामूहिक और सामाजिक यंत्र-तंत्र भी चलता रहे।

कार्य विभाजन का दूसरा कदम श्रम-विभाजन

४१. इस नैमित्तिक सहयोग का अर्थ है गार्हस्थ्य बन्धन; या यों कहना चाहिये कि शान्तिमय जीवन अर्थात् सुव्यवस्थित गार्हस्थ्य के लिए उत्पादक श्रम की आवश्यकता से मजबूर होकर कार्य और श्रम-विभाजन करना पड़ता है। श्रम-विभाजन की वैयक्तिक नीति और उसके नैतिक उत्तरदायित्व से प्रेरित होकर समाज में सुन्दर, सुदृढ़, गृहस्थाश्रम की नींव पड़ती है। यह है श्रम-विभाजन का महत्त्व; सम्पत्ति का उद्भव यहीं से प्रारम्भ होता है। समय का जितना ही सदुपयोग, शक्ति का जितना ही सम्मिलित प्रयोग होगा, वस्तु पदार्थ को उतनी ही तेजी से सुखद सम्पत्ति का रूप मिलेगा।

सुव्यवस्थित गार्हस्थ्य: उत्पादक श्रम: कार्य और श्रम विभाजन

४२. इतना लिखने के बाद यह समझाने की आवश्यकता नहीं कि वैयक्तिक सम्पत्ति का सामूहिक रूप ही सामाजिक और राष्ट्रीय नाम से सम्बोधित होता है। उसके विकास में प्रत्येक व्यक्ति के श्रम और सहयोग का एक विशेष अंश है। यह न भूलना चाहिये कि साम्पत्तिक उत्पत्ति के लिए उत्पादक श्रम पहली शर्त है (उत्पादक और अनुत्पादक का आर्थिक विवेचन श्रम-सिद्धान्त का एक स्वतंत्र विषय है); इतना ही नहीं, उत्पादक श्रम से ही मानव समाज का अस्तित्व सुस्थिर और सुव्यवस्थित होता है।

वैयक्तिक सम्पत्ति का सामूहिक रूप : राष्ट्रीय सम्पत्ति : सामाजिक सम्पत्ति

४३. साम्पत्तिक दृष्टि से श्रम और सहयोग का सम्बन्ध जहाँ तक अन्योन्याश्रित है प्रत्येक प्राणी के लिए परिस्थिति और वातावरण का एक विशेष महत्त्व है। यदि हम एक चतुर कलाकार को शस्त्रागार में कुछ करने को कहें तो बेकार है क्योंकि वहाँ के उसके कार्य से हमारा साम्पत्तिक कोष बढ़ता नहीं। उसी प्रकार प्राचीन ब्रह्मचारी या आधुनिक विद्यार्थी विद्याध्ययन के सिवा स्वयं कोई उत्पादक श्रम नहीं करता जिससे कोई साम्पत्तिक उत्पत्ति हो सके। वह अभी साधनों की प्राप्ति में व्यस्त है जिसके द्वारा शायद आगे चलकर वह कोई उत्पादक कार्य कर सके। इसलिए यदि उत्पत्ति और उपयुक्त वातावरण का कोई सम्बन्ध है तो उत्पादक श्रम के लिए गृहस्थाश्रम को उपादेय मानना ही पड़ेगा। वैयक्तिक रूप से गृहस्थाश्रम का श्रीगणेश उसी समय होता है जब मनुष्य दाम्पत्य जीवन द्वारा सामाजिक उत्तरदायित्व का प्रत्यक्ष भार अपने ऊपर ले लेता है। परन्तु गृहस्थाश्रम की परिधि बड़ी व्यापक है। पति और पत्नी, पिता और पुत्र, भाई-बहन, माँ-बेटे, उसी गृहस्थाश्रम की छाया में, एक दूसरे से बँधे हुए, सब सम्मिलित श्रम द्वारा उत्पादन कार्य में व्यस्त हैं। हमारे प्राचीन गार्हस्थ्य की बेल इसी विधान से हरी-भरी रहती थी जिसे वर्तमान यन्त्र-युग ने नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है। यही कारण है कि चारों ओर समाजवाद, साम्यवाद, समूहवाद या राष्ट्रवाद के प्रतिकूल 'भोजनागार में भूख' के उत्पीड़क रोग से लोग मृतप्राय हो उठे हैं।

श्रम और सहयोग के साम्पत्तिक अन्योन्याश्रय में परिस्थिति और वातावरण की विशेषता

४४. वास्तव में, समाज की सुख-सम्पदा की कोई भी व्यवस्था, वाद, या विधान हो, जब तक सुन्दर और सुसंघटित गृहस्थाश्रम को इकाई मान कर भवन निर्माण नहीं किया जाता, लोगों के स्थायी कल्याण का विधान हो ही नहीं सकता।

गृहस्थाश्रम, सामूहिक सुख - सम्पदा की अनिवार्य इकाई

४५. हमने अब तक यह समझने की चेष्टा की है कि, यंत्रयुग के प्रभाव के पूर्व तक, गृहस्थाश्रम और साम्पत्तिक उत्पत्ति का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध रहा है, परन्तु अब मशीनों ने हमारे औद्योगिक आधार को उलट-पलट दिया है। परिणामतः कार्यों में चेतन श्रम का महत्त्व क्षीण हो गया है। बिजली, भाप, तेल और गैस द्वारा मशीनें मनुष्य से स्वतन्त्र, कार्य कर लेती हैं। एक स्थान पर खड़े या बैठे-बैठे बटन दबाने या हैण्डिल घुमाने मात्र से हजारों मन गल्ले, लाखों गज कपड़े आदि की उपज हो सकती है, सैकड़ों मील बिजली का प्रकाश और रेलगाड़ियों से करोड़ों मन माल ढुलवाया जा सकता है। स्त्री-पुरुष के प्राकृतिक महत्त्व को भी महत्त्वहीन बनाया जा रहा है। जो कार्य पुरुष करता है, स्त्रियाँ उसी को उतनी ही सुविधा और सरलता से कर लेना चाहती हैं। गर्भाधान और सन्तानोत्पादन से मुक्त करके उन्हें स्त्री के रूप में दूसरा पुरुष बना देना हमें अभीष्ट सा हो गया है।

मशीनों का प्रभाव

४६. अस्तु, मशीनाश्रित हो जाने के कारण स्त्रियाँ अब जीवन-संघर्ष में पुरुषों की आवश्यकता नहीं समझतीं। पुरुष से सम्बन्ध रखना या न रखना, इसे वह अपनी मर्जी की बात बताती हैं। यही कारण है कि किसी भी पुरुष से सम्बन्ध हो जाना उन्हें अब विशेष दोषयुक्त नहीं प्रतीत होता। जो पुरुष करता है वही स्त्रियाँ भी करती हैं, इसलिए स्वभावतः स्त्री स्वातंत्र्य की आग प्रचण्ड हो उठी है। वह कहती हैं—"हमने केवल बच्चा पैदा करने के लिए जन्म नहीं लिया था"। परिणामतः, स्वच्छन्द संयोग-वियोग, तलाक, गर्भपात—सामाजिक दिनचर्या में दाखिल होने लगे हैं; वातावरण भी यथेष्ट प्रोत्साहन दे रहा है। इन सबका यही अर्थ है कि दाम्पत्य विधान और गार्हस्थ्य सम्बन्ध का कोई मूल्य ही नहीं रहा। उत्पादन क्षेत्र गृहस्थाश्रम की परिधि से उठकर कारखानों

में केन्द्रित होता जा रहा है; लोगों का साम्पत्तिक सञ्चय अब घरों में नहीं बाजार और सरकारी केन्द्रों में होता है। "प्रत्येक प्राणी कमाये और खाये"—यही जीवन की नीति बन गयी है। यही कारण है कि पुरुष यदि स्त्री को सन्तुष्ट नहीं कर सकता तो परिस्थिति को सम्मिलित तथा पारस्परिक सहयोग द्वारा सुधार कर प्रिय बनाने की अपेक्षा वह तलाक दे देना अच्छा समझती है; सरकारी कानून भी उसे इसी ओर ले जा रहा है; समाज इसमें पक्ष या विपक्ष लेना अपना धर्म नहीं समझता। लोक व्यवस्था अब समाज की नहीं, सरकारी कानून और न्यायालय की जिम्मेदारी है। लोग भूखों रहें या प्यासे, अब समाज को इससे सरोकार नहीं। सरकार कहती है "कमाओ और खाओ।" कमाने का साधन विराट् हो जाने के कारण वह विराट् व्यक्तियों और विशेष दलों के हाथ में केन्द्रित हो गया है। लोग बन्धन-मुक्त कर दिये गये हैं परन्तु स्वातंत्र्य रक्षा में वे साधनहीन और असमर्थ हैं। इसका अर्थ ? लोग घर से स्वतंत्र होकर बाहर कैद कर दिये गये हैं,—कारखानों में, सरकारी और व्यावसायिक केन्द्रों में। लोग एक से छूटकर दूसरों के मुँहताज हो गये हैं। परन्तु उपहास की बात तो यह है कि इस नयी गुलामी को लोगों ने चाव से अपनाया है और भूख तथा रोग के शिकार हो गये हैं। उपहास है पर आश्चर्य नहीं। जो कमायेगा वही खायेगा, परन्तु कमाने के साधन यही नहीं कि, स्वभावतः, थोड़ों (मशीनाधिपतियों) के हाथ में केन्द्रित हो गये हैं बल्कि उनका आधार ऐसा है कि थोड़े से थोड़े लोगों को कार्य करने की गुंजाइश है। व्यावसायिक रूप से वही मशीनें टिक सकती हैं जो कम से कम समय में अधिक से अधिक उपज, कम से कम लोगों द्वारा, कर लें। अर्थात् अधिक से अधिक लोग बेकार रहें। इस व्यापक बेकारी का लक्षण यह है कि अतिथि सत्कार अर्थ विरुद्ध समझा जाता है। बच्चा पैदा कर देना कुदरत का खेल है, पर उसके बुरे-भले तथा पालन-पोषण का उत्तरदायित्व सरकार या अनाथालयों पर है।

४७. गृहस्थाश्रम छिन्न-भिन हो गया है। अब यह सम्पत्ति का नहीं, रोग, दुःख, दरिद्रता और अनाचार का केन्द्र बनता जा रहा है। सम्पत्ति अब गृहस्थ से विमुख होकर राजा, अमीर, जमींदार, मिल-मालिक, बैंक या सरकारी खजानों में निवास करती है। संक्षेप में गृहस्थाश्रम और सम्पत्ति का सैद्धान्तिक सम्बन्ध नष्ट सा होता जा रहा है क्योंकि उत्पत्ति का आधार अब मानव का श्रम (Human Force) या पारस्परिक सहयोग

नहीं, केवल मशीनों के जड़वादी माध्यम पर अवलम्बित होता जा रहा है।

सारांश यह कि अब तक हमने व्यापक रूप से यह देखने की चेष्टा की है कि मनुष्य के सामाजिक जीवन का उद्भव किस प्रकार स्त्रियों से प्रारम्भ होता है, उनकी शारीरिक और स्वाभाविक विशेषता से किस प्रकार श्रम-विभाजन, गृहस्थाश्रम, सामाजिक और साम्पत्तिक विकास होता है। अब जीवन के कलमय हो जाने के कारण किस प्रकार गृहस्थाश्रम छिन्न-भिन्न हो गया है। परिणामतः सामाजिक ढाँचा ढीला पड़ गया है, साम्पत्तिक वैषम्य और अनियमन ने समस्त मानव जाति को उत्पीड़ित कर दिया है। सामाजिक अराजकता को दूर कर के सम्पत्ति को पुनः कारखानों से गृहस्थाश्रम में केन्द्रित करने के लिए (ताकि सुख और शान्ति की सारी योजनाएँ मृतप्राय रोगी के स्वप्न के समान न रह जायँ और संसार बार-बार क्रान्ति और महायुद्ध के भँवर में नष्ट-भ्रष्ट न होता रहे और अन्त में दशा हमारी शक्ति के बाहर न हो जाय) हम अगले खण्ड में समाज और उसकी गति-विधि पर दृष्टिपात करेंगे।

संक्षिप्त सार

दम्पति और समाज—नारी मानव समाज का आदि कारण और क्रियात्मक शक्ति है। मानव सम्बन्ध और संघटन के प्रारम्भिक रूपपर शरीर विज्ञानात्मक के अतिरिक्त अन्य बातों का परिणाम जनक प्रभाव। मनुष्य की प्रारम्भिक दशा, स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध सूत्र। दाम्पत्य का विकास अनिवार्यतः समाज संघटन के उत्तरोत्तर विकास के साथ आगे-आगे बढ़ता है। 'स्वच्छन्द संयोग' और उसका भयंकर परिणाम। गृहस्थाश्रम के बिना सामाजिक विकास असम्भव है। 'बहु-पति' विधान। पुत्र की आवश्यकता से 'बहु-पत्नि' विधान का घनिष्ट सम्बन्ध है। 'बहु-पत्नि' विधान के गुण और दोष। 'एक व्रत' और आर्य जाति। 'एक व्रत' विधान की श्रेष्ठता।

नारी और सामाजिक विकास—समाज चक्र—व्यष्टि के असंयत् समूह से मनुष्य क्योंकर धीरे-धीरे संघटित समाज का रूप धारण करता है। इसमें पुरुष स्त्री से, प्रकृतितः, अधिक प्रामुख्य प्राप्त कर लेता है। स्त्री-पुरुषों का शारीरिक विभेद और स्त्रियों की दासता। स्त्री और पुरुष का जीवन संघर्ष के निमित्त व्यावहारिक समझौता। विवाह-विधान और पतिव्रत। मानव जाति की सुरक्षा और विकास के लिए सन्तान की ममता

अनिवार्य है। विभिन्न वैवाहिक पद्धतियाँ—अपिण्ड-अगोत्र और सपिण्ड-सगोत्र प्रथा।

श्रम-विभाजन और गार्हस्थ्य—गृहस्थ जीवन का श्रीगणेश। समाज के सुदृढ़ विकास के लिए स्त्री-पुरुष के सहयोगपूर्ण कार्य की अत्यन्त आवश्यकता है। जीवन संघर्ष की दौड़ में स्त्री और पुरुष का एक स्वाभाविक अन्तर है। सामूहिक शान्ति के बिना गृहस्थाश्रम में स्थायित्व आ ही नहीं सकता। गृहस्थाश्रमों के समीकरण से ही राष्ट्र का स्वरूप स्थिर होता है। स्त्री-पुरुष का समझौता। श्रम का प्राथमिक और द्वितीय विभाजन। समाज के निर्माण में स्त्री और पुरुष, दो भिन्न-भिन्न जातियों के समान नहीं, एक प्राणी के रूप से ही कार्य करते हैं।

गार्हस्थ्य और सम्पत्ति—मनुष्य की साम्पत्तिक ममता समाजको शान्त और स्थिर जीवन पर वाध्य करती है। संगठित व्यवस्था का उदय श्रम विभाजन से ही होता है। सामूहिक सुख-शान्ति के अनिवार्य साधन क्या हैं? कार्य विभाजन का उद्यमस्थ और आकारात्मक आधार क्या है? श्रम विभाजन विना साम्पत्तिक निर्माण असम्भव है। स्त्री और पुरुष द्वारा समय और शक्ति का सम्मिलित सदुपयोग। सामाजिक और राष्ट्रीय विकास में प्रत्येक व्यक्ति के श्रम और सहयोग का एक विशेष अंश है। उत्पादक श्रम के लिए गृहस्थाश्रम की उपादेयता। मशीनों का गृहस्थाश्रम पर विध्वंसक प्रभाव।

तृतीय खण्ड

समाज

(व्यष्टि और समष्टि की पारस्परिक गति-विधि)

(अ) व्यक्ति और समूह

१. जब हम मनुष्य मात्र की सुख समृद्धि का विचार लेकर आगे आते हैं तो हमारे सम्मुख व्यक्ति, समाज, देश और राष्ट्र इत्यादि अनेक शब्द एक दूसरे में उलझे हुए प्रश्नात्मक चिह्नों की एक अभेद्य शृङ्खला के समान फिरने लगते हैं। युग-युगान्तर से संसार इसकी सीमांसा करता आया है और आज उनमें से एक सर्वयुक्त व्याख्या को चुन लेना हमारे लिए एक नया ही प्रश्न बन गया है। जब हम देखते हैं कि समाज को व्यष्टि के समष्टि रूप से ही समझा जा सकता है तो हमें, स्वभावतः, सर्वप्रथम उस व्यष्टि को ही समझने की उत्सुकता होती है जिसके आत्यन्तिक हित-चिन्तन में संसार के समस्त दर्शनों का निर्माण हुआ है, नीतिशास्त्र और कर्मकाण्डों की रचना हुई है और जिसके हल के लिए विश्व की विचार-धाराओं ने अपने ज्वारभाटों से हमें प्रक्षुब्ध कर रखा है। वस्तुतः, व्यक्ति के मौलिक स्वरूप को समझे बिना, उसके गुण, कर्म, स्वभाव, का रूप-निरूपण किये बिना, उसके सम्मिलित व्यवहार (कारपोरेट हैबिट्स) उसके सामाजिक लक्ष्य (सोशल एम), उसके संघटन अथवा अर्थशास्त्र की गति-विधि को निश्चित करना कठिन होगा।

प्रारम्भिक

२. अस्तु, मनुष्य है क्या ? पादार्थिक दृष्टि से (फिजिकली) हम इसे भी प्राणी जगत् का एक पंचभौतिक पिण्ड ही कहेंगे। कुछ अन्य प्राणियों (स्पेसीज) के समान, इसका प्रमुख लक्षण यह है कि यह अपने समूह में ही अस्तित्वमान होता है। इसीलिए यूनानी दार्शनिकों ने व्यक्ति के विरुद्ध, समाज अथवा राज को ही महत्त्व दिया है। उन्होंने व्यक्ति को समाजरूपी शरीर का अङ्ग मात्र ही स्वीकार किया है जो अङ्गी (शरीर) के हितार्थ उसी प्रकार बलि दिया जा सकता है जैसे शरीर को बनाये रखने के लिए व्रणग्रस्त अङ्ग को काटकर फेंक देना न्याय दीखता है। यूनान के दार्शनिकों ने इस प्रकार व्यक्ति की स्थिति को स्थिर करने की प्रबल चेष्टा की है। परन्तु व्यक्ति के व्यक्तित्व का

मनुष्य क्या है ?— व्यक्ति और समाज

गतिक्रम (डाइनेमिक्स) समझने में हमें इससे कोई तुष्टि नहीं होती। परिणामतः, साम्पत्तिक स्वामित्व के वैयक्तिक तथा सामाजिक गुण-भेद, आर्थिक संघटन के लक्ष्य, उसके केन्द्रोन्मुखी तथा केन्द्रापसारी अवयवों की समीक्षा, कुछ भी निर्णायक रूप से प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। अतएव, जब तक हम व्यक्ति को ही नहीं समझ लेते, अरस्तू और अफलातून की परिभाषाएँ हमारा पथ प्रदर्शन नहीं कर सकतीं।

३. संसार ने सृष्टि की भिन्न-भिन्न रूप से कल्पना की है। परन्तु इन सबको समेट कर उन्हें दो स्पष्ट श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—आधिभौतिक और आध्यात्मिक। प्रथम पद्धति के अनुसार यह कहा जाता है कि सृष्टि के पदार्थ ठीक वैसे ही हैं जैसे वे हमारी इन्द्रियों को गोचर होते हैं। इनके परे उनमें कुछ नहीं। एक वृक्ष को देखकर हम सहज ही अनुमान कर लेते हैं कि पृथ्वी में बीज डालने से प्रकृततः अंकुर, अंकुर से वृक्ष, वृक्ष से फूल और फल का उदय होना प्रकृति का एक स्वभाव-सिद्ध नियम है। इसके पीछे किसी अन्य संचालक या सृजन शक्ति का अस्तित्व नहीं है। इस विचारधारा को आधिभौतिक कहते हैं।

सृष्टि का रूप-निरूपण—आधिभौतिक

४. इसका परिष्कृत रूप मार्क्स का प्रसिद्ध "द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद" (Dialectical Materialism—श्री सम्पूर्णानन्द इसे 'द्वन्द्वात्मक प्रधानवाद' कहते हैं) है।

द्वन्द्वात्मक प्रधानवाद

यहाँ आत्मा या चेतन की कोई स्वतंत्र सत्ता मान्य नहीं है। मूल प्रकृति के विकार तथा रूपान्तर से ही इस अनन्त सृष्टि का अस्तित्व कायम होता है। चेतन का भी मूल सूत्र वही महत् प्रकृति है। वास्तव में यहाँ चेतना को रासायनिक प्रक्रिया तथा प्राकृतिक उपकरण से अधिक नहीं समझा जा सकता। जो कुछ है प्राकृतिक तत्वों के संघर्ष-विघर्ष का परिणाम मात्र है। यथार्थतः मार्क्सवाद शुद्ध भौतिकवाद है, जिसे सरल सुबोध भाषा में "अनात्मवादी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद" कहना अधिक श्रेयस्कर होगा। इसकी अपनी निराली विशेषता को अमिश्रित बनाये रखने के लिए इसे इन तीनों शब्दों का संयुक्त साइनबोर्ड लिये फिरना होगा क्योंकि भारतीय दर्शन की सांख्य शाखा ने प्रकृति को ही सृष्टि का उपादान कारण मान कर मार्क्स के भौतिकवादी तथा द्वन्द्वात्मक गुणों को पहले ही स्वीकार कर रखा है, परन्तु अनेक जीवात्मा (पुरुष) का अस्तित्व मान लेने से

चेतना सांख्य के लिए प्रकृतस्थ रासायनिक क्रिया नहीं वरन् एक स्वतन्त्र सत्ता के रूप में प्रकट होती है। बौद्ध भी नास्तिक हैं परन्तु मार्क्सवादियों के समान द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी नहीं। इस प्रकार मार्क्स का भौतिकवाद अपनी ही विशेषता रखता है जिसने संसार के दुःख दारिद्रय को मिटाने का अभूतपूर्व दावा पेश किया है।

मार्क्स का द्वन्द्व न्याय : जड़ और चेतन में कोई अन्तर नहीं है

५. मार्क्स के द्वन्द्वात्मक पद्धति के अनुसार हमारा यह जगत् और इस जगत् के सारे व्यवहार—सब मूल प्रकृति के द्वन्द्वात्मक क्रम से ही अस्तित्वमान होते हैं। वन, पर्वत, पशु-पक्षी, मनुष्य और मनुष्य के अन्तःकरण—सभी उस मूल तत्व (मैटर) के नित्य अनन्त द्वन्द्वात्मक कारण से निर्मित होते हैं। अभिप्राय यह कि मनुष्य और पत्थर—दोनों एक ही न्याय के भागी और भोगी हैं। यहाँ जड़ और चेतन के उद्भव तथा अस्तित्व में कोई मौलिक भेद नहीं। दोनों का आदि और अन्त उसी एक शाश्वत द्वन्द्व न्याय के अन्तर्गत चलता रहता है। परिणामतः जहाँ चेतना की स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं, वहाँ व्यक्ति का समूह से स्वातंत्र्य क्योंकर समझा जाये? इसीलिए अरस्तू और अफलातून से हीगेल और हीगेल से मार्क्स और एँगेल्स ने हेर-फेर कर व्यक्ति को समाज का अङ्ग मात्र स्वीकार किया है। जहाँ जड़ और चेतन में कोई मौलिक अन्तर ही नहीं वहाँ व्यक्ति की दार्शनिक परिभाषा इसके अतिरिक्त और हो ही क्या सकती है? स्वभावतः मार्क्सवादी व्यक्ति को लेकर दार्शनिक जाल खड़ा करना व्यर्थ ही नहीं, अनर्थ भी समझते हैं। व्यक्ति की कोई स्वतन्त्र चेतन सत्ता ही नहीं तो उसके गुण, कर्म, स्वभाव ऐषणा तथा कर्तृत्व आदि की मर्यादा कोई क्रियात्मक महत्त्व नहीं रखती। यहाँ सारे प्रश्न का एक मात्र उत्तर यही है कि सब उसी मूल प्रकृति का द्वन्द्वात्मक खेल है।

मार्क्स : सारी सृष्टि निरुद्देश्य है

६. इसीलिए वह निःशंक होकर कहता है कि—"जगत् की प्रगति किसी निश्चित दिशा में नहीं है और न उसका कोई निश्चित उद्देश्य है" ('व्यक्ति और राज', पृष्ठ ४५, श्री सम्पूर्णानन्द)। सृष्टिक्रम के सम्बन्ध में मार्क्स के इस मत को लेकर मार्क्सवादी अपनी ही "वैज्ञानिक शैली से चलता है।······वह देखता है कि प्रकृति किधर झुकनेवाली है, और उसके अनुसार वह कार्य करता है, उससे लाभ उठाता

है" ('व्यक्ति और राज', पृष्ठ ५५)। यहाँ सबसे पहले तो इसी बात को समझ लेना चाहिये कि मार्क्स के ही इस उपर्युक्त मत को स्वीकार कर लेने से मार्क्स के ही एक दूसरे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त--प्रश्न यह है कि इस जगत् को परिवर्तित कैसे किया जाय" ('समाजवाद', पृष्ठ ७३ श्री सम्पूर्णानन्द)—का खण्डन हो जाता है। जो "वैज्ञानिक परिस्थितियों का मुँहताज है वह जगत् को परिवर्तित करने की कल्पना भी कैसे कर सकता है? इन दो विरोधी बातों में से एक को गलत होना ही होगा। इस स्वच्छेदक (सेल्फ कंट्राडिक्शन) को छोड़कर, हमारा प्रयोजन अनुच्छेद के प्रारंभिक वाक्य से ही है—"जगत् की प्रगति किसी निश्चित दिशा में नहीं है, उसका कोई निश्चित उद्देश्य भी नहीं।" इस प्रकार प्रश्न यह नहीं कि "जगत् को परिवर्तित कैसे किया जाय", बल्कि वास्तविक प्रश्न यह हो जाता है कि जब सारी सृष्टि ही निरुद्देश्य है तो उसके किसी परमाणु अर्थात् किसी व्यक्ति की जीवन यात्रा क्योंकर उद्देश्य-बद्ध हो सकती है? फलतः, व्यष्टि और समष्टि—दोनों ही किसी डिब्बे में भर कर खड़खड़ाते हुए, गति तथा क्रमहीन रोड़ों के समान हैं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि यह संसार विकासमान अर्थात् आगे पीछे होकर भी, नित्य, निरन्तर एक उच्चतर और फिर उच्चतम दशा की ओर अग्रसर है। जब इस जगत की कोई निश्चित दिशा ही नहीं, कोई निश्चित उद्देश्य ही नहीं तो इस सृष्टि-क्रम को समझा भी कैसे जा सकता है? निरुद्देश्य कार्यों में तादात्म्य (कोहेरेन्स) कैसे स्थापित हो सकता है? यह तो हुआ समस्या का प्रश्नात्मक पहलू। इसी का प्रस्तावात्मक पहलू यह होगा कि सृष्टि की स्वभावसिद्ध परिवर्तनीयता को सुख-साध्य कैसे बनाया जाय? और यदि ऐसा नहीं है, यदि हमारी कोई दिशा ही नहीं, कोई निश्चित उद्देश्य ही नहीं, कोई आदर्श या लक्ष्य ही नहीं, तो फिर भूत और भविष्य का संदर्भ भी कैसे स्थापित हो सकता है? और यदि वर्तमान का लक्ष्य-पूर्ण निर्देशन ही असम्भव है तो इन सारे आर्थिक और अर्थशास्त्रीय वितण्डों का प्रयोजन भी क्या?

परन्तु बात ऐसी नहीं है। ऐसा होता तो सृष्टि का व्यवहार शृंखला-बद्ध होने के स्थान में विशृंखल नजर आता। इसमें चेतन के स्वतन्त्र और स्पष्ट व्यवहार देखने को ही नहीं मिलते।

७. अस्तु, संसार की जड़ और चेतन विषयक विचारधाराओं को

मोटे तौर पर दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—आधिभौतिक और आध्यात्मिक। व्यक्ति के पादार्थिक अस्तित्व के सम्बन्ध में दोनों पक्ष प्रायः एक से ही हैं। अन्तर वहीं से आरम्भ होता है जब हम व्यक्ति की भौतिक स्थिति के साथ ही, परन्तु उसमें पृथक्, और स्वतन्त्र, एक चेतन शक्ति की सत्ता स्वीकार करने लगते हैं। मानव जीवन का दार्शनिक विवेचन नवभारत का प्रस्तुत विषय नहीं है, अतएव अनात्मवाद, सांख्य, द्वैत, अद्वैत, शांकर अथवा बौद्ध, ईसाई या इस्लाम धर्म—हमें इनमें से किसी की भी धार्मिक समीक्षा अभीष्ट नहीं है। हमारा अपना मूल प्रश्न तो केवल भौतिक और चेतन की दो भिन्न स्थितियों से ही सिद्ध हो जाता है। भौतिक के सम्बन्ध में आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक, दोनों में कोई व्यावहारिक अथवा परिणामजनक मतभेद नहीं। चेतन के सम्बन्ध में हमने यही सिद्ध किया है कि बिना किसी चेतन सत्ता के सारा सृष्टि-क्रम विशृंखल और निरुद्देश्य बन जायगा और फिर उसमें किसी प्रकार का तादात्म्य स्थापित करना असम्भव हो जायगा।

> एक चेतन सत्ता के अभाव में सारी सृष्टि विशृंखल हो जायेगी

संक्षेप में, इस समस्त मानव समष्टि के मूल में एक चेतन युक्त व्यष्टि ही घटक रूप से कार्य कर रहा है और उसी के आत्यन्तिक हित-चिन्तन को लेकर समाज का सामूहिक व्यापार मूर्तमान होता है। परन्तु जैसा कि प्रारम्भ में कहा गया है कि मनुष्य एक सामाजिक जीव है और वह अपने समूह में ही कीर्तिमान हो सकता है। यही कारण है कि पाश्चात्य दार्शनिकों ने व्यक्ति के व्यक्तित्व को, समूह के विरुद्ध, सर्वथा निर्मूल घोषित करने की प्रबल चेष्टा की है।

(अ) समाज है क्या? इसे जानने के पहले यह समझना होगा कि समाज क्या नहीं है। हम रेलगाड़ी में सैकड़ों, हजारों आदमियों को एक साथ देखते हैं। इनका सोना-जागना, खाना-पीना, स्नान-ध्यान, नित्य-नैमित्तिक क्रियाएँ, खरीद-फरोख्त, आमोद-प्रमोद—जीवन का सम्पूर्ण कार्य-क्रम एक साथ होता है। परन्तु क्या यह समाज है? नहीं, यह समाज नहीं, यात्रियों का समूह है। जहाज में इससे भी अधिक पूर्ण चित्र दिखलाई पड़ता है। वहाँ पर लोगों का व्यक्तिगत और सामूहिक भोजन प्रबन्ध, टेनिस, नाच, गाना, नाटक, सिनेमा, रेडियो, गोष्ठियाँ

> समाज क्या नहीं है

इत्यादि अनेकों अभाव की पूर्ति हो जाती है। परन्तु यह भी समाज नहीं है। हम प्रयाग और हरिद्वार के अवसर पर लाखों को एक साथ एक विशाल भू-भाग पर आबाद देखते हैं। यहाँ तरह-तरह के घर, बाजार, सभाएँ, सत्संग, व्यापार, सभी का सम्मिश्रण हो गया है। परन्तु यह भी समाज नहीं, मेला है।

(ब) इसके विरुद्ध हमें हजार, पाँच सौ की एक छोटी सी बस्ती नजर आती है। टूटे-फूटे, मिट्टी या फूस के अस्त-व्यस्त घरों की ही यहाँ सत्ता है। परन्तु यह पूरा समाज है क्योंकि

समाज क्या है

इनके जन्म-जन्मान्तर के निश्चित तौर-तरीके हैं, आपसी रस्म व रिवाज, नाते-रिश्ते के अमिट बन्धन हैं। मर्यादाओं और परम्पराओं के निश्चित दायरे में ही इन्हें चलना पड़ता है। आदमी मरते जाते हैं और उनके काम चलते रहते हैं। परन्तु इतने से ही समाज नहीं बन जाता; समाज के साथ समाज के घर-बार, पशु-पक्षी, मन्दिर-मस्जिद, गिरजा घर, वेश-भूषा, कृषि, हल-बैल, उद्योग-धन्धे, आचार-विचार, सब का समुच्चय सामने आता है। इन सब के सम्मिलित अस्तित्व एवं जीवन व्यापार से ही समाज खड़ा होता है। हम कहते हैं "हिन्दू समाज"। "हिन्दू समाज" के श्रवण मात्र से हिन्दुओं का जीवन, वेश-भूषा, आहार-व्यवहार, मन्दिर, व्रत, उपवास, सारा हमारे नेत्रों के सामने घूमने लगता है। उसी प्रकार जब हम "बद्दू समाज" कहते हैं तो घोड़ों और खच्चरों पर लदे फिरते रहनेवाले समाज का चित्र नेत्रों के सामने फिरने लगता है।

प्रत्येक जीव प्राणी स्थिर और स्थायी जीवन का सुख भोग करना चाहता है। चिड़ियाँ भी घोंसला बनाकर रहती हैं। जो पक्षी या पशु घोंसला बनाकर नहीं रहते उनके भी ठहरने के, सोने और आराम करने के, निश्चित अड्डे होते हैं। खाने के, चरने-चुगने के निश्चित क्षेत्र और खण्ड होते हैं। उसी प्रकार मनुष्य भी जीवन की सुविधाओं के लिए कहीं-न-कहीं ठहर जाता है; फिर उसके इर्द-गिर्द दूसरे मनुष्य भी बस जाते हैं। धीरे-धीरे काल-कालान्तर में वहीं उनका समाज बन जाता है। जो एक स्थान पर स्थायी रूप से नहीं बसते वे भी स्थायी रूप से साथ तो रहने ही लगते हैं,—यहाँ या वहाँ, वे जहाँ भी रहते हैं, उनका वही रोज का पारस्परिक जीवन होता है, वही सामूहिक रहन-सहन होती है। इसकी अमिट परम्परा और अमिट बन्धन तैयार हो जाते हैं। निश्चित

भू-खण्डों में, निश्चित और स्थायी रूप से बसे हुए या घोड़ों और खच्चरों पर लदे फिरते रहनेवाले, दोनों प्रकार के समाज का इसी प्रकार अस्तित्व कायम होता है।

(स) समाज तो समझे, परन्तु यह "सभ्य" है या "असभ्य"? इस तरह प्रश्न होता है कि आखिर समाज के अतिरिक्त यह सभ्यता क्या चीज है? हमने अभी कहा है कि जब हम किसी समाज की कल्पना करते हैं तो वहाँ कुछ या बहुत से लोगों के सम्मिलित, नियम-बद्ध जीवन उनके घर-बार, पशु-पक्षी, धन-दौलत, व्यापार-व्यवहार, संस्थाएँ, सब का समन्वित चित्र सामने आता है। इस तरह गाँव में, शहर में, जंगलों में, बसनेवालों का, खच्चरों पर लदे फिरनेवालों का, सब का समाज है। परन्तु जिन लोगों के रहने का तौर तरीका सुधरा हुआ नहीं है, उन्हें हम असभ्य कहते हैं। जिन लोगों ने पशुओं के समान नंगा रहने के बजाय शरीर के लिए सुन्दर एवं वैज्ञानिक वस्त्रादि का व्यवहार शुरू कर, वृक्ष और बिलों में रहना छोड़ कर, अच्छे स्वास्थ्यकर घरों की पद्धति कायम कर ली है, नैतिकता से प्रभावित रहते हैं, कला, विज्ञान और संगीत से जो ओत-प्रोत हैं, जिन्होंने स्वास्थ्य और शिक्षा का अर्जन किया है, जिनके तौर-तरीके, आचार-विचार की सुनिश्चित एवं उन्नतिशील परिपाटी होती है, उन्हें हम सभ्य कहते हैं।

सभ्यता

इस तरह, थोड़े में, मानव समाज की उन्नतिशील जीवन पद्धति को ही हम "सभ्यता" कह सकते हैं। सभ्यताएँ एक दिन में नहीं, सैकड़ों, हजारों वर्ष में लोगों की नियमित एवं प्रगतिशील पारस्परिकता से ही बनती हैं; इनके बनने में पृथ्वी, जल-वायु, प्राकृतिक परिस्थितियाँ, मानवी चेष्टाएँ—सब का समन्वित सुपरिणाम होता है। परन्तु जहाँ तक स्वयं सभ्यता का सवाल है वह तो व्यापक मानव समाज की दीर्घकालीन, सुनिश्चित, सुपरिचित एवं उन्नतिशील जीवन पद्धति से ही परिलक्षित होती है।

(द) हम कह चुके हैं कि व्यापक मानव समाज की दीर्घकालीन एवं सुनिश्चित जीवन पद्धति को ही सभ्यता कहते हैं और यह भी स्पष्ट है कि पृथ्वी, जल-वायु, आकाश तथा अन्य प्राकृतिक और अप्राकृतिक परिस्थितियों के अन्तर्गत ही समाज की रचना होती है। इसीलिए भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार का समाज बनता है। इस तरह देशों

सभ्यताएँ

के अन्तर से लोगों की जीवन पद्धति में भी अन्तर होता है यानी भिन्न परिस्थितियों में भिन्न सभ्यताओं का निर्माण होता है, जैसे रोमन, मिस्री और आर्य-सभ्यता, आंग्ल और भारतीय सभ्यता।

(य) इस तरह समाज और समूह का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। यहीं यह भी स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति चेतन है, प्रत्यक्ष है, परन्तु समाज जड़ है, अप्रत्यक्ष है, अवैयक्तिक (इमपर्सनल) है।

समाज जड़, अप्रत्यक्ष और अवैयक्तिक है

व्यष्टि और समष्टि की यह एक ऐसी पतली लीख है जिसे सम्पूर्णतः सतर्क रहे बिना हम सहज ही समूहवादी जड़त्व के खड्डु में खो जायेंगे। अतएव यह परम आवश्यक प्रतीत हो रहा है कि हम सबसे पहले संसार को वर्तमान सभ्यता की इन्हीं दो प्रमुख सामाजिक बनावटों पर दृष्टिपात कर लें।

(ब) समाज (शहरी और ग्राम्य)

(इस अध्याय की रचना में अ० भा० ग्रा० उ० संस्था के पत्र-पत्रिकाओं, श्री जे० सी० कुमार अप्पा, डा० सीतारमैया तथा डा० भारतन की पुस्तकों से विशेष सहायता ली गयी है जिसके लिए मैं उपर्युक्त संस्था तथा विद्वानों का अतीव आभारी हूँ।—ले०)

८. इस समय संसार का अर्थ विधान दो प्रमुख वर्गों में विभक्त है—पूँजीवाद और समूहवाद (कम्युनिज्म)। पूँजीवाद का सामाजिक महत्त्व व्यक्ति को एक निर्बोध स्वच्छन्दता प्रदान करने में ही निहित है। इसे "लैसेज़-फेयर" कहा जाता है अर्थात् प्रत्येक अपनी योग्यता तथा सामर्थ्य के अनुसार जीवन में अवसर लेने के लिए बिलकुल निर्बन्ध और स्वच्छन्द है। इस प्रकार बल, चातुरी, षड़यंत्र अथवा और किसी भी सम्भव रीति से उसके स्वप्राप्त साधनों में कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकता। इसे व्यक्तिवाद भी कहा जाता है परन्तु यह पश्चिमी ढंग का व्यक्तिवाद है जिसमें नैतिकता को कोई स्थान नहीं। भारतीय विचारधारा भी समूहवादी के विरुद्ध व्यक्तिवादी है क्योंकि यह व्यक्ति की चेतन सत्ता पर ही अवलम्बित है। परन्तु पश्चिमी और पूर्वी व्यक्तिवाद में महान् अन्तर है : एक जड़वादी है, दूसरा चेतन।

प्रारम्भिक

केन्द्रोन्मुखी

केन्द्रापसारी

परिणामतः, दोनों को लेकर दो प्रकार की समाज रचना, दो प्रकार की सभ्यता की सृष्टि हुई है—केन्द्रोन्मुखी और केन्द्रापसारी। सम्प्रति हम इसे शहरी और ग्राम्य-सभ्यता के रूप में समझने की चेष्टा करेंगे क्योंकि पूँजीवादी अथवा समूहवादी, पश्चिम की इन दोनों पद्धतियों में जड़वाद का ही आधार है और, स्वभावतः, दोनों केन्द्रों से ही गति प्राप्त करती हैं। इस प्रकार इन दोनों का सामाजिक रूप शहरी बन जाता है जब कि प्राच्य, विशेषतः भारतीय सभ्यता का स्वरूप उसके चेतन घटकों के योग से ही निर्मित होता है।

केन्द्र और आयतन

और भी स्पष्ट रूप से समझने के लिए यह कहना होगा कि एक ओर यदि एक विन्दु को केन्द्र मानकर उसके लिए एक आयतन तैयार किया जाता है तो दूसरी ओर पूर्वस्थित आयतन के लिए, आवश्यक केन्द्र स्थापित कर दिया जाता है। केन्द्र द्वारा संचालित होनेवाले आयतन का अस्तित्व केन्द्रों के साथ ही बनता-बिगड़ता रहता है। रोम और बेबीलॉन की सभ्यताएँ इसी प्रकार लुप्त हो चुकी हैं। परन्तु इधर यह बात नहीं—हस्तिनापुर और दिल्ली मिट्टी में मिल गये फिर भी भारतीय सभ्यता सदा सर्वदा जीवनदायिनी बनी रही। उसे यदि हम केन्द्रित अर्थात् शहरी पद्धति कहें तो इसे हम ग्राम्य सभ्यता ही कहेंगे। यहाँ हम इसी पर विचार कर रहे हैं।

समाज संघटन की बुनियादी बातें

१. कुछ निश्चित उष्णता और सर्दी, निश्चित हवा और पानी, के बिना कोई भी समाज संघटन या संगठित कार्य होना कठिन है। ध्रुववर्ती स्थानों में लोगों की कोई निश्चित कर्म-शृंखला असम्भव है। हमारे समाज संघटन पर पृथ्वी के धरातल का कम प्रभाव नहीं पड़ता—नैपाल, तिब्बत, चीन, जापान, युनान, साइबेरिया, मैक्सिको, अफ्रीका, उत्तरी भारत के सपाट मैदान, दक्षिणी भारत के गर्म देश, तथा ब्रह्मा के पहाड़ी देशों में भिन्न-भिन्न रूप से समाज-संगठन हुआ। भिन्न-भिन्न देशों की उपज-शक्ति का समाज रचना पर विशेष प्रभाव पड़ता है—पंजाब की सैनिक स्वच्छन्दता गुजरात के सरल निष्ठावान जीवन से भिन्न है। गंगा की उपजाऊ भूमि और बुन्देलखण्ड के पहाड़ी प्रदेश में भिन्न-भिन्न समाज-व्यवस्था है। भिन्न-भिन्न पैदावार के कारण भी बड़ा प्रभाव

पड़ता है—गंगा की घाटी में चावल, गेहूँ, दाल, शाक-सब्जी, फल, जड़ी-बूटी आदि का आधिक्य होने के कारण यहाँ संसार की सर्वश्रेष्ठ शाकाहारी सभ्यता का विकास हुआ। भोजन और औषधि सहज प्राप्ति के कारण हम सुखी और स्वस्थ रहते हैं, हमारे सामाजिक जीवन में एक प्रकार की नश्चितता का समावेश होता है। नरम या कड़ी मिट्टी के भेद से हमारी गृह-रचना की सारी पद्धतियों में ही भेद हो जाता है। सारांश यह कि हमारा समाज संगठन खाद्य पदार्थ, पैदावार, जल-वायु, पशु-पक्षी, प्राकृतिक साधनों तथा वातावरण से प्रभावित होकर ही साकार होता है।

समाज संगठन की मूल प्रेरणा—आर्थिक स्वार्थ

१०. (अ) मनुष्य हो या पशु, आर्थिक स्वार्थ से प्रेरित होकर ही वह किसी समाज या संघटन का रूप धारण करता है। भोजन, वस्त्र या निवास की व्यवस्थित पूर्ति के लिए वह जब सामूहिक और सम्मिलित प्रयत्न करता है, तब एक संगठित दल में कार्य करना उसके लिए नितान्त आवश्यक होता है। प्रत्येक समाज संघटन के पीछे यही मूल प्रेरणा कार्य करती है। दलबद्ध हो जाने पर वह फिर बाह्य आक्रमणों तथा प्राकृतिक प्रकोपों (हवा, तूफान, महामारी) का सफल सामना करने में अपने को समर्थ पाता है। संघटित

संस्कृति का निर्माण

और दल-बद्ध अवस्था में धीरे-धीरे उसके कार्य और व्यवहार की एक निश्चित परिपाटी बन जाती है; उसकी व्यक्तिगत नीति और उसके विचार सामूहिक हित और पारस्परिक सहयोग[1] की भावनाओं से प्रतिपादित होते हैं जो सैकड़ों सहस्रों वर्ष, पुश्त-दर-पुश्त, आचार-विचार, कार्य-व्यवहार, धर्म और नीति के चक्र में पड़कर संस्कार का रूप धारण कर लेते हैं। या यों कहिये कि हमारी अपनी एक सभ्यता और एक संस्कृति बन जाती है।

(ब) सभ्यता के निश्चित एवं निर्बाध प्रवाह से ही संस्कृति का उदय होता है। जब एक प्रगतिशील एवं सुनिश्चित जीवन पद्धति के अनुसार समाज का जीवन प्रवाह चलने लगता है तो सारे समूह का,

---

१. सहयोग अथवा संघर्ष—समाज के निर्माण और उसके विकास में इन दोनों का क्रियात्मक महत्त्व क्या है, इस पर फिर विचार किया जायगा।

समूह के प्रत्येक सदस्य का, वैसा ही स्वभाव बन जाता है जो उसके प्रत्येक कार्य और व्यवहार में, प्रत्येक आचार और विचार में प्रस्फुटित होता है। यह स्वभाव, अभ्यास या चेष्टा के बिना भी, प्राणी को पैतृक देन में प्राप्त होता है जिसे हम संस्कार कहते हैं। समाज के इसी सामूहिक संस्कार को हम संस्कृति कहते हैं। अंग्रेजी भाषा में संस्कृति का बोध "कलचर" से कराया जाता है। संस्कार जन्मजात होते हैं और सैकड़ों-सहस्रों वर्ष के सामूहिक जीवन से इनका जो सामूहिक रूप स्थिर होता है उसी को हम संस्कृति कहते हैं।

संस्कार और संस्कृति

११. अभी कहा जा चुका है कि प्रत्येक सभ्यता का मूल कारण आर्थिक है। इसीलिए प्रत्येक जाति या सभ्यता का सामाजिक विकास आर्थिक आधार पर ही होता है। प्रारम्भ में मनुष्य प्राकृतिक देन पर ही निर्भर था ; धीरे-धीरे वह प्रकृति को भी अपने वश में करने लगा और अपने अनुकूल उत्पादन भी करने लगा,—अब वह किसान या खेतिहर बना। इसे मानव समाज का दूसरा युग कहा जा सकता है। परन्तु मनुष्य की उत्पादक प्रेरणा और प्रकृति पर स्वामित्व की अभिलाषा अपनी निरन्तर गति से जारी थी ; वह एक कदम और आगे बढ़ा; उत्पादन में उसने मानव-कृतियों की भरपूर सहायता ली; वह साधारण औजारों से बढ़ कर कल पुर्जों द्वारा काम करने लगा; मशीन और कारखानों का प्रभुत्त्व स्थापित हुआ और इसे अब हम कलयुग कहते हैं।

सामाजिक विकास का आर्थिक सूत्र

१२. यहाँ आकर संसार, स्वभावतः, दो दलों में विभाजित हो गया :—

(अ) वह, जो मशीनों और कारखानों के मालिक हैं तथा जिनका जीवन यापन कल-कारखानों पर अवलम्बित है। कारखानों में दूर-दूर तथा देश-विदेश से कच्चा माल लेकर उपज होती है और उसमें कार्य करनेवाले भी विभिन्न स्थान, प्रान्त और देश के होते हैं। केन्द्रीकरण कारखानों का स्वाभाविक गुण है। उपज और जीवन व्यापार थोड़े से स्थल में केन्द्रित हो जाता है। केन्द्रित उपज की खपत भी, स्वभावतः, भिन्न-भिन्न स्थानों में केन्द्रित हो जाती है, जो हमें बड़े-बड़े बाजार, कसबे और शहर के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। कारखानों की विराट

उपज को सफल बनाने के लिए उनके वाहक और साधक भी, स्वभावतः, विराट होते हैं। रेल, तार, जहाज, बिजली घर, फिर इनके अपने बड़े-बड़े कारखाने और उन कारखानों के मजदूर, मजदूरों के घर, अस्पताल, खेल-तमाशे, स्कूल इत्यादि। इनकी रक्षा और नियन्त्रण के लिए पुलिस और सेना, अदालत और हाईकोर्ट, मुंसफी और जजी, स्थावर और जङ्गम की जमघट ने एक बिल्कुल नयी दुनिया का नमूना पेश कर दिया है। उत्पत्ति का उत्तरदायित्व कल कारखानों के मालिकों पर है; उत्पादन का साधन भी उन्हीं के हाथ में है। लोगों को कल-कारखानों के चारों ओर, उनके सहारे, संगठित बस्ती में, कल-कारखानों के क्रमानुसार जीवन व्यतीत करना अनिवार्य हो गया है। रेल और ट्राम, कब और कहाँ से आती-जाती हैं—हमें उन्हीं के आस-पास, उसी समय पर चलना फिरना पड़ता है, बसना होता है और अपना कार्य-क्रम बनाना पड़ता है। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, अंग्रेज, अमेरिकन, जापानी, पार्सी या यहूदी—सब के सम्मुख यही एक प्रश्न है। अब धर्म या जाति की कोई विशेष कीमत नहीं रही। कारखाने कब और कैसे चलते हैं—सबको उसी समय जागना और सोना पड़ेगा, रहन-सहन भी उसी हिसाब से बनानी पड़ेगी। सारांश, कल-कारखानों ने हमारे जीवन को इस प्रकार आच्छादित कर लिया है कि हम और हमारे नीति-धर्म, सभी में मशीनों की संचालक प्रेरणा है, कल की स्फूर्ति है। हम एक नयी गुलामी में जकड़ दिये गये हैं—मशीनों की गुलामी। रूस का समूहवादी और जापान का सैनिक, कोई भी मशीनों के चंगुल से स्वतन्त्र नहीं।

केन्द्रित व्यवस्था

(ब) दूसरी ओर है चरखा, करघा, तेली का कोल्हू, हल, बैल, गाड़ी और खलिहान वाला किसान और मजदूरों का स्वच्छन्द ग्राम्य जीवन, जो 'ट्राफिक रूल' और 'ट्रेसपास' के शिकंजों से मुक्त, टेलीफोन की चीख-पुकार और मोटर, रेल तथा ट्राम के शोरगुल, खतरे और उलटफेर से दूर सरल जीवन की साकार प्रतिमा बना हुआ है। यहाँ हवाई जहाज पर उड़ते फिरने की आवश्यकता ही नहीं। सैनिक छावनियों के बिना भी इन्हें कोई असुविधा नहीं प्रतीत होती। यदि गाँव वाले अदालतों में भरे रहते हैं तो केवल इसलिए कि शहरी सभ्यता का आर्थिक बोझ इनके सिर है और उसे हलका करने के लिए सरकारी कानून उन्हें हठात् जजी

विकेन्द्रित व्यवस्था

और हाईकोर्ट या तहसीलदार की तहवील में घसीट लाते हैं। बाजार का प्रतिक्षण बदलने वाला उतार-चढ़ाव या निरंतर दलालों की चख-चख उसे परेशान नहीं करती। जितना ही वह इससे दूर है, उतना ही सुखी है।

१३. मशीनों का आविष्कार ही समय और परिश्रम की बचत के लिए हुआ था और उनका सञ्चालन तथा स्वामित्व स्वभावतः इने-गिने लोगों के हाथ में है। उत्पादन और मुनाफा, यहाँ यही दो यम और नियम हैं अर्थात् कम से कम लागत और अधिकाधिक मुनाफा। लागत के नाम पर मजदूर और उनकी मजदूरी पर ही सदा जोर डाला जाता है। कम से कम लोग, कम से कम मजदूरी और कम से कम समय में अधिकाधिक उपज करें—यह है मुनाफे का सीधा सा मार्ग। मुनाफा मालिकों का, मेहनत-मशक्कत मजदूरों की, यह है पूँजीवाद। समूहवाद में भी कलकारखानों की मालिक सरकार है। एक ओर वैयक्तिक तो दूसरी ओर सरकारी अधिकार है। सार्वजनिक जीवन कहीं भी स्वतन्त्र नहीं। नात्सी और फासिस्टी विधान में मजदूरों के बजाय मध्यम श्रेणी का प्रभुत्व हुआ। उत्पादन क्रम और जीवन का आधार वही रहा—मशीन; केवल अधिकार भर बदलते रहे।

मशीन और मजदूर

१४. यह सारे कलमय विधान "शहरी" समाज की सृष्टि करते हैं और विस्तृत मानव समाज से विलगाव, असन्तोष और आर्थिक परेशानियाँ ही इनकी विशेषताएँ हैं। यही कारण है कि भरे भण्डारों के विपरीत भी चारों ओर भूख और रोग का ताण्डव हो रहा है। मनुष्य की मानसिक स्थिति खराब हो रही है। न्यूयार्क में प्रत्येक बाईसवाँ व्यक्ति पागलखाने में है। और क्या चाहिए? भारत में हैजे और ताऊन का प्रकोप इतना भयंकर नहीं, जितना अमेरिका का तलाक, गर्भपात और उन्माद रोग। यह है शहरी सभ्यता का दिग्दर्शन। शोषण, दमन और हिंसा इसकी विशेषता है। दूसरों को निचोड़कर स्वयं पनपना—यहाँ इसी में जीवन रस है। केन्द्रीयकरण इसका गति-गीत है। चारों ओर से सिकुड़-सिकुड़ कर थोड़े में भरते जाना और केन्द्राधिपतियों की हुकूमत को ही जीवन का कानून समझ कर जीवित रहना—जीवन व्यापार बन गया है। लोगों की कठिन कमाई मिल और

कलमय विधान: शहरी समाज: केन्द्रीकरण

मशीनों के नकली माल से परे और तन ढकने भर को भी नहीं, उस पर से चुंगी, मालगुजारी, हाउस टैक्स, वार टैक्स, प्युनिटिव टैक्स, इनकम टैक्स, प्राफिट टैक्स, सुपर टैक्स इत्यादि, न जाने कितने टैक्स देने पड़ते हैं।

१५. विलायत की एक मिल ने लाखों जूते बना कर भारत भेज दिये हैं। काशी में बसनेवाला एक बाबू दूकान पर पहुँचता है और किसी न किसी जूते में पाँव घुसेड़ देता है; एड़ी, पंजा बराबर हुआ कि पैसे देकर जूता घर लाता है। विलायत की कम्पनी को क्या मालूम कि काशी में एक अमुक बाबू को जूते की जरूरत है; ऐसा ध्यान होना भी कारखानों के स्वभाव के विरुद्ध है। लाखों-करोड़ों की लागत वाला कारखाना जितना ही जल्द, जितनी ही अधिक उपज कर सके, उतना ही लाभदायक है। बाजार और खरीददार की न उसे चिन्ता करने का समय है, न बाजार और खरीददार से उसका सम्बन्ध रह जाता है। गुणविहीन, अस्वास्थ्यकर एवं कृत्रिम वस्तुओं की उत्पत्ति हो जाने पर उसकी खपत करनी पड़ती है, फिर प्रचार, चालबाजी, संघर्ष, युद्ध और फिर महायुद्ध प्रारम्भ होता है। युद्ध मशीनाश्रित उद्योग व्यवस्था का एक आवश्यक अङ्ग है, इसलिए कि नकली घी, 'कण्ट्रासेप्टिव्स' (कृत्रिम मैथुन के कृत्रिम साधन) बमवर्षक, राइफलें, अलकोहल (मादक द्रव्य), स्पिरिट, सफेद चीनी, कल-कारखानों के 'बाइप्रोडक्ट्स' तथा 'सिनथेटिक फूड्स' (नकली भोजन) और सिन्थेटिक गुड्स (नकली माल) को मनुष्य के माथे मढ़ने के लिए संघर्ष अनिवार्य है।

युद्ध और संघर्ष उद्योगवाद की अनिवार्य शर्त है

१६. दूसरी ओर है ग्रामीण समाज और ग्राम्य सभ्यता। किसान खेती करता है। उसके पास ही हल, बैल, चरखा, करघा और कोल्हू-सी मशीनें हैं; पर यह इनका स्वामी है, कारखानों के व्वायलर का खलासी नहीं। उसकी मशीनें उसकी इच्छा पर निर्भर हैं न कि वह स्वयं मशीनों का गुलाम है। उसकी इच्छा और सुविधा होती है तो वह उन्हें चलाता है अन्यथा बन्द रखता है। जितनी उसे आवश्यकता है वह उतनी उपज कर लेता है। एक मनुष्य को जूते की आवश्यकता है। वह सीधे चमार के पास जाता है। चमार उसके नाप और मर्जी के

ग्रामीण समाज : ग्राम्य सभ्यता

अनुसार जूता बना कर दे देता है। ठाकुर साहब की लड़की का विवाह है—चार मन तेल चाहिये। तेली चार मन तेल पेर देता है। हमें कपड़ा, मसाला, हींग, मूँगा, मोती या बरतन की आवश्यकता है। सप्ताह में दो बार आस-पास वाले अपनी-अपनी चीज लेकर आ जाते हैं और लोग लेन-देन कर लेते हैं। यह है हमारा बाजार-हाट। यहाँ २४ घण्टे खुली रहनेवाली शीशों और बिजली में सजी हुई चमाचम दूकानों की नुमाइश की जरूरत नहीं। यहाँ तो जीवन की आवश्यकताएँ पूरी करने के तरीके हैं, न कि अनावश्यक नुमाइश में धन और शक्ति फूँकने का बन्दोबस्त। यहाँ लोगों को धोखा देकर गलत काम या गलत वस्तु के व्यवहार का प्रलोभन नहीं है। यहाँ यही नहीं कि कपड़ा देकर अनाज और अनाज देकर गहने मिल जायँगे, बल्कि सैकड़ों बात बिना पैसे के ही होती हैं—धोबी, चमार, नाई, मेहतर, सभी अपना-अपना कार्य करते रहते हैं और बदले में उनको "साली" दी जाती है अर्थात् साल भर के हिसाब से उनको अनाज या खेत दे दिया जाता है। उत्पादन का उद्देश्य जीवन व्यवस्था और जीवन सुविधा है, न कि पैसा और प्रभुत्त्व।

यहाँ उत्पादन का उद्देश्य जीवन व्यवस्था और जीवन सुविधा है

१७. इस तुलनात्मक विवेचन से मूल तत्त्व यह सिद्ध हुआ कि आज की कलमय सभ्यता में उत्पादन का लक्ष्य पैसों पर है और इसने मनुष्य के जीवन में साधन से साध्य का स्थान प्राप्त कर लिया है। कारखानों ने इसे सहज सिद्ध भी बना दिया है। फिर हमारे दुखों का अन्त हो कैसे? उलटे हिंसा और अनाचार बढ़ते जायँगे। इसलिए जब तक हम मशीनों का मोह छोड़ कर ग्राम्य सभ्यता को न अपनायेंगे तो कल्याण नहीं क्योंकि मशीनों का उद्देश्य ही ग्राम्य सभ्यता का शहरीकरण है।

पैसा : साधन से साध्य

१८. जन समाज के भौतिक तथा नैतिक कल्याण पर लक्ष्य रखनेवाली किसी भी भारतीय संस्था को ग्रामसुधार की ओर ध्यान देना ही होगा, क्योंकि गाँव ही यथार्थतः हिन्दुस्थान है।

गाँव ही हिन्दुस्थान है

पश्चिमी सभ्यता शहरी चीज है

१९. अभी कहा जा चुका है कि आजकल की पाश्चात्य सभ्यता तत्वतः नगर-संस्कृति यानी शहरी है। बड़े-बड़े उद्योग-धंधों के केन्द्र उत्पन्न हो गये हैं। वहाँ विशाल पैमाने पर पक्का माल तैयार होता है। लाखों आदमी वहाँ खिंचे जा रहे हैं और एक ही साँचे में ढल रहे हैं।

कृषि : भारतीय संस्कृति का मूल आधार है

२०. भारतीय संस्कृति का मूल आधार खेती है। खेती की बुनियाद पर ही हमारी संस्कृति की इमारत खड़ी हुई थी। ऐसी स्थिति में पश्चिम का अन्धानुकरण करना हमारी राष्ट्रीय परम्परा के प्रतिकूल और हमारी सांस्कृतिक गठन के लिए घातक होगा, क्योंकि प्राच्य और पाश्चात्य में मौलिक अन्तर है।

प्राचीन संस्कृति के आधारात्मक तत्त्व

भारतीय सभ्यता की नींव में समय के घात-प्रतिघात को सहने का गुण है और वह नींव हजारों वर्षों तक टिकी रही है। अतः यह समझ लेना हमारे लिए आवश्यक है कि हमारी प्राचीन संस्कृति की इमारत में हमारे आदि निर्माताओं की योजना क्या थी ? उसके आधारात्मक तत्त्व क्या थे ?

जीविका के आवश्यक साधनों की गारन्टी सम्मिलित परिवार द्वारा

(अ) समाज के प्रत्येक व्यक्ति को जीविका के अत्यन्त आवश्यक साधनों का अवश्य मिलना। इसके लिए काम करनेवाले मजदूरों को वस्तु पदार्थ के रूप में वेतन दिया जाता था। इस तरह उनकी खाने-पीने की जरूरत पूरी हो जाती थी। यह समझने में कठिनाई न होगी कि ऐसी पद्धति में किसी को भूखों नहीं मरना पड़ता था। इस लक्ष्य की सिद्धि का दूसरा उपाय था—सम्मिलित परिवार-पद्धति। इससे सम्पत्ति में अधिक वैषम्य नहीं होता था।

स्पर्धा तथा स्वार्थपरता पर अंकुश—वर्ण व्यवस्था द्वारा

(ब) स्पर्धा तथा स्वार्थ वृत्ति को निरंकुश न होने देना और सहयोग की वृद्धि करना। वर्ण-व्यवस्था के द्वारा समाज का काम लोगों में बँट गया था। अलग-अलग समुदाय अपना-अपना कार्य समुचित रीति से करता था। इससे यह होता था कि यदि कोई धंधा किसी समय फायदेमन्द हो गया, तो सभी

के सभी एक दूसरे की स्पर्धा करने, तथा जितना हो सके, उतना नफा प्राप्त करने के लिए उस पर टूट नहीं पड़ते थे, जैसा कि आजकल होता है। ऐसा करने से सारी सामाजिक व्यवस्था भंग हो जाती है। उदाहरणार्थ, जब वकालत के व्यवसाय में खूब पैसे मिलने लगते हैं, तब सभी वकील बनने लगते हैं; समाज को कितने वकीलों की आवश्यकता है, इस पर कोई विचार ही नहीं करता। वर्णव्यवस्था संघ-निष्ठा तथा पारस्परिक सहयोग का भाव भी पैदा करती थी। जिनका जन्म तथा पालन-पोषण शहरों में हुआ है, उनमें इन भावों का प्रत्यक्ष अभाव देखा जाता है।

वर्णव्यवस्था से संघ-निष्ठा और सहयोग भावना को जन्म मिलता था।

(स) प्रत्येक गाँव को इस प्रकार स्वावलम्बी बनाना कि वह अपनी आवश्यकता खुद ही पूरी कर ले और जीवन की मुख्य जरूरतों के लिए परमुखापेक्षी न रहे। ऐसा होने पर, गाँवों के भिन्न-भिन्न उद्योग-धंधे सुचारु रूप से चलते थे। बाहरी शक्ति या विदेशी सत्ता के द्वारा गाँव की आर्थिक लूट नहीं हो पाती थी। शासन की दृष्टि से भी गाँव स्वतंत्र था। गाँव का कारवार गाँव ही चलाता था। प्रत्येक गाँव में पंचायत थी। पंचायत की देख-रेख में प्रत्येक गाँव स्वयं एक प्रजासत्तात्मक राज्य था। ग्राम्य जीवन के सभी पहलुओं का ठीक-ठीक कार्य संचालन पंचायत के हाथ में था।

गाँवों में स्वावलम्बन और आर्थिक सुरक्षा की व्यवस्था—पंचायत द्वारा

(द) आध्यात्मिक बातों को प्रथम स्थान दिया जाता था, यह बात इसी से प्रकट है कि राजा या व्यापारी को नहीं, बल्कि ज्ञानी पुरुषों तथा धर्मोपदेशकों का सब से अधिक सम्मान होता था। राजा चाहे कितना ही धनवान या बलवान होता, वह अपने दरबार में अकिंचन परिव्राजक या दरिद्र ऋषि की पूजा करता तथा उसके पाँव छूता था। इसी प्रकार केवल धनोपार्जन या धनसंचय का कोई विशेष मूल्य नहीं था। इसके विरुद्ध संन्यास या त्याग ही मानव जीवन के विकास की सर्वोच्च स्थिति मानी जाती थी।

आध्यात्मिक विकास का महत्त्व

२१. पाश्चात्य संस्कृति इन आदर्शों के बिलकुल विपरीत है। जैसा कि

पहले कहा जा चुका है, पश्चिमी समाज की नींव दरबारी जीवन है। उसमें जीवन की सादगी का कोई महत्त्व नहीं। महत्त्व है तो आमोद-प्रमोद के साधनों का बाहुल्य तथा सुख-सम्पदा की सामग्री की अधिकता का। जो धनवान है उसी का सम्मान होता है। राजा उसे ऊँचा पद प्रदान करता है और इस प्रकार सहज ही उसकी प्रतिष्ठा बढ़ जाती है। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य समाज का आर्थिक संगठन प्राणघातक स्पर्धा पर अवलम्बित है। जो कमजोर हैं, वे गर्त में गिरते चले जाते हैं। जो बलिष्ठ हैं, वे दुर्बलों को लूट कर अधिक बलवान होते जाते हैं। वहाँ के आर्थिक विकास के पीछे कोई विचारपूर्ण योजना नहीं है। नतीजा यह हुआ कि माँग के हिसाब से उत्पत्ति में अत्यधिक वृद्धि हो गयी है, उत्पादन तथा वितरण में कोई सम्बन्ध नहीं रह गया है और इस प्रकार सारी आर्थिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गयी है। लोभ की कोई सीमा नहीं है, और प्राणघातक स्पर्धा कच्चे माल तथा बाजार के लिए मुँह खोले हुए खड़ी है। उसे मनुष्यता तथा नैतिकता से क्या मतलब ? रक्त में लुण्ड-मुण्ड पश्चिमी राष्ट्रों की इन दिनों जो भयंकर स्थिति है, उसे देखकर हमें चेत जाना चाहिये। अन्यथा पुनर्निर्माण के नाम पर पश्चिमी उद्योगवाद का अंधानुकरण हमें खाकर रहेगा। परन्तु पश्चिमी पद्धति को निकम्मी कहकर फेंक देने और पुनर्रचना का कार्य आरम्भ करने के पहले हमें संसार की प्रचलित पद्धतियों की भी संक्षेप में समीक्षा कर लेना जरूरी है ताकि हम यथार्थ से दूर न हो जायें—

पश्चिमी सभ्यता प्राणघातक स्पर्धा पर अवलम्बित है

२२. आजकल दो मुख्य आर्थिक पद्धतियाँ प्रचलित हैं—(अ) पूँजीवाद और (ब) समूहवाद।

२३. जिस प्रकार पूँजीवाद में व्यक्ति पूँजीवाद का गुलाम था उसी प्रकार समूहवाद में वह सार्वजनिक सत्ता के हाथ का खिलौना बन बैठा, क्योंकि समूह में सार्वजनिक सत्ता सर्वोपरि है। कुछ इने-गिने पुरुष राष्ट्र के लिए योजनाएँ बनाते और उन्हें कार्यान्वित करते हैं और शेष लोग उनके आदेशों का पालन करने के सिवा कुछ कर ही नहीं पाते। यह बात समूहवादियों को अवश्य मान्य न होगी। वे यह दावा करते हैं कि मुट्ठीभर व्यक्तियों के हाथों में कार्य संचालन की बागडोर नहीं रहती, किन्तु लाखों श्रमजीवी कौंसिलों में इकट्ठे होकर अपने भाग्य का निर्णय करते हैं। जिसे

समूहवाद और व्यक्ति

लाखों व्यक्तियों की राय से किया गया निर्णय कहा जाता है, उसका कतिपय सत्ताधारियों की हाँ में हाँ मिलाने के अतिरिक्त और क्या अर्थ हो सकता है? चाहे ऐसा न भी हो, किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि समूहवाद के भीतर, जहाँ तक उत्पत्ति का सम्बन्ध है, व्यक्तिगत कर्तृत्व शक्ति, सृजन शक्ति तथा व्यक्तित्व के विकास के लिए कोई गुंजाइश नहीं है और इनके अभाव में उन असंख्य चीजों की कीमत ही क्या, जिनका निर्माण समुदायवाद मजदूर वर्ग के लिए करना चाहता है? आखिर मनुष्य अपने व्यक्तित्व को ही सबसे मूल्यवान वस्तु समझता है और व्यक्तित्व का अर्थ है विचार स्वातंत्र्य तथा विकास स्वातंत्र्य। इसके विपरीत यदि उसे अन्य व्यक्ति के इशारों पर नाचना पड़ता है तो वह अपने व्यक्तित्व से, जो मनुष्य के नाते उसकी सबसे बड़ी सम्पत्ति है, हाथ धो बैठता है और समाज व्यवस्था का इससे बढ़कर दूसरा दोष क्या हो सकता है? आखिर व्यक्तियों के समूह का ही तो दूसरा नाम समाज है? जो सामाजिक पद्धति व्यक्तित्व को नष्ट करती है, वह अपने पैरों पर आप ही कुठाराघात करती है। परन्तु समुदायवाद इसका इलाज नहीं कर सकता।

समुदायवादियों ने पूँजीपतियों की निरंकुश लाभ-लिप्सा का विरोध किया, किन्तु उन्होंने स्वयं सामूहिक उत्पत्ति पूँजीवादियों से ज्यों की त्यों ले ली। सामूहिक उत्पत्ति है क्या? यही न कि कुछ बलवान लोग एक जगह बैठकर विचार करें और उत्पादन की योजना का ठेका ले लें और शेष लोग उनके हाथ के कठपुतले बने रहें? उत्पत्ति के केन्द्रीकरण का यही तो मतलब है। श्रमजीवी वर्ग अथवा जन-समूह को तो पूँजीवाद तथा समूहवाद, दोनों में एक सामान्य रोग से पीड़ित होना पड़ता है और वह यह कि मजदूर या तो बिना चीं-चपड़ किये काम करे अथवा भूखों मरे। इसके सिवा दूसरा चारा ही नहीं।

एक अचूक औषधि

२४. इस पर यह शंका की जा सकती है कि यदि प्रत्येक व्यक्ति को उसके इच्छानुसार वस्तु बनाने की आज्ञा दे दी जायगी तो घूम फिर कर पूँजीवाद आ जायगा। उसमें भी तो एक ही मनुष्य अपनी अर्थ-लोलुपता के द्वारा सारी उत्पत्ति पर अपना एकाधिकार कर लेता है। इसे तो हमें टालना ही होगा और सरलतापूर्वक टाला भी जा सकता है। हमें केवल बड़े पैमाने पर अपरिमित पैदावार करनेवाली बड़ी-बड़ी मशीनों को इस प्रकार छोटे पैमाने पर वस्तुएँ उत्पन्न करनेवाली बना देना होगा ताकि उनका चलाने-

वाला भी एक ही व्यक्ति हो और वह अपने पौरुष और परिश्रम से, बिना किसी अन्य व्यक्ति का सहारा लिये ही, क्रियाशील हो सके। उदाहरण के लिए हम सीने की मशीन को ले सकते हैं। इस तरह हमें सारे रोग की एक अचूक औषधि प्राप्त हो सकती है।

२५. इसके अतिरिक्त, हमें जनसमूह को स्वदेशी के आदर्शों की शिक्षा देनी होगी। इसके अनुसार वह अपना यह कर्तव्य समझेगा कि दूर-दूर से आये हुए माल की अपेक्षा अपने निकटतम पड़ोसी द्वारा बनाये हुए माल को प्रोत्साहन देना चाहिये। इसका मतलब यह है कि हमें गाँवों को स्वावलम्बी बनाने के प्राचीन आदर्श को कार्यरूप में परिणत करना होगा ताकि लोगों की प्राथमिक आवश्यकताएँ पर्याप्त रूप से गाँव के भीतर ही पूरी की जा सकें। इस प्रकार जब प्रत्येक ग्राम कम-से-कम अपनी मुख्य आवश्यकताएँ पूरी करने में स्वावलम्बी हो जाता है और जब अपनी तथा अपने निकटतम पड़ोसी की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए चीजें पैदा करना श्रमिक का ध्येय बन जाता है, तब गाँव में ही उसके माल के लिए निश्चित माँग हो जाने से, उसकी पैदावार नियन्त्रित हो जायगी और ऐसा हो जानेपर अत्युत्पादन का प्रश्न ही न खड़ा होगा और बाजार ढूँढने की समस्या भी न रहेगी। स्वदेशी के आदर्श पर चलने से खपत के लिए वैदेशिक बाजारों के लिए परेशानी दूर हो जायगी और फिर किसी भी व्यक्ति के लिए उत्पादन पर अपना एकाधिकार करने की आवश्यकता ही न रह जायेगी।

स्वदेशी का आदर्श और व्यवहार

२६. ऐसे जमाने में जबकि रेडियो, वायुयान तथा तार ने मनुष्यों को एक दूसरे के निकट सम्पर्क में ला दिया है तथा दुनिया में एक स्थान से दूसरे स्थान का अन्तर कम हो गया है संसार को टुकड़ियों में इस तरह बाँट देना कि जिससे पारस्परिक प्रभाव के आदान प्रदान का मार्ग ही अवरुद्ध हो जाय, सरीहन मूर्खता होगी। स्वदेशी के प्रचारकों का वास्तव में ऐसा ध्येय नहीं है। "खैरात घर से शुरू होती है"—इस लोकोक्ति से स्वदेशी का अर्थ प्रकट हो जाता है। हमारा प्रथम कर्तव्य अपने निकटतम पड़ोसियों के प्रति है और फिर धीरे-धीरे यह कर्तव्य वर्तुलाकार में विस्तृत होकर समस्त मानवता में व्याप्त हो जाता है। उदाहरण के लिए कुटुम्ब को ही लीजिये।

'वसुधैव कुटुम्बकम्' का स्वकुटुम्ब से ही श्रीगणेश

दूसरों की अपेक्षा उसका यह कर्तव्य अधिक है कि वह अपने कुटुम्ब का पालन पोषण करे। कुटुम्ब के प्रति अपना कर्तव्य पालन करने से ही वह समाज तथा मनुष्य के प्रति अपना कर्तव्य पूरा कर देता है।

२७. कुटुम्ब, समाज या मानव जाति को यदि वर्तुल की उपमा दी जाय, तो इन तीनों का केन्द्र एक ही बिन्दु पर होगा, अलग-अलग नहीं।

स्वदेशी का व्यावहारिक अर्थ

छोटे और बड़े वर्तुल में विरोध होना जरूरी नहीं है और जब हम छोटे वर्तुल की सेवा करते हैं, तो बड़े की सेवा अपने आप हो जाती है। हम इर्द-गिर्द रहनेवालों के प्रति कर्त्तव्य पालन करें—यही अर्थ हमको स्वदेशी का लगाना चाहिये।

२८. इस प्रकार विचार यह है कि गाँवों में से बाहर की दुनिया में जानेवाले धन का प्रवाह रोक कर उसे गाँवों की ओर मोड़ दिया जाय,

भारतीय ग्रामोद्योग का लक्ष्य

ताकि वे फिर से फूलें-फलें। पहले भारतीय गाँव अपनी जरूरत की सब चीजें खुद बना लेते थे और उनके रुई, रेशम, गलीचे, कम्बल और हाथी दाँत की कारीगरी आदि के कुछ उद्योग तो संसार के लिए ईर्ष्या की वस्तु थे। कोई वजह नहीं मालूम होती कि अब भारत निरा खेती करनेवाला देश ही क्यों रह जाय और इससे भी बुरी बात यह है कि सर्वसाधारण की दरिद्रता दिन-दिन बढ़ती जा रही है। इससे पता लगता है कि यदि ग्रामोद्योग इसी तरह अबाधित रूप में नष्ट होते रहे तो सर्वसाधारण का सफाया ही हो जायगा।

२९. हमने बार-बार दुहराया है कि किसी भी समाज के सामूहिक संघटन में उसके आर्थिक स्वार्थों का एक विशेष स्थान होता है। फलतः उन

समाज की बनावट में आर्थिक स्वार्थों का विशेष स्थान

स्वार्थों की सञ्चालन विधि से समाज की बनावट पर बहुत बड़ा असर पड़ता है। इस प्रकार हमने देखा है कि आर्थिक स्वार्थों की अपनी निश्चित प्रणाली द्वारा समाज की एक निश्चित रूपरेखा बन जाती है। यही कारण है कि संसार की सामाजिक बनावट ने प्रमुखतः दो निश्चित प्रकार का रूप धारण कर लिया है—शहरी और ग्राम्य। और साथ ही साथ हमने यह भी देखा है कि इन दोनों में से सर्वोपरि व्यवस्था कौन है।

अब हमें भारतीय समाज की इस ग्राम्य प्रधान व्यवस्था के आधारात्मक तत्व को समझ लेना अत्यन्त आवश्यक प्रतीत हो रहा है।

(स) भारतीय समाज का आधारात्मक तत्व

समाज की वर्तमान स्थिति

३०. घर, बाहर, देश-विदेश, जहाँ भी देखिये, लोग अपना स्वार्थ सिद्ध करना ही जीवन का परम लक्ष्य समझने लगे हैं। धोखादेही, चोरी, फरेब, मक्कारी या हत्या—जैसे भी सम्भव हो, अपनी बात बना लेना ही लोगों का ध्येय हो गया है। और नतीजा? जरा आँख उठाकर देखिये। खून की नदियाँ बह रही हैं, मुजरिम, बेगुनाह, सब उसी एक चक्की में पीसे जा रहे हैं। किसी की स्त्री ले भागना, किसी को लूट लेना या कत्ल कर देना, लाखों को निचोड़ कर स्वयं धन के गुलछर्रें उड़ाना या सारी कौम को गुलामी के शिकंजे में कसकर स्वयं फूलते-फलते जाना—यह है हमारी वर्तमान सभ्यता का चित्र, राजनीतिक स्वतंत्रता का सीधा-सा रास्ता। धर्म और नीति, त्याग और बलिदान—जो है, सब यही है। वर्तमान समय में सारा सामाजिक चक्र स्वार्थ की नारकीय लीलाओं का गर्हित पिण्ड बन गया है।

भारतीय सभ्यता अमिट है—क्यों?

३१. हमें तनिक भी विरोध नहीं कि समाज के सामूहिक सुख और समृद्धि के लिए उत्पादन चक्र को निश्चल, निर्विघ्न रूप से चलते रहना चाहिये। उसका व्यापार-व्यवहार एक जबर्दस्त आर्थिक स्तम्भ पर खड़ा होना चाहिये अन्यथा सारा जीवन क्रम ही छिन्न-भिन्न हो जायगा। जीवन पदार्थों की पूर्ति के लिए एक समुन्नत विधान की आवश्यकता है; यह एक ऐसी बात है, जिससे किसी भी जाति या समाज को अमिट अस्तित्व प्राप्त होता है। बैबिलॉन की सभ्यता ऐसी मिटी कि उसका कोई नामोनिशान भी नहीं। अफलातून का प्रजातन्त्र ऐतिहासिक विस्मृति बन चुका है। रोमन वैभव की गाथाएँ उपाख्यानों में ही शेष रह गयी हैं। परन्तु नित्य-निरन्तर विदेशियों के आक्रमण और हत्याकाण्ड का शिकार होते रहने पर भी, हूण से लेकर गजनी, गोरी, मुगल, अङ्गरेज, पोर्चगीज और फ्रांसीसियों की गुलामी में पड़े रहने पर भी भारतीय समाज का अस्तित्व कायम है। किसी भी समाज की अटल नींव का यह सबसे बड़ा प्रमाण है। उस गठन का विश्लेषण करने से ही हम भूत और

वर्तमान के सन्तुलन में सफल होंगे और यह विचार कर सकेंगे कि वास्तव में तब क्या था और अब किसकी आवश्यकता है।

३२. हमारे अर्वाचीन विचारकों का कहना है कि—"तब और अब में महान अन्तर है, तब हमारी आज जैसी समस्याएँ न थीं।" समस्याओं से इनका अर्थ है—तब आज की बढ़ती हुई आबादी का सवाल न था; इसलिए डाक्टरी गर्भपात, फ्रांसीसी औजारों, अंग्रेजी दवाइयों द्वारा जनन निग्रह को मानव-धर्म का पहला नियम बना कर वे रोटी और जीवन पदार्थों के प्रश्न को हल किया चाहते हैं। मतलब यह कि रोटी के आगे मानवता का मूल्य नहीं; जो बातें तब पाप समझी जाती थीं, अब वही समाज के धर्म में शामिल की जाती हैं, उन्हें हमारे आर्थिक उद्धार का साधन बनाया जा रहा है। परन्तु आबादी के इन महापण्डितों के पास किताबों या व्यावसायिक केन्द्रों की सैर के सिवा कोई विशेष साधन नहीं है। कलकत्ता या बम्बई की तंग गलियों में कुर्सी पर बैठे-बैठे, मोटर या रेल की तेज सवारियों में उड़ते हुए उन्हें खब्त सवार हो गया है कि सारी दुनिया ठसाठस भर गयी है, चलने-फिरने को भी जगह नहीं। भिन्न-भिन्न जातियों या भिन्न-भिन्न भागों में पहुँच कर उन्होंने कोई समस्या का साक्षात् अध्ययन नहीं किया, फिर भी, वे शोर मचा रहे हैं कि दुनिया की आबादी बे-शुमार बढ़ गयी है; इसलिए गर्भाधान की फर्जाहत को खतम करके जनसंख्या को फौरन घटा देना चाहिये। इस तरह वे समाज की सारी मान्यताओं को उलट-पुलट देना चाहते हैं।

वर्तमान समस्याओं का सामाजिक मान्यताओं पर घातक परिणाम

३३. अर्थशास्त्र के विद्वान् डा० ग्रेगरी का भारत की आबादी के बारे में ठीक यही मत है :—

"जनाधिक्य का भय भारतीयों को उसी प्रकार परेशान कर रहा है जैसे जनक्षय का भय इंग्लैण्ड को। परन्तु प्रत्यक्ष बातें भी वैज्ञानिक दृष्टि से महत्त्वहीन हो सकती हैं। यह ठीक है कि यदि पैदाइश मृत्यु से अधिक हो, तो जनाधिक्य का भय होगा, परन्तु भिन्न-भिन्न जातियों में, भिन्न-भिन्न भागों में, पैदाइश और मृत्यु का अनुपात क्या है, इसके न तो आँकड़े हैं, और न कुछ साधिकार कहा जा सकता है। देखा जाय

जनाधिक्य—डा० ग्रेगरी का मत

तो वास्तव में पैदाइश की रफ्तार जरूरत से ज्यादा नहीं और लोगों ने व्यर्थ ही भय को विराट् रूप दे दिया है।"

अमेरिका के कृषि विभाग के प्रसिद्ध वैज्ञानिक, भू-तत्ववेत्ता, डा० चार्ल्स ई० केलॉग, लिखते हैं—"आज यह हर्गिज समस्या नहीं है कि संसार की बढ़ती हुई आबादी के लिए धरती की उत्पादन शक्ति बढ़ायी जाये, बल्कि समस्या यह है कि सामाजिक संस्थाओं द्वारा बेकार जमीनों में उत्पत्ति की जाये। नयी जमीनों की उत्पत्ति और पुरानी जमीनों की अधिक पैदावार से इतनी पैदावार हो सकती है कि जो हमारी जरूरत से बहुत ज्यादा होगी।"

डा० केलॉग का मत

यह अभिमत अमेरिका को लेकर खड़ा होता है। संसार के अन्य अनेक देशों के प्रसंग में तो यह कल्पनातीत पुष्टि धारण करता है। भारत, रूस, दक्षिणी अमेरिका, अफ्रीका, चीन तथा अन्य एशियायी देशों के सम्बन्ध में तो यह विशेष रूप से लागू होता है।

इन अर्थशास्त्रीय तथा वैज्ञानिक सम्मतियों को देख कर जनन-निग्रह के आधार पर नये समाज की पुकार करनेवालों को सावधान हो जाना चाहिये।

३४. हमारा मतलब यह नहीं कि बिना रोक-टोक बच्चे पैदा करते जाइये। पहले तो यह स्मरण रहना चाहिये कि प्रकृति स्वतः किसी बात को हद से आगे नहीं बढ़ने देती और दूसरे यदि हम प्राकृतिक नियमों का अनुसरण करें तो हमें बनावटी तरीकों का शिकार न होना पड़ेगा। एक जनन निग्रह की ही बात लें। हिन्दू शास्त्र ने हजारों वर्षों के अनुसन्धान और मनन के पश्चात् निश्चय करके मानव जीवन को चार भागों में बाँट दिया था:—(१) ब्रह्मचर्य्य (२) गार्हस्थ्य (३) वानप्रस्थ (४) संन्यास। आप देखेंगे कि सन्तानोत्पत्ति का अधिकार केवल गृहस्थ को ही था और वह भी यम-नियम और संयम के साथ। कैसा अच्छा विधान था, कैसा सुन्दर नियमन! जनन निग्रह का प्रश्न ही नहीं उठ सकता था। क्या आप कहेंगे कि आबादी की बाढ़ रोकने का इसमें इलाज नहीं? झूठे यह चिल्लाने से क्या लाभ कि तब आज जैसी समस्याएँ न थीं? कहिये तब की समस्याएँ थीं क्या? क्या आपने खोज और अध्ययन किया है या रात में पड़े-पड़े किसी

जनन निग्रह की प्राकृतिक समाज व्यवस्था

उजड़े हुए भारत का स्वप्न देखते रहे हैं ? यहाँ हम केवल दो-चार उदाहरणों से आपका ध्यान इस बात की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं कि किसी समाज की दीवार विज्ञान और अर्थशास्त्र की एक अटल नींव पर क्योंकर खड़ी हो सकती है।

३५. अस्तु, पहले आज का सा संसारव्यापी 'ट्रान्सपोर्ट और कम्युनिकेशन' (सवारी और सन्देश) का विधान न था। परन्तु कुबेर और राम के 'पुष्पक विमान', कृष्ण और अर्जुन के 'रथ', शल्य का 'वायुयान' कैकय देश की कुमारी महारानी कैकेयी का अयोध्या के राजा से विवाह, इत्यादि कुछ ऐसी बातें हैं जिनसे सिद्ध होता है कि हम सवारियों के अच्छे से अच्छे तरीके जानते थे। महल में धृतराष्ट्र के पास बैठे बैठे संजय ने कुरुक्षेत्र का दृश्य देखा था—ऐसा क्योंकर सम्भव हुआ ? वेद और ब्राह्मणों में यन्त्रों का सलक्षण वर्णन है। महाभारत में एक से एक शस्त्रों का विस्तृत उल्लेख है। वैभवशाली अट्टालिकाओं और सुसज्ज नगरों का चारों ओर चित्र मिलता है। ताजमहल की इंजीनियरिंग या हजारों मन के पत्थर बिना क्रेन या मशीन के सैकड़ों फुट ऊपर पहुँचा देना कैसे सम्भव हुआ ? तो क्या इतने पर भी हम कह सकते हैं कि हम बिलकुल यन्त्रहीन, असभ्य और जंगली थे ? हो नहीं सकता। और न तो हम यही कहते हैं कि हम यन्त्रहीन अवस्था के भक्त हैं। चर्खा, कर्घा, बिलोनी, दंतमंजन के लिए दातन और तो क्या, स्वयं हमारा यह शरीर ही एक यन्त्र है।[1] फिर बात क्या है ? बात केवल इतनी सी है कि अब यन्त्रों का लक्ष्य केवल उत्पादन रह गया है न कि जीवन सुविधा। परिणामतः मशीनें बड़े-बड़े कारखानों में केन्द्रित हो गयी हैं और हम उनके चारों ओर एकत्र होकर समूहवाद को जन्म देने लगे हैं। समूहवाद का अर्थ है व्यक्तिवाद और व्यक्तित्व का ह्रास। बस ! भेद और संघर्ष यहीं से उत्पन्न होता है। हमारे समाजशास्त्र में व्यक्ति को प्रथम स्थान था, जो समूहवाद का अन्तिम ध्येय है, और जो हमारे धर्म और समाजशास्त्र में कूट-कूट कर भरा है। आप ही कहें, हमने देश और काल पर विजय प्राप्त करके कौन सा सुख पा लिया है ? हम तो समझते हैं सुख के बजाय उलटे दुःख की सृष्टि हुई है।[2] चारों ओर अधर्म और अनाचार, पाप

(मार्जिन शीर्षक: प्राचीन सभ्यता एक दृष्टि)

१. गांधी जी, Young India १३।११।२४ और, १७।३।२७

2. I whole-heartedly detest this mad desire to destroy time and distance, to increase animal (See P. 138)

और हत्या का साम्राज्य फैल गया है। यह केवल बौद्धिक बहस नहीं, घटनाएँ सिद्ध कर रही हैं कि हम गलत रास्ते पर जा पड़े हैं और वहीं से घबड़ाये हुए रोगी के समान उलटी-सुलटी बातें सोचने लगे हैं। इस गलती का सबूत दो एक बातों से मिल जायगा। लार्ड लिनलिथगो ने कृषि सुधार और गो रक्षा की दृष्टि से डेयरी फार्म और साँड़ों का आन्दोलन उठाया। यह आन्दोलन सरकारी कोष और प्रोत्साहन के बल पर चलाया गया जो मरुभूमि में ओस की एक बूँद के समान था। हिन्दूशास्त्र में साँड़ छोड़ना प्रत्येक व्यक्ति का धर्म अर्थात् वैयक्तिक कर्त्तव्य था; यह साँड़ समाज की सम्पत्ति[1] बनकर प्रत्येक व्यक्ति के सामाजिक कर्त्तव्यों द्वारा कीर्तिमान सुरक्षा को प्राप्त होते थे। इस प्रकार व्यक्ति के स्वतन्त्र कार्य से समाज की सामूहिक आवश्यकता की सहज परन्तु निश्चित रूप से पूर्ति होती थी। इसी प्रकार अन्य हजारों बातें थीं जिनके लिए बड़ी-बड़ी सेनाएँ और पुलिस, शासन-विधान और 'ताजीरात हिन्द' की ईजाद करनी पड़ रही है, 'नेशनल प्लैनिंग कॅमिटी' और अर्थमन्त्री, सभी परेशान हैं; फिर भी पेचीदगियाँ बढ़ती जा रही हैं। इस संज्ञाहीन दशा को देख कर कहना पड़ता है कि हमारा बाह्य और आन्तरिक जीवन एक दूसरे से अलग हो गया है, जिसका प्राचीन समाजशास्त्रियों ने सुन्दर सामञ्जस्य कर रखा था। जब तक हम एक बार फिर उसी को नहीं अपनाते, समूहवाद, नाजी-वाद, पूँजीवाद, अर्थात् सारे वाद व्यर्थवाद सिद्ध होंगे, वैयक्तिक स्वतन्त्रता कहीं भी न मिलेगी; परिणामतः अनाचार और दमन का विस्तार होगा।

समाज के आर्थिक जीवन का उत्तर-दायित्व व्यक्ति के नैतिक जीवन पर अवलम्बित है

३६. इस संक्षिप्त उल्लेख से हम केवल यही सिद्ध करना चाहते हैं कि आप इस गलतफहमी को छोड़ दें कि हमारे सामने तब आज सी आर्थिक समस्याएँ न थीं या हमारे समाज की नींव अर्थहीन आधार पर रखी गयी थी। यह भी नहीं कि तब यन्त्र न थे; यन्त्र थे पर मनुष्याधीन, न कि मनुष्य ही उनके अधीन हो गया था। इसी प्रकार आज भी, वर्तमान युग और परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए, यदि आप बाह्य और आन्तरिक जीवन का सामञ्जस्य नहीं करते, तो लाख करने पर भी

---

appetites and go to the ends of earth in search of their satisfaction.—गाँधीजी, यंग इंडिया १७-३-२७।

१. प्रिंस क्रोपॉट्किन ने अपने 'Mutual Aid' में फ्रांस के किसी 'एस' समुदाय का उल्लेख करते हुए बताया है कि वहाँ—"साँड़ समस्त समुदाय की सम्पत्ति माने जाते हैं।"

उद्धार असम्भव है; जब तक आर्थिक निर्माण का उत्तरदायित्व हमारे नैतिक जीवन पर नहीं, 'प्लैनिंग कॅमिटी' के प्रस्ताव या समूहवादी सुधार, पुलिस, सेना या 'नाजीरान हिन्द' के भरोसे हम नवभारत की कल्पना भी नहीं कर सकते। विकराल बेकारी की दुरूह पीड़ाएँ समाज को नष्ट-भ्रष्ट कर देंगी।

सारांश, समाज के आर्थिक जीवन का उत्तरदायित्व व्यक्ति के नैतिक जीवन पर ही अवलम्बित होना चाहिये अन्यथा उसके बाह्य और आन्तरिक जीवन में सामञ्जस्य कदापि स्थापित न हो सकेगा और परिणामतः सारा सामाजिक जाल क्षत-विक्षत हो उठेगा। भारतीय समाज रचना की यही एक मुख्य विशेषता रही है और आज भी समाज की पुनर्रचना में उन सिद्धान्तों से बहुत कुछ प्रेरणा प्राप्त की जा सकती है।

(द) सहयोग या संघर्ष

३७. समाज की बनावट और उसके आधारात्मक तत्व को समझ लेने के पश्चात् अब हमें यह भी समझ लेना चाहिये कि प्राच्य या पाश्चात्य, मनुष्य के सामूहिक जीवन का प्रेरणात्मक सूत्र क्या है। इस सम्बन्ध में हमारी दृष्टि सर्वप्रथम संसार की परिवर्तनीयता पर जाती है।

यह एक अति सुबोध बात है कि यह जगत् परिवर्तनशील है, परन्तु प्रश्न यह होता है कि यह परिवर्तन तात्त्विक है या उपकरणगत? और है भी यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न। मार्क्सवाद की प्रत्येक प्रचलित विचारधारा इसी द्वन्द्वमान तर्क-वितर्क को लेकर खड़ी होती है। वास्तव में संसार के सम्मुख यही दो मुख्य प्रश्न हैं—अन्तर्द्वन्द्व अथवा सहयोग। अवश्य ही वस्तुओं (भारतीय दर्शन की भाषा में वस्तुओं के रूप तथा प्रकृति) में नित्य जो परिवर्तन अथवा विकास हो रहा है, उसके भीतर अन्तर्द्वन्द्व कार्य कर रहा है; पर यह अन्तर्द्वन्द्व तात्त्विक नहीं है, उपकरणगत है। यह वस्तुओं की प्रकृति में है। यह पदार्थों में है। सब पदार्थों के मूल में जो तत्त्व है वह एक है, वह अव्यक्त और अरूप है। यदि मार्क्स दर्शन के तात्त्विक विरोध को हम मान लें तो पूर्ण सामञ्जस्य की किसी भी अवस्था की कल्पना असम्भव हो जायगी। तात्त्विक विरोध को कम भले ही किया जा सके, निर्मूल नहीं किया जा सकता। आश्चर्य यह है कि इस तात्त्विक अन्तर्द्वन्द्व को

जगत की परिवर्तनीयता — तात्त्विक या उपकरणगत?

मानकर भी मार्क्सवादी श्रेणीविहीन समाज का स्वप्न देखते हैं। जब मार्क्स के 'डायलेक्टिक्स' (अन्तर्द्वन्द्व) की धारणा को हम मान लेते हैं तो यह भी मानना पड़ेगा कि समाज के मौलिक अन्तर्द्वन्द्व का भी अन्त न होगा। फिर यह कहना बिलकुल गलत है कि एक समय श्रेणीविहीन समाज की स्थापना होगी।[१]

२८. "प्रत्येक प्रकार के प्राणियों के जीवन में अन्तर्संघर्ष चलता है और उसी में उन्नति का मूल निहित है—ऐसा मान लेना किसी ऐसी बात को मान लेना है जो न तो अब तक सिद्ध हुई है और न तो प्रत्यक्ष अवलोकन द्वारा उसकी पुष्टि ही हुई है।[२] और यदि यह बात नहीं सिद्ध हुई है या प्रत्यक्ष अवलोकन द्वारा उसकी पुष्टि नहीं हुई है तो हम कहेंगे कि मार्क्स द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्वात्मक विकास के सिद्धान्त का एक अङ्ग खण्डित है। खण्डित सिद्धान्त कभी पूर्ण अर्थात्

द्वन्द्वात्मक सिद्धांत

मान्य सिद्धान्त नहीं हो सकता। यदि विकास के लिए अन्तर्द्वन्द्व कोई प्रमुख महत्त्व नहीं रखता तो सारे द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त का ही महत्त्व क्षीण हो जाता है। इस बात पर तनिक सूक्ष्म दृष्टि डालिये,—एक पड़ोसी के घर में आग लगी, लोग बिना बुलाये बुझाने दौड़े। यह स्वयम्भू प्रेरणा प्रकृति की स्वाभाविक सहयोग भावना है।[३] जुगाली करनेवाले पशुओं या घोड़ों का भेड़ियों से मुकाबिला करने के लिए गोलाकार बनाना, भेड़ियों का झुण्ड बनाकर शिकार में एक साथ निकलना,[४] बकरी के बच्चों और मेमनों का एक साथ खेलना, अनेक पक्षियों का साथ-साथ दिन बिताना, एक विस्तृत भू-भाग में फैले हुए हजारों लाखों हिरनों का प्रवास के काल में एक स्थान पर एकत्र होना—इत्यादि सिद्ध करता है कि मनुष्य और पशु, दोनों ने सहयोग और सहायता से उत्पन्न होनेवाली शक्ति का परिचय पा लिया है जिससे ये सामाजिक जीवन में आनन्द का अनुभव करते हैं।[५] इस

प्रकार सहयोग की भावना एक अनुभूत सत्य का आधार लेकर प्राणी मात्र का स्वभावसिद्ध गुण बन जाता है और पारस्परिक सहयोग का यही स्वभावसिद्ध कानून, न कि मार्क्स के अन्तर्द्वन्द्व की उत्पीड़ाएँ, सृष्टि के विकास का एक क्रियात्मक कारण बनता है। पारस्परिक सहयोग की यह शाश्वत भावना प्राणियों में सदा-सर्वदा से चली आयी है। डारविन ने भी स्वीकार किया है कि "एक प्राणी का जीवन दूसरे प्राणी पर निर्भर है, सन्तति का उत्पत्ति और सुरक्षा एक दूसरे के सहारे ही वृद्धिमान स्थिति को प्राप्त होती है।"[1] जीवन या संघर्ष के क्रान्तिकारी सिद्धान्तों के इसी विश्व विख्यात प्रणेता ने आगे चलकर अपने "दि डिसेण्ट आव् मेन" नामक पुस्तक में सिद्ध किया है कि असंख्य प्राणी समूहों में पृथक्-पृथक् प्राणियों का परस्पर द्वन्द्व मिट जाता है, संघर्ष के स्थान में सहयोग का अस्तित्व स्थापित होता है और परिणामतः उनका बौद्धिक और नैतिक विकास आरम्भ होता है। प्राणियों के अस्तित्वमान होने में यही विकास क्रम सहायक होता है। डारविन ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि ऐसे समुदायों में अधिक बलवान या चतुर को नहीं, समाज हित के लिए पोषक शक्तियों के संगठनकर्ता को ही योग्यतम (Fittest) गिना जाता है। जिस समुदाय में ऐसे प्राणियों की बहुतायत होगी वही उन्नतिशील और फलीभूत होगा।

इतना सब होते हुए भी डारविन प्रभृति प्रकृतिवादियों ने जो सैद्धान्तिक निष्कर्ष निकाला है वह यह है कि सृष्टि की उन्नति का मूल संघर्ष अथवा अन्तर्द्वन्द्व में ही निहित है। इन प्रकृतिवादियों के इस गलत निष्कर्ष ने ही विश्व की विचारधारा में एक गलत दृष्टिकोण की स्थापना करके मनुष्य को दिशा-च्युत करने में बहुत बड़ा भाग लिया है।

सृष्टि का विकास संघर्ष से नहीं, सहयोग से ही सम्भव है

३९. आप ध्यानपूर्वक विचार कीजिये। प्रागैतिहासिक युगों में हम एक से एक बलशाली एवं विशालकाय तथा जीवन संघर्ष में श्रेष्ठ सामर्थ्य रखनेवाले जीवधारियों का हाल पढ़ते हैं। वे चींटी और चूहों के समान भी न टिक सके। उनका नाम और निशान भी मिट चुका है। आज भी गोरिल्ला और शेर बब्बर भूतल से विलुप्त होते जा रहे हैं। क्यों? क्योंकि ये संघर्ष प्रधान जीव हैं, सहयोग-प्रधान नहीं। इन प्रत्यक्ष सत्यों को देखकर हम

1. "Origin of Species by Darwin.

निर्विरोध रूप से इसी लक्ष्य पर पहुँचते हैं कि सृष्टि का विकास संघर्ष द्वारा नहीं, सहयोग द्वारा ही सम्भव हुआ है।

योग्यतम (Fittest) कौन ?

४०. हम जब ध्यानपूर्वक देखते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि सब से योग्य वही होते हैं पारस्परिक सहयोग जिनका जीवन क्रम बन जाता है। इन्हीं के लिए जीवन संघर्ष में विजय की अधिकतम सम्भावनाएँ होती हैं। अपनी-अपनी जाति में वे शारीरिक अथवा बौद्धिक उन्नति की सबसे ऊँची सीढ़ी पर पहुँच जाते हैं। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि विकास के लिए पारस्परिक सहयोग न कि अन्तर्द्वन्द्व सर्वोपरि सत्य है।

सहयोग प्राणी समाज का प्राकृतिक गुण है

४१. सन् १८८० ई० में प्रिन्स क्रोपॉट्किन ने अपने एक भाषण में कहा था—"मैं जीवन-संघर्ष के अस्तित्व से इनकार नहीं करता परन्तु मेरा कहना है कि पारस्परिक सहयोग द्वारा प्राणी संसार तथा मानव समाज का कहीं अधिक विकास होता है।......सब सेन्द्रिय प्राणियों की दो मुख्य आवश्यकताएँ होती हैं। एक तो यह कि उनको खाने को मिले, दूसरी यह कि वे अपनी जातियों की वृद्धि करें। पहली बात उनको पारस्परिक संघर्ष की ओर ले जाती है, दूसरी बात उनको पारस्परिक संयोग और सहयोग पर बाध्य करती है। परन्तु सेन्द्रिय प्राणियों के विकास के लिए अर्थात् उनकी शारीरिक घटा-बढ़ी के लिए पारस्परिक संघर्ष की अपेक्षा पारस्परिक सहयोग अधिक महत्त्व रखता है। भोजन के लिए भी पारस्परिक संघर्ष को एक निश्चित नियम मान लेना गलती होगी! यथार्थतः यहाँ भी समस्या का हल पारस्परिक सहयोग द्वारा ही सम्भव होता है। जब हम जीवन संघर्ष के प्रत्यक्ष और व्यापक, दोनों पहलुओं का अध्ययन करते हैं तो सर्वप्रथम पारस्परिक सहयोग के ही उदाहरण बहुतायत से मिलते हैं जो नस्ल के पालन-पोषण में ही नहीं व्यक्ति के रक्षण और उसके लिए आवश्यक खाद्य सामग्री जुटाने के लिए होते हैं।[१] कहने का अभिप्राय यह कि सहयोग तथा सामाजिकता, न कि

---

१. जीव-जन्तु, कीड़े-मकोड़े, पशु और मनुष्य में एक समुदाय के प्राणियों का आपस में, तथा एक समुदाय के प्राणियों का दूसरे समुदाय के प्राणियों के साथ सहयोग के उदाहरण देखने के लिए "संघर्ष या सहयोग" देखिये।

अन्तर्द्वन्द्व, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष, दोनों रूपों से, सृष्टि के विकास का मुख्य कारण है।

४२. परन्तु कुछ विद्वानों का मत है कि व्यक्तियों के स्वार्थ भिन्न हैं। भिन्न ही नहीं, परस्पर विरोधी भी हैं। इसलिए उनके आचरण में भी वैषम्य होता है।[1] भले ही देखने में बात ऐसी ही हो परन्तु इसे कोई प्राकृतिक सिद्धान्त नहीं माना जा सकता। इसका खण्डन स्वतः उन्हीं के अगले वाक्य से हो जाता है—"जो परिस्थिति को ज्यों की त्यों रखना चाहते हैं और जो परिस्थिति को बदलना चाहते हैं, दोनों के दृष्टिकोण में अन्तर है।"[2] भले ही सम्प्रदाय, समुदाय, जाति या समूह के स्वार्थों में भेद नजर आ रहा है परन्तु व्यक्ति-व्यक्ति के स्वार्थ में तात्त्विक भेद होने के कारण सबका एक सम्मिलित उद्देश्य कैसे सम्भव हो सकता है? यदि व्यक्ति के स्वार्थ में भेद है तो वैषम्य व्यापक और अमिट होगा और अमिट मतभेदों में साम्य स्थापित हो ही नहीं सकता। या यों कि लोग आपस में लड़ने के सिवा मिलकर कभी समाज बना ही नहीं सकते। तनिक ध्यान से विचारिये—एक गाँव या प्रान्त में गर्मी अधिक पड़ती है, वर्षा खूब होती है, चावल ही वहाँ की उपज है। वहाँ के प्रत्येक व्यक्ति की रहन-सहन गर्मी और वर्षा के अनुपात से और उसका खाद्य चावल होगा। इसके विरुद्ध स्वभाव वाले को उस देश से कहीं अन्यत्र का होना होगा और रहना भी अन्यत्र ही होगा, अन्यथा वह स्वतः क्षीण हो जायगा; कम से कम, जीवन में तो वह स्वतंत्र प्रगति प्राप्त कर ही नहीं सकता। इसी बात को यों कहा जायगा कि उस प्रदेश के समस्त प्राणियों का भोजन और उनकी रहन-सहन एक सी होगी और इसी तद्रूपता में उनका स्वार्थ सिद्ध होगा अर्थात् किसी स्थान या प्रदेश के निवासियों का सामूहिक स्वार्थ और परिणामतः उनकी रहन-सहन, उनके आहार-व्यवहार आचार-विचार तथा जीवन के मूल लक्ष्य एक समान होंगे। इस प्रकार सामूहिक, जातीय, प्रादेशिक भेद हो सकते हैं—व्यक्ति-व्यक्ति में नहीं। मतलब यह कि जीवन संघर्ष हो सकता है, अन्तर्द्वन्द्व नहीं। यथार्थतः सामूहिक विकास के लिए अन्तर्द्वन्द्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती। जो

जीवन संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व

१. समाजवाद, प्रथम संस्करण पृ० २०, श्री सम्पूर्णानन्द जी।

२. समाजवाद प्रथम संस्करण पृ० २०, श्री सम्पूर्णानन्द जी।

कुछ प्राकृतिक वैषम्य होता है वह केवल उसी प्रकार जैसे किसी वृक्ष की विभिन्न आकार-प्रकार वाली पत्तियाँ सामान्यतः एक सी ही होती हैं और उनकी इस विषमता अथवा विभिन्नता से ही पत्तियों की स्थिति दृष्टिगोचर होती है अथवा जैसे स्त्री-पुरुष के आकार-प्रकार और भेद से ही दोनों का पृथक्-पृथक् बोध होता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि स्त्री-पुरुष एक दूसरे के पूरक न होकर एक दूसरे के विरोधी हैं।

४३. आज समुदायों में आन्तरिक संघर्ष छिड़ा हुआ नजर आ रहा है। परन्तु इसका कारण ढूँढ़ने के लिए इसके रूप को ही समझना होगा।

समुदाय और अन्तसंघर्ष

यह संघर्ष धनवान और दरिद्रों का, समर्थ और असमर्थों का है या यों कहिये कि एक कृत्रिम अवस्था जो उत्पन्न हो गयी है उसे मिटाकर लोग व्यक्ति-व्यक्ति की स्वाभाविक तद्रूपता को पुनः स्थापित कर देना चाहते हैं। कहने का अभिप्राय, आन्तरिक संघर्ष समुदाय को उत्पीड़ित कर देता है और उसे मिटाकर एक स्वाभाविक सामञ्जस्य के लिए लोग प्रकृतितः बाध्य हो जाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि जगत का संचालन अन्तर्द्वन्द्व से नहीं, सहयोगी और सामाजिक प्रेरणाओं से ही होता है। इस सम्बन्ध में दूसरी परन्तु पहली से अधिक महत्त्व की बात यह है कि मानव जगत की वर्तमान दशा कृत्रिम है और परिणामतः एक कृत्रिम स्वार्थ की भावना ने लोगों के मन में घर कर लिया है। अतएव यदि व्यक्ति-व्यक्ति के आचार-विचार में भेद दिखलाई पड़े तो कोई आश्चर्य नहीं। यह कृत्रिम अवस्था क्यों और क्योंकर उत्पन्न हुई जहाँ पहुँच कर पारस्परिक सहयोग के स्वाभाविक प्रामुख्य के स्थान में एक कृत्रिम अन्तर्द्वन्द्व को अवसर प्राप्त हुआ? यह है कलयुग। इसके पहले यदि पारस्परिक संघर्ष था तो केवल उसी प्रकार जैसे एक पिता के संरक्षण में, एक ही घर में, एक ही उद्देश्य लेकर दो भाइयों की, अथवा पति-पत्नी की, या एक ही मुँह में अनेक दाँतों की टक्कर। परन्तु इन टक्करों को लेकर सारे मनुष्य स्वभाव को अन्तर्द्वन्द्व का रूप दे देना उचित नहीं दीखता। इतिहास के अगाध सागर से, दारा, औरंगजेब, शाहजहाँ अथवा कौरव-पाण्डवों के कुछ इने-गिने दृष्टान्तों को लेकर मानव-समाज की प्रेरणा स्वरूप व्यापक सहयोग भावना पर अन्तर्द्वन्द्व की वैसे ही झूठी चादर चढ़ाना है जैसे हिन्दुस्तान की ही हवा, मिट्टी और खून से बने हुए लोगों को हिन्दुस्तान से भिन्न, हिन्दुस्तान के बाहर का, एक दूसरा पाकिस्तानी राष्ट्र बताना।

फिर रामराज और वर्तमान कलयुग के मध्य के काल में भी तो संघर्ष और वैषम्य था, उसका कारण ? उसका कारण सुख और वैभव में पड़े हुए समाज का अपनी ही संचालन शक्ति से उदासीन हो जाना था, जिससे स्वच्छन्दता को अवसर मिला और आगे बढ़ जाने की लालसा में बलवानों ने अपने समूह के दुर्बल लोगों को पीछे छोड़ कर या स्थितिवश दबा कर अपना झण्डा बुलन्द किया। फलतः सामन्तों की सृष्टि हुई या यों कि समाज धीरे-धीरे राजा और प्रजा में, शासक और शासितों में, स्वामी और दास में बँट गया। स्वार्थ का कुचक्र चला। राजा या सरकार की सत्ता स्थापित हुई। उसने अपना शासनाधिकार भी तीव्र किया और समाज की स्वयम्भू नियमन और नियन्त्रण शक्ति में हस्तक्षेप होने लगा। इससे समाज या तो अपनी नियामक शक्ति को सीमित समझने लगा और समय-समय पर अपने ही अवयवों के झगड़े के निपटारे के लिए राजा का मुँह देखने लगा, या इस गुरुतर उत्तरदायित्व से ही वह विमुख हो बैठा क्योंकि राजा ने समाज के निर्णय को या तो ठुकरा दिया या उसका मान रखते हुए भी उस पर अपनी छाप लगाना चाहा। इस प्रकार स्वार्थी लोगों को समाज की उपेक्षा का साहस और एक अप्राकृतिक प्रोत्साहन प्राप्त हुआ परन्तु जहाँ भी समाज की व्यवस्थापक शक्ति अब भी कुछ शेष रही (जैसे वर्ण विधान में) वहाँ अधिकार तो चिपट कर पकड़ लिये गये परन्तु अधिकारियों के कर्त्तव्य जाते रहे। ब्राह्मण समाज का संचालक तो बना रहा परन्तु ब्राह्मण पद के योग्य बनने के लिए उसे क्या करना था, वह भूल गया। उसने इस प्रकार निराधार, स्वच्छन्द होकर अपने दण्ड का प्रयोग किया जिसके कारण विषमता और भी घातक होती गयी। परिमाणतः प्रत्येक ने अपनी-अपनी स्थिति को समाज से स्वतन्त्र होकर सुदृढ़ बनाने की चेष्टा की। अपनी-अपनी का अर्थ था बपौती प्रथा के एक अनुचित स्वरूप का उदय होना जिसका वैयक्तिक स्वार्थों को सुदृढ़ बनाने में सर्वथा अनुचित रूप से प्रयोग किया गया। फलतः सामाजिक वैषम्य बे-लगाम होकर रूप विस्तार करने लगा।

समाज की नियामक सत्ता; समाज की निश्चेष्टा; समाज तंत्र में सरकारी हस्तक्षेप: अधिकार और कर्त्तव्य; बपौती का अनुचित रूप

४४. परन्तु जिस प्रकार हवा में तूफान के कारण, सागर में भँवर

के उपरान्त, जल पुनः अपने धरातल में आ जाता है, उसी प्रकार लोग कृत्रिम अवस्था से ऊबकर उसे सम करने पर कटिबद्ध हो जाते हैं। भगवान् कृष्ण ने समीकरण की इसी प्राकृतिक प्रेरणा शक्ति की ओर संकेत करते हुए कहा था—

समाज में समीकरण की प्राकृतिक प्रेरणा—कृष्ण और गांधी

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।......

इतिहास इसका स्वतः प्रमाण है। महाभारत इसी वैषम्य के मूलोच्छेदन का एक प्रयास मात्र था। भगवान बुद्ध, ईसा, हजरत मुहम्मद—सब उसी कृत्रिम वैषम्य के मूलोच्छेदन पर आरूढ़ हुए थे। महात्मा गांधी उसी प्रकार अवतरित हुए और हम प्रमाण पूर्वक यह कह सकते हैं कि इस परिवर्तनशील और विकासमान सृष्टि का गतिक्रम मार्क्स के अन्तर्द्वन्द्व से नहीं, गांधी के अनुसार जगत् की स्वभावसिद्ध सहयोग भावना से ही संचालित होता है। अन्तर्संघर्ष का जो भी रूप दिखाई पड़ता है वह सर्वथा कृत्रिम और विकास-क्रम के लिए उपेक्षणीय है।

४५. हम यह सिद्ध कर चुके हैं कि सृष्टि का विकास एक प्राकृतिक और स्वयम्भू सहयोग भावना के द्वारा ही सम्भव होता है। उसी को लेकर समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपनी सम्पुष्ट स्थिति का निर्माण करते हुए एक सम्पन्न समाज और सबल राष्ट्र के सामूहिक अस्तित्व को सुखद रीति से सम्भव बनाता है। समाजशास्त्र के व्यावहारिक स्वरूप पर दृष्टि डालने से भी यह बात सिद्ध होती है कि समाज उसी समय बनता है जब भिन्न-भिन्न गिरोह परस्पर सहयोग के साथ काम शुरू करते हैं। बहुत से लोगों का आपस में मिलकर एक दल हो जाने पर वैयक्तिक स्वतन्त्रता और स्वच्छन्दता का नाश हो जाता है और एक साथ रहनेवालों को पास-पड़ोसियों की सुविधा के ध्यान से अपनी जाति को सीमाबद्ध करके चलना पड़ता है—यहाँ घातक स्वच्छन्दता के स्थान में एक परिणामजनक सहयोग का उद्भव होता है। सहयोग होते ही पारस्परिक निर्भरता का श्रीगणेश होता है। जुलाहे का बढ़ई के विना, शिकारी का लुहार विना, ब्राह्मण का क्षत्रिय और वैश्य बिना, काम अटकने लगता है और जब यह ऐक्य सम्पूर्ण हो जाता है तब हमारा समाज भी पूर्णता को प्राप्त होता है। परन्तु केवल सहयोग कह देने से ही बात पूरी नहीं होती।

सहयोग और समाज

सहयोग का नियमित और निश्चित रूप से उपयोग करने के लिए, ताकि कोई स्वच्छन्द प्राणी समाज-चक्र में बाधा न डाल दे, संघटन की आवश्यकता होती है।

४६. सहयोग तीन प्रकार का होता है: प्रथम वह जो प्रारम्भिक दशा में वैयक्तिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए, एक दूसरे की सहायता के विचार से स्वतः हो जाता है। दूसरा—जब संगठित हो जाने के उपरान्त, समाज दण्ड के भय से लोग सहयोग करने के लिए बाध्य होते हैं। तीसरा वह जो उन्नत दशा में जीवन की सुविधाओं के सुवितरण के लिए होता है। परन्तु जब तक लोगों का दल झुण्ड-बद्ध स्थिति में 'आज यहाँ मारा, कल वहाँ खाया' की तरह भटकता रहेगा तब तक कोई संगठन नहीं हो सकता; यदि हुआ भी तो स्थायी नहीं रह सकता। एक दल का दूसरे दल से संघर्ष होते रहने के कारण, युद्धकालीन व्यवस्था को सफलतापूर्वक चलाने के लिए, एक सरदार नियत करके ज्यों-ज्यों लोग अधिक संगठित होते जाते हैं सामाजिक संस्थाओं में भी वृद्धि होती जाती है। पहले बहुत से लोगों के संगठन से एक दल और एक जाति बनती है, फिर उस दल और राष्ट्र के सामाजिक जीवन को स्थिर रखने के लिए विभिन्न संस्थाओं की आवश्यकता पड़ती है—क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ब्राह्मण, पुजारी, व्यापारी, कारोबारी, अध्यापक, वैद्य, सैनिक, सेवक तथा नाना प्रकार के लोग उसी एक समाज संस्था के विभिन्न अङ्ग हैं। संघटन का गुण है कि कार्य और कर्तव्य के स्पष्ट हो जाने से संस्थाओं का क्रियात्मक निर्माण होता है। नृत्य, संगीत, युद्ध, वाणिज्य, सेवा, शिक्षा आदि की निरन्तर आवश्यकता पड़ते रहने के कारण, नर्तिकाएँ, गायिकाएँ और फिर उनका अपना-अपना कर्तव्य विधान बन जाता है। इस प्रकार जब लोगों के सहयोगी कार्यों द्वारा जीवन सुविधाएँ और साधन, अधिक सरलता से प्राप्त हो जाने के कारण संघर्ष की मात्रा क्षीण होने लगती है तो समाज में वास्तविक उन्नति का प्रादुर्भाव होता है। संघर्षकालीन शासन और दण्ड की कठोरता से निकलकर लोग समाज संचालन में स्वयं सहयोग देने लगते हैं—प्रतिनिधित्व और जनसत्ता की स्थापना होती है।

सहयोग के प्रकार और प्रभाव

अब हमें यह देखना है कि इस सहयोग भावना को प्रत्येक व्यक्ति कार्यान्वित करने के लिए कार्य कैसे करता है। उस कार्य प्रणाली को

समाज का श्रम-विधान कहते हैं। अब हम सब से पहले इसी श्रम समस्या पर दृष्टिपात करेंगे।

(य) श्रम और कार्य

(१)

वस्तुस्थिति

४७. वास्तव में देखा जाय तो श्रम और विश्राम के पारस्परिक सम्बन्ध से ही हमारे सामाजिक संघटन का सुसञ्चालन होता है। मानव समाज की आर्थिक भित्ति इसी आधार पर खड़ी है, यह जितना छोटा-सा प्रश्न है, उतना ही गूढ़ भी है।

परिश्रम के पश्चात् विश्राम करना जीव मात्र का प्राकृतिक स्वभाव है। कार्य से थक कर विश्राम करना एक बात है, परन्तु विश्राम का नाता फुरसत अर्थात् अवकाश से जोड़ देना दूसरी समस्या है। यह उलझन हमारे कार्य की शैली बदल जाने से ही पैदा हुई है। लोगों का उद्यम, उनकी कारीगरी और दस्तकारी स्वयं उनके पुरुषार्थ—(हाथ, मन, बुद्धि) और आवश्यकताओं के वशीभूत नहीं रही। जुलाहा जो ताना-बाना से लेकर सुन्दर सुरुचिपूर्ण कर्घे से थान उतारता था अब चर्खा-कर्घा छोड़कर किसी कपड़े की मिल में सुबह से शाम तक कलों को सूत पकड़ाने या मशीन का हैण्डिल घुमाने में बिता देता है। मोची कलापूर्ण और मजबूत जूते तैयार करने के बजाय किसी कारखाने में जूते का कोई एक हिस्सा तैयार करते-करते जिन्दगी गुजार देता है। बड़ी-बड़ी मिलों में ढेर का ढेर माल तैयार हो रहा है; लोग मिल और मालिक की मर्जी तथा आवश्यकतानुसार काम पूरा करते-करते समाप्त हो जाते हैं, परन्तु न तो उन्हें इसमें दिलचस्पी है, न आत्म-सन्तोष। उन्हें यह भी तो नहीं मालूम कि वह कर क्या रहे हैं। उनका किया हुआ कहाँ, किसके पास जाता है—उन्हें कुछ भी पता नहीं। वह किसी एक काम के पूरे जानकार भी नहीं। किसी कारखाने में धोती तैयार होती है, परन्तु उस एक धोती को पूरी उतारने के लिए पचीसों आदमी को पचीसों काम करने पड़ते हैं। परिणामतः, लोगों का अपने काम की सम्पूर्णता या सौन्दर्य से नहीं, काम मजूरी से नाता रह गया है।

४८. यह तो हुई मजदूरों की; मजदूरों के मालिक भी अपनी उपज

के ढेर, कहीं, कैसे भी, बेचकर लागत और मुनाफा सीधा कर लेना चाहते हैं। जावा की चीनी की बोरियाँ भारत में खपें या जर्मनी में, कलकत्ते के जूट की बोरियाँ फौजी खाइयों में इस्तेमाल हों, या गल्ले के गोदामों में, बाटा के जूतों को कौन, किस उमर के, किस श्रेणी के लोग खरीदेंगे—मालिक या मजदूर—किसी को भी इन बातों से सरोकार नहीं। सरोकार है तो बस पैसों से। सारांश, हमारे कार्य का उद्देश्य जीवन की आवश्यकता या निश्चित माँग नहीं, उत्पादन मात्र रह गया है और पैसा ही उसकी कसौटी है।

कार्यों का उद्देश्य

४९. हमारे कार्य का उद्देश्य ही जब हमारी सच्ची माँग और जीवन की आवश्यकताओं से दूर है, फिर भला श्रम और विश्राम, कार्य और उत्पत्ति का सच्चा सम्बन्ध कैसे स्थिर रह सकता है? परिस्थितियाँ ही बनावटी हैं तो अनुपात का बनावटी होना स्वाभाविक है। इतने पर भी लोग शोर मचा रहे हैं "फुर्सत" चाहिए। फुर्सत जीवन-विकास और मनोरञ्जन के लिए प्रथम आवश्यकता है। ठीक है, फुर्सत हो, परन्तु हमने तो रास्ता ही गलत अख्तियार किया है; फिकर केवल यह है कि किस तरह अधिक से अधिक उपज की जाय, किस तरह हमारा कार्य और हमारी उपज दूसरों से सस्ती और अधिक हो; या यों कि प्रतिस्पर्धा इस युग का एक सरल सा नियम बन गया है। जहाँ प्रतिस्पर्धा का प्रश्न है, अवकाश की मात्रा कम होगी और यह प्रतिस्पर्धा जब तक दूर नहीं हो सकती जब तक सामूहिक उपज है; एक-एक के बजाय राष्ट्र-राष्ट्र में प्रतिस्पर्धा होगी; राष्ट्र का अर्थ है व्यक्तियों का समूह। फिर भी लोग जीवन की आवश्यकता और सच्ची माँग से दूर रहकर उसी अधिक पैदावार और अधिक पैसे के लिए कार्य करेंगे। इसलिए श्रम का कार्य से सच्चा अनुपात स्थिर होना कठिन होगा।

अवकाश—जीवन विकास के लिए

५०. दूसरा पहलू और भी दुःखद है। सामूहिक उपज बड़े से बड़े कारखानों द्वारा ही सफल हो सकती है। बड़ी-बड़ी मशीनों का अर्थ है यदि प्रत्येक व्यक्ति समुचित रूप से श्रम करे तो कम से कम लोगों को काम मिले। या यों कि अधिक से अधिक लोग बेकार रहें, भूख और रोग की उत्पीड़ा से परेशान हों। इस तरह सच्चा

प्रश्न अवकाश का नहीं, श्रम के साधन और तरीकों का है

प्रश्न यह है कि सही तरह से पूरा श्रम किया जाये या कम से कम श्रम करके अधिक से अधिक लोगों को काम करते रहने का भ्रम खड़ा किया जाय? यानी प्रश्न अवकाश का नहीं, हमारे श्रम के साधन और तरीकों का है। बेशक, हमारी कार्यशैली त्रुटिपूर्ण है। हमें इसमें सुधार करना होगा और फिर अवकाश की समस्या स्वतः सुलझ जायगी।

५१. यह कहा जा चुका है कि कारखाने में काम करनेवाले किसी काम को आदि से अन्त तक पूरा-पूरा नहीं करते और स्वभावतः उनकी दृष्टि कार्य पर नहीं, कार्य की मजदूरी पर होती है। इसीलिए उन्हें किसी काम में हर्ष या आत्मसन्तोष नहीं होता। माँ को बच्चा जनने में बड़ा कष्ट होता है, परन्तु बच्चे को गोद में लेते ही उसे जनन पीड़ा से दुगुना हर्ष भी होता है। इस प्रकार उसके शारीरिक ह्रास की सहज ही पूर्ति हो जाती है। ठीक यही दशा पहले हमारी थी—जुलाहा ताना-बाना, और भरनी से लेकर कर्घे पर से पूरा थान उतारने तक मनपूर्वक कार्य में व्यस्त रहता था और जब उसके मनानुकूल उसकी कृति उसके हाथों में आती थी तो वह पहले स्वयं गद्गद हो जाता था। किसान की पैदावार और जौहरी के जेवरात—सबका यही हाल था। इस प्रकार कार्य में नीरसता और कष्ट के बजाय हर्ष और पुरुषार्थ का अनुभव होता था। दूसरे महत्त्व की बात यह थी कि कर्ता अपनी कृति में समा जाता था। उसे विश्राम और अवकाश का विचार भी नहीं उठता था। यह नहीं कि वह मोटर के डाइनमो की भाँति चलने लगा तो चलता ही रहता था—इस प्रकार

कलमय और चर्खात्मक श्रम-तुलना

निरन्तर कार्य करते रहने की उसे आवश्यकता ही न थी। वह कपड़ा भी बुनता था, वक्त आ पड़ने पर रोते हुए बच्चे को प्यार पुचकार लेता और उससे मन भी बहला लेता था; मित्रों से बात-चीत और हँसी-मजाक का भी मौका उसे मिल ही जाता था। थक जाने पर वह चल-फिर कर या लेटकर आराम भी कर लेता था। जब उसे जरूरत होती तो वह काम बन्द कर देता क्योंकि उसे शादी-विवाह, त्यौहार और रिश्तेदारी में भी शामिल होना था। वहाँ यह प्रश्न न था कि नजर चूकते ही जान-माल का खतरा पैदा हो जायगा या कारखाना थम जाने से हजारों-लाखों का टोटा बैठ जायगा। उसी के गाँव में चार स्त्रियाँ मजदूरी किया करती थीं;

सुबह से शाम तक अनाज या अन्य चीजें उन्हें मजदूरी में मिलती थीं। चारों आपस में हँस-खेल कर, खाते-पीते, कार्य पूरा कर देतीं। इस प्रकार उनकी आवश्यकता भी चैनपूर्वक पूरी हो जाती और मालिक का काम भी। यहाँ न तो 'फैक्टरी ऐक्ट' की पाबन्दियाँ थीं और न यह चिन्ता थी कि एक मिनट बेकार हो जाने से मशीनों का खर्च मुफ्त में बढ़ेगा। यहाँ मशीन अपने हाथ से चलनेवाली, अपने वश की चीज थी; वही मालिक, वही मजदूर और उसी के घर में कारखाना था—सम्पूर्ण स्वातन्त्र्य का राज था। आजकल के समान काम के पीछे दीवानगी और नतीजा—भूख और दारिद्र्य, सो बात नहीं। उस कार्य शैली में प्रत्येक परिवार जीवन की आवश्यकताओं से परिपूर्ण था; वह अपनी चीज, अपने काम की वस्तु दूसरों से ले लेता था। प्रत्येक ग्राम सम्पन्न था। परन्तु अब? किसी गाँव में घुस जाइये। तन पर जापान का नकली रेशम, दाँत का मञ्जन और ब्रश विलायत का, कागजात नारवे के बने हुए, दूध हालैण्ड के डब्बों में, चाय कहीं और से, चीनी जावा की, बिस्कुट इंग्लैंड से—आखिर यह है क्या? इतनी हाय-हाय और यह लाचारी! हमें काम का ऐसा ढंग पसन्द नहीं और हम फैक्टरी ऐक्ट के मुताबिक अवकाश में वृद्धि भी नहीं चाहते। हम चाहते हैं कार्य हममें हो, हम कार्य में हों, कार्य ही अवकाश हो, और अवकाश ही कार्य हो; कार्य में ही हमें आनन्द और मनोरञ्जन होगा, न कि मिल से थके-माँदे लौटने पर शरीर की पीड़ा सिनेमा की घूँट से मिटायी जाय। कार्य से ही हम ज्ञान प्राप्त करेंगे, उसीमें हमारा मनोरञ्जन होगा और उसीसे हमारा व्यक्तित्व बनेगा; कार्य से ही हम स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट होंगे, न कि दिन भर कारखाने और बैंकों अथवा बपौती के धन पर मुफ्तखोरी करके हाजमा दुरुस्त करने के लिए शाम को 'पिंग-पाँग' और बैडमिण्टन की चिड़ियाँ उड़ाते फिरें। हमारा कार्य उत्पादक होने के साथ ही हमारे शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक विकास, नैतिक उत्थान तथा ज्ञान और मनोरञ्जन का एक साथ ही कारण होना चाहिये।

यदि ऐसा न हो तो श्रम के घंटे घटाते रहने पर भी (मशीनों के उपयोग से वह स्वतः घटता जायगा) बेकारी की बाढ़ रुकेगी नहीं। जो बेकार हैं उनका नाश तो होगा ही, जो काम पर लगे हैं उनका भी कम काम होने से शारीरिक और मानसिक,[1] दोनों रूप से ह्रास होगा।

---

1. Gandhism and Socialism—Dr. P. Sitarammaya P. 136.

यह तो हमारे प्रत्यक्ष अनुभव की बात है कि मशीन तथा अन्य कारणों से भारत बेकारी के संक्रामक रोग से मरणासन्न हो चला है। अतएव, वास्तव में देखा जाय तो समस्या छुट्टी बढ़ाने या काम के घंटों को घटाने की नहीं, बल्कि लोगों को काम देने की या उनके फालतू समय को सकार्य्य बनाने की है।

परन्तु यह कल कारखानों के 'बेकार-कुन' तरीकों से नहीं, चर्खात्मक उत्पादन से ही सम्भव होगा। कलमय उद्योग और कृत्रिम अवकाश के दुष्परिणामों से शीघ्र सचेत हो जाना चाहिये अन्यथा दशा आत्म-हत्या से भी अधिक शोचनीय हो जायगी। यदि हम शीघ्र अपनी कार्य-शैली को बदल नहीं देते, अपने उत्पादन क्रम को बाजारू तेजी और प्रतिस्पर्धा से पृथक् करके मानव के स्वाभाविक कर्मकाण्ड में नहीं बदल देते तो यही नहीं कि श्रम का सच्चा हल असम्भव हो जायगा, बल्कि नवभारत की कल्पना एक मरणासन्न रोगी के सुख-स्वप्न के समान रह जायगी, सरकार की निर्माणकारी योजनाएँ बाँझ की पुत्र लालसा के समान रह जायँगी।

श्रम और सञ्जीवन

५२. यह बात स्पष्ट है कि प्रत्येक कार्य में 'श्रम' और 'सञ्जीवन' के सम्मिलित अंश व्याप्त रहते हैं। एक बढ़ई को लीजिये। वह एक मेज बनाता है। मेज बनाने में उसे परिश्रम करना पड़ता है, कभी-कभी कठोर परिश्रम भी करना पड़ता है। परन्तु इस मेज के बनाने में वह अपनी कला और कारीगरी को व्यक्त करता है। उसके अन्दर छिपे हुए गुण मेज के सहारे बाहर आते हैं, जिससे दूसरों को लाभ मिलता है, दूसरों पर प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार के लाभ और प्रभावों के समुच्चय से उस बढ़ई का व्यक्तित्व बनता है, बढ़ता है और सुस्पष्ट होता है। मेज बनाने में वह बढ़ई मेज बरतनेवाले की वैयक्तिक अभिरुचि और आवश्यकता, उसकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति का ज्ञान प्राप्त करता है; मेज में लगने-वाली लकड़ी के सहारे ऋतु सम्बन्धी तथा भौगोलिक ज्ञान का भी उसे लाभ और अभ्यास होता है। इस प्रकार वह कुछ लेता है, कुछ देता है। और कुल मिलाकर समाज में जीवन और संस्कृति का संचार होता है। यह है कार्य का सञ्जीवन भाग जो चर्खात्मक विधान की एक स्वयम्भू देन है। परन्तु जब हम कार्यों के श्रम को उसके सञ्जीवन सूत्र से अलग कर देते हैं तो वह बोझ बन जाता है, गुलामी की सृष्टि होती है, समाज विकास

से हटकर पतन की ओर अग्रसर होने लगता है। जब कुछ लोग केवल परिश्रम पर बाध्य किये गये और कुछ लोग उस परिश्रम से प्राप्त होने-वाले आनन्द और वैभव को श्रम-कर्ता से छीन कर अपने लिए सुरक्षित रखने लगे तो समाज में गुलामी, बेगार और सामन्तशाही का उदय हुआ। उसी बात को मशीनों ने जघन्य रूप दे दिया है। अब बढ़ई मेज नहीं बनाता। अब वास्तव में बढ़ई रहा ही नहीं। अब तो कारखानों में बड़ी-बड़ी मशीनों के सहारे एक आदमी लकड़ी काटता है, दूसरा उसे चीरता है, तीसरा उसे रंदा करता है, चौथा एक हिस्सा जोड़ता है, पाँचवाँ दूसरा हिस्सा और ये सब के सब किसी एक बिलकुल ही अलग से तैयार किये हुए नक्शे और योजना की पूर्ति मात्र करते हैं। इनमें से किसी को न तो मेज की लकड़ी का ज्ञान है, और न उसमें दिलचस्पी ही है। निश्चित घंटों के अन्दर जी तोड़ कर मेहनत करना और उसकी मजदूरी प्राप्त करना ही इन लोगों का काम रह गया है।

कार्य और श्रम की शुद्धतम प्रणाली

यह एक नये प्रकार की गुलामी है जिससे मनुष्य उदासीन भाव से मेहनत करते-करते घिसता तो जाता है पर उसे ज्ञान और आनन्द कुछ भी प्राप्त नहीं होता, वह केवल श्रम का भागी रह गया है सञ्जीवन का नहीं। इस प्रकार कलमय कार्य पद्धति ने श्रम को सञ्जीवन से अलग करके मनुष्य के नैतिक, बौद्धिक, सांस्कृतिक—व्यापक ह्रास का कारण उपस्थित कर दिया है। इस कार्य पद्धति में मनुष्य का व्यक्तित्व बनने के बजाय बिगड़ता जा रहा है। संक्षेप में मनुष्य चेतन व्यक्ति नहीं, मशीनों का निष्प्राण पुर्जा मात्र रह गया है।

अतः आवश्यक है कि श्रम और सञ्जीवन का विकासमान सामञ्जस्य कायम रखने के लिए कलमयता से मुक्त होकर चर्खात्मक विधान का आश्रय लिया जाय। कार्य और श्रम की यही शुद्धतम प्रणाली है। कम से कम भारत का तो इसी प्रणाली से उद्धार होगा। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमारे नेत्रों के सामने आ गया है। भारत सरकार ने अरबों की व्यय साध्य योजना से राष्ट्रीय नियोजन का प्रयोग चलाया परन्तु वह बीच में ही जवाब दे रहा है क्योंकि उसमें काम करने का ढङ्ग कलमय है, चर्खात्मक नहीं।

(२)

५३. यहाँ आकर हमें श्रम के एक दूसरे आवश्यक पहलू पर भी

विचार कर लेना है अर्थात् हमारे उत्पादन क्रम को केवल मनुष्य की कर्तृत्व शक्ति पर ही नहीं, बल्कि स्त्री-पुरुष के स्वाभाविक भेद पर भी अवलम्बित होना चाहिये।[1]

श्रम में स्त्री-पुरुष के स्वभाव भेद की आधारात्मक आवश्यकता

हमने देखा है कि स्त्रियाँ स्वभावतः हलके और कम कठोर कार्य के लिए ही उपयुक्त हैं; यदि पुरुष चर्खा चलाता है तो स्त्रियाँ ताना-बाना और नरियाँ भरने में सहायक होती हैं, यदि वह हल जोतता है तो स्त्रियाँ कटाई करती हैं, यदि वह मोर्चों पर लड़ाई करता है तो स्त्रियाँ स्टोर और अस्पतालों को सँभालती हैं, यदि वह फावड़ा चलाता है तो स्त्रियाँ ढुलाई करती हैं, यदि वह कारखाने का ब्वायलर सँभालता है तो स्त्रियाँ बिजली का स्विच, दफ्तर में टाइप राइटर, टेलीफोन का चोंगा सँभालती हैं। वर्तमान समय में स्त्रियों का कुछ उपेक्षणीय अंश मर्दों का-सा भारी कार्य भी करने लगा है जैसे हवाई जहाज उड़ाना या लड़ाई लड़ना। इस सम्बन्ध में जब हम देखते हैं कि यह भारी कार्य केवल वह संकटकालीन व्यवस्था है जब पुरुषों की कमी के कारण अपने अस्तित्व को स्थितिभूत रखने के लिए हम बाध्य हो गये हैं तो उपर्युक्त कथन की मर्यादा कम नहीं होने पाती अर्थात् इस बात पर आँच नहीं आती कि स्त्री-पुरुष के कार्य में सरल और कठोर के भेद से स्वाभाविक अन्तर हैं। यह बात इससे भी पुष्ट हो जाती है कि कहीं भी किसी कार्य में हो, रजकालीन, गर्भकालीन, शिशु-पोषणकालीन या ऐसी ही अनेक परिस्थितियों में इन्हें पुरुषों से अपेक्षाकृत अधिक विश्राम की आवश्यकता पड़ती है।[2] परिणामतः स्त्रियाँ पुरुषों के समान ही निरन्तर

---

१. देखिये पिछले पृष्ठ

२. भारत की संक्रामक दरिद्रता को मिटाना हमारे लिए उसी प्रकार आवश्यक है जैसे घर में लगी हुई आग को बुझाना। अन्यथा इस तीव्र गति से बढ़ती हुई महामारी में सारा देश नष्ट हो जायगा। गांधी जी इस अवस्था को युद्धकालीन मानकर लिखते हैं —

"When the war was raging, all available hands in America and England were utilised in naval yards and they built the ships at an amazing race. If I would have my way I would make every available Indian do a certain fixed work every day."

"It is contrary to experience today that vocation is reserved for any one sex only. Cooking is predominantly (पृष्ठ १५५ पर)

कठिन परिश्रम में नहीं लगी रह सकतीं और यह निर्विरोध स्वीकार करना पड़ेगा कि हमारे श्रम का आधार स्त्री-पुरुष के स्वभाव भेद पर ही अवलम्बित है और हमारा श्रम-विधान तथा कार्य-विभाजन इसी के अनुसार होना चाहिये।

इसी बात को यों व्यक्त किया जा सकता है कि पुरुष का कार्य संघर्षात्मक हो तो स्त्रियों का कलात्मक होगा। विस्तार के लिए कहा जायगा कि पुरुष यदि खेत में हल चलावेगा तो स्त्रियाँ खलिहान से लाकर अनाज को घर में सुरक्षित रक्खेंगी। पुरुष जंगल या कोयले की खान से ईंधन इकट्ठा करेगा तो स्त्रियाँ उसके सदुपयोग का भार वहन करेंगी। पुरुष कर्घा चलाता है तो स्त्रियाँ शान्तिपूर्वक शिशु और संगीत के मध्य—चर्खे चलाकर कर्घे के अस्तित्व को सम्भव बनावेंगी। पुरुष वनपर्वत से लाकर जब पशुओं को घर पहुँचा देता है तो स्त्रियाँ दूध, मक्खन और घी का कार्य सम्पादन करेंगी।

एक के कार्य में दूसरे को दक्ष होना चाहिये

५४. इसका मतलब यह नहीं कि कोई कार्य जो एक करता है, दूसरे के लिए वह वर्जित है, ठीक उसी प्रकार जब प्रसवकालीन दशा में पुरुष यदि स्वयं चूल्हा न सम्हाले तो उसे अपनी स्त्री और सन्तान के साथ ही स्वयं भी भूखों मरना पड़ेगा, या पति की बीमारी में यदि स्त्री स्वयं पारिवारिक व्यवस्था तथा सामाजिक उत्तरदायित्व को हाथ में न ले तो सारी व्यवस्था ही भ्रष्ट हो जाय। या संकट के समय जिस प्रकार स्त्रियों को तोप और संगीन की मार करनी पड़ती है या हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन में चर्खे का पुनरुद्धार स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों पर अधिक निर्भर है।

५५. गांधी जी इस सम्बन्ध में और भी स्पष्ट हैं। वे कहते हैं कि कोई कार्य स्त्री या पुरुष, किसी का एकाधिकार नहीं समझा जा सकता। कार्यों को लोगों का एकाधिकार बना देने से ही समाज में वर्गों की सृष्टि होती है, एक ब्राह्मण बन कर हुकूमत करना ही अपना हक समझता है जब कि शूद्रों

---

the occupation of women. But a soldier is worthless if he cannot cook his own food...Fighting is predominantly men's occupation but women have fought side by side with their husbands"—Gandhi ji, Young India, 11-6-26.

को सेवा के नाम पर मेहनत-मशक्कत की अवाञ्छित यातना में ही प्राण गवाँते रहने का आदेश दिया जाता है। इसीलिए गांधी जी ने यदि स्त्रियों को कताई की अधिष्ठात्री बनने को कहा तो साथ ही साथ उन्हें बुनाई में भी दक्ष और समर्थ होने का आदेश दिया है ताकि आवश्यकता पड़ने पर वे किसी भी कार्य को स्वतंत्र रूप से सँभाल सकें और पुरुषों के बिना पंगु न बन जायें। इस प्रकार उन्होंने स्त्रियों पर से पुरुषों की कटु हुकूमत का अन्त कर देने की एक वैज्ञानिक योजना दी है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि स्त्री और पुरुष के कार्य में कोई स्वाभाविक भेद नहीं है। भेद तो है परन्तु चूँकि दोनों उसी समाज के समान रूप से पूरक हैं इसलिए दोनों को सामाजिक चक्र को गतिमान रखने के लिए अपने-अपने कार्य सँभालते हुए भी एक दूसरे के कार्य के लिए उद्यत और तत्पर रहना चाहिये। इसीलिए यदि स्त्रियाँ चक्की चलाती हैं तो पुरुषों को भी चक्की चलाना कर्तव्य और हक होना चाहिये। भले ही साधारण रूप से स्त्रियाँ चक्की चलाती रहें, परन्तु यदि स्त्री किसी कारणवश चक्की नहीं चला रही है तो पुरुष को चक्की चलाने से इसलिए नहीं बचना चाहिये कि चक्की स्त्री का काम है और जब भी होगा वही चलावेगी, चाहे आटे बिना भूखों मरने की नौबत आ जाये।

कार्यों पर एकाधिकार के कारण वर्गों की घातक सृष्टि होती है

इसी सिद्धान्त पर यह नहीं कहा जा सकता कि टट्टी साफ करना हरिजनों का ही कार्य है। साफ और स्वस्थ रहने के लिए, साथ ही साथ समाज को भी स्वस्थ रखने के लिए हम स्वयं क्यों न टट्टी साफ कर लें? यदि कार्यों के सम्बन्ध में हम अपना दृष्टिकोण नहीं बदलते तो वर्गों की घातक सृष्टि मिट नहीं सकती। ब्राह्मण, शूद्र, स्त्री और पुरुष का अलग-अलग वर्ग एक दूसरे को खाता और सताता रहेगा। समाज में शुद्ध श्रम और सम्पत्ति, उद्योग और उत्पत्ति, की परम्परा स्थापित हो ही नहीं सकती।

५६. इसी सम्बन्ध में यह भी समझ लेना चाहिये कि कुछ कार्य औद्योगिक की अपेक्षा अपनी सर्वव्यापकता के कारण सामाजिक अधिक हैं[1] (जैसे चर्खा और गो पालन)। प्रत्येक मनुष्य किसी भी अवस्था में,

---

१. सर्वव्यापकता (Universality) का अर्थ किसी वस्तु के सर्वव्यापक उपयोग से नहीं, उसके सर्वव्यापक उत्पादन से सम्बद्ध है। हम श्रम पर विचार कर रहे हैं, श्रम के (पृष्ठ १५७ पर)

इनको (विशेषतः चर्खे को) हाथ में ले सकता है। घर में, यात्रा में, मन्दिर में, मसजिद में, स्त्री, बच्चे, बूढ़े, रोगी, छोटे या बड़े—सभी प्रत्येक स्थान पर और प्रत्येक समय थोड़ी-बहुत

सामाजिक कार्य

कताई कर सकते हैं जिस प्रकार सभी खाते-पीते और सोते हैं,[1] उसी प्रकार कताई को भी सुबह-शाम, चलते-फिरते, घर में, या बाग में, जब इच्छा या अवसर हो, लिया जा सकता है। कताई की इस विधि में वैयक्तिक आवश्यकता पूर्ति की दृष्टि ही प्रधान होती है, यद्यपि इस प्रकार वैयक्तिक कर्म और आत्म-तुष्टि का अर्थ है समष्टि की सहायता और रक्षा; कताई अच्छे प्रकार के चर्खों पर मुनाफे और मजदूरी की दृष्टि से भी की जा सकती है। उद्देश्य कोई भी हो, विशेषतः दूसरे के लिए तो अवश्य ही कताई की पूर्व और पश्चात् की दशाओं पर ध्यान रख कर कार्य किया जाय, जैसे अच्छी रुई का स्थानीय उत्पादन, उसकी ओटाई, धुनाई, फिर करघे द्वारा

कपड़े की तैयारी आदि। इन बातों पर यदि हमने ध्यान दिया तो चर्खा अन्य उद्योगों को भी जीवित कर देगा अर्थात् हमारे सरल से कार्य द्वारा अन्य लाखों की रोटी की समस्या हल हो सकती है। चर्खे (कताई) की इसी व्यापक सरलता ने इसे हिन्दू धर्म में एक विशिष्ट स्थान प्रदान किया था। यदि शूद्र समाज सेवा के लिए, वैश्य अर्थ और वाणिज्य की दृष्टि से, क्षत्रिय स्वावलम्बन की दृष्टि से तो ब्राह्मण अपने यज्ञ और पवित्र यज्ञोपवीत के लिए ही चर्खे की शरण लेता है।[1] चर्खे के समान ही गोपालन एक कार्य है जिसे स्त्री, बच्चे, जवान, बूढ़े, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, यहूदी आदि—सब सरलता पूर्वक सम्पादित कर सकते हैं।

चर्खा और गोपालन

परन्तु, हाँ, यह चर्खे के समान सस्ता और सर्वव्यापक नहीं है। परन्तु इस कार्य की महत्ता चर्खे के समान ही विशेष स्थान रखती है। कहने का तात्पर्य, उपर्युक्त दोनों कार्य सर्वव्यापक और समाज रक्षक होने के साथ ही भारत जैसे कृषिप्रधान देश के लिए अति लाभदायक और सहयोगी धन्धे भी बन जाते हैं, विशेषतः जब कि लाखों किसान खेती के कार्यों के समय में बेकार ही रहते हैं, अथवा भारतीय कौटुम्बिक विधान के अन्तर्गत जब स्त्रियों का अधिकांश समय और शक्ति व्यर्थ की गड़बड़ी में लगती है। चर्खा तो और भी महत्त्वशाली बन जाता है जब कि दुष्काल और युद्ध के समय आत्मरक्षा के लिए यह हमारा संकट कालीन औद्योगिक हथियार बन जाता है।

सारांश, हमारा श्रम विधान जबतक उपर्युक्त सिद्धान्तों को दृष्टि में रखते हुए सम्पादित नहीं होता हम नवभारत का निर्माण कर ही नहीं सकते।

(३)

५७. यह एक सर्वनिष्ठ और अत्यन्त सुबोध बात है कि समष्टि का अस्तित्व उसके अपने घटक रूपी व्यष्टियों के सम्मिलित श्रम का ही फल होता है। इसमें किसान, कताई वाले, बुनाईवाले तथा अन्य अनेक लोगों के सहयोग ने पादार्थिक रूप धारण किया है या यों कि सामूहिक सहयोग का ही दूसरा नाम सामाजिक श्रम है। यही सहयोग (न कि मार्क्स का अन्तर्द्वन्द्व) समाज का बीज रूप

सामूहिक सहयोग बनाम सामाजिक श्रम

[1] पं० सातवलेकर ने अपने 'वेद और चर्खा' में वेद मंत्रों द्वारा सिद्ध कर दिया है कि ब्राह्मण और शूद्र, स्त्री और पुरुष, राजा और प्रजा सभी चर्खा कातते थे।

है। और हमने यह भी देखा है कि वर्तमान युग की कार्य प्रणाली लोगों में स्वार्थभावना की सृष्टि करके उन्हें एक दूसरे की आवश्यकता से दूर ले जाती है। इसका सीधा-सा अर्थ यह है कि कलमय विधान हमारी जीवन दायिनी सहयोग भावना के प्राकृतिक आधार को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है, और उसे सरकार अथवा समूह के कृत्रिम कानूनों द्वारा गतिमान करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगती है। परन्तु यह एक बिलकुल स्पष्ट बात है कि कृत्रिम कानूनों द्वारा एक कृत्रिम अवस्था की ही सृष्टि होगी। यही कारण है कि नवभारत मशीनाश्रित श्रमविधान से सर्वथा दूर ही रहना चाहता है।

५८. अब भारत में कलमय उत्पादन को दृष्टि में रखते हुए, श्रम के एक दूसरे पहलू पर भी विचार करना आवश्यक प्रतीत हो रहा है—

भारतीय जल-वायु में, एक भारतीय श्रमिक कारखानों में कार्य करके उतनी ही मात्रा में उत्पादन नहीं कर सकता जितनी कि यूरोप और अमेरिका का श्रमिक क्योंकि भारत की जल-वायु ऐसी है जहाँ सुविधानुसार अवकाशयुक्त (Intermittent) कार्य किया जा सकता है, जहाँ

कलमय उद्योग और सामूहिक श्रमफल की राष्ट्रीय तुला

११२–११८ डिग्री तक के तापमान वाले देश के निवासियों को कारखानों की भट्टियों के सम्मुख नित्य, निरन्तर संघर्षापेक्षी श्रम प्रणाली का शिकार न होना पड़े। ठीक है, भारत में भी सफलता पूर्वक कारखानों का संचालन हो रहा है। परंतु यदि अमेरिका में एक श्रमिक के उतने ही समय के श्रम-फल की भारतीय श्रमिक के उतने ही श्रमफल से तुलना की जाय तो अन्तर स्पष्ट हो जायगा। प्राकृतिक बाधाएँ कार्य करती हैं। यह ठीक है कि भारत में टाटा जैसे कारखाने भी हैं जो किसी भी विलायती कारखाने से पीछे नहीं हैं। परन्तु क्या आपने इस पर भी विचार किया है कि एक भारतीय श्रमिक और अमेरिकन श्रमिक के स्वास्थ्य में अन्तर क्यों है? टाटा के मजदूर अच्छा वेतन पा रहे हैं फिर भी कारखाने का जीवन उनके स्वास्थ्य पर अपनी छाप डाले विना नहीं रह सकता। इस बात का निम्न प्रकार से परिणाम होता है—

(१) या तो उतने ही समय में उतने ही जनबल द्वारा उससे कम

कार्य (२) या अधिक अथवा उतना ही कार्य परन्तु मानव स्वास्थ्य पर अधिक दुष्प्रभाव।

पहली दशा में राष्ट्र की तत्काल साम्पत्तिक क्षति होती है, दूसरी दशा में कुछ समय के पश्चात् क्षति होती है क्योंकि अस्वस्थ व्यक्तियों का समूह न तो सुखी और समृद्धिशाली राष्ट्र का पोषक हो सकता है और न ऐसे व्यक्तियों का समूह दीर्घायु ही प्राप्त कर सकता है। परिणामतः ७० वर्ष तक समाज को अपने श्रम का फल देने वाला व्यक्ति ४०—५० वर्षों में ही समाज को अपने श्रम से वंचित कर बैठता है। यदि वह बिलकुल ही मर गया तो समाज को कुछ कम ही क्षति उठानी पड़ती है, पर यदि वह श्रम के अयोग्य होकर रुग्णावस्था को प्राप्त हो गया (जैसा कि होता ही रहता है) तो समाज को उसके श्रम-फल से वंचित तो होना ही पड़ा, साथ ही साथ उसके दवा, दारू तथा प्राण रक्षा में धन और जन-बल का क्षय भी करना पड़ता है। इस प्रकार सिद्ध हो जाता है कि भारत में कलमय उत्पादन श्रम सिद्धान्तों के सर्वथा विरुद्ध है। इस सम्बन्ध में हम पाठकों का ध्यान अभी हाल में ही हुए इङ्गलैण्ड के कुछ खाद्य प्रयोगों की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं।[1] एक व्यक्ति ने दो प्रकार के भोजनों पर कार्य किया। यद्यपि कार्य के परिणाम में अधिक कमी नहीं रही पर अपुष्टिकर भोजन से विशेष श्रान्ति का अनुभव हुआ। दूसरे प्रयोग द्वारा यह सिद्ध हुआ कि कारखानों के दूषित अथवा बन्द वातावरण की अपेक्षा सूर्य के प्रकाशपूर्ण खुले जल-वायु में अधिक स्वास्थ्यकर जीवन प्राप्त होता । तीसरे प्रयोग में जीवन-तत्व (विटामिन 'ए') की आवश्यकता को लेकर देखा गया कि जीवन-तत्व को पाने और न पानेवालों के स्वास्थ्य में यद्यपि कोई तात्कालिक अन्तर नहीं दिखा पर अभाव का दुष्परिणाम तो होता ही है। इससे सिद्ध होता है कि राष्ट्रीय सम्पत्ति की दृष्टि से कलमय यानी केन्द्रित उद्योग व्यवस्था भारत के लिए लाभप्रद नहीं हो सकती।

इसका मतलब यह है कि कारखानों के सहारे कार्य करनेवाला युरोप ग्रामोद्योगी भारत से अधिक मात्रा में उत्पादन नहीं कर सकता। आप इस बात से परिचित हो चुके हैं कि कारखानों की विशेषता है कि कुछ लोग कार्य करें और अधिक लोग बेकार रहें। या यों कि कलमय युरोप

---

1. Food, the deciding Factor. P. 46.

का अधिकांश श्रम-बल बिलकुल बेकार पड़ा है। इस प्रकार यदि हम अपने श्रम विधान को चर्खात्मक आधार पर खड़ा करें तो बड़े से बड़े कारखाना-पूर्ण देश को भी अपनी साम्पत्तिक उत्पत्ति से पछाड़ सकते हैं क्योंकि यहाँ बेकारी का नैसर्गिक अभाव होगा।

इन सारी बातों को एक साथ रखकर देखने से यही सिद्ध होता है कि विभिन्न वातावरण और परिस्थितियों के तात्कालिक श्रम-फल में विशेष अन्तर भले ही न हो, उनके प्रति व्यक्ति दीर्घकालीन परिमाण योग (Total achievement per head) में अन्तर अवश्य होगा, क्योंकि प्रतिकूल वातावरण में काम करते रहने के कारण अस्वास्थ्य और परिणामतः आयु की अवधि में भी कमी हो ही जायगी; विशेषतः भारतवर्ष में इस कमी को पूरा करने के लिए स्वास्थ्यकर वातावरण का आश्रय लेना होगा जो ग्राम प्रधान श्रम विधान से ही संपुष्ट हो सकता है।

सामूहिक श्रम-फल का प्रति व्यक्ति दीर्घ-कालीन परिमाण योग

५९. जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो चुका है, श्रम-फल का माप-दण्ड दो प्रकार का हुआ—(१) आयु की अवधि—(२) समय की अवधि। आयु की अवधि को हम देख ही चुके हैं, समय की अवधि के सम्बन्ध में अब इतना ही कहना शेष रह गया है कि उतने ही समय तक इंग्लैण्ड के कारखाने में कार्य करने वाले श्रमिक से भारत के कारखाने में कार्य करनेवाला श्रमिक अधिक थक जायगा, जिसका स्पष्ट प्रमाण दोनों की निरन्तर कार्यव्यस्तता की योग्यता, एक रस (uniform) उत्पादन तथा वृद्धिमान (Progressive) कार्यकुशलता (Efficiency) की ठीक-ठीक तुलना से ही समझा जा सकता है। इंग्लैण्ड का श्रमिक कारखाने से निकल कर, स्वाध्याय, मनोरञ्जन, सामाजिक तथा गृहकार्यों के लिए जितना तत्पर पाया जाता है भारतीय श्रमिक इन अनेक जीवनावश्यक कार्यों के लिए उतना ही तत्पर नहीं पाया जा सकता। फलतः, समाज को पण्यों की प्राप्ति में अधिक कमी न भी दीखे उसे व्यक्ति के अनेक अन्य उपयोगों से वञ्चित रह ही जाना पड़ेगा जिनके सुयोग विना समाज का सामूहिक ह्रास होना निश्चित है। इसमें व्यष्टि और समष्टि, दोनों के विकास पर आघात होता है।

श्रम-फल का माप-दण्ड और सामूहिक परिणाम

६०. यह कहा गया है कि कारखानों के ढर्रेपन में, मनुष्य को कार्य में अपनत्व और अभिरुचि नहीं रह जाती। जिस कार्य में सच्ची अभिरुचि ही नहीं वहाँ पण्यों की पारिमाणिक उपज में भी कमी होगी ही। इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान में रखने की बात है कि कारखानों में निश्चित अवधि तक ही कार्य किया जा सकता है। परन्तु गाँव प्रधान श्रम विधान में वह ४।६।८ घण्टों की निश्चित अवधि से बाध्य हुए बिना सुरुचि पूर्वक १०।१२।१६ घण्टों तक भी कार्य कर सकता है। सारांश यह कि घट-बढ़कर कुल के हिसाब से यही देखा जायगा कि आयु और समय का कुल (Total) परिमाण लेने से चक्रात्मक (विकेन्द्रित) समाज को अन्त में कलमय (केन्द्रित) समाज से सामूहिक रूप में घाटे में नहीं रहना होगा। यदि जैसा कि "रचनात्मक आधार" में दिखलाया गया है, विकेन्द्रित श्रम का फल कलमयी श्रम-फल से, कम से कम सामूहिक रूप से (यहाँ बेकारी की समस्या और दोनों के समान परिष्कार को ध्यान में रखते हुए), कम हो ही नहीं सकता।

पण्यों की पारिमाणिक उपज—केन्द्रित और विकेन्द्रित की तुलना

(४)

६१. अब हम "श्रम और कार्य" के मौलिक सूत्र अर्थात् श्रम-विभाजन की आवश्यकता तथा सिद्धान्तों पर भी विचार कर लेना चाहते हैं। नारी को समाज का आदि सूत्र मानकर उसके क्रियात्मक तत्वों का अवलोकन करते समय (देखिये अध्याय "श्रम-विभाजन और गार्हस्थ्य" तथा "गार्हस्थ्य और सम्पत्ति") श्रम के इस पहलू पर हम यथेष्ट रूप से विचार कर चुके हैं। यहाँ हम श्रम-विभाजन की एक भारतीय रीति की

१. भारतीय वर्णव्यवस्था एक शुद्ध भारतीय विशेषता होते हुए भी 'हिन्दू मजहब' की चादर से ढक दी गयी है। परन्तु यह यथार्थतः, हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, किसी को भी प्रभावित किये बिना नहीं रही है। यों तो वर्तमान कलयुग के शहरी जीवन में स्वयं हिन्दू ही इसके प्रभाव से वंचित से नजर आ रहे हैं। परन्तु यदि हम भारत के विस्तृत ग्राम्य वातावरण में प्रवेश करें तो वहाँ हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सभी इसके चक्र में घूमते हुए मिलेंगे। यह ठीक है कि इसलाम, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि के समान कोई वर्ण विभाजन नहीं करता, परन्तु, व्यवहारतः, हम देखते हैं कि धुनिया, जुलाहा (मोमिन), मिलकी आदि में हिन्दुओं सा ही वर्ण-भेद काम कर रहा है।

अतएव, यदि वर्णव्यवस्था के शुद्ध श्रम-विभाग और उद्यमस्थ तत्वों को लेकर (पृष्ठ १६३ पर)

ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं जो आज हिन्दुत्व की मजहबी चादर से ढकी होने के बावजूद भी श्रम सिद्धान्तों की एक प्रबल प्रेरणा लिए हुए है। हमारा लक्ष्य वर्ण विधान की ओर है। यह चातुर्वर्ण्य विधान, मूलतः, श्रम-सिद्धान्तों पर ही अवलम्बित किया गया था। वास्तव में समस्त समाज के सामूहिक अस्तित्व को सहयोग पूर्वक क्रियाशील बनाये रखने के लिए ही सामाजिक श्रम को वर्णों के आधार पर विभाजित कर दिया गया था। भारत की प्राचीन परम्परा यही रही है कि समाज का सामूहिक उत्तरदायित्व व्यक्ति के नैतिक जीवन में सम्मिलित करके समाज के चक्र को नित्य-निरन्तर रूप से स्वगामी गति प्रदान की जाय ताकि समाज संचालन के लिए "ताजीरात हिन्द," "म्युनिसिपल बाई-लॉज" अथवा "वाइसरीगल आर्डिनेन्सेज" के समान समाज और प्रजा से बाहर के किसी अन्य शासन अथवा अनुशासन दण्ड की आवश्यकता ही न हो। समाज के शहरी और ग्राम्य प्रकारों पर विचार करते समय हमने इसका उल्लेख किया है। महात्मा तिलक गीता के कर्मयोग शास्त्र का विचार करते समय लिखते हैं—"पुराने जमाने के ऋषियों ने श्रम-विभाग रूप चातुर्वर्ण्य संस्था इसलिए बनायी थी कि समाज के सब व्यवहार सरलतापूर्वक होते जावें। किसी एक विशिष्ट व्यक्ति या वर्ग पर ही सारा बोझ न पड़ने पावे और समाज का सभी दिशाओं में संरक्षण और पोषण भलीभाँति होता रहे। यह दूसरी बात है कि कुछ समय के बाद चारों वर्णों के लोग केवल जातिमात्रोपजीवी हो गये अर्थात् सच्चे स्वकर्म को भूलकर वे नाम के ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य रह गये। कहने का अभिप्राय यह कि वर्ण विधान केवल सामाजिक श्रम-विभाग रूप में ही निर्मित हुआ था अर्थात् यह एक ऐसी सामाजिक (धार्मिक नहीं) व्यवस्था थी जिसने हमारे कर्मकाण्ड को एक निश्चित धरातल प्रदान करने के साथ ही हमारी सांस्कृतिक स्थिति को भी विकासमान बनाये रखने में बहुत बड़ा भाग लिया था। वास्तव में सामाजिक श्रम को सामूहिक सहयोग द्वारा गतिमान रखने के लिए वर्णव्यवस्था को एक अनुपेक्षणीय विधान समझा गया था।

चातुर्वर्ण्य विधान: श्रम-विभाग प्रधान

कार्य किया जाय तो भारत में, विभिन्न धार्मिक भेदों से बिलकुल स्वतन्त्र, समरूपी समाज (Homogeneous Society) की एक व्यापक और व्यावहारिक (working) रूपरेखा प्रस्तुत करने में कठिनाई न होगी।

६२. परन्तु इसके विरुद्ध एक बड़ा भारी दोषारोप यह किया जाता है कि इसमें ऊँच-नीच के भाव का समावेश हो जाने से सामाजिक वैषम्य का उदय होता है। उनका कहना है कि "जब तक कार्यों के सम्बन्ध में ऊँच-नीच का भाव बना रहेगा तब तक सामाजिक समता कायम नहीं हो सकती।[1] निस्सन्देह, परिस्थितियाँ कुछ इसी प्रकार से ढल चली हैं। सैनिक और सेनानायक में बड़ा अन्तर होता है। दोनों में से किसी एक के बिना युद्ध नहीं किया जा सकता। सैनिक अपने शौर्य और पराक्रम को सफल बनाने की चेष्टा करता है तो सेनानायक अपने सैनिकों के शौर्य और पराक्रम के योग-फल को कृत-कृत्य करने का विधान करता है। अतएव सेनानायक सैनिक से अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। इसीलिए वह सैनिक से बड़ा समझा जाता है ठीक उसी प्रकार जैसे उन्हीं के एक आदेशमात्र पर शुद्ध भाव और भक्तिपूर्वक सर्वस्व उत्सर्ग कर देनेवाले व्यक्ति से श्री सम्पूर्णानन्द जी या जवाहरलाल जी की राष्ट्र की दृष्टि में आवश्यकता अधिक है। इस प्रकार कार्य और व्यक्तियों में भेद होना अस्वाभाविक नहीं है और इस दृष्टि से समाज में समता का प्रश्न हीं नहीं उठता। परन्तु जिस प्रकार सेना के लिए सैनिक और सेनानायक, दोनों अनिवार्य हैं उसी प्रकार समाज में धोबी और अध्यापक भी अनिवार्य हैं। न तो कोई कार्य और न उनका सम्पादन करनेवाला कोई व्यक्ति ही उपेक्षणीय है"। दोनों आदरणीय और सामाजिक श्रेय के समान रूप से भागी हैं। वृक्ष हजारों-लाखों छोटे-बड़े पत्तों के योग से ही वृक्षाकार धारण करता है। पर उसमें छोटे-बड़े का पार्थक्य नहीं देखा जाता। धोबी और अध्यापक पृथक्-पृथक् भले ही भिन्न-भिन्न कार्य कर रहे हों, पर समाज का योग-फल स्थिर करने में दोनों ही मिलकर सम अर्थात् समान हो जाते हैं। जिस प्रकार सेना में सैनिक और सेनानायक, दोनों में एक भी उपेक्षणीय नहीं है उसी प्रकार समाज केवल धोबी या केवल अध्यापक को लेकर स्थितिभूत नहीं हो सकता। कहने का अभिप्राय, धोबी और अध्यापक भले ही दो कार्य कर रहे हों परन्तु समाज के अस्तित्व मात्र के लिए दोनों समान महत्त्व रखते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि वैयक्तिक कार्यों की विभिन्नता से ही समाज की सामूहिक अभिन्नता

ऊँच-नीच की भावना और सामाजिक वैषम्य

---

१. "व्यक्ति और राज" पृष्ठ ११६

स्थिर होती है। धोबी यदि अपने कार्य को हेय समझकर त्याग दे और अध्यापन का गौरव प्राप्त करने के लिए चल पड़े तो धोबी का कार्य कौन करेगा ? एक ही व्यक्ति धोबी का कार्य और अध्यापन, घर में रोटी पकाना और समाज की व्यवस्था का सारा भार अकेले नहीं ग्रहण कर सकता। कार्यों का विभाजन होना ही होगा। अतएव नीच-ऊँच का प्रश्न उठना ही नहीं। नीच-ऊँच का प्रश्न गिर जाने से असमानता का भी प्रश्न नहीं उठता। नीच-ऊँच का जो प्रश्न हमारे सामने उपस्थित किया जाता है वह बिलकुल कृत्रिम है। हमें परिस्थितियों की इस कृत्रिमता को मिटाना है न कि उनके मौलिक आधार को।

गांधी जी की दृष्टि

६३. इसकी एक मात्र कुञ्जी गांधीजी के हरिजन आन्दोलन में है। इस पर यथासमय पुनः विचार किया जायगा। यहाँ केवल इतना ही कहना अलम् होगा कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति को, ब्राह्मण हो या शूद्र, समान रूप से आदर और श्रेय प्राप्त है। दोनों के कार्य भिन्न हैं पर वे छोटे-बड़े नहीं, बिलकुल समान हैं। यहाँ किसी को ब्राह्मण होने के नाते अनुचित पूजा नहीं की जाती और न धोबी होने के नाते किसी को अस्पृश्य या हेय समझा जाता है। ब्राह्मण अपने अध्यापन कार्य के लिए आदरणीय अवश्य है पर धोबी कम आदरणीय नहीं। दोनों ने समाज चक्र का भार वहन किया है। यथार्थतः व्यवहार में भी हम ऐसा ही देखते हैं। एक व्यभिचारी ब्राह्मण पर शूद्र भी थू-थू करके उपेक्षा कर बैठता है जब कि एक वयोवृद्ध सदाचारी शूद्र को ब्राह्मण भी "दादा, राम-राम—" कहता है। उसी प्रकार शराबी शूद्र को कोई भी किसी प्रकार का कार्य-भार नहीं देना चाहता। सारांश यह कि समाज की दृष्टि में न कोई हेय है न श्रेष्ठ, केवल समाज के छोटे-बड़े कार्यों को प्रत्येक व्यक्ति श्रम-विभाग रूप से ही सम्पादित कर रहा है और कर्मच्युत होते ही समाज च्युत हो जाता है।

व्यक्तियों की समानता और असमानता

६४. इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति-व्यक्ति के कार्य स्वभावतः कम और अधिक महत्वपूर्ण होते हैं पर जब हम लोगों को एक साथ समाज के रूप में देखते हैं तो उनका वैयक्तिक वैषम्य एक में घुल-मिलकर सामाजिक साम्य का एक संचारी रूप प्रस्तुत करता है। इसी बात को यों समझना होगा कि लोग पार्थक्य में असमान और परस्परता में समान हैं। प्राचीन वर्णव्यवस्था का यही तात्विक रहस्य था।

६५. हमने यहाँ जो कुछ लिखा है वह केवल व्यक्ति की सामाजिक कसौटी है। परंतु एक बात और है:—प्रत्येक व्यक्ति की अपनी एक पृथक् स्थिति है जहाँ वह केवल एक शुद्ध व्यक्ति अर्थात् समष्टि का घटक (Unit) रूप एक व्यष्टि मात्र है। घटक के अतिरिक्त वह अन्य कुछ हो ही नहीं सकता। घटक है; घटकों में असमानता हो ही नहीं सकती; इस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र प्रत्येक व्यक्ति समान है। अतएव समाज का गतिक्रम व्यक्तियों की मौलिक समानता के आधार पर स्थितिवत् असमानता से परिलक्षित होकर सामूहिक समानता का रूप धारण करता है। इसका सैद्धान्तिक अर्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति कार्यों की स्थितिवत् असमानता में अपनी मौलिक समानता का प्रयोग करते हुए अपने मौलिक स्वरूप को सिद्ध और अपने व्यक्तित्व को कृत-कृत्य करता है। वर्ण विधान की यही मूल प्रेरणा थी।

वर्ण विधान की मूल प्रेरणा

अभी कुछ ही दूर पहले कहा गया है कि "सामूहिक सहयोग का ही दूसरा नाम सामाजिक श्रम है।" जब हम इस सिद्धान्त की सार्थकता की परख करते हैं तो हमें वर्णव्यवस्था में समाज सञ्चालन की एक अपार शक्ति अन्तर्हित सी नजर आती है। यह स्मरण रहे कि हम यहाँ कोई धार्मिक प्रचार नहीं वल्कि भारत की शुद्ध आर्थिक समस्याओं के रूप में ही उसके गुण और दोष पर विचार करना चाहते हैं—

६६. १४ फरवरी, सन् १९१६ ईसवी को मद्रास में मिशनरी कान्फ्रेन्स के समक्ष भाषण करते समय गांधी जी ने कहा था—"वर्ण विधान के व्यापक संघटन ने लोगों की धार्मिक आवश्यकताओं की ही नहीं, बल्कि उनकी राजनीतिक आवश्यकताओं की भी पूर्ति की है। ग्रामवासियों ने इसके द्वारा अपनी अन्तर्व्यवस्था तो ठीक रखी ही, साथ-ही-साथ शासकीय अत्याचारों का भी इसके द्वारा सफलता पूर्वक सामना किया है। ऐसे आश्चर्यजनक संघटनयुक्त राष्ट्र की उपेक्षा नहीं की जा सकती। वर्ण विधान की व्यापक योग्यता का प्रमाण हरिद्वार के कुम्भ मेले में जाकर सरलतापूर्वक प्राप्त होता है जहाँ किसी विशेष प्रयास बिना ही लाखों के भोजनादि का सरलतापूर्वक प्रबन्ध किया जा सकता है।"[1] कहने का अभिप्राय यह है कि वर्ण विधान में इसकी सहयोगी

वर्ण विधान और सामाजिक व्यवस्था

1. Economics of Khadi P. 6.

शक्तियों द्वारा समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति, शासकीय अत्याचारों से उसकी रक्षा तथा समाज की दिनचर्या—सबको एक साथ ही स्थिर रखने की योजना बनायी गयी थी। समाज चक्र के लिए सामूहिक सहयोग की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखते हुए भारत के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री, श्री जाथार और बेरी लिखते हैं—"वर्णव्यवस्था ने विभिन्न लोगों को सम्मिलित कार्य और युद्धकालीन परिस्थितियों में भी मौलिक समाज को एक मौलिक स्व-सम्पन्नता तथा स्वतः नष्ट-भ्रष्ट हुए बिना, बाह्य आक्रमणों का सामना करने का प्रबल साधन प्रदान किया है।"[1]

वर्ण विधान और समाज की शैक्षणिक आवश्यकता

६७. अब यह कहने की आवश्यकता नहीं मालूम पड़ती कि वर्ण विधान ने अपने सहयोग की प्रेरणा द्वारा सामूहिक श्रम की समस्या को हल करने में बहुत बड़ा भाग लिया था। सामूहिक श्रम से समाज और राष्ट्र की सम्पत्ति का बहुत बड़ा सम्बन्ध है। इस दृष्टि से वर्णव्यवस्था द्वारा सामाजिक सम्पत्ति की सुरक्षा और उसका सदुपयोग भी होता रहा। उदाहरण के रूप में हम पाठकों का ध्यान गांधी जी द्वारा प्रस्तावित भारत में नव-शिक्षा के लिए सुशिक्षित सामूहिक अध्यापकों की आवश्यकता की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं। इस प्रकार के वेतन-भोगी सामूहिक शिक्षकों को तैयार करके उनसे काम लेने में किसी भी सरकार को अरबों रुपयों का सरकारी बजट अलग से तैयार करना पड़ेगा। परन्तु वर्णव्यवस्था में ब्राह्मण वर्ग का धर्म ही अध्यापन कार्य बताया गया था। यदि वर्णव्यवस्था इसके निर्माताओं की योजना के अनुसार रही होती तो यहाँ हमें शिक्षकों का एक नैसर्गिक वर्ग सदा तैयार मिल सकता था। जिस प्रकार यह वर्ग समाज को प्राप्त होता उसी प्रकार समाज भी उस वर्ग की जीवनावश्यकताओं का उत्तरदायी होता। यहाँ सरकारी बजट या शासन-यंत्र के व्यय-साध्य उपायों की आवश्यकता नहीं थी। यह ठीक है कि वर्तमान समय में ब्राह्मण वर्ग सामूहिक रूप से किसी ऐसे गुरुतर भार के लिए तैयार नहीं है, परन्तु उसकी अयोग्यता का कारण भी यही है कि एक कृत्रिम शासकीय वर्ग (जो सरकारी चक्र के रूप में प्रकट हो रहा है) ने समाज के कार्यों में अनुचित हस्तक्षेप करके उसे जर्जरीभूत कर दिया है, उसके सारे विधान ही ढीले पड़ गये हैं,

---

1. Indian Economics—Vol. I, P. 103.

फिर वह अपने अनेक अवयवों को कहाँ तक कर्तव्यपरायण और सुयोग्य बनाये रख सकता ?

६८. वर्णगत ब्राह्मण वर्ग समाज के शिक्षण और अध्यापन का और उसकी जीवनावश्यकताओं का उत्तरदायी है। इसका अर्थ यह नहीं कि ब्राह्मणों को पोथी-पत्रा देकर उन्हें भिक्षा वृत्ति पर छोड़ दिया जाय। हम अभी स्पष्ट कर चुके हैं कि वर्ण विधान श्रम-विभाग रूप केवल एक सामाजिक व्यवस्था है, वैयक्तिक धर्म नहीं। समाज-हित के लिए लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र बनकर विभिन्न कार्यों का व्यवस्थित विभाग और व्यवस्थित संपादन कर सकते हैं। परन्तु वैयक्तिक जीवन में सब समान हैं। कहने का अभिप्राय यह कि ब्राह्मण को समाजगत होकर अध्यापन कार्य तो अवश्य करना पड़ता है परन्तु स्वावलम्बी होना भी उसका परम कर्तव्य है अर्थात् उसे अपनी जीवनावश्यकताओं के लिए देखना होगा कि वह अपना जीवनोपार्जन स्वयं कर लेता है, लोगों की भिक्षा पर ही जीवित नहीं रहता। समाज उसकी जीवनावश्यकताओं की पूर्ति के लिए उत्तरदायी है, इसका अर्थ केवल इतना ही है कि समाज को देखना होगा कि उसके अध्यापकों को जीवन के साधन सुनिश्चित रूप से प्राप्त हैं जिसकी देख-रेख और सुसञ्चालन वे स्वयं कौटुम्बिक रूप से करते हैं। श्रम सिद्धान्तों के अन्तर्गत जिस प्रकार जुलाहे को वाणिज्य या सैनिक कार्यों से मुक्त होना आवश्यक है उसी प्रकार ब्राह्मणों को भी इन कार्यों से मुक्त रखना होगा, परन्तु यह न कभी कहा गया है और न कहा जा सकता है कि ब्राह्मण को चर्खे, गोपालन या कृषि आदि कार्यों से भी मुक्त कर दिया जाय और उसे अपने यज्ञोपवीत और भोजन तथा बच्चों के दूध के लिए समाज के दरवाजे खटखटाते-खटखटाते ही प्राण गँवा देने पड़ें। ब्राह्मण के भोजन, वस्त्र और निवास के लिए समाज उत्तरदायी है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि देवताओं के बहाने लोगों से कपड़े ऐंठ कर ही ब्राह्मण वस्त्र युक्त होने का उपाय ढूँढ़े। उसे कौटुम्बिक रूप से चर्खे द्वारा सूत देकर स्वयं जुलाहे से कपड़ा प्राप्त करना होगा। उसके रहने के लिए समाज को अवश्य स्थान देना होगा, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उस स्थान पर घर और घर की मरम्मत के लिए समाज के किसी सरकारी स्टोर से उसे सामानों का राशन भी दिया जायगा। वर्णगत समस्याएँ यों ही हल हुआ करती थीं और इसीमें कल्याण भी था।

वर्ण-व्यवस्थात्मक सामूहिक जीवन

६६. अस्तु, सर्वप्रथम हम वर्णव्यवस्था पर लोगों के प्रमुख आक्षेपों को ही लेंगे :—

वर्ण विधान के विरुद्ध—

(अ) वर्णव्यवस्था के विरुद्ध आजकल का प्रचलित दोषारोप इसके जन्मना सिद्धान्त को ही लेकर किया जाता है। लोगों का कहना है कि ब्राह्मणों के वंशज होने मात्र के नाते अनेक घोंघा लोग भी ब्राह्मणत्व का दावा करने लगते हैं, हालाँकि वह सर्वथा इस पद के अयोग्य हैं। परन्तु यह दोषारोप सर्वथा निर्मूल है। वर्णव्यवस्था ने यदि वर्ग विभाजन किया है तो उन वर्गों का कर्तव्य भी निर्धारित कर दिया है। उन कर्तव्यों से च्युत व्यक्ति कदापि अपने पद का अधिकारी नहीं हो सकता। यदि कर्तव्यहीन व्यक्ति अपने जन्मजात पदों का लाभ ले रहे हैं तो यह उसी प्रकार है जैसे अनेक घोंघा और निखट्टू लोग अमीरों के वंशज, मजदूर सभाओं के सदस्य या समाजवादी दल के व्यक्ति होने मात्र के कारण जिलाधीश बनकर लाखों-करोड़ों के भाग्य विधाता बन बैठते हैं। यह सिद्धान्त का दोष नहीं, सिद्धान्त के गलत व्यवहार का दुष्परिणाम है। ऐसी दुरावस्था का जहाँ तक वर्ण से सम्बन्ध है, यह कहा जा चुका है कि परिस्थितिगत समस्त समाज की पंगुता ही इसके लिए उत्तरदायी है। यदि समाज को कृत्रिम शासकीय हस्तक्षेपों से मुक्त होकर अपने नैसर्गिक अधिकारों को प्राप्त कर लेने दिया जाय तो निस्सन्देह समाज कर्तव्यहीन प्राणियों को निरापद कर देगा। परन्तु यहीं दूसरा प्रश्न यह उपस्थित किया जाता है कि वर्णों को जन्मना मान लेने से शूद्रों के बढ़ने की सम्भावना ही नहीं रह जाती। अतएव शूद्र लोग जीवन व्यापार तथा सामाजिक आवश्यकताओं के प्रति उदासीन भाव से ही कार्य करते हैं। इस प्रकार न शूद्रों को ऊपर उठने का और न तो ब्राह्मणों को निरापद होने के भय से कर्मशील होने का कारण रह जाता है। परिणामतः एक का विकास कुण्ठित हो जाता है तो दूसरे का पतन प्रारम्भ हो जाता है। अन्ततः सारा समाज ही भ्रष्ट हो जाता है। सामाजिक शक्तियाँ क्षीण और श्रम विधान परिणामहीन हो जाता है।

(ब) अतएव लोगों का कहना है कि वर्ण तो हों पर जन्मना नहीं। कर्मणा हों। ऐसा कहने का मतलब यह है कि जो जैसा कर्म करे उसे उसी वर्ण का समझना चाहिये। सब से पहले तो यह बात ही गलत, तर्कहीन और निराधार है। इसमें कोई सैद्धान्तिक बात ही नहीं रह जाती जिसे एक

निश्चित व्यवस्था के रूप में लेकर लोग और लोगों के पीछे आनेवाले अन्य लोग व्यवहार में ला सकें। जिसके मन जो आयेगा, जब मन आयेगा, जैसे मन आयेगा, करेगा। उनके कार्यों की कोई सुनिश्चित पथ रेखा न रह जाने से, समाज का सारा श्रम-विभाग ही संज्ञाहीन हो जायगा। कौन-कौन लोग क्या-क्या करेंगे—इसकी कोई योजना न रहने से अनुपातहीन और अनावश्यक कार्य होने की अधिक सम्भावना होगी। जरूरत न होने पर भी हजारों वकील और बाबू बनने दौड़ेंगे (जैसा कि हो ही रहा है), अयोग्य और अवांछित होते हुए भी लोग व्यापार में हस्तक्षेप करने लगेंगे, परिस्थिति विरुद्ध होते हुए भी लोग कृषि को ले बैठेंगे (जैसा कि इस समय की दशा ही है) और नतीजा यह होगा कि समाज की संघटन धुरी टूट जायगी।

वर्ण विधान—संसार के नकशे में

इसके विरोध में कुछ लोग बोल उठेंगे कि भारत के सिवा अन्यत्र कहीं वर्णव्यवस्था न रही है और न है। फिर वहाँ काम कैसे हो रहा है? तनिक ध्यान देने की बात है। वर्ण विधान श्रम-विभाग होते हुए भी इसका तात्विक आधार क्या है? यही न कि जो सेवा आदि (utility) कामों में रत हो उसे शूद्र कहें; शूद्र का अर्थ नीच नहीं, समाज का भार वहन करनेवाला समाज का आधारात्मक वर्ग है। उसी प्रकार वाणिज्य, शौर्य्य और समाज रक्षा तथा अध्यापन कार्य करनेवालों का वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण वर्ग हुआ। वर्णों का यही सच्चा आधार था और इस दृष्टि से कौन सा देश या समाज है जहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र रूप से लोग कार्य नहीं कर रहे हैं। प्रश्न यह होता है कि उनमें भारतीय वर्णों के समान बन्धनादि तथा व्यवस्था नहीं है। जिस अंश तक यह बात ठीक है उसी अंश तक यह भी ठीक है कि भारतीय विधान के अनुशासन-तत्वों से विहीन होने के कारण संसार की अनेक सभ्यताएँ भूतल से ऐसी साफ हुईं कि उनका नाम भी शेष नहीं रहा जब कि भारतीय समाज पूर्ववत् चला जा रहा है। इतिहास के पृष्ठों को उलटने से एक बात और नजर आती है। अन्यत्र भी भारतीय विधान के सदृश ही शासन और अनुशासन व्यवस्था रही है। यूरोप की 'ट्रेड' और 'सोशल' (व्यापार और सामाजिक) 'गिल्डस' (संस्थाएँ) के इतिहास को देखिये। वे ब्राह्मण और वैश्य न कहला कर भले ही कुछ और कहे जाते रहे हों पर कार्य की दृष्टि से हम उन्हें उन्हीं दिशा में पाते हैं जिधर भारतीय वर्णगत वर्ग थे। अन्तर यही है कि वे हमारे

वर्णों की तुलना में अपूर्ण और अविकसित थे। उन्होंने समाज को नीचे से ऊपर कर सम्पूर्णतः आच्छादित नहीं किया था और इसीलिए समय के आघात में सहज ही उखड़ गये।

वर्णों का श्रम-विभाग रूप से अवलोकन करते समय हमारी दृष्टि एक अत्यन्त सूक्ष्म बात पर जाती है—मशीनों के व्यवहार से जब मनुष्य का श्रमाधार ही छिन्न-भिन्न हो उठा है तो फिर उसके विभाग की बात ही कहाँ रही? यूरोप हो या भारत—इस घातक कीटाणु ने सर्वत्र समान रूप से अपना विध्वंसक कार्य किया है। मनुष्य के श्रमाधार को छीन कर उसके समस्त आयोजन और विभाग को ही निर्मूल कर दिया है। उसी का फल है कि यूरोप के गिल्डों के समान ही भारतीय वर्ण विधान भी चंचल हो उठा है।

कर्मणा वर्ण

७०. अस्तु, कर्मणा वर्णों का यह तो आधारात्मक और सैद्धान्तिक पहलू हुआ। उसके व्यावहारिक रूप को लेने से एक दूसरा और उससे भी जटिल प्रश्न उपस्थित होता है; जो अध्यापक है उसे ब्राह्मण कहिये, जो सेवक है उसे शूद्र कहिये। कल वही ब्राह्मण बनिये के समान दूकान खोलकर बैठ गया क्योंकि इस कार्य में समाज को कोई शासन या अनुशासन का अधिकार है ही नहीं। अतएव आज ब्राह्मण रूप से समाजगत प्राणी कल वैश्य रूप में हमारे सामने आता है और दूसरी ओर शूद्र-कर्मी महोदय यज्ञोपवीत युक्त होकर सेवा कार्य के स्थान में लोगों के पूजा-पाठ और यज्ञादि तथा अध्यापन वृत्ति में हिस्सा बँटाने लगे हैं। परिस्थिति हास्यास्पद होने से अधिक हानिकारक है। ऐसी अवस्था में समाज का साम्पत्तिक या सांस्कृतिक विकास हो ही नहीं सकता। हुआ भी नहीं। वर्ण विहीन यूरोप की ओर यदि आपकी दृष्टि हो तो हम कहेंगे कि आप भयंकर भ्रम में हैं। यूरोप ने मनुष्य के माहात्म्य को सर्वथा खो दिया है। वहाँ आसुरी लीलाओं का ही खेल होता रहा है। वास्तविक सुख और शान्ति की वे कामना भी नहीं कर सके हैं। साम्पत्तिक दृष्टि से भी जब हम देखते हैं कि लाखों भूखे और दरिद्र, रोगग्रस्त और मुँहताज लोग सरकारी भत्तों (doles) पर ही जीवित हैं तो बैंक ऑव इंग्लैण्ड या रॉस चाइल्ड के स्वर्णपूर्ण केन्द्र भारी धोखा मालूम पड़ने लगते हैं, असंख्य बेकारों के मध्य फोर्ड या क्रप्स के उत्पादन केन्द्र संसार के श्रमयुक्त होने के प्रमाण नहीं माने जा सकते।

७१. अभिप्राय यह कि वर्णों का वर्तमान जन्मना रूप यदि विधायक की अपेक्षा विघातक हो चला है तो उसका प्रस्तुत कर्मणा रूप और भी घातक है, व्यवस्थाहीन है, अव्यवहार्य्य है। यह तो निर्विवाद ही है कि किसी भी रूप में हो, यूरोप के समान गुण, कर्म, स्वभाव को लेकर अव्यमस्थ विभाजन हो, अथवा भारत का वर्ण-व्यवस्था रूप श्रम-विभाग हो, सामाजिक श्रम का एक सुव्यस्थित और सुनिश्चित आयोजन होना ही चाहिए अन्यथा गतिबद्ध होकर मानव समुदाय वास्तविक विकास को प्राप्त न हो सकेगा। एक सुनिश्चित आधार का प्रश्न उठते ही हमारे चुनाव के लिए दो ही स्थल रह जाते हैं; जन्मना या कर्मणा। यह कहा जा चुका है कि कलमयी व्यवस्था में जन्मना को स्थान ही नहीं रह जाता। खेतों की शकल भी न देखी हो, परन्तु कारखाने का हैण्डिल घुमानेवाला अकृषक वर्ग भी सम्पूर्ण कृषकों के समान समाज के अन्न-वस्त्र का ठेका ले बैठा है। उसी प्रकार अयोग्य व्यक्ति भी रेडियो या रेकार्डों द्वारा लोगों में शिक्षण और प्रचार कार्य कर रहा है। ऐसी दशा में, स्वभावतः, जन्मना की अपेक्षा कर्मणा की ही ओर लोगों की दृष्टि अधिक आकर्षित होगी। यथार्थतः, यहाँ जन्मना और कर्मणा, किसी को भी स्थान नहीं। कोई व्यवस्था या आधार ही नहीं है। कर्मणा का ही प्रश्न रह-रह कर हमारे सम्मुख आता है और हमारे विद्वान उसीमें सुधार के साथ हमें योजनायुक्त बना देना चाहते हैं। परन्तु प्रश्न तो यह होता है कि कल-कारखानों के सम्मुख हमारी वर्ण-व्यवस्था स्थिर ही क्योंकर रह सकती है। इसके लिए एक वही कृत्रिम साधन उनका सहायक होता है। वह किसी प्रकार के कानून के आश्रय को दृष्टि में रखते हुए प्रस्ताव करते हैं—"गुण, कर्म, स्वभाव को देखकर व्यक्ति को तदनुसार वर्ण में रखा जायगा।"[१] सर्वप्रथम तो यही प्रश्न होता है कि किसका क्या कर्म और उसका कैसा स्वभाव होगा? बीज और पौधों से सर्वथा अनभिज्ञ व्यक्ति बिजली के बटन के सहारे कृषक बना बैठा है, 'लांड्री' (धोबी-खाने) में परिश्रम करनेवाला व्यक्ति मशीनों के सहारे समाज के अध्यापन और सञ्चालन का भार लिये हुए है। ब्राह्मणों का वंशज होने मात्र के नाते पापी, दुराचारी, आततायी और समाजद्रोही समूह ब्राह्मणत्त्व का

जन्मना और कर्मणा—तुलनात्मक चित्र

---

१. समाजवाद, श्री सम्पूर्णानन्द, पृष्ठ ५२

अधिकार माँग रहा है। यहाँ तो कर्म और स्वभाव—सभी का वर्ण संकर हो चुका है। यदि उपर्युक्त सलाह को मान भी लें तो प्रश्न उठता है कि लोगों के गुण, कर्म और स्वभाव को देखेगा कौन? तदनुसार वर्णों में रखेगा कौन? इस प्रकार वर्ण परिवर्तन की दुम बाँध देने से एक कृत्रिम अन्तर्द्वन्द्व समस्त समाज को सुलगती हुई आग के समान भस्मसात् करता रहेगा। नौकरी के लिए उम्मीदवारों अथवा तरक्की के लिए नौकरों के समान अनेक वैश्य और शूद्र ब्राह्मण बनने के दाँव खेला करेंगे। ब्राह्मण लोग स्वयं या क्षत्रियों के साथ मिलकर उनकी चेष्टाओं को विफल करने के षड़यन्त्र में उलझे रहेंगे। जाँच की कसौटी बननेवाला यंत्र एक नयी शोषक और शासक संस्था बनकर ही रहेगा। ब्राह्मण लोग कर्तव्यपरायण बनने के बजाय किसी न किसी प्रकार उस अधिकार को, उस संस्था की सत्ता को स्वाधीन रखने के लिए इस प्रकार सतर्क रहेंगे कि उन्हें तनज्जुल न होना पड़े। वास्तव में यह एक बड़े महत्त्व का प्रश्न है। जन्मना का अर्थ है सामूहिक विधान होते हुए भी उनके निभाने का भार व्यक्ति का निजी और नैतिक उत्तरदायित्व बना देना। यहाँ समाज को मजदूरों के 'सुपरवाइजरों' (निरीक्षक) अथवा 'स्लेव ड्राइवरों' (गुलामों के मालिक) के समान लोगों के पीछे दौड़ते नहीं रहना पड़ता, ताजीरात हिन्द और 'मुनसफी' तथा 'फौजदारी' का व्यापक जाल नहीं फैलाना पड़ता। परन्तु कर्मणा के आधार पर आते ही समाज को दलबद्ध होकर प्रत्येक व्यक्ति के शुभ-अशुभ का बोझ ढोते रहना पड़ेगा। इस प्रकार व्यक्तिगत समस्याओं को राष्ट्रीय सूची में सम्मिलित कर देना होगा। संक्षेप में, नैतिक को राजनीतिक बना देना होगा।

फिर?

फिर यही कि वर्ण यदि हो सकते हैं तो जन्मना ही और यदि वर्ण रहें भी तो उन्हें कर्तव्यों से युक्त होना चाहिये (जो आज की बदली हुई परिस्थितियों में कठिन दीखता है)। जो कर्तव्य च्युत हो उसे बहिष्कृत कर दिया जाय अर्थात् वर्णयुक्त होते हुए भी उसे समस्त सामाजिक व्यवहार से वञ्चित कर दिया जाय। परन्तु साथ ही साथ यह भी होना होगा कि यदि कोई व्यक्ति अपने कर्मकाण्ड और कर्तव्यपरायणता द्वारा, न कि किसी व्यक्ति या समूह के प्रशंसा पत्र पर, ऊपर उठ रहा है तो उसे निर्विघ्नतापूर्वक ऊपर उठने दिया जाय, ठीक उसी प्रकार जैसे विश्वामित्र अपनी अनन्त तपस्या द्वारा ब्राह्मणत्व को प्राप्त हुए थे अथवा

द्रोणाचार्य और अश्वत्थामा जैसे तपोवली ब्राह्मणों ने क्षत्रियत्व का भार वहन किया था। वर्ण परिवर्तन की आवश्यकता पड़ी भी तो उसे सम्पूर्ण कर्मयोग, कर्तव्य और तपश्चर्यायुक्त साधन द्वारा ही सिद्ध करना होगा न कि सिफ़ारिशी चिट्ठियों या वोटों की चट-पट उलटफेर से। वस्तुतः, जिसका जो वास्तविक स्वभाव है वह उसमें लगेगा ही। यदि एक शूद्र को अध्ययन और अध्यापन में रुचि है तो उसे निर्विरोध रूप से इस कार्य में लगने दिया जाय। समय आयेगा कि उसकी अभिरुचि और योग्यता का समाज स्वयं क़ायल होकर आदर करेगा। विदुर के यहाँ भगवान् कृष्ण को भी जाना पड़ा। विदुर का उदाहरण एक बात और सिद्ध करता है। शूद्रों को केवल सेवा ही करनी पड़ेगी सो बात नहीं। यदि वह यथार्थतः योग्य है तो वह वर्ण परिवर्तन की घातक उलझनों से मुक्त रह कर भी केवल शिक्षण और अध्यापन ही करता जायगा। फिल-हाल हम इससे आगे कुछ नहीं कहना चाहते। हम इस बात को ठीक नहीं मानते कि "प्रौढ़ शिक्षा" द्वारा लिखने-पढ़ने की 'तरकीब' बताकर या आर्यसमाज मन्दिर में धोबी और मेहतरों को यज्ञोपवीत मात्र से "पं० गोबर दास" आदि के नाम से ब्राह्मणत्व का वितरण किया जाय और समाज को घर और घाट—दोनों खोना पड़े, सेवा और विद्या, दोनों ही।

परन्तु यह हमारी शुभेच्छा मात्र है, आज के युग में विदुर, द्रोण, विश्वामित्र के आदर्शों को कार्यान्वित करना कठिन हो गया है। आज हमें ऐसे विद्वान् की आवश्यकता है जो वैयक्तिक साधना के अनिश्चय में न उलझा हो। इस सम्बन्ध में गांधी जी ने हमारा बहुत ही स्पष्ट रूप से निर्देशन किया है। "वर्ण का अर्थ अत्यन्त सहज है। इसका अर्थ इतना ही है कि हम सब अपने वंश और परम्परागत काम को सिर्फ जीविका के लिए ही करें, बशर्ते कि वह नीति के मूल सिद्धान्तों के विरुद्ध न हो" (नवजीवन ३-११-२७) फिर "अगर मेरे पिता व्यापारी हैं और मुझमें सैनिक के गुण मौजूद हैं तो मैं बिना किसी पुरस्कार के सैनिक बन कर देश सेवा कर सकता हूँ। मगर अपनी रोजी के लिए मुझे व्यापार का ही आसरा रखना होगा।" (नवजीवन, १-१२-२७) यानी वर्णों का जीविका के धन्धों से जन्मना सम्बन्ध हो और वर्ण परिवर्तन के लिए जीविका नहीं, सामाजिक और राष्ट्रीय हेतु होना चाहिये।

फिलहाल जब तक सर्वोदय के ज्ञानमय कर्मकाण्ड की स्थापना नहीं हो जाती, वर्तमान और भविष्य के बीच समझौते के रूप में यह तो कहा

ही जा सकता है कि "यदि बुद्धि से काम लिया जाय तो आज भी वर्णाश्रम धर्म हमारी समस्त समस्याओं को सुलझा सकता है।"[1] यह बुद्धिमत्ता उसी समय कारगर हो सकेगी जब हम अस्पृश्यता को समाज से बिलकुल मिटा देंगे। मैंने कहा है कि समाज में इकाई रूप से प्रत्येक व्यक्ति समान है; इसमें छूत-अछूत का भूत घुसेड़ कर समाज में नीच-ऊँच का कृत्रिम संस्कार नहीं करना है। शूद्र भले ही मन्दिर का पुजारी न हो, भले ही वह गंगा के किनारे बैठ कर लोगों को पाठ और चन्दनादि का लाभ न देता हो, परन्तु मन्दिर का पुजारी नहीं तो मन्दिर में पूजा का उसे सम्पूर्ण अधिकार तो है ही। गाँव में बसनेवाले ब्राह्मण और शूद्र, दोनों गाँव के बुरे-भले के जिम्मेदार हैं। उन्हें एक साथ समान रूप से बैठ कर गाँव की गुत्थियों को सुलझाना होगा। भले ही कोई अपनी सुविधा और सुयोग्यता के नाते गाँव का सलाहकार और निर्देशक हो जाय, और हम चाहें तो उसे ब्राह्मण कहें, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि गाँव के श्रम और सम्पत्ति का निर्माता होकर भी उस पर विचार करने के लिए एकत्र लोगों को ग्राम पंचायत से भी बहिष्कृत कर दिया जाय, केवल इसलिए कि इन्हें शूद्र कहा जाता है। अस्पृश्यता को स्थल देना ब्राह्मणों का महा पतन है। यदि हम ब्राह्मण हैं, यदि हम वेदाधिकारी हैं तो निस्संदेह हमारे संसर्ग से जल और वायु भी शुद्ध हो जायेंगे, आदमी का क्या कहना? वह तो बेचारे उसी प्रकार मनुष्य हैं जैसे स्वयं ब्राह्मण, आदमी भी ऐसे जिनके श्रम और सहयोग से स्वयं समाज अस्तित्वमान होता है, ब्राह्मण और शूद्र जिसके अङ्ग मात्र हैं।

वर्णव्यवस्था—सामाजिक सहयोग का प्रेरणा बिन्दु

७२. इसके पश्चात् हमारा ध्यान एक दूसरे दोषारोपण की ओर जाता है; कुछ लोगों का कहना है कि उपर्युक्त वर्ण प्रधान ग्राम्य व्यवस्था का मुख्य दोष यह है कि वह समाज की परिवर्तनीयता पर प्रबल आघात करती है,[2] मतलब यह कि समाज को कठोर अनुशासनों में जकड़ कर यह उसकी प्रत्येक विकासमान प्रगति में बाधक होती है। यदि हमने उपर्युक्त बातों को ध्यानपूर्वक पढ़ा है तो हमें यह समझना कठिन हो जायगा कि आखिर इस दोषारोप का आधार ही क्या है? व्यर्थ के नये विवाद में न पड़ कर यदि हम केवल

---

१. समाजवाद, पृष्ठ ४७

2. Problem of India—Dr. Shelvarkar.

इतना ही स्मरण रखें कि मनुष्य ने आज तक जो कुछ भी किया है उसका श्रेय केवल मनुष्य की सहयोग भावना और उसकी सहयोगी संस्थाओं को ही है तो यह समझने में कष्ट नहीं होता कि वर्ण व्यवस्था ने सामाजिक सहयोग की अपार प्रेरणा दी है।

वर्णव्यवस्था —— न्यायाधीश के रूप में

७३. अन्त में, इस वर्णप्रधान ग्राम्य सभ्यता के राजनीतिक अंग पर विचार करते हुए हमें यह कह देना पड़ेगा कि समाज की समस्याओं को जितनी सरलतापूर्वक इसने सुलझाया, वह अन्यत्र कहीं भी सम्भव नहीं हुआ। यहाँ वादी और प्रतिवादी दोनों समाज के उन्हीं चिर परिचित न्यायाधीशों के सम्मुख होते थे जो उनकी रत्ती-रत्ती बातों से अवगत होने के कारण शीघ्र साध्य अचूक निर्णय में कभी गलती कर ही नहीं सकते थे। और आज? एक साधारण ग्रामीण विधवा को अपने पति की हकदार विवाहिता स्वीकृत होने के लिए वर्षों की लम्बी अवधि अदालतों की भयावह झुरमुट में ही गँवा देना पड़ता है।

वर्णव्यवस्था और प्रतिस्पर्धा

७४. हाँ, यह अवश्य है कि वर्णव्यवस्था में अनुचित प्रतिस्पर्धा को स्थान नहीं। प्रतिस्पर्धा व्यावसायिकता के लिए हितकर हो सकती है, जीवन सुख की प्राप्ति के लिए नहीं। वर्णव्यवस्था केवल सहयोग (न कि संघर्ष) रूपेण प्रादुर्भूत हुई थी। यदि इसे प्रतिस्पर्धा विरोधिनी कहा जाय तो यह वर्ण-विधान की सफलता को ही स्वीकार करना होगा। वर्ण-विधान एक ग्राम्य प्रधान व्यवस्था है, इसमें शहरी चमक-दमक की कृत्रिमता को स्थान नहीं। यहाँ मनुष्य की वास्तविक सुख-समृद्धि के साधन हैं। निस्सन्देह, यह उस आकाश गामी उन्नति का दावा नहीं करती जहाँ ऊँची-ऊँची संगीतपूर्ण जग-मग अट्टालिकाओं की पटरियों पर भूखे-नंगे रोगी और कराहते हुए निराश्रित लोगों का झुण्ड कुत्तो-बिल्लियों के समान अथवा सरकारी भत्तों के सहारे सरकारी सरायों में जिन्दगी की कष्ट साध्य घड़ियाँ पूरी करता हुआ नजर आता है। यहाँ सब को सर्वस्व का स्वामी बनाकर अपरिग्रह और अस्तेय पूर्वक जीवन व्यापार में व्यस्त रखने की कल्पना की गयी थी।

७५. वर्ण द्वारा श्रम का सामूहिक विभाग करने के पश्चात् व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन का विभाग करना भी आवश्यक था। व्यवस्थित जीवन

द्वारा व्यक्ति के क्रमिक विकास को सिद्ध करने के लिए ही आश्रमों की व्यवस्था हुई थी। ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास—एक के पश्चात् दूसरी सीढ़ी पर पग रखते हुए मनुष्य समाज का सबल चिह्न बना हुआ जीवन की उत्तरोत्तर दशाओं को प्राप्त हो जाता था। इस प्रकार वर्ण और आश्रम के संयुक्त व्यवहार से ही वर्णाश्रम धर्म की स्थापना हुई थी।

वर्णाश्रम

७६. परन्तु इसे अब पाखण्डों के स्तूप से ढक दिया गया है। यह इतना बड़ा स्तूप है कि इसके नीचे दब कर आज समस्त भारतीय समाज मरणासन्न हो चला है। इसका एक मुख्य कारण यह भी है कि आज विश्व का समस्त वातावरण 'कलमय' भावनाओं से व्याप्त है। हमारी सारी कर्मशीलता में कलमयता का प्राण बोल रहा है; मानवी सूत्रों का स्थान मशीनों ने ले लिया है और परिणामतः हमारी सारी औद्योगिक कल्पनाएँ कलमय हो चली हैं। अभिप्राय यह कि वातावरण और प्रेरणाएँ वर्णाश्रम के ठीक प्रतिकूल हैं। ऐसी दशा में वर्णाश्रम धर्म को उसके मौलिक और प्रारम्भिक आधार पर क़ायम रखना कठिन हो गया है। चूँकि समाज के आकार-प्रकार पर ही सामाजिक विकास का चक्र चलता है और चूँकि वर्ण-धर्म से ही हमारे समाज का सारा ढाँचा बना है, इसलिए इस प्रश्न को गम्भीरता पूर्वक समझने की जरूरत है।

'कलयुग' और वर्णाश्रम

७७. हम देख रहे हैं कि वर्तमान स्थिति में वर्णाश्रम का तात्त्विक आधार छिन्न-भिन्न हो गया है और उससे जो वर्ण प्रधान व्यवस्था बनी थी वह अब अपने मूल उद्देश्य में असफल हो रही है। सारी शुभेच्छाओं और सैद्धान्तिक प्रमाणों के बावजूद समाज का विकास-क्रम गतिहीन और भ्रष्ट हो गया है। इन्हीं बातों को ध्यान में रख कर गांधी जी ने समस्या के अचूक समाधान के रूप में समाज के कर्म और ज्ञान, दोनों के औद्योगिक आधार को 'नयी तालीम' अर्थात् नव शिक्षा द्वारा एक अभूतपूर्व प्रेरणा दी।

गांधी जी की नयी योजना : 'नयी तालीम' : समस्या का अचूक समाधान

'नयी तालीम' में कर्म और उद्योग से ही ज्ञान प्राप्त करने की व्यवस्था

की गयी है। कर्म यों भी जीव मात्र के लिए आवश्यक है। जीवन हो या ज्ञान, दोनों पक्षों से कर्म और उद्योग का ही आधार लेना पड़ता है। इस प्रकार गांधी जी ने 'नयी तालीम' द्वारा ज्ञानी और कर्मयोगी के सूक्ष्म सैद्धान्तिक भेद को मिटा कर समस्त सामाजिक जीवन को 'ज्ञानमय कर्म' में परिणत करने की योजना दी, समाज के औद्योगिक जीवन को उन्होंने कर्मठ ज्ञान की ओर प्रेरित किया। पहले ज्ञानी होने का अर्थ संन्यासी भी लगाया जाता था। भगवान कृष्ण ने गीता में इसकी स्पष्ट रूप से भर्त्सना की है। गांधी जी ने गीता के उसी कर्मयोग को अपने अनासक्ति योग और 'नयी तालीम' के द्वारा व्यवहार शास्त्र में बदल देने की कोशिश की। इस प्रकार समाज का सारा श्रमिक ढाँचा ही बदल जाता है। यहाँ आकर ब्राह्मण का विशेषाधिकार समाप्त हो जाता है; सेवा, ज्ञान और उन्नति के मार्ग में शूद्र के लिए कोई बाधा नहीं रह जाती। दोनों को कर्मशील बन कर ही जीवित रहने का विधान है। ब्राह्मण को भी ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसी उद्योग का सहारा लेना पड़ता है, जिसे लेकर क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र जीवमान हो रहे हैं। इस रास्ते से बढ़ते-बढ़ते अंत में समाज शासनविहीन यानी रामराज का रूप धारण कर लेता है।

इस प्रकार गांधी जी ने श्रम सिद्धान्तों को एक बिलकुल ही नयी नींव पर खड़ा किया। यहाँ सामाजिक श्रम और सहयोग से लोगों के सम्मिलित व्यवहार को गति और जीवन प्राप्त होता है। सारा समाज उद्योगमय, सहयोगमय श्रम सिद्धान्तों का लाभ लेने में सम्पूर्णतः समर्थ सिद्ध होता है। वस्तुतः 'हीट प्रूफ', 'वाटर प्रूफ' या 'फूल प्रूफ' के समान ही यह एक 'भेद रहित', शुद्ध ज्ञानमय श्रम व्यवस्था है। यहाँ किसी की इच्छा या अनिच्छा, अथवा मानने या न मानने का प्रश्न ही नहीं उठता। यहाँ यह प्रश्न ही नहीं उठता कि ब्राह्मण लोग शूद्रों को अपने समान समझें। यहाँ ब्राह्मण और शूद्र, दोनों को स्वाभाविक, स्थितवत् समानता प्राप्त है। यथार्थतः यहाँ ब्राह्मण और शूद्र का अस्तित्व ऊँच और नीच के रूप में अलग-अलग नहीं रह जाता।

७८. इसी प्रसंग में एक महत्वपूर्ण प्रश्न पर विचार करना है: गांधीवाद मानव मात्र के कल्याण को अपना हेतु बना कर आगे आता है। उसकी सीमाएँ भारत की चौहद्दी में ही नहीं समाप्त हो जातीं। परिणामतः हमें अपने श्रम सिद्धान्तों को ऐसी जमीन पर खड़ा करना होगा जहाँ

विश्व की सभी जातियों का समागम हो सके। अरब, अमेरिका, रूस और नारवे वालों को यदि भारत के समान ही वर्णात्मक साँचे में ढालना है, ढालने की चेष्टा और कल्पना करना है, तो एक सर्वनिष्ठ आधार होना ही चाहिये। हिन्दू समाज को छोड़ कर शेष संसार को

गांधी की योजना : विश्व-धर्म

ब्राह्मण-शूद्र रूपी भारतीय वर्णों में बाँटना असम्भव है, अभीष्ट भी नहीं है। हमें अपनी भारतीयता, अपनी भारतीय संस्कृति को जातीय या प्रादेशिक नहीं, मानवी, सार्वभौमिक सत्ता में परिणत करना है। हम कहाँ तक सफल हो सकते हैं, यह दूसरी बात है, परन्तु हमारी दिशा, हमारा लक्ष्य, हमारा आदर्श वही रहेगा अन्यथा हम कल्पना भी नहीं कर सकते कि अमेरिका वाले हमारी भारतीयता का समादर करें। अतः, सारे संसार में आदान-प्रदान की निर्दोष धारा प्रवाहित करने के लिए वर्ण धर्म को वातावरण और प्रकृति के परिचय के साथ उद्योगों के आधार पर खड़ा करना होगा ताकि यह न हो कि ज्ञान-विज्ञान, अनुभव, समाज सञ्चालन और समाज व्यवस्था तो ब्राह्मण रूपी एक दल विशेष के हाथ में हो और उद्योग यानी मजदूरी और गुलामी शूद्र रूपी एक शासित और शोषित वर्ग के माथे मढ़ दी जाये। यहाँ यह स्पष्ट रूप से ध्यान में रखने की जरूरत है कि गांधी जी ने मानवी गुणों के विकास की दृष्टि से वर्णों की महत्ता को कभी अस्वीकार नहीं किया है (देखिये हरिजन ता० ६–४–५०)। दोष वहीं से उत्पन्न होता है जब इसमें ऊँच-नीच की भावना का समावेश हो जाने के कारण सामाजिक समता में बाधा उत्पन्न हो जाती है और धीरे-धीरे समाज शोषण, वर्ग विद्वेष, और अन्य अनेक घातक प्रवृत्तियों का शिकार हो जाता है। इन सारी सम्भावनाओं को निर्मूल बनाने के लिए ही गांधी जी ने वर्णों के औद्योगिक आधार को 'नयी तालीम' के द्वारा बदल देने की कोशिश की। यही है गांधीवाद की एक अमर देन जिसके आधार पर 'भारत' का पुनर्निर्माण करना है, विश्व में कार्य और श्रम की शुद्ध मर्यादा स्थिर करनी है ताकि मनुष्य को आर्थिक के साथ ही नैतिक, और भौतिक के साथ ही आध्यात्मिक बल भी प्राप्त हो सके। संक्षेप में, गांधी की योजना विश्व-धर्म की योजना है।

(५)

७६. नारी प्रकरण में हम समाज के कौटुम्बिक स्वरूप पर कुछ विचार कर चुके हैं। हिन्दू हो या मुसलमान, कौटुम्बिक व्यवस्था भारतीय

समाज का एक व्यापक लक्षण है। वस्तुतः इसमें अर्थशास्त्र के अनुपेक्षणीय तत्त्व निहित हैं। यहाँ परिवार का प्रत्येक सदस्य "अपनी योग्यता भर कमाता है और अपनी आवश्यकता के अनुसार उसका उपभोग करता है।"[1] व्यवहारतः, कौटुम्बिक व्यवस्था समाजवादी संघटन का एक निकटतम उदाहरण है। कौटुम्बिक व्यवस्था में परिवार के समस्त प्राणी सुख-दुःख, समय-कुसमय, सदा-सर्वदा एक-दूसरे से बँधे हुए समान रूप से जीवन को सुलभ बनाने में सफल होते हैं। यथार्थतः, मनुष्य की नैसर्गिक सहयोग भावना की ही इसमें प्राण प्रतिष्ठा हुई है। इसके कारण राजनीति की चंचलता का समाज पर प्रभाव नहीं पड़ने पाता, समाज की सुदृढ़ प्रगति में बाधा नहीं होती। दिल्ली के तख्त पर पृथ्वीराज के स्थान में मुहम्मद गोरी की भले ही हुकूमत स्थापित हो जाय परन्तु कुटुम्ब के स्वार्थों से इसका कोई सम्बन्ध न रहने के कारण उसके सदस्य यथाशक्य पूर्वानुसार ही जीवन संघर्ष में सचेष्ट रहते हैं। समाज की सुदृढ़ता का यह सबसे बड़ा कारण तो है ही, साथ ही साथ सरकार से समाज की स्वतंत्रता का भी यह एक प्रबल प्रमाण है। सरकारों की उलट-फेर के साथ ही जिस राष्ट्र के सामाजिक जीवन में हेर-फेर के कारण विद्यमान रहेंगे वह समाज कभी सुदृढ़ अस्तित्व को प्राप्त हो ही नहीं सकता। सामाजिक अस्थिरता का अर्थ ही है सामूहिक विकास को कुण्ठित कर देना। भारत की ग्राम्य व्यवस्था के लिए तो कौटुम्बिक विधान एक अमोघ अस्त्र है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति को जीवन-निर्वाह की समुचित सुविधाएँ प्राप्त हों, यही कौटुम्बिक व्यवस्था की विशेषता है। निस्सन्देह, यहाँ वैयक्तिक स्वच्छन्दता को स्थान नहीं। वस्तुतः, कौटुम्बिक व्यवस्था समाज के सम्मिलित जीवन की एक उत्कृष्टतम रीति है। काल-कालान्तर तथा कलमय आघातों से जब सारा सामाजिक ढाँचा ही अस्त-व्यस्त हो रहा है, उस दशा में सम्मिलित जीवन की महिमा ही क्योंकर स्थिर रह सकती है? यही कारण है कि आजकल लोग पारिवारिक बन्धनों को वैयक्तिक विकास का विरोधी बताने लगे हैं। हम स्वयं व्यक्ति के व्यक्तित्व और उसके पुरुषार्थ के समर्थक हैं। सर्वोदय की सारी कल्पना, सारी योजना ही

भारतीय कुटुम्ब व्यवस्था

---

1. Indian Economics, Vol. 1, Jathar & Beri, 1937 p. 110, 18.

कुटुम्ब प्रधान है परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यक्तिवाद की कृत्रिम और स्वच्छन्द लीलाओं से समाज के तारों को ही बिखेर दिया जाय ; ऐसा व्यक्तिवाद पूँजीवाद का ही द्योतक हो सकता है जहाँ 'लैसेज फेयर' के नाम से बलवानों को किसी के, किसी प्रकार के, हस्तक्षेप के बिना दुर्बलों को चूसते रहने का अवसर प्राप्त होता है। नारी प्रकरण में हम इस बात की ओर संकेत कर चुके हैं कि कौटुम्बिक विधान में श्रम और सम्पत्ति के अन्योन्याश्रित मूल निहित हैं। यहाँ हमें केवल इतना ही और कहना है कि यदि गरीबी, गर्भावस्था, रोग और वृद्धावस्था के बिलकुल ही प्राकृतिक बीमों की कहीं भी व्यवस्था हो सकती है तो वह केवल कौटुम्बिक प्रणाली में ही। यह प्राकृतिक बीमा सरकारी उलट-फेर या कर्मचारियों की घूसखोरी अथवा गबन से बिलकुल अछूता, सदा-सर्वदा अविचल गति से चला जाता है। इस प्रकार समाज की आर्थिक सुरक्षा का भी यह एक प्रबल अस्त्र है। श्रम और सहयोग की दृष्टि से भी यह एक अमूल्य साधन है। यहाँ एक के अभाव की पूर्ति दूसरे के श्रम और सहयोग से होती है अर्थात् राजनीतिक चंचलता, बाजारू उलट-फेर, साम्पत्तिक चढ़ाव-उतार, शारीरिक विवशता अथवा अन्य अनिश्चितताओं के विरुद्ध यह संयुक्त विधान व्यक्ति को समाज से अभयदान रूप में प्राप्त होता है।

संयुक्त परिवार

८०. इतना सब होते हुए भी कुछ लोगों का कहना है कि संयुक्त व्यवस्था में व्यक्ति को उसके श्रम का सम्पूर्ण पुरस्कार प्राप्त नहीं होता। ऐसा कौन लोग कह सकते हैं, स्वयं इस युक्ति से ही स्पष्ट हो जाता है। बात को और भी स्पष्ट करने के लिए यह प्रश्न होता है कि आखिर संपूर्ण पुरस्कार का क्या यही अर्थ है कि वृद्ध माता-पिता जीवन की साधारण सुविधाओं के लिए भी मुँहताज हों और पुत्र अपने परिश्रम के संपूर्ण पुरस्कार का हकदार होने के नाते मौज-मजे में व्यस्त हो ? यदि यह दशा अमान्य है, यदि इससे सामाजिक वैषम्य को घृणित कटुता प्राप्त होने का भय है तो प्रश्न यह होता है कि आखिर इसका प्रतिकार कौन करेगा ? यदि यह कहा जाय कि व्यक्ति की सुख-समृद्धि के लिए समाज अथवा सरकार उत्तरदायी है तो इसका यही अर्थ होगा कि व्यक्ति के सीधे, सरल और नैतिक उत्तरदायित्व का राज्य द्वारा कृत्रिम रूप से सञ्चालन किया जाय ; यही नहीं कि इस प्रकार प्रत्यक्ष को अप्रत्यक्ष कन्धों पर ढकेला जायगा, बल्कि इसका एक भयंकर परिणाम यह भी होगा कि सामाजिक जीवन में

शासकीय हस्तक्षेपों का घातक रोग उत्पन्न हो जायगा। यदि हम इस समूहवादी दृष्टिकोण को मान भी लें कि सरकार को सामाजिक जीवन में हस्तक्षेप करने का अधिकार है तो भी यही बात बनती है कि सारा समूह अपने व्यक्ति के सुख का उत्तरदायी है और संयुक्त परिवार में भी वही बात सरकारी पेचीदगियों का आवाहन किये बिना ही बिलकुल सरल और प्राकृतिक रूप से नैतिकतापूर्वक हल की गयी है। अन्तर यही है कि यहाँ प्रत्येक परिवार समाज में इकाई रूप से कार्य कर रहा है। परिणामतः समाज को एक अडिग अस्तित्व प्राप्त होता है जब कि दूसरी ओर व्यक्ति-रूपी अस्पष्ट और अनिश्चित, असंख्य इकाइयों द्वारा कार्य करने की एक कृत्रिम कल्पना है। सामूहिक जीवन का मापदण्ड सामूहिक ही हो सकता है, न कि वैयक्तिक। प्रत्येक व्यक्ति का समाज पर पृथक्-पृथक् बोझ रहने से एक अत्यन्त जटिल और महँगे शासन की सृष्टि होगी। जो भी हो, यह या वह, प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वार्थों का समूह के स्वार्थों से सामञ्जस्य स्थापित करना ही होगा, अन्यथा 'श्रम के संपूर्ण पारिश्रमिक' का प्रचार उस भेड़िये (पूँजीपति, पूँजीवादी) की चाल मानी जायगी जो एक हाते में सुरक्षित भेड़ों को गड़रिये की गल्लेबानी के विरुद्ध भड़का कर भेड़ों को हाते के बाहर स्वतंत्र विचरने की सलाह देता है और पुनः उन्हें सुविधानुसार एक-एक करके खाता रहता है। संक्षेप में, श्रम का सामञ्जस्य हीन और स्वच्छन्द पारिश्रमिक अथवा पुरस्कार बिलकुल अतार्किक बात है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कुछ लेन-देन के साथ प्रत्येक व्यक्ति सामूहिक हितों के साथ अपनी ही स्वार्थरक्षा करता है। यह कहना न होगा कि संयुक्त व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति घातक स्वच्छन्दता के स्थान में आत्मसंयम और त्यागपूर्वक उन्नति-पथ में सहज ही आरूढ़ रहता है।

८१. संयुक्त व्यवस्था के विरुद्ध दूसरा दोषारोप यह किया जाता है कि पारिवारिक उत्तरदायित्व में बँधा हुआ व्यक्ति आज-कल की व्यावसायिक आवश्यकताओं के अनुकूल साहस करने में असमर्थ सिद्ध होता है। यदि सच पूछा जाय तो कोई भी विवेकी पुरुष ऐसी व्यावसायिक उन्नति का कदापि समर्थक नहीं हो सकता जो खाई और खड्ड के बीच साहस की भयावह लीक पर चल रही हो और जहाँ रह रहकर 'पनामा' या 'क्रूगर' के दीवालों से समाज के पंजर ढीले पड़ जाया करते हों, जिसका सामूहिक फल युद्ध और उत्पीड़न हो, प्रति दसवें वर्ष पूँजीवादी संकट (Capitalist crises) जिसके प्रमुख लक्षण हों। हम ऐसी तेज

रफ्तार के शौकीन नहीं जो विषम ज्वर के तापमान के समान क्षण-क्षण में नीचे-ऊपर होती रहती है। हम तो उस मन्दगति को अधिक अच्छा समझेंगे जिसमें धीमी परन्तु एक सुनिश्चित प्रगति का आयोजन हो, और जिस आयोजन में एक के साथ दूसरे का उत्तर-दायित्व सम्मिलित हो। भारत की पूर्वकालीन विश्व-विश्रुत तिजारत और उद्योग-धन्धे इसी बात के प्रमाण हैं। हम निःशङ्क होकर कह सकते हैं कि हमारी उस उन्नति में हमारे पारिवारिक जीवन द्वारा प्राप्त होनेवाले सम्मिलित उत्तरदायित्व का एक बहुत बड़ा योग था। परन्तु खेद है कि आज 'लैसेज फेयर' तथा अंग्रेजी कानूनों के स्वच्छन्द व्यक्तिवाद ने उनकी नींव को खोखला कर दिया है, हम निढाल और पथ-च्युत हो गये हैं।

परिवार और वैयक्तिक साहस

८२. यह कहना बिलकुल गलत है कि तब आज के समान रेल और जहाज न थे और इसीलिए लोग संयुक्त रूप से एक-दूसरे में बँधे हुए—कौटुम्बिक जीवन व्यतीत करते थे। यह बात ठीक है कि तब पूँजी का मुख्य आधार भूमि थी और सामूहिक सुरक्षा की दृष्टि से भूमि का अविभाज्य होना ही उचित था। अतएव अविभाज्य वस्तु पर निर्भर करनेवाली व्यवस्था को भी अविभाज्य होना ही था, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि केवल गमनागमन के अभाव में ही संयुक्त व्यवस्था का विधान हुआ था। यथार्थतः, जैसा कि हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं, हमारी कौटुम्बिक व्यवस्था में, भौतिक साधनों से बिलकुल स्वतन्त्र, एक सम्मिलित (Corporate) समाज का प्रबल सैद्धान्तिक आधार था और आज भी रेल और जहाजों के बावजूद हमें उसे सुरक्षित रखने में ही हित दीखता है। भारत प्रभृत कृषिप्रधान देश में भूमि की रक्षा के निमित्त तथा उसे अनर्थपूर्ण (Non Economic) विभाजन और उप-विभाजन से बचाने के लिए भी कौटुम्बिक व्यवस्था परमावश्यक है। इसे आज की बहु प्रचारित सामूहिक कृषि (Collectivism) का सुसंस्कृत रूप ही समझना चाहिये।

संयुक्त परिवार सामूहिक कृषि का संतुलित रूप है

विनोबा जी के भूमि-दान-यज्ञ ने सामूहिक कृषि को एक नया महत्त्व प्रदान कर दिया है। विनोबा जी कहते हैं 'गाँव की सारी जमीन सारे गाँव की है।' 'कृषि और खाद्य समस्याओं' का विवेचन करते हुए 'संतुलित

और सम्पूर्ण' कृषि की योजना दी गई है जहाँ वैयक्तिक कृषि का सामूहिक स्वरूप निर्धारित हो जाता है। परन्तु इस प्रसंग में प्रश्न के एक नये पहलू पर विचार करने की जरूरत है।

'गाँव की सारी जमीन सारे गाँव की है'—इसका मतलव तो केवल यही हुआ कि जमीन पर व्यक्ति का स्वच्छन्द अधिकार नहीं रह सकता, वह उसे स्वेच्छानुसार बेंच नहीं सकता, हस्तांतरित नहीं कर सकता। व्यक्ति के स्वार्थ में समूह का स्वार्थ अन्तर्हित है, इसलिए धरती को अविभाज्य रहना ही चाहिये। इसीलिए हमने कहा है कि संयुक्त परिवार के लिए संयुक्त सम्पत्ति का होना अनिवार्य है परन्तु मंगरौठ जैसे उदाहरणों ने इस प्रश्न में एक और दृष्टिकोण पैदा कर दिया है। मंगरौठ ने गाँव की सारी जमीन भूमि-दान-यज्ञ में समर्पित कर दी और अब मंगरौठ की सारी जमीन सारे गाँव की हो चुकी है। यहाँ, स्वभावतः, सम्मिलित और सहयोगी कृषि की योजना बनी है। नवभारत में पृथ्वी के स्वामित्व पर पारिवारिक इकाइयों में विचार किया गया है; गाँव की इकाई को उसी का बड़ा स्वरूप समझना होगा। परन्तु इस इकाई को इससे आगे संपूर्ण देश या राष्ट्र तक नहीं बढ़ाया जा सकता वरना वह समूहवादी जड़ता को प्राप्त हो जायेगा। खैर, यह इकाई पारिवारिक हो या ग्राम्य, इसे उत्पादन का एक सहज और सुविधाजनक तरीका ही मानना होगा, स्वामित्व का प्रश्न इससे बिल्कुल अलग है। पृथ्वी तो उत्पत्ति का एक साधन मात्र है, इससे प्राप्त होनेवाले धन-धान्य पर ही स्वामित्व का प्रश्न यथार्थ मूल्य रखता है। सारे गाँव के लोग मिलकर एक साथ काम करें या गाँव के सारे परिवार पारस्परिक सहयोग के साथ मिलकर काम करें और फिर लोगों को स्वामित्वपूर्वक उनकी जरूरत के मुताबिक उपभोग के लिए चीजें उपलब्ध हों—दोनों बातें एक सी हैं। मूल बात ध्यान में रखने की यह है कि व्यक्ति की एक स्वतन्त्र और चेतन सत्ता है; काम करने की इकाई छोटी हो या बड़ी, हम व्यक्ति की उपेक्षा कर नहीं सकते और इसीलिए सामूहिक सुख और सम्पन्नता के लिए स्वामित्व का वैयक्तिक पैमाना जरूरी मालूम पड़ता है।

सामूहिक सम्पन्नता के लिए वैयक्तिक पैमाना जरूरी है

८३. परन्तु यहाँ आकर एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह होता है कि क्या संयुक्त परिवार में बँधा हुआ समुदाय क्षेत्र-च्युत और गतिहीन (Immobile) न हो जायगा ? यानी गतिहीन समुदाय का श्रमिक वर्ग (Labour)

भी गतिहीन हो जायगा और साम्पत्तिक उत्पत्ति (Production of Wealth) में त्रुटि उत्पन्न हो जायगी। परन्तु बात ऐसी नहीं है। सर्वप्रथम तो नवभारत की उत्पादन व्यवस्था ही निःकल (Non-mechanised) विस्तार पर अवलम्बित होती है जहाँ काशी की जनता को कानपुर या अहमदाबाद की मिलों में जाकर मजदूर नहीं बनना पड़ता। काशी में उत्पन्न होनेवाले कच्चे माल से यथाशक्य काशी में ही पक्का माल तैयार किया जाता है जिसके लिए वहाँ व्यापक साधन विद्यमान हैं। दूसरी बात यह भी है कि रेल और जहाजों को मजदूरों को ढोने में नहीं, उनके माल को ढोने में सहायक बनना चाहिए। परन्तु इन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि नवभारत की उत्पादन विधि समाज को श्रमिक (Proletariat) साँचे में नहीं ढाल देना चाहती। यहाँ सब अपने श्रम और उत्पत्ति—दोनों के ही स्वयं स्वामी हैं। इस प्रकार जब यहाँ श्रमिकों की ही समस्या नहीं तो उनकी गतिहीनता (Immobility) का कहाँ प्रश्न उठता है ?

श्रम की गतिहीनता और नवभारत की उत्पादन विधि

८४. इसके अतिरिक्त संयुक्त व्यवस्था का यह कदापि अर्थ नहीं कि कुटुम्ब के सभी सदस्य एक-दूसरे के नेत्रों के सम्मुख बँधे रहें। यह तो केवल समाज का एक कर्तव्य विधान है जिसमें प्रत्येक प्राणी एक दूसरे के प्रति अपने उत्तरदायित्व को निभाते हुए कार्यरत रहता है। काशी के परिवार का एक व्यक्ति भले ही बम्बई में कार्य कर रहा हो परंतु वहाँ रह कर भी वह अपने कर्तव्यों का पालन कर सकता है। यदि ऐसा नहीं है तो समाज का शीराजा ही बिखर जायगा जैसा कि आज नजर आ रहा है। आज यहाँ कमाया, कल उखड़ कर दूसरी जगह चले गये। इस प्रकार आदिकालीन बद्दू स्थिति का साम्राज्य होगा। समाज में स्थायित्व और सुदृढ़ता आ ही नहीं सकती।

संयुक्त व्यवस्था समाज का कर्तव्य विधान है

८५. इस सम्बन्ध में हम यह भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि नवभारत का श्रम-संगठन इसी तत्व को लेकर ही हो सकता है; नवभारत का श्रम संगठन विभिन्न वस्तुओं और मिलों (जैसे कपड़ा, चमड़ा, लोहा या चीनी) को लेकर नहीं, विभिन्न क्षेत्रों को लेकर होगा और उसका साक्षात् सम्बन्ध स्थानीय (ग्राम्य) पञ्चायतों से ही होगा। इस प्रस्ताव के

नवभारत की श्रम नीति

व्यावहारिक स्वरूप पर हम नवभारत के दूसरे भाग में विचार करेंगे। यहाँ इस सम्बन्ध में केवल यही कहना पर्याप्त होगा कि यदि लोगों को अपने स्थान और अपनी स्थिति में ही कार्य सुलभ न हो तो उसे कार्यहीन कहना चाहिये। यदि किसी गाँव के निवासी को सैकड़ों मील की दुर्लभ दूरी ते करके कार्य के लिए कानपुर के बाजार, बम्बई की मिलों या दिल्ली के दफ्तरों में टक्कर मारनी पड़े तो यह काम नहीं, एक विनाशक उपहास होगा। कहने का अभिप्राय यह कि भारत को समुन्नत और समृद्धिशाली बनाने के लिए भारत के लाखों गाँवों को कार्ययुक्त बनाना पड़ेगा जो भारत सरकार के राष्ट्रीय नियोजन या बहु प्रचारित बम्बई योजना के कलमय मंसूबों द्वारा नहीं, चर्खात्मक उत्पादन के सीधे-सादे और प्राकृतिक विधान से ही सम्भव होगा, जो गाँव-गाँव, घर-घर प्रत्येक व्यक्ति को कार्य देने का एकमात्र समर्थ साधन है। भारत सरकार के राष्ट्रीय नियोजन ने देश की सुख-समृद्धि का अभूतपूर्व दावा पेश किया था; परन्तु यह दावा कोरा सुख-स्वप्न ही था—इसमें राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को काम मिलेगा, यह कल्पना भी नहीं थी। अब इस मौलिक त्रुटि का स्वयं नियोजकों को ही प्रमाण मिल चुका है। वर्षों तक अरबों रुपये खर्च करने के बाद भी देश की दरिद्रता और बेकारी बढ़ती गयी। अब हार कर उसमें सुधार करने का विचार हो रहा है।

अब श्रम के साम्पत्तिक पहलू को भी समझ लेना आवश्यक प्रतीत होता है। श्रम की दृष्टि से सम्पत्ति के दो मुख्य अंग होते हैं—उत्पादन और वितरण। उत्पादन और उत्पत्ति का नैसर्गिक अर्थ है कि उसका पूर्ण उपभोग किया जाय। अतः सम्पत्ति का श्रेष्ठतम रूप यही हो सकता है कि उत्पत्ति के साथ ही साथ उसका वितरण भी स्वयं होता चले। श्रम की यही स्वास्थ्य-कर एवं समुन्नत रीति है। इस दृष्टि से जब कि हम उत्पादक श्रम पर विचार करते हैं तो हमारे कार्यों की एक विशेष एवं विशिष्टतम प्रणाली बन जाती है जिसे हम चर्खात्मक विधान से परिलक्षित करते हैं। यहाँ लागत का अधिकाधिक भाग पारिश्रमिक रूप में जाता है, अर्थात् उत्पादन के साथ ही धन का वितरण भी होता जा रहा है। इसके अतिरिक्त चूँकि उत्पादक वर्ग स्वयं उपभोक्ता वर्ग है इसलिए आधिक्य को छोड़ कर उत्पत्ति के एक प्रमुख भाग का वह स्वयं स्वामी भी है। परिणामतः सम्पत्ति का केन्द्री-करण नहीं, विकेन्द्रीकरण होता है और समाज में साम्पत्तिक विषमता की न्यूनतम आशंका रह जाती है। 'कलमय' प्रणाली में दशा ठीक इसी के

विपरीत होती है। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने उत्पादक श्रम के सम्बन्ध में बिलकुल स्पष्ट और सचेष्ट हो जाय, अन्यथा नवभारत की पुनर्रचना की सारी योजनाएँ कलमयता के गोरख-धंधे में फँसकर नष्ट-भ्रष्ट हो जायँगी।

(ग) बेकारी

(१)

८६. यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि किसी भी श्रमपूर्ण समाज का सच्चा स्वरूप वही हो सकता है जहाँ प्रत्येक व्यक्ति स्वामित्वपूर्वक कार्ययुक्त हो सके। यदि कुछ लोग कार्य करें और कुछ बेकार रहें अथवा सरकारी भत्तों या अन्य कृत्रिम साधनों द्वारा जीवन संघर्ष के झकोरे खाते रहें तो हम निःशंक होकर कहेंगे कि हमारा सारा श्रम विधान ही दोषयुक्त है।

प्रारम्भिक

हमने 'भारतीय समाज की आर्थिक नींव' का विवेचन करते हुए स्पष्ट कर दिया है कि जब तक आर्थिक निर्माण का उत्तरदायित्व मनुष्य की नैतिकता पर अवलम्बित नहीं होता, समाज की संघटन धुरी टूट जायगी, बेकारी और शोषण का महारोग संसार को नष्ट-भ्रष्ट कर देगा। वास्तव में आज 'बेकारी' समस्त संसार की एक भयानक समस्या बन गयी है। संसार के कोने-कोने में बेकारी की व्यापकता ही सिद्ध करती है कि यह राजनीतिक समस्या नहीं, बल्कि विश्व की वर्तमान व्यवस्था का एक अंगभूत दोष है।

हम यह नहीं मान सकते कि यह केवल आर्थिक या केवल सामाजिक प्रश्न है। यद्यपि इसे राजनीतिक की अपेक्षा आर्थिक प्रश्न समझना अधिक आकर्षक मालूम होता है, पर असलियत यह है कि राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, नैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक—सारी अव्यवस्थाओं के समुच्चय मात्र से ही यह स्थितिभूत हुई है।

आज "सर्व सुयोग्यों का जीवनाधिकार" और जीवन संघर्ष की गाथाएँ तथ्यहीन सी मालूम पड़ने लगी हैं। "भोजनागार में भूखपीड़ा" को देख कर कहना ही पड़ता है कि दुनिया की चक्की में कहीं से खराबी पैदा हो गयी है, कोई पुर्जा ढीला पड़ गया है और हम जब तक उसी मूल बिन्दु पर उँगली नहीं रखते तब तक रूस के पञ्च-वर्षीय विधान, "नैशनल प्लैनिंग कॅमिटी" के बड़े से बड़े मनसूबे अथवा सप्रू कॅमिटी

की रिपोर्ट, सारा एक उमड़ती हुई नदी के भँवर में पड़े हुए लाचार प्राणियों को "डूबना नहीं" की आवाज सुनाने के सिवा और कुछ नहीं होगा।

यह कहना नहीं होगा कि यदि हमें किसी सत्य की खोज है तो हौसले और साहस के साथ हमें विषय की गहराई में जाना होगा। यहाँ राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक—सारी समस्याएँ उलझी हुई नजर आ रही हैं। रूस का[1] समूहवाद या अमेरिका का लोकतंत्र—सर्वत्र बेकारी का साम्राज्य देख कर हमें निर्विवाद रूप से स्वीकार करना पड़ता है कि बेकारी का उद्भव किसी एक ऐसे कारण से हुआ है जिसका नाता देश या राष्ट्रीय विधान से नहीं, युग से है। हम इसे "यंत्र युग" कहते हैं; पूँजीवाद और समूहवाद, दोनों यन्त्राधीन हैं, दोनों ही मशीन के पृष्ठपोषक हैं और दोनों ही बेकारी के शिकार हैं; यदि एक प्रत्यक्ष रूप से तो दूसरा प्रच्छन्न रूप से ही सही।

इतिहास के पन्नों को गौर से उलटने पर स्पष्ट हो जाता है कि यूरोप की १८वीं शताब्दी में औद्योगिक क्रान्ति के समय से ही बेकारी का सामाजिक और सामूहिक बीजारोपण हुआ और ज्यों-ज्यों यह उद्योग-वाद, या यन्त्रयुग जघन्य होता जा रहा है, बेकारी अमित विस्तार को प्राप्त होती जा रही है। इसीलिए हमारा मत है कि यदि इस यन्त्रयुग पर एक गम्भीर दृष्टि डाली जाय तो हम बेकारी के कारण और उसके नाश के उपाय सोचने में अवश्य सफल होंगे।

वास्तव में देखा जाय तो मनुष्य अब मनुष्य नहीं रहा। वह तो अब मशीन का एक पुर्जा है। प्रोफेसर टॉसिग प्रभृत अर्थशास्त्री का इसी बात का समर्थन प्रसिद्ध समूहवादी विद्वान स्ट्रेची भी करते हैं।

संसार की सम्पत्ति बढ़ती जा रही है, परन्तु उस पर कुछ व्यवसायियों का ही अधिकार है; वैयक्तिक या समूहवादी एकाधिकार हो—दोनों के उत्पादन का आधार मशीन है और मशीन का गुण है केन्द्रीकरण तथा एकाधिकार। परिणामतः, जीवन साधन उन्हीं कुछ लोगों के हाथ में आ जाता है जिनके अधीन उत्पादक मशीनें हैं और यह सब केन्द्रित रूप में व्यावसायिक केन्द्रों के चारों ओर ठसाठस भर जाते हैं, जो शहरी सभ्यता का रूप धारण करते हैं। एक ओर तो फैला हुआ मानव समाज अपना मूल कार्यक्षेत्र छोड़कर स्थल विशेष में केन्द्रित होने लगता है, दूसरी ओर

१. रूप में बेकारी"—इस वाक्य का प्रयोग करने में हमारा क्या प्रयोजन है इसका हम उल्लेख कर चुके हैं।

इन केन्द्रों में जरूरत से ज्यादा भरमार हो जाने के कारण कलह, द्वेष, अनावश्यक संघर्ष, चोरी, डाका, गर्भपात तथा अनाचार की वृद्धि—एक साधारण-सा नियम बन जाता है। यह न भूलना चाहिये कि मशीनों ने मानव के व्यक्तित्व को ग्रस लिया है। मनुष्य का जीवन अमानुषिक संघर्षों का जञ्जाल बन गया है।

८७. इन सबके ऊपर एक विशेष बात यह है कि ज्यों-ज्यों मशीनें संसार के कार्यों में अपना स्थान बनाती जायँगी, जीवधारियों की बेकारी इसी अनुपात से बढ़ती जायगी। स्वभावतः एक ओर उग्र वेग से बढ़ती हुई बेकारी और दूसरी ओर निर्दयतापूर्ण मशीनाश्रित कटु संघर्ष तथा जड़वादी जीवन है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि मशीनों ने हमारे जीवनाधार और संस्कृति, सबको छिन्न-भिन्न करके हमें पशुतुल्य बना दिया है। अतएव हम दृढ़तापूर्वक कह सकते हैं कि यदि हमें बेकारी का कारण ढूढ़ना है तो सर्वप्रथम मशीनों को मनुष्याधीन बनाना होगा न कि उलटे मनुष्य को ही मशीनों का पुर्जा (Tools of Machines) बना दिया जाय। मनुष्य को इस प्रकार मनसा, वाचा, कर्मणा, प्रत्येक रूप से मशीनों की मुँहताजी को तजकर स्वावलम्बी होना होगा। जब तक इसी दृष्टि से संसार को सुरक्षित नहीं बनाया जाता, बेकारी की समस्या हल न होगी। और बेकारी का मूलोच्छेदन किये बिना 'नवभारत' का निर्माण हो ही नहीं सकता। केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने से ही भारत का नव-निर्माण सम्भव नहीं होगा। वर्णविहीन, वर्गविहीन सुखी और सम्पन्न जीवन की एक शान्तिमय एवं विकासमान स्थिति को प्राप्त होने के लिए यंत्रों की मर्यादा कायम करनी ही होगी।

यंत्रों की मर्यादा कायम करने की आवश्यकता

८८. परन्तु बात तो यह है कि वर्तमान युग को ध्यान में रखते हुए हमारी शिक्षण प्रणाली में ही जब तक आमूल परिवर्तन नहीं होता हम श्रमपूर्ण समाज के सच्चे और सुयोग्य पात्र बन ही नहीं सकते। गांधी जी ने समाज के लिये 'नयी तालीम' यानी नवशिक्षा का विधान किया जो 'वर्धा पद्धति के नाम से विख्यात है। मूलतः वर्धा पद्धति है क्या ? इस सम्बन्ध में गांधी जी स्वयं लिखते हैं—"चर्खा सदृश ग्रामोद्योगों को प्राथमिक शिक्षा का माध्यम बनाकर मैं समाज में एक प्रशान्त क्रान्ति का अग्रदूत स्थापित करना

नयी तालीम बनाम वर्धा पद्धति

चाहता हूँ। इसके द्वारा शहर और गाँव के पारस्परिक सम्बन्ध को एक स्वस्थ और नैतिक आधार प्राप्त होगा, सामाजिक अस्थिरता और वर्ग भेद के जहरीले कीटाणु नष्ट हो जायेंगे। और यह सब बिना किसी प्रकार के वर्ग युद्ध की विभीषिका के ही सम्भव हो सकेगा। भारत जैसे विराट देश को कारखानों से युक्त बनाने में जिस अकल्पनीय धनराशि की आवश्यकता होगी उसके बिना ही इस शिक्षण पद्धति को कार्यान्वित किया जा सकता है। मुख्य बात तो यह है कि वर्तमान मशीनों के संचालन योग्य अत्यन्त विशेष शिक्षण की आवश्यकता से मुक्त होने के कारण हम इस शिक्षा पद्धति द्वारा सर्वसामान्य के भाग्य की कुञ्जी, जैसा कि पहले भी था, उन्हीं के हाथ में सौंप देंगे।[1]

वर्धा पद्धति आर्थिक पुनरुद्धार का परम साधन होते हुए भी एक शिक्षण पद्धति है। अतएव उस पर बिलकुल अलग से विचार करना होगा। व्यावहारिक जानकारी के लिए आवश्यक है कि पाठक उसका अध्ययन, मनन और साक्षात् अनुभव प्राप्त करके भारत के पुनर्निर्माण में लगें, केवल सरकारी योजनाओं की ओर आँख लगाये बैठे रहना अनुचित होगा।

(२)

बेकारी के व्यावहारिक पहलू पर दूसरे भाग में विचार होगा, यहाँ हम इसके सैद्धांतिक पहलू पर ही विचार कर रहे हैं।

८७. बेकारी दूर करना अर्थात् लोगों को कार्ययुक्त कर देना ही विशेष बात नहीं। लोगों को अनेक प्रकार से कार्ययुक्त किया जा सकता है, जैसे अपूर्ण श्रम के लिए सम्पूर्ण पारिश्रमिक (१-१, २-२, ३-३ घंटों का ही श्रम-काल : Labour time) देकर अथवा अनावश्यक[2] और अनुत्पादक[3] कार्यों में लगाकर। यदि लोगों को कार्ययुक्त कर देना ही

सच्चा श्रम-विधान

१. हरिजन, ९-१०-३७

२. अनावश्यक कार्य = गाँवों में सीमेण्ट और कंकरीट की सड़कें बनवाने लगना, वर्षा में दो-चार दिन उमड़ जानेवाले नालों को इस्पात के पुलों से परिपूर्ण कर देना, भारतीय गाँवों में 'मेट्रो', या 'प्लाज़ा' सदृश भव्य सिनेमा भवनों की व्यवस्था अथवा सदुपयोगी चिकित्सालयों के स्थान में बड़े-बड़े 'डेन्टिस्ट हाल' या सस्ते और सीधे हिसाबियों के स्थान में अमेरिका के चार्टर्ड एकाउण्टेण्ट स्थापित करना।

३. अनुत्पादक = युद्ध और युद्ध निमित्त सैनिकों का बृहत् संहारी कार्य।

विशेष बात नहीं है तो हमारा कार्य ऐसा होना चाहिये जो हमारे व्यक्तित्व को विकासमान, हमारी कर्तृत्व शक्ति को यशस्वी और गतिमान, हमारी ज्ञानवृद्धि में सहायक, हमारे लोक संग्रह का साधक और कार्य तथा श्रम के स्वाभाविक अनुपात के साथ दूसरों को भी कार्यशील बनाने का कारण सिद्ध हो। इसके विपरीतवाला ढंग अधिकाधिक एक संकटकालीन व्यवस्था मात्र हो सकता है जिसे शुद्ध अर्थविधान मानने में भी हमें विरोध होगा। इतना ही नहीं, ऐसे किसी भी अन्य उपाय से बेकारी का वास्तविक मूलोच्छेदन नहीं हो सकता। परन्तु परिहास की बात तो यह है कि ब्रेल्सफर्ड[1] और करी[2] इसी कलमय विधान का प्रस्ताव करने में नहीं हिचकते। ब्रेल्सफर्ड का कहना है कि मशीनों द्वारा चार व्यक्तियों का कार्य दो ही व्यक्ति कर लेंगे और शेष दो को अन्य कार्यों में लगाया जा सकेगा। यह बात तो स्वतः अपने ही प्रस्तावों से खण्डित हो जाती है। इसकी मौलिक त्रुटि यह है कि प्रत्येक कार्य में मशीनों के कारण आदमियों की बचत होगी। अध्यापन वृत्ति को ही लीजिये। प्रत्येक गाँव में पाठशाला और उन पाठशालाओं में शिक्षक समुदाय के बजाय प्रत्येक केन्द्र में एक एक रेडियो से अनेक शिक्षकों का कार्य सम्पादित किया जा सकेगा। वर्ण विधान में कार्यों के वर्णसंकर की जो बात हमने कही है उसके अतिरिक्त यह भी बात है कि कारखाने से आदमियों को बचाकर आप अध्यापक बनाना चाहते हैं परन्तु यहाँ तो रेडियो आदि के कारण यों ही अध्यापकों की बचत हो रही है। जो थे उन्हीं की समस्या उपस्थित है, दूसरों को कहाँ से स्थान मिलेगा। मानो ब्रेल्सफर्ड साहब की पक्ष रक्षा के लिए ही करी साहब कहते हैं—"बेकारी सभ्यता का अनिवार्य अङ्ग है।" यह कैसी सभ्यता जो हमें कार्यों से भी वञ्चित करके कोढ़ी, दरिद्र, रोगी और मुँहताज बना दे। हमारा कार्य और श्रम विधान ऐसा होना चाहिये जिससे मनुष्य निरन्तर लोक संग्रह और जीवन को सुरुचिपूर्वक सार्थक बनाने में व्यस्त रहे। यही सच्चा श्रम-विधान है जहाँ बेकारी की कल्पना भी नहीं होती।

(३)

६०. (अ) कुछ लोगों का खयाल है कि भारत में जनवृद्धि के कारण

---

१. बी० बी० सी० भाषणमाला—एच० एन० ब्रेल्सफर्ड।

२. A Case For Federal Union, P. 71,—W. B. Curry.

बेकारी बढ़ रही है, अतएव जनन-निग्रह को सरकारी कानून बनाकर पैदाइश को ही रोक दिया जाय। लोगों के लिए कार्य की सृष्टि करने के बजाय हम कार्य माँगनेवालों को ही नेस्तनाबूद कर देना चाहते हैं। जनवृद्धि और जनन-निग्रह के सम्बन्ध में पीछे के स्थलों में आवश्यक उल्लेख किया जा चुका है और उससे यह स्पष्ट हो जायगा कि भारत में जनवृद्धि का प्रश्न ही नहीं उठता, उससे उत्पन्न बेकारी की तो बात दूर रही। यहाँ इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि समस्याओं को गलत रूप देने से हमारी सारी सामाजिक रचना ही नष्ट-भ्रष्ट हो जायेगी। इसलिए इस प्रश्न को सावधानीपूर्वक सुलझाने की जरूरत है।

प्रश्न को सही तौर से सावधानीपूर्वक समझना चाहिये

(ब) भारत में कृषि का ही मुख्य अलम है। परन्तु बात यह है कि सामूहिक रूप से कृषक वर्ग वर्ष के बारहों महीने कार्यशील नहीं रहता। फसलों के बीच उसे ४ से ६ महीने तक बेकार रहना पड़ता है। इस प्रकार यही नहीं कि राष्ट्र को गहरी साम्पत्तिक क्षति उठानी पड़ती है बल्कि यह भी कि लोगों का आर्थिक मान (Standard) घट जाने से उनका सामाजिक धरातल (Level) भी नीचे उतर आता है। फलतः सामाजिक विकास अवरुद्ध हो जाता है, लोग उन्नति के बजाय अवनति की ओर अग्रसर होते हैं। दरिद्रता और रोग के विषैले कीटाणु सामाजिक जीवन के अङ्ग बन जाते हैं, निरीह प्राणियों का जन बाहुल्य पुरुषार्थ का अवलम्ब त्याग कर भिक्षा वृत्ति या सरकारी सहायता की ओर दौड़ने लगता है। धीरे-धीरे वर्गभेद और कुसंस्कारों का घातक आवरण समाज को आच्छन्न कर लेता है, और अन्त में हमारी समस्त समाज रचना ही संशय में पड़ जाती है। भारत जैसे मानसूनाश्रित बृहत् भूखण्ड में इस कृषिजन्य बेकारी को वर्षा के अभाव या अतिवृष्टि के प्रभाव से और भी तेजी के साथ बढ़ने का अवसर प्राप्त होता है। अतएव, भारत को बेकारी से मुक्त करके सुखी और समृद्धिशाली बनाने के लिए हमें सर्वप्रथम कृषकों को समर्थ और स्वावलम्बी बनाना होगा। और यह उसी समय सम्भव हो सकता है जब कृषि को सहायक उद्योगों का बल प्राप्त हो जिन्हें कृषि के साथ-साथ अथवा फालतू समय में सफलतापूर्वक चलाया जा सके जैसे मधुमक्खी, गोपालन, चर्खा या अन्य ऐसे ही कार्य।

कृषिजन्य बेकारी

(स) मशीनों की बाढ़ से भारत का ग्रामोद्योग लुप्तप्राय-सा हो चला

बेकारी—ग्रामोद्योगों के अभाव में

हैं । तेली, जुलाहे, पिसनहरियाँ, कागजी, बढ़ई, लुहार—सभी उद्योगहीन होकर या तो कारखानों की रक्त शोषक मजदूरी की ओर निराश्रित-से दौड़ने लगे हैं अथवा खेतों पर टूट पड़े हैं । परिणाम यह हुआ है कि भारत की कृषि अपर्याप्त नज़र आने लगी है और बेकारी को प्रश्रय मिला है । इस दृष्टि से भी शीघ्रातिशीघ्र ग्रामोद्योगों को पुनर्जीवित कर देना होगा ताकि सुदृढ़ और स्वावलम्बी समाज का अस्तित्व कायम हो सके ।

बेकारी—अस्वास्थ्य के कारण

(द) यह कहना न होगा कि दरिद्रता में रोग को प्रोत्साहन मिलता है और रोगी प्राणी समुचित रूप से श्रम कर ही नहीं सकता । बेकारी का यह एक दूसरा रूप है जिससे राष्ट्र की आर्थिक क्षति के साथ समाज का सामूहिक कर्तृत्व भी नष्ट हो जाता है । इसका अभिप्राय यह है कि भारतीय समाज को उन्नत और क्रियाशील बनाने के लिए उसे रोग जन्य बेकारी से मुक्त करना होगा अर्थात् दरिद्रता निवारक अन्य उपायों के साथ उत्कृष्ट ग्राम्य चिकित्सा की व्यापक व्यवस्था करनी होगी; व्यवस्था भी ऐसी हो जिसका भारत की ग्रामीण जनता को सहज लाभ मिल सके ।

वर्णगत या धार्मिक बेकारी

(य) यह ठीक है कि वर्ण व्यवस्था, दाम्पत्य विधान तथा कौटुम्बिक जीवन में एक सबल समाज के मूल निहित हैं परन्तु वर्तमान परिस्थितियों में, जब कि समाज का कर्तव्य और शासन दण्ड नष्ट-भ्रष्ट हो चुका है, अनेक लोगों को मुफ्तखोरी अर्थात् बेकारी का अनुचित अवसर प्राप्त होता है । कुछ तो शासकीय प्रणालियों और कलमय आघातों ने लोगों को साधनहीन बना दिया है और लोग लाचार होकर उपर्युक्त स्थलों पर आ छिपते हैं और कुछ यह भी होता है कि अनेक मुफ्तखोर भारत की प्रचलित रूढ़ियों की आड़ में पड़ कर सहज ही जीवन संघर्ष से बच जाने का उपाय करते हैं अर्थात् बेकारी को जन्म देते हैं । अतएव आवश्यक है कि शुद्ध समाज रचना के निमित्त समाज को कर्तव्यशील रखा जाय । यह एक स्वतन्त्र विषय है, परन्तु यहाँ प्रसंगवश कहना ही होगा कि समाज का सामूहिक धर्म है कि वह अपने व्यक्तियों को साधन युक्त और कर्तव्यशील बनाये रखे । कौन साधनों के अभाव से

लाचार है, कौन अपने कर्तव्य से च्युत हो रहा है—इन सब की सम्मिलित देख-रेख करनी होगी। यह केवल ग्राम्य पंचायतों द्वारा ही सम्भव हो सकेगा[1] जो चर्खात्मक विधान के ज्ञानमय कर्मकाण्ड द्वारा (जिसकी गांधी जी ने नयी तालीम में सृष्टि की है) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ईसाई, मुसलमान, सबके सम्मिलित स्वार्थ रक्षा की एकमात्र अधिकारिणी होंगी।

सरकारी और व्यापारी बेकारी

(२) भारत की बेकारी में प्रचलित शासन और व्यावसायिक प्रणालियों का भी बहुत बड़ा हाथ है। यद्यपि यह सब अन्य स्थलों के विषय हैं, तथापि उनके सैद्धान्तिक आधारों की ओर संकेत कर ही देना है।[2]

१—कहीं भी, विशेषतः भारत में वर्तमान शासकीय व्यय का समाज से बहुत बड़ा सम्बन्ध रहता है। इतना बड़ा खर्च समाज के आर्थिक जीवन पर प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकता। करोड़ों-अरबों के आय-व्यय से स्वभावतः समाज के सुख-दुःख का एक अकाट्य सम्बन्ध होता है। जब हम

राजस्व और बेकारी

देखते हैं कि सरकारी कोष का करोड़ों रुपया विलायती माल पर लगा दिया जाता है तो यह समझने में तनिक भी देर नहीं लगती कि भारत की दुखद बेकारी के लिए हमारी सरकार स्वयं ज़िम्मेदार है। बात बिलकुल सीधी सी है। करोड़ों-अरबों का माल जिसे भारत स्वयं सरलतापूर्वक तैयार कर सकता है, यदि उसकी पूर्ति विलायत से की जायगी तो इसका एकमात्र अर्थ यही होगा कि उसमें लगनेवाला देश का श्रम और सम्पत्ति—दोनों बेकार बना दिये गये। यह राष्ट्रीयता या राजनीति नहीं, शुद्ध अर्थशास्त्र है। तनिक ध्यान दीजिये—समस्त भारत में तारों के खम्भे विलायत से ढल कर आते हैं। इस प्रकार यही नहीं कि यदि उन्हें भारत में तैयार किया गया होता तो उनको बनाने के लिए लाखों प्राणियों को कार्य मिला होता, बल्कि यह भी कि देश का उतना धन देश के बाहर चला गया और देश उसकी वर्तुलाकार क्रय-शक्ति से वंचित कर दिया गया अर्थात् देश को केवल तात्कालिक धनाभाव ही नहीं, उसे एक स्थायी आर्थिक धक्का

---

१. राष्ट्रपति मौलाना आजाद ने अभी हाल में घोषित किया है कि स्वतन्त्र और सबल भारत की नींव ग्राम पंचायतों पर ही अवलम्बित होगी।—'संसार', २–१–४६

२. इस धारा को तैयार करने में सी० पी० और बरार सरकार की इण्डस्ट्रियल सब कॅमिटी की रिपोर्टों से विशेष सहायता ली गयी है।

दिया गया और समस्त राष्ट्र को साम्पत्तिक ह्रास का अनुभव करना पड़ा। ऐसे ही धक्के हमारी सरकार हमें रोज़ दे रही है तथा हम बेकारी और दरिद्रता की मासन में दिनोंदिन नीचे ही नीचे ढकेले जा रहे हैं। खम्भेवाली बात को और भी सूक्ष्मता से विचारिये—इङ्गलैण्ड और अमेरिका जैसे धनाढ्य देशों में भी तारों के खम्भे इस्पात के नहीं, लकड़ी के ही होते हैं जब कि भारत जैसे दरिद्र वन्य प्रधान देश के लिए विलायत से खम्भे मँगाये जाते हैं। परिणाम यह होता है कि लाखों को बेकार रखने के साथ ही हमारी सरकार हमारी वन्य सम्पत्ति के विकास में भी बाधक हो रही है। सरकार का कहना है कि यहाँ लकड़ी के खम्भों को दीमक और कीड़े शीघ्र नष्ट कर देते हैं। पहले तो यह कि रासायनिक प्रयोगों से इसे रोका जा सकता है और यदि नष्ट ही हो जाते हैं तो सस्ते भी तो होते हैं। इसके अतिरिक्त, यदि इस प्रकार बार-बार खम्भों को बदलना पड़ता है तो इसका यह भी अर्थ होता है कि बार-बार उतने धन अर्थात् क्रय शक्ति का प्रजा को लाभ प्राप्त होता है। यदि यह कहा जाय कि इस प्रकार सरकारी कोष पर अनुचित दबाव पड़ेगा तो भी गलत है। प्रतिवर्ष प्रजा से जो कर और लगान वसूल किया जाता है वह पूँजी बनाने के लिए नहीं, प्रतिवर्ष प्रजा पर लगाने ही के लिए होता है। ऐसा न करना अर्थ विरुद्ध और साम्पत्तिक चक्र को, अनावश्यकतः, गतिहीन कर देना होगा। यथार्थतः, उपर्युक्त रीति से जितनी ही तेजी से सरकार देशी पदार्थों के सदुपयोग में धन लगायेगी उतनी ही तेजी से बेकारी का नाश होगा। उसी प्रकार गैर-सरकारी आयात को रोककर जितना ही अधिक हम ग्रामोद्योगों द्वारा अपनी पादार्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर लेंगे उतना ही अधिक लोगों को हम कार्ययुक्त कर सकेंगे अर्थात् बेकारी का नाश कर सकेंगे।

२—हम पीछे कह चुके हैं कि भारत एक श्रम प्रधान देश है। अतएव हमारा समस्त आर्थिक विधान, श्रम, न कि पूँजी, को लेकर ही विरचित होना चाहिये। इसका अर्थ यह है कि उत्पादन में मजदूरी को घटाकर मुनाफे की वृद्धिवाली वृत्ति को त्याग कर हमें अधिकाधिक लोगों को श्रमयुक्त करनेवाले तरीकों से ही कार्य करना होगा ताकि बेकारी दूर होने के साथ ही समाज में क्रय-शक्ति अर्थात् जीवन में सुविधाओं का अधिकाधिक वितरण हो सके। सुखी और समृद्धिशाली समाज की स्थापना का केवल यही एक मार्ग है। इस बात

श्रम प्रधान उत्पादन और महँगी

का व्यावहारिक अर्थ यह है कि मशीनों के मानव विरोधी तरीकों को तज कर चर्खात्मक रीति से उत्पादन करना होगा अन्यथा समाज के प्रत्येक व्यक्ति को कार्य न मिल सकेगा। ठीक है, चर्खात्मक चीजें महँगी होती हैं, परन्तु उनमें मानवता का मूल्य होता है। चीजों के महँगी होने का एक यह भी अर्थ है कि उसमें मजदूरी अधिक बैठी है अर्थात् लोगों को अधिक कार्य मिला है या यों कि बेकारी में बहुत कमी हुई है।

इसी प्रसंग में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात को स्पष्ट कर देना है। आज देश भर में "अधिक उत्पादन" की आवाज उठ रही है। सरकार और जनता, सब की यह माँग है। इसके लिए सरकार कहती है कि कारखानों की संख्या में अधिकाधिक वृद्धि करके, कारखानों में अधिकाधिक काम करके, अधिक से अधिक उत्पादन किया जाय। परन्तु सबसे पहले तो यही समझना है कि क्या सचमुच यह उत्पादन है ? चावल किसान की ओखली में नहीं, कारखानों में तैयार हो रहा है। मिलों का यह चावल अपने सारे पोषण और जीवन तत्त्व,को खो चुका रहता है। इसी प्रकार मिलों का आटा और चीनी आदि सभी पदार्थ नष्ट हो चुके रहते हैं जिनके व्यवहार से हमारी महान् शारीरिक क्षति होती जा रही है। घी पशुओं से नहीं, घास-पात से तैयार होता है। इस तरह नकली और अस्वास्थ्यकर वनस्पति के उत्पादन में सम्पत्ति और शक्ति का अपव्यय हो रहा है। यथार्थतः वस्तुओं को इस प्रकार गुण-विहीन और दूषित कर देना, स्पष्टतः, साम्पत्तिक क्षय है। साम्पत्तिक ह्रास का अर्थ ही है बेकारी और विनाश।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आज की मशीनाश्रित उद्योग व्यवस्था में वस्तु-पदार्थों का गुण हनन करके उन्हें मानव के सुख और स्वार्थ का शत्रु बनाया जा रहा है। दुखी और अस्वास्थ्यकर जीवन यही नहीं कि विकास की गति में व्यवधान उत्पन्न कर देता है, वल्कि यह भी कि मानसिक असन्तोष का कारण बन कर बेकारी की भावना उत्पन्न करता है। शुद्ध भौतिक और पारिमाणिक दृष्टि से हमारा साम्पत्तिक सञ्चय या राष्ट्रीय कोष सम्पन्न नहीं हो रहा

कलमय उत्पादन बनाम साम्पत्तिक विनाश

है क्योंकि गुणहीन होने से जब उनकी उपयोगिता ही नष्ट हो गयी तो फिर वह वृद्धि कैसी ? वह तो विनाश ही हुआ। इसलिए जब तक वस्तुओं का शुद्ध चर्खात्मक पद्धति से उत्पादन नहीं होता उनका परिमाण और गुण बढ़ ही नहीं सकता। वस्तुओं की शुद्ध पादार्थिक वृद्धि का अर्थ है साम्पत्तिक वृद्धि और इसके बिना समाज की सकार्यता सुरक्षित नहीं रह सकती।

३—कच्चे माल के निर्यात से बेकारी में विशेष वृद्धि होती है। गाँव-गाँव में उत्पन्न होनेवाली रुई से घर-घर चर्खा चलने की व्यवस्था को त्याग कर यदि मिलों से कपड़ा तैयार कराया गया तो प्रत्येक गाँव में चलनेवाले चर्खे बन्द हो जायेंगे अर्थात् बेकारी बढ़ेगी। यह बात प्रत्येक कच्चे माल के देशी या विदेशी निर्यात के सम्बन्ध में लागू होती है। अतएव निर्यात योग्य आधिक्य को छोड़कर, यथाशक्य, कच्चे माल से उत्पत्ति स्थल पर ही पक्का माल तैयार करने से अन्य व्यावसायिक हितों के अतिरिक्त बेकारी में विशेष रूप से कमी होती है।

कलमय उत्पादन बनाम बेकारी

इस प्रकार हम देखते हैं कि बेकारी का सच्चा हल वहीं सम्भव है जहाँ लोगों ने सत्याग्रहपूर्वक चर्खात्मक स्वदेशी के शुद्ध अहिंसात्मक रीति को ग्रहण किया है। इन सारी बातों का संक्षेप में अर्थ यह है कि बेकारी के महारोग से बचने के लिए हमारी समाज व्यवस्था स्वदेशी ढंग की होनी चाहिये। हमारे स्वदेशी समाज की अपनी ही विशेषता है जो नात्सी अथवा फासिस्टी राष्ट्रीयता की प्रतिहिंसा से मुक्त, विश्व की स्वसम्पन्न और स्वावलम्बी इकाई के रूप में प्रकट होता है। यहाँ के पादार्थिक उत्पादन का प्रमुख लक्ष्य जीवनावश्यकताओं की सुखद पूर्ति है, न कि विनिमय। इस प्रकार उसका देशस्थ उद्देश्य 'प्रचण्ड बाजार' (Intensive Market) के पहले 'व्यापक बाजार' (Extensive Market) पर ही अवलम्बित होता है और एक ही वस्तु के अधिकाधिक आकार प्रकार उत्पन्न करने की अपेक्षा उत्कृष्टतम चर्खात्मक साधनों द्वारा एक ही वस्तु की अधिकाधिक मात्रा तैयार होती है ताकि अधिकाधिक लोगों को आत्म गौरव तथा स्वावलम्बी ढंग से संपूर्णतः कार्य और साधनयुक्त किया जा सके। वैदेशिक आवश्यकताओं के लिए भी (चुंगी और टैरिफ की कृत्रिम दीवारों से हीन होते हुए भी) वह उन्हीं चीजों का आदान-प्रदान स्वीकार करता है जो देश के श्रम और कार्य

स्वदेशी समाज

तथा आवश्यकताओं के अनुकूल हों। इस प्रकार वह पूँजीवादी या साम्राज्यवादी आघात-प्रतिघात में नहीं फँसता।

जब तक हम दृढ़तापूर्वक इस मार्ग को ग्रहण नहीं करते हमारी न तो समस्याएँ हल होंगी और न एक निर्दोष और विकासमान समाज की रचना ही हो सकेगी। 'विकासमान' शब्द को भी भलीभाँति ध्यान में रखना है। विकास हम चाहते हैं पर अपने ही स्वदेशी ढंग से। आदिकालीन दीवट के स्थान में हम लैम्प अवश्य चाहते हैं पर वह 'मगन दीप' के समान वानस्पतिक तेल को खपानेवाला लैम्प ही होगा जो भारतीय कृषि पर निर्भर होने के कारण कृषि का सहायक, देश में श्रम और कार्य का जनक और समाज को स्वावलम्बी बनानेवाला होगा। 'मगन दीप' के स्थान में जिस प्रकार बाकू के मिट्टी के तेल की खानों के कृत्रिम रक्षण और प्रसार मात्र के लिए हम गैस बर्नर का आविष्कार अहितकर समझते हैं उसी प्रकार चर्खे में सुधार के लिए हम 'मगन चर्खा' के आविष्कार की ओर ही बढ़ते हैं जो धीरे-धीरे चर्खे से सूती मिल बन जाने के बजाय चर्खात्मक आधार तथा स्वदेशी समाज का ही पोषक सिद्ध होता है। यही है हमारे स्वदेशी समाज का एक विकासमान चित्र।

अब अन्त में यह भी स्पष्ट कर देना है कि वर्तमान समय की व्यापक बेकारी को देखकर सरकारी हस्तक्षेपों की सलाह को हमें सतर्क होकर ही स्वीकार करना है। हम यह कदापि नहीं चाहते कि लोगों के काम का उत्तरदायित्व राज अपने ऊपर ले ले। इसका यही अर्थ होगा कि लोगों को कार्य की गारण्टी देने के लिए राज को उत्पादन भी अपने हाथ में ले लेना होगा। इस प्रकार वैयक्तिक के स्थल में सरकारी पूँजीवाद की स्थापना होगी जो सर्वथा अहितकर और अनुचित होगा। यथार्थतः, लोगों के कार्य का उत्तरदायित्व चर्खात्मक पंचायतों की देखरेख में ही होगा। इस देखरेख का अर्थ लोगों से शासन दण्ड के साथ काम कराना नहीं बल्कि लोगों को उत्पादन और कार्य योजना के साथ साधनयुक्त और कर्तव्यशील बनाकर उन्हें स्वतन्त्र रूप से कार्य करने देना है। भारत सरकार के राष्ट्रीय नियोजन में तो दोनों बातों की कमी है,—न तो लोगों के लिए काम की गारन्टी है और न लोगों को साधनयुक्त कार्य योजना दी गयी है जिससे वे स्वतन्त्रता पूर्वक काम कर सकें। इसी लिए तीन वर्ष के बाद भी राष्ट्रीय नियोजन से बेकारी की उत्पीड़क वृद्धि कम नहीं हो सकी है।

सरकार और समाज

(ल) सम्पत्ति और स्वामित्व

[नवभारत कोई प्राथमिक श्रेणी की पाठ्य पुस्तक नहीं, अतएव यहाँ प्रारम्भिक परिभाषाओं को यह समझकर छोड़ दिया गया है कि इसके पाठक उन मोटी बातों से पूर्णतः परिचित हैं। श्रम का विवेचन करते समय हमने उसकी लाक्षणिक व्याख्या को छोड़ दिया है, उसी प्रकार सम्पत्ति की लाक्षणिक परिभाषा से पुस्तक का कलेवर बढ़ाना भी हमें अभीष्ट नहीं। इसी सिद्धान्त के अन्तर्गत अन्यत्र भी कार्य किया गया है।]

६१. सम्पत्ति के पारिभाषिक उल्लेख को छोड़ देने से उसके रूप विवेचन में उलझने की भी हमें आवश्यकता नहीं रह जाती। वैयक्तिक या राष्ट्रीय सम्पत्ति—किसी भी दृष्टिकोण से देखें, किसी भी श्रेणी में लें, उस पर किसी न किसी का, किसी न किसी प्रकार से, स्वामित्व अनिवार्य है।

स्वामित्व से ही सम्पत्ति का स्वरूप स्थिर होता है

वस्तुतः स्वामित्व से ही सम्पत्ति का रूप व्यक्त होता है। वर्षा का जल वृष्टि के उपरान्त इधर-उधर हो जाता है, परन्तु जब उसे व्यय और श्रम साध्य योजना द्वारा तालाबों या नहरों में स्वार्थ सिद्धि के लिए एकत्र किया जाता है तो वह सम्पत्ति बन जाता है। परन्तु सम्पत्ति बनने के साथ ही उस पर किसी न किसी का स्वामित्व भी स्थापित हो जाता है,—भारत सरकार का हो, पंजाब या सिन्ध सरकार का हो, टाटा वर्ग का हो, हिन्दुओं का हो, अंग्रेज या मुसलमानों का हो, किसी गाँव या नगरवालों का हो, किसी एक व्यक्ति का हो अथवा अनेक व्यक्तियों का भागीदारी ('शेयर') स्वरूप हो, स्वामित्व है अवश्य, अन्यथा वह सम्पत्ति ही नहीं। कहने का अभिप्राय यह कि सम्पत्ति के अनेक लक्षणों में से एक यह भी है कि उस पर किसी न किसी का स्वामित्व होना ही चाहिये। या यों कि सम्पत्ति पर स्वामित्व एक प्राकृतिक बात है। परन्तु दुखद काकपक्ष यह है कि इस साम्पत्तिक स्वामित्व ने ही समाज में सर्वाधिक वैषम्य उत्पन्न किया है और संसार के झगड़े भी यहीं से प्रारम्भ होते हैं।

६२. सम्पत्ति पर स्वामित्व तो होगा ही, परन्तु वह किस प्रकार का होना चाहिये—वैयक्तिक या सामूहिक? बस, मुख्य प्रश्न यही है और इसी एक प्रश्न को लेकर संसार के प्रचलित वाद-विवाद गति प्राप्त कर रहे हैं।

हिमालय के वन्य प्रदेश, विन्ध्य की पाषाण शृंखला, बिहार और

बंगाल की लौह खानें अथवा मैसूर और गोलकुण्डा की स्वर्ण राशियाँ भारत की प्राकृतिक सम्पत्ति हो सकती हैं परन्तु उन्हें व्यावहारिक रूप प्रदान करने के लिए व्यक्तियों के श्रम की आवश्यकता होती है। परन्तु जब हम देखते हैं कि उसी सम्पत्ति को उत्पन्न करनेवाला व्यक्ति उसके लाभ से वञ्चित रह जाता है तो सारी व्यवस्था ही दोषयुक्त प्रतीत होने लगती है, उस समाज रचना की सार्थकता से हमारा विश्वास ही उठ जाता है। समाजवादी, समूहवादी, वर्गवादी या अवर्गवादी—कोई भी इस परिस्थिति को स्वीकार करना नहीं चाहता। इसी बात को दूसरे प्रकार से यों कहा जायगा कि सम्पत्ति के सदुपयोग का उसके जनक को नैसर्गिक अधिकार है। जिसके हम जनक हैं और जिसके सदुपयोग का हमें नैसर्गिक अधिकार है, उसके हम प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से स्वामी हो ही चुके। यही न्याय है और तर्कयुक्त बात भी यही है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सम्पत्ति पर वैयक्तिक स्वामित्व के सैद्धान्तिक आधार को कोई भी इनकार नहीं कर सकता। इस सैद्धान्तिक आधार में ही अपनत्व का साक्षात् आकर्षण छिपा हुआ है। 'यह वस्तु हमारी है' और 'यह वस्तु हमारी नहीं है'—इन दोनों के व्यावहारिक अन्तर से ही विश्व का इतिहास बनता-बिगड़ता रहा है। मानवी पुरुषार्थ की गाथाएँ इसी अपनत्व की लीला से व्याप्त हैं।

सम्पत्ति और व्यक्तिगत स्वामित्व

६३. जंगली और वीरान भूखण्डों में आज हम गेहूँ की लहलहाती फसलें अथवा जैतून और अंगूर के बाग देखते हैं, इसलिए नहीं कि लोगों को संसार की बढ़ती हुई जनसंख्या की चिन्ता व्याकुल कर रही थी, बल्कि इसलिए कि उनके उस कार्य में उनकी, उनके कुटुम्ब और कबीलों की तात्कालिक तथा भावी सन्तान के भोजनादि का मूल निहित था। अरबी रेगिस्तान के निवासी सागर के तूफान में नौका की भयावह यात्रा के पश्चात् भारत से माल लेकर यूरोप पहुँचाया करते थे, इसलिए नहीं कि यूरोपवालों के दुख-दर्द से वह बेहाल थे, बल्कि इसलिए कि उनके उस कार्य में उनका अपना, अपनों का स्वार्थ छिपा हुआ था। व्यक्ति के स्वार्थ और पुरुषार्थ की इन्हीं शाश्वत भावनाओं से विश्व का साम्पत्तिक चक्र अनादि और अनन्त रूप से चलता रहता है।

विश्व के साम्पत्तिक चक्र में व्यक्ति का स्वार्थ और पुरुषार्थ

६४. सारांश यह कि संसार के प्रत्येक उत्पादन और आयोजन को फलीभूत बनाने के लिए मनुष्य की अपनत्त्व भावना एक प्रेरणात्मक महत्व रखती है और उसका साम्पत्तिक अर्थ यह होता है कि सम्पत्ति पर वैयक्तिक स्वामित्व के आकर्षण बिना मनुष्य का कर्मकाण्ड शुष्क और नीरस बन जायगा, न तो वह परिणामजनक होगा और न वह कोई सामूहिक रूप धारण कर सकेगा। परन्तु विरोधाभास तो यह है कि वर्तमान समय में संसार का समस्त सामाजिक वैषम्य इस वैयक्तिक स्वामित्व से ही उत्पन्न होता है। कोई तो मीलों लम्बे चौड़े महल और पुष्प वाटिका में सुस्वादिष्ट पकवान और राग रंग का सुख भोग कर रहा है और कोई भूखों प्यासों, रोगी और दीन दशा में, धूल और वर्षा में भी, सड़क की पटरियों पर ही रात काट देता है। क्यों? क्योंकि एक राजप्रासाद का स्वामी, महाराजा है और दूसरा एक नगण्य मानव, दिन भर पेट के लिए परिश्रम करके पटरियों पर सोनेवाला, मजदूर है। एक लाखों का मालिक है, सैकड़ों मकान उसके हैं, हजारों बीघे जमीन उसकी है, अनेक कल-कारखाने, मोटर, सवारी—वह सबका मालिक है। दूसरा पेट भर रोटी का भी मालिक नहीं। यह ठीक है कि ऐसी परिस्थिति के लिए वह व्यवस्था ही उत्तरदायी है जो ऐसे घातक वैषम्य को उत्पन्न करती रहती है, परन्तु सर्वप्रथम प्रश्न तो यह उपस्थित होता है कि क्या ऐसी स्थिति मान्य हो सकती है कि एक अकेला सारी इमारत में विचरता फिरे और दूसरा एक छोटे से घर को भी अपना कहने से वंचित रहे?

वैयक्तिक स्वामित्व का विरोधाभास

तनिक और निकट से देखिये,—एक पिता के दो पुत्र हैं। एक को हम बम्बई की अट्टालिकाओं का स्वामी बन कर मौज उड़ाते हुए देखते हैं जब कि दूसरा पुत्र लाचार और गृहहीन, जीवन की कराहें लेता हुआ नजर आता है। दोनों भाई अपनी-अपनी सम्पत्ति के मालिक हैं, एक का दूसरे की कमाई और सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं। दया, धर्म की बातों को छोड़िये, कानून, राजा या समाज कोई भी इसमें हस्तक्षेप नहीं कर सकता। प्रत्येक व्यक्ति अपनी सम्पत्ति का स्वामी है—वैयक्तिक स्वामित्व का व्यावहारिक अर्थ आज इसी प्रकार प्रकट हो रहा है।

इस वैयक्तिक स्वामित्व पर एक दूसरे पहलू से दृष्टिपात करने से बात और भी स्पष्ट हो जायगी—एक व्यक्ति २५ बीघे जमीन का स्वामी है

जिसमें कम-से-कम एक परिवार के लिए यथेष्ट भोजन तैयार होता है। आज वह व्यक्ति बम्बई के कारखाने या दिल्ली के सरकारी दफ्तर में जाकर नौकर बन जाता है। उसके स्त्री-बच्चे भी उसी के साथ जाते हैं। खेती की व्यवस्था और जुताई-बोआई उसकी अनुपस्थिति के कारण नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है। यदि वह इनका भार किसी को सौंपता भी है तो भार लेने-वाला कुछ पैदावार भले ही कर ले परन्तु सर्वश्रेष्ठ रीति से कार्य नहीं करता। उत्पादन मारा जाता है और अनेकों की जीवनावश्यकताओं पर पानी फिर जाता है। मान लीजिये भार लेनेवाले व्यक्ति ने उन खेतों में खून पसीना कर के कार्य किया और उन्हीं खेतों का होकर रहा; कुछ दिनों के पश्चात् उन खेतों का स्वामी बम्बई या दिल्ली से लौटा और अपने खेतों को स्वयं सँभाल लिया। परिणामतः इन थोड़े दिनों के हेर-फेर में एक गृहस्थी बनी और फिर असली मालिक के आ जाने से उखड़ गयी। दो के सिवा तीसरा कोई मार्ग ही नहीं—या तो स्वामी की अनुप-स्थिति में उसकी सम्पत्ति कोई सँभाले नहीं और यदि सँभाले तो कुम्भ मेले के यात्री के समान स्वामी के लौटने पर उखड़ जाय। दोनों स्थितियों में साम्पत्तिक क्षय की सम्भावना है। इस प्रश्न को और गहराई से सोचिये। कहा जाता है जमीन उसी की है जो स्वयं खेती करे। इस तरह जो खेती से दूर अन्यत्र नौकरी करता है, क्या वह खेतों का मालिक हो सकता है ? मान लिया जो खेती नहीं करता वह खेतों का मालिक नहीं हो सकता—यह कानूनी पहलू व्यवहार में पूरी तरह उतारा जा सकता है, उतारा जा रहा है ? इस के अलावा एक बात और है—नौकरी, व्यापार के अतिरिक्त भी कई कारण ऐसे हो सकते हैं जब खेत के मालिक को अपनी खेती का बोझ अस्थायी रूप से किसी दूसरे को देना पड़े। यह सारी ऐसी परिस्थितियाँ हैं जिन पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना पड़ेगा। खेत ही नहीं, सम्पत्ति के प्रत्येक क्षेत्र में ऐसा ही होता है। मिलकियत के लिए बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ, बैंक और कारखानों के बड़े-बड़े गबन और दीवाले, सब इसी वैयक्तिक स्वामित्व की प्रेरणा से परिपूर्ण हैं। यहाँ आकर, स्वभावतः, प्रश्न होता है कि, जैसा कि हमने अभी ऊपर कहा है, या तो वैयक्तिक स्वामित्व मनुष्य का नैसर्गिक अधिकार नहीं है, अथवा वैयक्तिक स्वामित्व का कुछ और ही रूप और कुछ और ही अर्थ होगा।

९५. वैयक्तिक स्वामित्व से यदि वैषम्य, साम्पत्तिक क्षति और

अशान्ति को जन्म मिलता है तो यही कहा जायगा कि सारे रोग का हल सामूहिक स्वामित्व में ही निहित होना चाहिये।

वैयक्तिक या सामूहिक स्वामित्व

सामूहिक स्वामित्व का अर्थ यही होता है कि किसी को सम्पत्ति पर वैयक्तिक अधिकार प्राप्त नहीं है। जो कुछ है केवल सामाजिक अर्थात् सामूहिक या सरकारी स्वरूप ही होना चाहिये। इसका अर्थ यह होता है कि व्यक्ति की अपनी कोई चीज नहीं, अपनी कोई योजना नहीं। इस प्रकार व्यक्तिगत कर्तृत्व शक्ति, सृजन शक्ति तथा व्यक्तित्व के विकास के लिए गुंजाइश नहीं रह जाती और इनके अभाव में उन असंख्य चीजों का ही क्या मूल्य रहा जिसका समाज या सरकार सामूहिक रूप से व्यक्ति के लिए प्रस्तुत करने का दावा करती है। आखिर व्यक्ति के लिए उसका व्यक्तित्व ही तो सब से मूल्यवान वस्तु है और व्यक्तित्व का अर्थ है विचार और विकास स्वातन्त्र्य। इसके विपरीत यदि उसे दूसरों के इशारे पर चलना पड़ता है, तो वह अपने व्यक्तित्व से, जो मनुष्य के नाते उसकी सब से बड़ी सम्पत्ति है, हाथ धो बैठता है और किसी भी समाज व्यवस्था का इससे बड़ा दोष क्या हो सकता है! सामूहिक स्वामित्व की यह तो सैद्धान्तिक दुर्बलता हुई। उसके व्यावहारिक अंग पर भी दृष्टिपात कर लेना चाहिये।

९६. व्यक्तियों के कार्य बिना सम्पत्ति का उदय हो ही नहीं सकता। परन्तु सामूहिक व्यवस्था के अन्तर्गत उत्पादन तो व्यक्ति करता है और

सामूहिक स्वामित्व

स्वामित्व है समूह का, अर्थात् व्यक्ति केवल श्रम करने का अधिकारी है, साम्पत्तिक सञ्चालन और उसके उपभोग में व्यक्ति की अपनी रुचि कोई स्थान नहीं रखती, बल्कि उपेक्षित भी रहती है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति केवल मजदूर मात्र रह जाता है और समूह एक नये प्रकार के पूँजीपति के रूप में प्रकट होता है। व्यवहार तथा परिणामों को देखते हुए इसे भी एक प्रकार की पूँजीवादी व्यवस्था ही कहना होगा। और आगे बढ़िये—सामूहिक स्वामित्व का सीधा सा अर्थ है केन्द्रीय शासन और केन्द्रीय सञ्चालन। इस प्रकार व्यक्ति को अपनी रुचि, अपनी योजना, और आवश्यकताओं की उपेक्षा तो बर्दाश्त करनी ही पड़ती है, साथ-ही-साथ उसकी अपनी क्रियात्मक शक्ति भी क्षीण हो जाती है क्योंकि उसे अपनी योजनाओं की सफलता और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक किसी दूरस्थ

केन्द्र का ही मुँहताज होना पड़ता है—अर्थात् सारा समूह सबल और स्वावलम्बी इकाइयों के बजाय परावलम्बी व्यक्तियों का झुण्ड मात्र रह जाता है जहाँ केन्द्र के दूषित होते ही समस्त समाज के नष्ट-भ्रष्ट होने का सदा भय लगा रहता है। यहाँ लेनिन और स्टालिन की व्यक्तिगत नीति ही सारे समाज का जीवन क्रम बन जाता है। यथार्थतः, यहाँ शुद्ध विकास कभी संभव हो ही नहीं सकता, पशु-बल की वृद्धि अवश्य हो सकती है। पशु-बल या नीत्शे की वीर पूजा का ही प्राबल्य रहता है और राक्षस कहे जानेवाले नाजियों के सहयोग या विरोध पर गाड़ी चलती है। पादार्थिक अथवा भौतिक बल ही एकमात्र लक्ष्य रह जाने के कारण षडयंत्र और दमन को नैतिक स्वीकृति प्राप्त हो जाती है।

६७. यह न भूलना चाहिये कि सम्पत्ति का कोई मूल्य नहीं यदि यह मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति न करे। इसका दूसरा अर्थ यह है कि सम्पत्ति से मनुष्य की आवश्यकताओं की जितनी ही अधिक पूर्ति होती है उसका उतना ही अधिक मूल्य होता है। कलमय उत्पादन में सम्पत्ति केन्द्रों में एकत्र हो जाती है। सर्वसामान्य उसके निर्बाध उपभोग से वञ्चित हो जाते हैं। इस प्रकार यहाँ सम्पत्ति का मूल्य बढ़ने के बजाय घटता जाता है। परन्तु चर्खात्मक विधान में सम्पत्ति का अधिकाधिक वितरण एवं अधिकाधिक उपभोग होने के कारण उसका मूल्य बढ़ता रहता है, या यों कि सम्पत्ति का वास्तविक निर्माण केवल चर्खात्मक विधान में ही सम्भव हो सकता है। इतना ही नहीं, चर्खात्मक उत्पादन की गति मन्द होते हुए भी वहाँ पारिमाणिक दृष्टि से भी कलमय उत्पादन की अपेक्षा अधिक सम्पत्ति का निर्माण होता है क्योंकि अधिकाधिक भाग उपयोग और उपभोग में लगता है जब कि कलमय उत्पादन में अधिक मात्रा होते हुए भी लोगों के सदुपयोग से दूर हो जाने के कारण मूल्य और फिर स्वभावतः परिमाण में भी कमी हो जाती है। चर्खात्मक का अर्थ है विकेन्द्रित विधान जिसमें उत्पादन और उत्पत्ति—दोनों से व्यक्तियों का सीधा सम्बन्ध रहता है।

सम्पत्ति का सच्चा मूल्य

६८. अतः कलमय अर्थात् सामूहिक विधान में साम्पत्तिक विकास सम्पूर्ण गति से सम्भव नहीं होता क्योंकि कार्य करनेवाले अथवा न करने-

वाले, उत्पादक या अनुत्पादक कार्य करनेवाले, सब की आवश्य-कता की पूर्ति की जिम्मेदारी समूह पर रहने से मुफ्तखोरों का कार्यकर्ताओं के श्रम से काट कर पालन होता है।

सामूहिक विधान में साम्पत्तिक विकास?

६६. तीसरी बात—प्रत्येक व्यक्ति का समूह पर भार रहने के कारण उनके शासन और सञ्चालन के लिए एक जटिल व्यवस्था और कृत्रिम कानूनों का जाल खड़ा करना पड़ता है जो एक अत्यन्त मँहगी सरकार के रूपमें हमारे कन्धों पर आ बैठती है।

सामूहिक विधान से जटिल और बोझिल सरकार बनती है

इस प्रकार, संक्षेप में हम देखते हैं कि सामूहिक स्वामित्व वैयक्तिक स्वामित्व से भी अधिक विपाक्त बल्कि बिलकुल अप्राकृतिक व्यवस्था है। प्रश्न होता है कि आखिर फिर मार्ग कौन सा है?

१००. हमने दो बातें देखी हैं—(१) वैयक्तिक स्वामित्व मनुष्य का स्वाभाविक अधिकार होते हुए भी सामाजिक वैषम्य का एक प्रबल कारण सिद्ध हुआ है। (२) दूसरी ओर सामूहिक स्वामित्व बिलकुल अप्राकृतिक होने के साथ ही साम्पत्तिक क्षय का भी कारण है। सारांश यह कि एक प्राकृतिक व्यवस्था है पर दोषयुक्त, दूसरी बिलकुल ही अप्राकृतिक है।

वैयक्तिक और सामूहिक स्वामित्व का अन्तर

१०१. कुछ लोगों का कहना है कि उत्पादन के साधनों पर सामूहिक स्वामित्व रहने से वैयक्तिक वैषम्य को अवसर ही नहीं प्राप्त हो सकता। उत्पादन के साधनों से उनका अर्थ है कल-कारखाने, नदी, नहर, बिजली, भूमि और बैंक आदि। सीधी सी बात तो यह है कि इन चीजों पर जिसका अधि-कार होगा, उसे ही उनकी उत्पत्ति के वितरण को हाथ में लेना होगा अन्यथा अन्य अनेक पेचीदगियाँ उत्पन्न होंगी। उत्पादन और वितरण के साथ आ जाने से खपत की भी समस्या आ ही जाती है। अभिप्राय यह कि उत्पादन के साधनों पर आधिपत्य होने से ही उलट-फेर कर मानव समाज के सम्पूर्ण जीवन पर सम्पूर्ण स्वामित्व स्थापित हो जाता है।

उत्पादन के साधनों पर सामूहिक स्वामित्व का अर्थ

१०२. इसलिए जब तक हम अपनी सारी उत्पादन योजना को

चर्खात्मक आधार पर नहीं खड़ी करते समस्या का हल असम्भव होगा। चर्खात्मक यानी विकेन्द्रित विधान में हमारे उत्पादन के साधन अधिकांश वही रह जाते हैं जो एक-एक व्यक्ति के स्वतन्त्र सञ्चालन के ही योग्य होते हैं। तो क्या सरकार को प्रत्येक चर्खा और प्रत्येक सिंगर मशीन, प्रत्येक चूल्हे और प्रत्येक चक्की पर कब्ज़ा करना होगा? यदि सम्भव भी हो तो यह इतना जटिल और महँगा बन जायगा कि वह सारा स्वामित्व जीवनदायी और उत्पादक के बजाय घातक और साम्पत्तिक क्षय और अन्ततः सर्वनाश का कारण सिद्ध होगा। वस्तुतः, सरकारी स्वामित्व तो बड़े-बड़े कल-कारखानों के व्यक्तिगत आधिपत्य के दोषों का निराकरण करने के लिए ही होता है। दोष का स्थल ही नहीं रहा तो दोष की निवृत्तिकारी व्यवस्था का प्रश्न कहाँ रह जाता है? समाज सर्वोपरि है इसलिए सामूहिक स्वामित्व को चरितार्थ करने के लिए प्रत्येक चर्खे-चूल्हे, प्रत्येक स्त्री-बच्चे का स्वामी बनाकर घर में रोटी पकाना, स्त्रियों का शृङ्गार, बच्चों का दूध पीना तथा सन्तानोत्पत्ति—सब में सरकारी हस्तक्षेप और सञ्चालन का प्रस्ताव करना सर्वथा विवेकहीन प्रतीत होता है। चर्खात्मक उत्पादन में सम्पत्ति की गुणात्मक वृद्धि स्वतः संयत हो जाती है और परिणामतः सरकारी स्वामित्व की आवश्यकता ही नहीं रहती। यहाँ समस्या स्वामित्व की नहीं, उसके सामञ्जस्य की होती है।

समस्या का हल

इस प्रकार हम देखते हैं कि सामूहिक स्वामित्व की वर्तमान कल्पनाएँ अप्राकृतिक और अव्यवहार्य हैं। फलतः हमारे सम्मुख वैयक्तिक स्वामित्व की ही समस्या शेष रह जाती है और अब हम इसी पर विचार करेंगे।

भारतीय कुटुम्ब व्यवस्था

१०३. यह तो हम कह ही चुके हैं कि वैयक्तिक स्वामित्व एक बिलकुल स्वभावसिद्ध बात है। परन्तु दोष वहीं से उत्पन्न होता है जब व्यक्ति दूसरों अर्थात् शेष समाज के हितों की उपेक्षा करके स्वार्थ सिद्धि में स्वच्छन्द होकर तल्लीन हो जाता है। यहीं संयम की आवश्यकता है ताकि दूसरों के स्वार्थ से संघर्ष न उत्पन्न हो जाय जिससे कलह और गृहयुद्ध की आवृत्ति हो और अन्त में अपनी तथा दूसरों की साम्पत्तिक प्रगति पर भी आघात हो। प्रश्न होता है कि इस संयम और अनुशासन का उत्तरदायित्व किस पर होगा? व्यक्ति पर? वही तो सीमा भंग कर रहा है? समूह पर? फिर तो उसी सामूहिक सञ्चालन, और घूम

फिर कर उसी सामूहिक स्वामित्व की पेचीदगियाँ उपस्थित हो जायेंगी। वास्तव में होना यह चाहिये कि संयम व्यक्ति की स्वयम्भू प्रवृत्ति बन जाय। यह उसी समय सम्भव होगा जब कि प्रत्येक व्यक्ति स्वामित्व का अनुभव करते हुए भी अपनी आवश्यकता तथा स्वच्छन्दता को दूसरों की आवश्यकता के हिसाब से स्वयं सीमित रखने को तत्पर रहे। और ऐसा जब तक नहीं हो सकता जब तक कि उन दूसरों में उसकी साक्षात् दिलचस्पी न हो। ठीक इसी सिद्धान्त को लेकर भारतीय कुटुम्ब व्यवस्था और संयुक्त परिवार की सृष्टि हुई थी। यह वही व्यवस्था है जिसे बड़े-बड़े अर्थशास्त्रियों ने भी लोकतंत्र का सच्चा स्वरूप बताया है, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता भर कमाता है और अपनी आवश्यकता भर उपभोग करता है। भारतीय कुटुम्ब विधान में समाज की संयुक्त व्यवस्था के श्रेष्ठतम सिद्धान्त निहित हैं। यद्यपि ब्रिटिश कानूनों के अवैज्ञानिक व्यक्तिवाद ने इसकी नींव को खोखला कर दिया है फिर भी ढाँचा मौजूद है, उसे सहज ही पुनर्जीवित किया जा सकता है।

१०४. सामाजिक दृष्टि से हमारे संयुक्त परिवार के दो कानूनी रूप प्रचलित हैं :—'दाय भाग' और 'मिताक्षरा' और दोनों दो ध्रुव के समान एक दूसरे के प्रतिकूल हैं। दाय भाग के अनुसार

'दाय भाग' और 'मिताक्षरा' विधान

पिता ही कौटुम्बिक सम्पत्ति (स्त्री धन के अतिरिक्त) का एक मात्र नियंता होता है। वह सारी सम्पत्ति को स्वेच्छापूर्वक हस्तांतर कर सकता है। अपनी सन्तान को सम्पत्ति का उपभोग करने देना अथवा उसके उपभोग से उन्हें सर्वथा वंचित कर देना उसकी स्वेच्छा की बात है। परन्तु 'मिताक्षरा' में इस वैयक्तिक स्वेच्छाचार को अणु मात्र भी स्थान नहीं। वह एक सम्पूर्ण वैज्ञानिक व्यवस्था है, हालाँकि अँग्रेजी कानून ने उसकी सत्ता को स्वीकार करते हुए भी उसे लंगड़ा बना रखा है। 'मिताक्षरा' विधान के अनुसार पिता कौटुम्बिक सम्पत्ति का उसी प्रकार मालिक है, जिस प्रकार पुत्र, अर्थात् कौटुम्बिक सम्पत्ति पर पिता और पुत्र का संयुक्त स्वामित्व होता है। एक अबोध बालक भी सम्पत्ति का उसी प्रकार स्वामी है जिस प्रकार उसका वयोवृद्ध पिता या पितामह। यहाँ पिता किसी सार्वजनिक संस्था के सर्वसम्मति से स्वीकृत अध्यक्ष के समान सम्पत्ति का संरक्षक और संचालक मात्र है। परन्तु खेद है कि शरीर है, प्राण नहीं—अंग्रेजी कानूनों ने उसका अपहरण कर लिया है, अधिकार मानते हुए भी आधार छीन लिया है।

इस समय 'मिताक्षरा' विधान भी प्राणहीन शरीर अथवा आधारहीन भवन से अधिक नहीं रह गया है। 'हिन्दू कोड बिल' ने तो उसे और भी गहरा धक्का दिया है। इस पर हम फिर विचार करेंगे।

१०५. वस्तुतः, संयुक्त परिवार के लिए संयुक्त सम्पत्ति का होना अनिवार्य है। यदि संयुक्त सम्पत्ति नहीं है तो संयुक्त परिवार भी नहीं रह सकता और यदि परिवार ही संयुक्त नहीं रहा तो सम्पत्ति कैसे संयुक्त रह सकती है? दोनों अन्योन्याश्रित हैं, एक के बिना दूसरा रह ही नहीं सकता।

संयुक्त परिवार

इस समय जो स्वार्थ और स्वच्छन्दता की बाढ़ प्रचण्ड हो रही है वह इसलिए भी है कि संयुक्त सम्पत्ति और परिणामतः संयुक्त परिवार नहीं रह गया है। वास्तव में संयुक्त परिवार की शक्ति संयुक्त सम्पत्ति पर ही निर्भर करती है।[1] इस प्रकार संयुक्त सम्पत्ति से बँधे हुए संयुक्त परिवार के सदस्यों के अधिकार और कर्तव्य अनिवार्य पारस्परिकता का रूप धारण कर लेते हैं। और फिर सबके सम्मिलित सहयोग और श्रम से एक संपुष्ट समाज की भित्ति तैयार होती है।

१०६. हिन्दू कानून में सुधार करने की दृष्टि से भारत के भूतपूर्व कानून मन्त्री डा० अम्बेडकर ने एक बिल पेश किया था जिसमें मिताक्षरा को मिटा कर 'दायभाग' को प्रतिष्ठा देने का प्रस्ताव था। इस सम्बन्ध में दो बातें ध्यान में रखने की हैं:—

हिन्दू कोड बिल

(१) डा० अम्बेडकर उसी अंग्रेजी शिक्षा की देन हैं जिसके कानूनों ने स्वच्छन्द व्यक्तिवाद के विष से भारतीय संस्कृति की जड़ पोली कर दी है।

(२) दूसरी बात यह कि यहाँ फिलहाल प्रश्न यह नहीं है कि डा० अम्बेडकर का बिल कानून बनता है या नहीं क्योंकि हम जानते हैं कि आज देश के अधिकतम लोगों के दृष्टिकोण में पाश्चात्य शिक्षा का दोष भरा हुआ है जो चर्खात्मक विधान के बिलकुल विरुद्ध है। बात यह है कि लोगों में सत्य का सामना करने का साहस नहीं है। ये लोग तात्का-

---

1. "The strength of joint family lies in the joint family property"...and "As such members have mutual rights and obligations with reference to it."—Hindu Law (sec. 97 para 1093), p. 510.

लिक मुसीबतों का तात्कालिक उपायों से ही मुकाबला करना चाहते हैं जब कि आवश्यकता इस बात की है कि स्थायी और आधारभूत पुनर्रचना की दृष्टि से कार्य किया जाय, भले ही सारे ढाँचे को उलट-पुलट देना हो। यदि सम्पत्ति पर परिवार का संयुक्त स्वामित्व आवश्यक है तो सारी विघ्न बाधा और विरोधों के प्रतिकूल भी कार्य करना होगा वरना आज एक बिल, कल दूसरा बिल, बना देने से दुःख दूर होना तो अलग रहा, उलटे दुखों में जटिलता उत्पन्न हो जायगी। हो भी यही रहा है।

संयुक्त सम्पत्ति और संयुक्त परिवार भारतीय समाज विधान के दो यम और नियम हैं

१०७. अंग्रेजी कानून (अब तो वही भारतीय कानून बन गया है। बात वही है, नाम बदल दिया गया है) ने संयुक्त परिवार को मान तो लिया है, परन्तु उसके अचल अस्तित्व के लिए संयुक्त सम्पत्ति की अनिवार्यता को स्वीकार नहीं किया है। संयुक्त परिवार की सम्पत्ति संयुक्त है परन्तु यदि उसके सदस्य चाहें तो टूट-टूट कर अलग हो जायँ और सारी सम्पत्ति खण्ड-खण्ड हो जाती है। वही स्वच्छन्द व्यक्तिवाद यहाँ भी घुसेड़ दिया गया है और परिणाम भी वैसा ही घातक हुआ है। भारत का सारा पारिवारिक ढाँचा नष्ट-भ्रष्ट हो गया है। संयुक्त परिवार की सारी जीवनदायिनी छत्र छाया विलुप्त-सी हो चली है। भारत जैसे खेतिहर देश के सामाजिक अस्तित्व के लिए संयुक्त परिवार और संयुक्त सम्पत्ति दो आधारभूत यम और नियम हैं।

संयुक्त स्वामित्व बनाम समूहवादी स्वामित्व

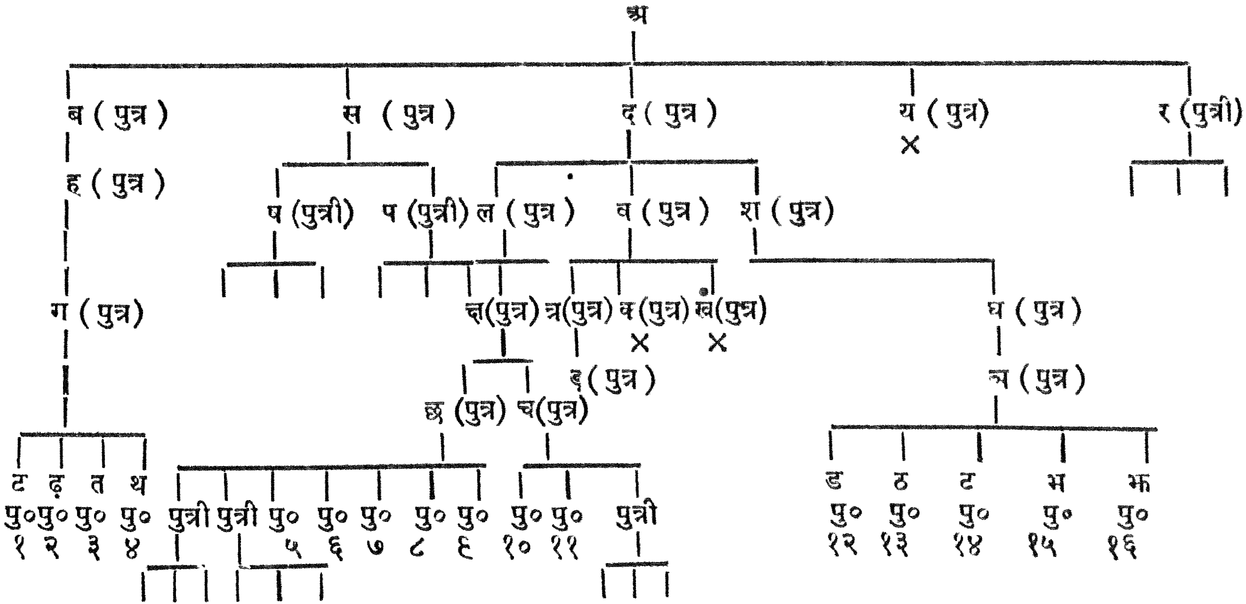
१०८. अस्तु, जहाँ तक हमारी प्रस्तुत समस्या का सम्बन्ध है, हम यही देखते हैं कि यदि संयुक्त परिवार के आधार पर लोगों को सम्पत्ति पर संयुक्त स्वामित्व प्राप्त हो तो हम व्यक्ति की स्वच्छन्दता और समूह के अप्राकृतिक हस्तक्षेप— दोनों से सुरक्षित रह सकते हैं। इसमें उत्कृष्टतम समाज रचना के मूल निहित हैं। यथार्थतः देखा जाय तो यह संयुक्त स्वामित्व भी समूहवादी स्वामित्व का एक लघु रूप सा ही नजर आयेगा। परन्तु इसका सम्बन्ध सदस्यों से साक्षात् जुड़े रहने के कारण, प्रत्येक सदस्य की अपने कार्य और श्रम तथा साम्पत्तिक उत्पादन में साक्षात् अभिरुचि होती है। यहाँ पिता-पुत्र और भाई-भाई का रक्त सम्बन्ध प्रेरणात्मक रूप से कार्य करता

हैं; प्रत्येक सदस्य उत्पादन और उपभोग का साक्षात् स्वामी होता है। किसी सुदूर केन्द्र का कृत्रिम और अस्वाभाविक सञ्चालन उनके प्राकृतिक विकास में बाधक नहीं होता। सारा कार्य अनुभवी और सद्गृहस्थ पिता, पितामह, अथवा भ्राता की अध्यक्षता में सम्मिलित हितों के लिए सम्मिलित राय से ही होता है। यहाँ आवश्यकतानुसार सब की जीवनावश्यकताओं की पूर्ति की जाती है। यदि कोई सदस्य भिन्न मत रखता है तो भी वह सम्पत्ति का स्वामी है और उसकी जीवनावश्यकताओं की उसी प्रकार पूर्ति होती है, परन्तु यह नहीं कि उसे संयुक्त सम्पत्ति को छिन्न-भिन्न करने का अधिकार प्राप्त हो। परिवार की संयुक्त छाया उसके लिए सदा सुलभ होती है। वह स्वयं यदि उससे पृथक् होकर स्वयं अपना पृथक् उपार्जन करना चाहता है तो वह स्वतंत्र है। इस प्रकार हम व्यक्ति की विध्वंसक स्वच्छन्दता से वञ्चित रहने के साथ ही उसकी रचनात्मक शक्तियों का ही लाभ करेंगे। दोष तो अच्छी से अच्छी व्यवस्था में भी उत्पन्न हो सकता है, परन्तु देखना हमें यह है कि तुलनात्मक दृष्टि से दोष और गुण, किसकी अधिक सम्भावनाएँ हैं। इसीलिए हम कहते हैं कि "संयुक्त परिवार और संयुक्त सम्पत्ति" ही समाज की सर्वश्रेष्ठ साम्पत्तिक व्यवस्था हो सकती है।

साक्षात् पीढ़ी

१०६. अब प्रश्न यह होता है कि संयुक्त परिवार की सदस्यता के अधिकारी कौन हैं? यों तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श ही हमारा पथ-प्रदर्शक है, परन्तु आदर्श को कार्यान्वित करने के लिए एक सुस्पष्ट व्यावहारिक रूपरेखा, एक निश्चित मर्यादा होनी ही चाहिये।

संयुक्त परिवार की संयुक्त सम्पत्ति का प्रत्येक सदस्य समान रूप से स्वामी होता है, उसके लाभ और उपभोग का वह पूर्णतः अधिकारी होता है, बशर्ते कि वह उस सम्पत्ति की सुरक्षा और वृद्धि में यथासाध्य सदा तत्पर रहे। हमने देखा है कि सामूहिक स्वामित्व की सफलता के लिए पारिवारिक इकाइयों की अनिवार्य आवश्यकता होती है। वस्तुतः, सामूहिक स्वामित्व में ही "वसुधैव कुटुम्बकम" का बीज निहित है। परन्तु प्रत्येक परिवार कुछ निश्चित सदस्यों के चेतन सुयोग से ही स्थितिभूत होता है। इसलिए सम्बद्ध व्यक्तियों को परिवार में स्वामित्वमान होने के लिए वंशज दृष्टि से उन्हें उक्त परिवार की साक्षात् पीढ़ी (Direct Lines) में आना चाहिये—



अ
ब (पुत्र)
स (पुत्र)
द (पुत्र)
य (पुत्र)
र (पुत्री)
ह (पुत्र)
ष (पुत्री)
प (पुत्री)
ल (पुत्र)
व (पुत्र)
श (पुत्र)
ग (पुत्र)
क्ष(पुत्र)
त्र(पुत्र)
क(पुत्र)
ख(पुत्र)
घ (पुत्र)
ङ (पुत्र)
छ (पुत्र)
च(पुत्र)
ट ढ़ त थ
पु० पु० पु० पु०
१ २ ३ ४
पुत्री पुत्री पु० पु० पु० पु० पु० पु० पु० पुत्री
५ ६ ७ ८ ९ १० ११
ड ठ ट भ झ
पु० पु० पु० पु० पु०
१२ १३ १४ १५ १६

उपर्युक्त नकशे में हम देखते हैं कि 'अ' के चार पुत्र और एक पुत्री हुई। पुत्री की तो कोई बात ही नहीं क्योंकि वह विवाहोपरांत किसी दूसरे परिवार की सदस्या हो जाती है। शेष चार में से एक की कोई सन्तान ही नहीं है। रहे तीन; इनकी सन्तानें हुईं। पुत्रियाँ विवाहोपरान्त दूसरे परिवार में चली जाती रहीं परन्तु पुत्रों की सन्तानें 'अ' के परिवार के रूप में बढ़ती गयीं और 'अ' की सम्पत्ति का स्वामित्व ग्रहण करके कार्य करती रहीं। इस प्रकार नं० १ से १६ तक साक्षात् पीढ़ी में आते हैं जो अब 'अ' के वर्तमान पारिवारिक सम्पत्ति का स्वामित्व ग्रहण करते हैं।

आय: "आवश्यक" और "अतिरिक्त"

११०. अब यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है: क्या 'अ' की वर्तमान पारिवारिक सम्पत्ति उसके वर्तमान सदस्यों की संपूर्ण संख्या के पालन-पोषण के लिए पर्याप्त है? इसी प्रश्न का दूसरा अंग यह होगा कि क्या इतने व्यक्तियों का एक साथ मिलकर सम्मिलित रूप से कार्य करने के कारण समाज की बहुत सी सम्पत्ति खिंचकर अनावश्यक रूप से एक स्थान पर केन्द्रित हो जाने से समाज के आर्थिक समतुलन में विघ्न तो नहीं उत्पन्न हो जायेगा? चूँकि यहाँ हम अपने प्रश्नों के केवल सैद्धान्तिक आधार पर ही विचार कर रहे हैं, अतएव यहाँ केवल इतना ही कहना होगा कि जिस प्रकार सारे परिवार पर अपने सदस्यों की जिम्मेदारी होती है उसी प्रकार परिवारों की जिम्मेदारी सारे समाज पर होती है। अतएव समाज को देखना होगा कि कोई परिवार अपर्याप्त साधनों अथवा अन्य अड़चनों के कारण जीवनावश्यकताओं के उत्पादन तथा उपभोग में असमर्थ तो नहीं रह गया है। उसी प्रकार यह भी देखना होगा कि कोई परिवार दूसरे परिवारों के हक छीनकर सामाजिक समतुलन में बाधक तो नहीं हो रहा है। आवश्यकता तथा सुदृढ़ भविष्य की दृष्टि से अधिक संचय का दोष दूर करने के लिए यह सामाजिक नियम होगा कि सारी 'अतिरिक्त आय' कुछ पूर्व मर्यादित आवश्यक प्रतिशत[१] छूट के साथ स्वतः समाज के अधिकार में चली जाय। 'आवश्यक आय' और 'अतिरिक्त आय'—दोनों के व्यावहारिक अर्थ में विवाद हो सकता है। सम्प्रति, हम इतना ही कहना चाहते हैं कि प्रचलित आर्थिक व्याख्या में

---

१. प्रतिशत इसलिए कि प्रत्येक व्यक्ति को अधिकाधिक छूट का लाभ लेने के लोभ से अधिकाधिक उत्पादन की प्रेरणा प्राप्त हो सके।

दो शब्द 'अर्न्ड' (earned) और 'अन-अर्न्ड' (unearned) आते हैं। इनकी हम अपनी ही मौलिक रीति से परिभाषा करेंगे और उसे समझे बिना 'आवश्यक' और 'अतिरिक्त' आय को 'अर्न्ड' और 'अन-अर्न्ड' का पर्याय न मान लेना चाहिये।

साम्पत्तिक स्वामित्व के पारिवारिक सूत्र और संयुक्त परिवार के लिए संयुक्त सम्पत्ति अनिवार्य है

१११. यहाँ हमारा मूल प्रश्न है साम्पत्तिक स्वामित्व का और इसके लिए हमने कहा है कि पारिवारिक सूत्रों द्वारा ही उस पर वैयक्तिक अधिकार होगा। या यों कि संयुक्त परिवार के लिए संयुक्त सम्पत्ति का होना अनिवार्य है। इसका एक मात्र अर्थ यही हो जाता है कि पारिवारिक सम्पत्ति को अविभाज्य होना ही चाहिये। जब तक व्यक्ति परिवार का सदस्य है तब तक वह पारिवारिक सम्पत्ति का स्वामी और उसके उपभोग का पूर्णतः अधिकारी है। परिवार से अलग होने पर वह पारिवारिक सम्पत्ति का स्वामी नहीं हो सकता क्योंकि हम इस प्रकार संयुक्त सम्पत्ति को व्यक्ति-व्यक्ति के लिए खण्ड-खण्ड करके देश के समस्त साम्पत्तिक संगठन तथा पारिवारिक सुरक्षा को अस्त व्यस्त नहीं करना चाहते। इसलिए पारिवारिक, विशेषतः, समस्त अचल सम्पत्ति का अविभाज्य होना ही हितकर है। हाँ, यदि व्यक्ति का सामूहिक तथा सम्मिलित हितों के लिए अलग होना ही हितकर है तो उसे अपना नया उत्पादन केन्द्र स्थापित करने के लिए समाज तथा परिवार की चल सम्पत्ति से यथेष्ट सहायता देनी होगी। इसके अतिरिक्त पारिवारिक सम्पत्ति को विभाजित किये बिना, उसे जिस बात या सहयोग की आवश्यकता होगी दी जायेगी।

चल और अचल सम्पत्ति

११२. अब हमने निश्चय किया कि संयुक्त परिवार के लिए अविभाज्य रूप से संयुक्त सम्पत्ति होनी ही चाहिये। अतएव इसका यह भी अर्थ होता है कि पारिवारिक स्वार्थों के अतिरिक्त पारिवारिक सम्पत्ति का किसी अन्य रूप से कोई व्यवहार नहीं कर सकता। इस बात का सब से बड़ा परिणाम यह होगा कि यदि परिवार का कोई सदस्य परिवार की सम्पत्ति को किसी वैश्या या मन्दिर के पुजारी को दान देना चाहे तो यह सर्वथा असम्भव होगा। अचल सम्पत्ति कानूनन अविभाज्य है; चल सम्पत्ति में से व्यक्ति को केवल उतना ही फालतू प्राप्त

हो सकता है जितना कि पारिवारिक आवश्यकता और भावी सुरक्षा के निमित्त पृथक् कर देने के पश्चात् शेष चल सम्पत्ति में उसका अंश हो। उस अंश के व्यय का अधिकारी वह अवश्य है परन्तु फिर भी किसी अनिश्चित एवं अमर्यादित कार्य के विरुद्ध समस्त परिवार का सम्मिलित[१] विरोध, और अन्त में सामाजिक अनुशासन उस पर रहेगा ही। हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि जो व्यक्ति सद्-परिश्रम द्वारा उपार्जन नहीं करता उसे साम्पत्तिक स्वामित्व के सुखोपभोग का अधिकार ही नहीं। फलतः, वैश्यावृत्ति या देवताओं के नाम पर निखट्टू तथा असामाजिक व्यक्तियों को बड़ी-बड़ी सम्पत्तियों का मालिक बनने का भी अधिकार नहीं। मन्दिर, धर्मशालाएँ, गुरुकुल और पाठशालाएँ, सभी होंगे पर किसी एक व्यक्ति की स्वेच्छा अथवा निखट्टू मठाधीशों के अधीन न रहकर समाज के सम्मिलित सहयोग द्वारा, सामूहिक सञ्चालन और नियंत्रण में ही रहेंगे। इसके निर्माण में, इनके विकास और सुरक्षा में, अनेक व्यक्तियों का धन-बल लगा होगा और इसीलिए वह किसी एक के अधीन न रह सकेगा।

साम्पत्तिक स्वामित्व : वैयक्तिक और सामाजिक

११३. संक्षेप में, साम्पत्तिक स्वामित्व दो प्रकार का हुआ—(१) वैयक्तिक, जो संयुक्त परिवार की सदस्यता के रूप में ही सम्भव हो सकता है। (२) सामाजिक, जो सार्वजनिक (चल और अचल) निधियों का सामूहिक सञ्चालन करेगा। परन्तु साम्पत्तिक स्वामित्व के साथ ही उसके स्वामित्वांतर की समस्याएँ उपस्थित होती हैं। स्वामित्वान्तर का मुख्य प्रश्न वैयक्तिक सम्पत्ति के सम्बन्ध में ही उत्पन्न होता है क्योंकि समाज, व्यवहारतः, "अवैयक्तिक" (Impersonal) वस्तु है।[२] जैसा कि हमने ऊपर कहा है, सम्पत्ति को

---

१. पारिवारिक सम्पत्ति पर माता-पिता की संयुक्त अध्यक्षता रहेगी जो वयस्क सन्तानों की सर्वसम्मति से ही कार्यान्वित की जा सकेगी। दो (माता और पिता) में से दोनों के अभाव और साथ ही सन्तानों के अवयस्क होने की दशा में समाज उसका उत्तरदायी होगा। जहाँ विरोधी पक्ष विरोध करने में असमर्थ रहेगा वहाँ समाज विरोध करेगा।

२. सामाजिक स्वामित्व, निस्सन्देह, एक साक्षात् सत्य है, परन्तु यह किसी एक या प्रत्यक्ष व्यक्ति के द्वारा कार्यान्वित नहीं होता। समाज के नाम पर कुछ लोग कार्य करते रहते हैं; अतएव सामाजिक स्वामित्व तो निश्चित रूप से बना रहता है परन्तु उस स्वामित्व से उसके संचालकों का प्रत्यक्षतः कोई अपना निजी सम्बन्ध नहीं होता।

परिवार के संयुक्त सूत्र में बाँध देने से वैयक्तिक स्वामित्व की निर्बाध स्वच्छन्दता तथा उसकी पारिणामिक कटुता और विषमता स्वतः संयत हो जाती है। यदि थोड़ा बहुत वैषम्य है भी तो वह बिलकुल स्वाभाविक ही है। इसी के साथ दूसरी पकड़ हमने यह भी लगायी है कि लोगों की सारी 'अतिरिक्त आय' कुछ "पूर्व मर्यादित आवश्यक प्रतिशत छूट के साथ" स्वतः समाज के अधिकार में चली जाया करेगी। व्यक्ति अपने स्वतंत्र जन्म सिद्ध व्यक्तित्व का अधिकारी होते हुए भी संपूर्ण समाज का ही एक सदस्य है। अतएव, सिद्धान्ततः, उपर्युक्त छूट के साथ उसकी सारी "अतिरिक्त आय" और सम्पत्ति समाज के ही अधिकार में चली जानी चाहिये। इस प्रकार स्वामित्वांतर का सम्बन्ध सम्पूर्ण सम्पत्ति के एक अंश मात्र से ही रह जाता है। यह अंश अर्थात् 'आवश्यक आय' भी पारिवारिक सञ्चालन और संयुक्त स्वामित्व के अन्तर्गत हैं। इस अंश में अथवा इसके किसी अंश में उलट-फेर या स्वामित्वांतर का प्रश्न उपस्थित हो भी तो वह उसी दशा में हो सकता है जब कि पारिवारिक अथवा परिवार के अन्य सदस्यों का विरोध न हो। अतएव, अब प्रश्न रह जाता है केवल उस निर्विरोध स्वामित्वांतर का।

स्वामित्वांतर

११४. स्वामित्वांतर के प्रश्न को लेने के पूर्व हमें सर्वप्रथम, संक्षेप में, स्वामित्वांतर के प्रश्नों को समझना होगा। मोटे तौर से देखा जाय तो इसके तीन ही प्रकार होते हैं—

उत्तराधिकार

(अ) उत्तराधिकार,—इसमें स्वामी की स्वेच्छा से बिलकुल स्वतंत्र, स्वाभाविक रूप से सम्पत्ति को प्राप्त होनेवालों का वर्ग है। जीवनावस्था में ही सांसारिक कर्मों से संन्यास की दशा को छोड़कर वह अधिकांश मनुष्य के मृत्योपरांत ही घटित होता है।

दान

(ब) दान,—इसमें अपने स्वजनों को निजी उपभोग के लिए वसीयत की हुई सम्पत्ति भी सम्मिलित है क्योंकि वसीयत भी देनेवाले की स्वेच्छा का फल होने के कारण एक प्रकार से दान ही है।

सामाजिक या धार्मिक

(स) सामाजिक तथा धार्मिक प्रथाओं द्वारा प्राप्त होने वाली सम्पत्ति जैसे वैवाहिक, श्राद्ध या अन्य ऐसे ही कृत्यों के परिणाम स्वरूप हस्तान्तरित सम्पत्ति।

कोई भी विध हो, समाज के साम्पत्तिक वितरण में तीनों अपना

प्रभावोत्पादक स्थान रखती हैं और संसार के वर्तमान वैषम्य के प्रमुख कारणों में से हैं। लाखों करोड़ों की सम्पत्ति नित्य इधर-उधर हुआ करती है, अनेक अनधिकारी व्यक्ति बड़ी-बड़ी सम्पत्ति को प्राप्त होकर अपने अवाञ्छित कर्म तथा दुर्व्यवहारों द्वारा समस्त सामाजिक समतुलन को नष्ट-भ्रष्ट करते रहते हैं। कोई भी वाद हो, समाजवाद या गांधीवाद, ऐसे भ्रष्टाचार को कभी असंयत नहीं छोड़ सकता, उसे नैतिक नहीं करार दे सकता। सम्पत्ति पर व्यक्ति का नैसर्गिक अधिकार है सही, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि एक का अधिकार दूसरों के अधिकार के अपहरण से निर्मित हो अथवा वह समाज के सम्मिलित अस्तित्व में बाधक हो। वस्तुतः, व्यक्तिवाद वही सार्थक समझा जा सकता है जो सामूहिक सामञ्जस्य की स्थापना में सहायक हो।

११५. उपयोगिता की दृष्टि से जब हम सम्पत्ति पर विचार करते हैं तो एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उपस्थित होता है कि आखिर सम्पत्ति है क्या ? गंगा से देश को पानी मिलता है, देश की कृषि और उद्योग-धंधे चलते हैं। उसी प्रकार वन पर्वतों से हमें अनंत धनराशि प्राप्त होती है। अतः, इन सबको हम प्राकृतिक सम्पत्ति की श्रेणी में लेते हैं। प्रत्यक्ष रूप से गंगा किसी एक व्यक्ति या वर्ग की निधि नहीं है, परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से इस पर सरकार का स्वामित्व तो है ही। खैर, प्रश्न स्वामित्व का नहीं, स्वयं सम्पत्ति के स्वरूप का ही है। आखिर हम गंगा जल को सम्पत्ति की श्रेणी में ही क्यों लेते हैं। इसीलिए न कि यह लोगों के वैयक्तिक या सामूहिक उपयोग में आता है। इस प्रकार गंगा जल हो या सृष्टि की अन्य कोई वस्तु, कोई पदार्थ, लोगों के उपयोग में आने से ही वह सम्पत्ति बनती है। इसका अर्थ यह होता है कि जो वस्तु जितनी ही अधिक उपयोग में आयगी उसका उतना ही अधिक साम्पत्तिक मूल्य होगा। आज रुपया क्यों सब से बड़ा धन माना जाने लगा है ? केवल इसीलिए कि इससे अधिक से अधिक लोगों की अधिक से अधिक आवश्यकता की पूर्ति होती है। इसी बात को यों कहना होगा कि जिस वस्तु की जितनी ही उपयोगिता कम होगी उसका उतना ही अधिक साम्पत्तिक मूल्य घटेगा। भोजन रखा हो, और वह हमारे खाने में न आ सके, खज़ाना भरा हो और उससे हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति न हो, तो फिर उसका मूल्य ही क्या रहा ? उसे हम सम्पत्ति ही क्योंकर मानें ? जरा और आगे बढ़ कर

सम्पत्ति : मूल्य और उपयोगिता

सोचिये : एक मनुष्य के पास १०००००) हैं। वह अन्य अनेक प्रकार से भी साधन सम्पन्न है। उस आदमी को १०) दीजिये; वह इन दस रुपयों की क्या कदर करेगा? उसकी कितनी आवश्यकताएँ पूरी होंगी? उसके कुछ पान-पत्तों भर को भी शायद ये पूरे न पड़ें? कहने का मतलब उस लखपति के लिए इन दस रुपयों का कोई साम्पत्तिक मूल्य नहीं। परन्तु इन १०) को उस गरीब मजदूर को दीजिये जो दिन भर कड़ी मेहनत करके अपना और अपने बाल-बच्चों का किसी प्रकार पेट भरने की फिकर में है। १०) उसके लिए एक बहुत बड़ी रकम मालूम होते हैं, बड़े काम के साबित होते हैं। अभिप्राय यह कि उन्हीं १०) की एक के हाथ में कीमत घटती है और दूसरे के हाथ में कीमत बढ़ती है। इससे सिद्ध होता है कि सम्पत्ति का मूल्य बढ़ाने के लिए उससे लोगों की अधिकाधिक आवश्यकताओं की पूर्ति होनी चाहिये अर्थात् उसका अधिकाधिक वितरण होना चाहिये। यह केवल विकेन्द्रित व्यवस्था में ही संभव है।

संक्षेप में, वैयक्तिक या राष्ट्रीय, प्रत्येक दृष्टि से साम्पत्तिक विस्तार के लिए चर्यात्मक विधान एक अनिवार्य शर्त है जहाँ सम्पत्ति केन्द्रित (मूल्यहीन) नहीं विकेन्द्रित (मूल्य-युक्त) होती है।

सम्पत्ति : केन्द्रित और विकेन्द्रित

११६. अस्तु, साम्पत्तिक स्वामित्वांतर के सम्बन्ध में हमारी दृष्टि सर्व-प्रथम उत्तराधिकार प्रथा पर ही जाती है। सम्पत्तियाँ पीढ़ी-दर-पीढ़ी, पिता से पुत्र और पुत्र के पुत्र और पुत्र के पुत्र······इसी प्रकार हस्तांतर हुआ करती हैं। एक व्यक्ति १०००००) मूल्य की सम्पत्ति का स्वामी था, वह विद्वान् और पुरुषार्थी भी था। परन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके एक मात्र, परन्तु सर्वथा अयोग्य और कुमार्गी पुत्र ने सारी सम्पत्ति को ग्रहण किया। यहाँ दो बातों पर विचार करना होगा : पहले तो यह कि क्या अकेले इतनी बड़ी सम्पत्ति का, प्रस्तुत उत्तराधिकारी समाज के समतुलन में अनावश्यक एवं अवाञ्छित वैषम्य का कारण न बनेगा? साथ ही यह भी देखना होगा कि क्या वह इस उत्तराधिकार के योग्य है भी या नहीं क्योंकि यदि वह अयोग्य है तो वह इस सपरिश्रम उपार्जित सम्पत्ति को सुरक्षित और विकासमान बनाने के बजाय उसके क्षय तथा दुरुपयोग का कारण बन सकता है अर्थात् यह कि अपने साथ ही समाज के सम्मिलित विकास में भी बाधक हो सकता है। चूँकि वैयक्तिक

उत्तराधिकार : राष्ट्रीय निधि

स्वामित्व का, प्रत्येक को नैसर्गिक अधिकार होते हुए भी, समाज के सम्मिलित हितों से सम्बन्ध है, अतएव यह भी पूर्णतः स्वाभाविक है कि उत्तराधिकार पर समाज सतर्क होकर ध्यान रखे। इसी अभिप्राय को लेकर गांधी जी कहते हैं—"उत्तराधिकार स्वभावतः राष्ट्र की निधि है[1]।"

११७. उत्तराधिकार प्रथा के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए व्यक्ति, कुटुम्ब, समाज, और सामाजिक संगठन, हमें तत्सम्बन्धी कई प्रश्नों पर भी विचार करना होगा। हमने अब तक व्यक्ति के सम्बन्ध में निम्नलिखित रूप से विचार किया है :—

(१) हमारा सामाजिक संघटन कुटुम्ब प्रधान होना चाहिये।

(२) उसके सदस्य रूपी प्रत्येक व्यक्ति को सम्पत्ति पर वैयक्तिक स्वामित्व प्राप्त होगा परन्तु उसका सञ्चालन पारस्परिक और सम्मिलित रूप से होगा।

(३) सारी अचल सम्पत्तियाँ परिवार की ही होंगी और परिवार की समस्त अचल सम्पत्ति अविभाज्य होगी क्योंकि संयुक्त परिवार के लिए संयुक्त सम्पत्ति का होना अनिवार्य है।[2] यह कहना कि कुछ सम्पत्ति परिवार के लिए संयुक्त हो और कुछ उसके सदस्यों के पृथक् वैयक्तिक उपभोग के लिए असंयुक्त हो, ठीक नहीं दीखता क्योंकि इस तरह नाना प्रकार की वैयक्तिक और सामाजिक उलझनें उत्पन्न हो जायेंगी। सामाजिक शान्ति शंका में पड़ी रहेगी, परिवार और उसके सदस्यों

---

1. Inheritance rightfully belongs to Nation—Gandhiji.

२. आज संसार, विशेषतः भारतवर्ष, में "फ्रैगमेन्टेशन ऑव, लैण्ड" यानी धरती के टुकड़ों में बँट जाने की चिन्ता व्याप्त है। आर्थिक दृष्टि से धरती के कुछ हद तक ही टुकड़े किये जा सकते हैं, उससे अधिक टुकड़े होने में धरती अनुत्पादक और बेकार हो जाती है। भारत आज इस अर्थविहीन बँटवारे के दुष्परिणामों में बुरी तरह फँस गया है। इस समस्या का दूसरे देशों ने भी सामना किया है। फ्रान्स में इस अनंत बँटवारे के कारण खेती अनुत्पादक सी हो चली थी। ३०% से अधिक उसकी उपयोगिता घट चुकी थी। अन्त में वहाँ कानून बना कि २००००० फ्राँक्स से कम मूल्यवाली धरती का बँटवारा नहीं होगा। जर्मनी में भी ऐसे ही कानून बने। डेनमार्क में भी कानूनन बना कि एक "परिवार की सारी अचल सम्पत्ति अविभाज्य हो।" अतः हम कोई कठिन या विचित्र प्रस्ताव नहीं कर रहे हैं, बल्कि इसके लिए तो हमारे यहाँ शास्त्र और प्राचीन परम्परा भी मौजूद हैं। इसे कानूनी रूप से पुनर्स्थापित करने में दिक्कत न होगी।

में सदा संघर्ष और सरकारी हस्तक्षेपों की आवश्यकता बनी रहेगी। सुदृढ़ गार्हस्थ्य की स्थापना हो ही नहीं सकती। अतएव हम व्यक्ति और परिवार के भिन्न और अभिन्न स्वार्थों का प्राकृतिक मान रखते हुए सम्पत्ति को चल और अचल, केवल इन्हीं दो वर्गों में बांटना व्यवहार्य्य समझते हैं।

(४) प्रत्येक व्यक्ति, अर्थात् सम्पूर्ण परिवार, की सारी अतिरिक्त आय, कुछ पूर्व मर्यादित आवश्यक प्रतिशत छूट के साथ समाज के अधिकार में चली जाया करेगी।

सम्पत्ति क्या है?

११८. यह बिलकुल स्पष्ट बात है कि जो व्यक्ति का नहीं वह समाज का है और जो समाज का नहीं है वह व्यक्ति का होगा। उसी प्रकार यह भी स्पष्ट है कि व्यक्ति समाज से प्राप्त करता है और समाज व्यक्ति से प्राप्त करता है। व्यक्ति की आय समाज के अन्य लोगों के सहयोग तथा उनके साथ व्यवहार से ही संभव होती है और अन्त में यही वैयक्तिक सम्पत्ति के निर्माण में सहायक होती है। अधिकांश, बिना दूसरों के साथ व्यवहार किये किसी व्यक्ति की आय अथवा सम्पत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। सोना, मिट्टी, अन्न, वस्त्र अथवा कोई भी वस्तु यदि दूसरों के लिए कोई मूल्य न रखे तो वह सम्पत्ति भी नहीं कही जा सकती। इसलिए दूसरों के साथ व्यवहार से अपने अथवा दूसरों के लिए न्यूनाधिक परस्पर मूल्य रखनेवाली, परिश्रमपूर्वक उपार्जित, वस्तु ही सम्पत्ति है। अतएव सम्पत्ति को हम एक सामाजिक शब्द (Social terms) ही मानेंगे। या यों कि सम्पत्ति व्यक्ति के लिए एक सामाजिक देन है। परिणामतः, व्यक्ति की आवश्यकताओं से अधिक होते ही यह स्वतः ज्यों की त्यों समाज के पास लौट जाती है।

सम्पत्ति सामाजिक शब्द है

११९. इसी अर्थ में हम 'आवश्यक आय' और 'अतिरिक्त आय' को ले रहे हैं। जो आवश्यक नहीं वह अतिरिक्त होगी ही। 'आवश्यक' और 'अतिरिक्त', दोनों लक्षणात्मक पेचीदगियों से युक्त और व्याख्या के अपेक्षित हैं। आवश्यक आय का एक अंश यह भी हो सकता है जो सम्पत्ति की सुरक्षा और आवश्यकतानुसार उसकी वृद्धि में

उपयुक्त किया जाय।[1] परन्तु परिस्थितियों के बदलते अथवा उपभोक्ताओं की संख्या में कमी होते ही वही सम्पत्ति जो आज आवश्यक है कल अनावश्यक बन सकती है। अनावश्यक बनते ही वह अतिरिक्त की श्रेणी में आ जायेगी और कुछ पूर्व मर्यादित आवश्यक प्रतिशत छूट के साथ स्वतः समाज की हो जायेगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि पहले तो सारी अचल सम्पत्ति संयुक्त परिवार की संयुक्त निधि होने के कारण अविभाज्य है। दूसरे यह कि उसका सारा अतिरिक्तांश समाज के पास लौट जाने के कारण बात और भी अनुशासित हो जाती है। संक्षेप में नवभारत की योजनाएँ साम्पत्तिक स्वामित्व और उत्तराधिकार की स्वतन्त्रता देते हुए भी सम्पत्ति का अधिकांश, समाज के स्वाभाविक नियन्त्रण में रखती हैं। वास्तव में चल सम्पत्ति का कुछ वही पूर्व निश्चित अंश, परिवार के सदस्यों को अपने स्वतन्त्र वैयक्तिक व्यवहार के लिए आय स्वरूप प्राप्त होता है जो परिवार की सम्मिलित आवश्यकताओं से फालतू बचता है।

"आवश्यक" और "अतिरिक्त" आय

१२०. उपरोक्त व्याख्या एवं प्रतिबन्धों को ध्यान में रखते हुए ही हम उत्तराधिकार के मुख्य प्रश्न पर विचार कर सकते हैं। सम्पत्ति का स्वामी कौन है? इसका उत्तर हमने यही दिया है कि स्वामी तो व्यक्ति ही है परन्तु पारिवारिक माध्यम द्वारा। अतएव उत्तराधिकार में भी उसी माध्यम का प्रयोग होगा।

व्यक्ति, पारिवारिक माध्यम द्वारा सम्पत्ति का स्वामी है

१२१. एक व्यक्ति के चार पुत्र और एक पुत्री है। कुछ खेत और बाग, कुछ नकद धन उसकी सम्पत्ति है। पुत्री विवाहोपरान्त दूसरे परिवार की सदस्या हो जाती है, और चारों पुत्रों ने पिता की समस्त सम्पत्ति को उत्तराधिकार में प्राप्त किया। इसमें चल और अचल सारी सम्पत्ति सम्मिलित है। अचल सम्पत्ति तो अविभाज्य है ही, नकद धन में से भी कुछ साम्पत्तिक सुरक्षा और पारिवारिक खर्च (जैसे विवाहादि, दान-धर्म,

अचल सम्पत्ति की सीमा

१. जो सम्पत्ति, आय, अथवा धन वृद्धि के लिए उपयुक्त की जाय उसे पूँजी की श्रेणी में लेना होगा परन्तु यहाँ पूँजी और सम्पत्ति के इन लाक्षणिक भेदों पर ध्यान न देकर हम फिलहाल सम्पत्ति शब्द को उसके व्यापक अर्थों में ही ले रहे हैं।

बहन को दहेज इत्यादि) में लगेगा। परिणामतः, एक-एक व्यक्ति को अलग-अलग यदि लेना ही हुआ तो एक सीमित अंश में ही नकद धन प्राप्त होगा। इन चारों पुत्रों में से दो के ही पुत्र हुए। परिणामतः, परिवार की कुल तत्कालीन सम्पत्ति के ये दो ही उत्तराधिकारी होंगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि संयुक्त सम्पत्ति का उत्तराधिकार भी संयुक्त होता है। हाँ, यह प्रश्न अवश्य खड़ा होता है कि क्या ४ पुत्रों वाली १००० बीघे जमीन दो पुत्रों के लिए बहुत अधिक तो न सिद्ध होगी? और साथ ही साथ यह भी प्रश्न है कि क्या परिवार के वर्तमान सदस्य इतनी बड़ी सम्पत्ति का सुव्यवस्थित व्यवहार कर सकेंगे और कर भी सकें तो क्या यह समाज में अवाञ्छित वैषम्य उपस्थित न कर देगी?

विशाल अचल सम्पत्ति के लिए पर्याप्त सदस्य संख्या और समाज व्यवस्था

१२२. हम कह चुके हैं कि सारी अतिरिक्त आय निश्चित छूट के साथ समाज की है। अतएव वैषम्य का प्रश्न कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। हाँ, यह अवश्य है कि क्या सदस्यों की अपर्याप्त संख्या के कारण सारी सम्पत्ति का समुचित प्रबन्ध असम्भव तो नहीं हो रहा है। विशेषतः इसलिए कि पारिवारिक अचल सम्पत्ति को प्रत्येक दशा में अविभाज्य रखना ही हितकर है बशर्ते कि सारी सम्पत्ति ही लावारिस होकर पूर्ण रूपेण समाज के अधीन न हो जाय। पारिवारिक सम्पत्ति में विभाजन का हम सिद्धान्त ही नहीं उपस्थित करना चाहते क्योंकि यदि समाज को विभाजन का अधिकार प्रदान किया जाता है तो सिद्धांततः वह व्यक्ति को भी प्राप्त होना चाहिये। परन्तु चूँकि साम्पत्तिक सुरक्षा और उसके विकास का उत्तरदायित्व समाज पर भी है, अतएव उपरोक्त अनिवार्य परिस्थिति में समाज को हस्तक्षेप करना ही होगा। इसके लिए व्यावहारिक यही होगा कि पारिवारिक सम्पत्ति पर पारिवारिक स्वामित्व को अविचल बनाये रखते हुए भी समाज उपयुक्त व्यक्तियों को उसमें सहयोग और उसके पारिणामिक लाभ का आदेश दे।[1] ऐसा आदेश समाज[2] और पारिवारिक सदस्यों के सम्मिलित परामर्श से ही दिया जाना चाहिये ताकि वह ताना-

---

१. निःसन्तानों के लिए दत्तक व्यवस्था भी इसी स्थल पर मान्य होती है।

२. हमने अभी राज और समाज का विभेदात्मक विवेचन नहीं किया है अतएव सबके लिए व्यापक अर्थों में हम समाज शब्द का ही प्रयोग करते आ रहे हैं।

शाही हुकूमत का रूप न धारण कर ले और व्यक्तियों के स्वाधिकार पर आघात होने लगे।

इसी प्रश्न का दूसरा पहलू यह है कि यदि किसी परिवार का कोई सदस्य न्यायतः और कारण सहित परिवार से अलग होकर स्वतंत्र अस्तित्व कायम करना चाहता है तो उसे आधारभूत आवश्यक अचल सम्पत्ति कहाँ से मिले या यह भी कि यदि किसी पारिवारिक सम्पत्ति के लिए आवश्यक संख्या से उक्त परिवार के सदस्य अधिक हो जाते हैं तो उनके लिए पृथ्वी या अन्य प्रकार की अचल निधि कहाँ से आये ?

हमने अभी ऊपर कहा है कि समाज अपने सदस्यों के सुख-समृद्धि के लिए उत्तरदायी है। समाज को अपने सार्वजनिक सूत्रों से ऐसे व्यक्ति और परिवारों की स्थिति कायम करने में सहायता देनी होगी। ऊपर कहा गया है कि परिवार की सदस्य संख्या कम हो जाने से वह उस परिवार के लिए अनावश्यक हो जायेगी यानी समाज की हो जायेगी। ऐसे ही सूत्रों से समाज की सार्वजनिक निधि का निर्माण होता है। ऐसी ही सार्वजनिक निधियों से समाज अपने व्यक्ति और परिवारों की सहायता करेगा।

पिछले स्थलों में हमने मंगरौठ का उल्लेख किया है। वस्तुतः, सारे गाँव की सारी अचल सम्पत्ति का उसी प्रकार सम्मिलित और सहयोगी रूप से व्यवहार होना चाहिये, फिर सारी पेचीदगियाँ अपने आप दूर हो जायेंगी। यहीं विनोबा के भू-दान-यज्ञ का महत्त्व प्रकट होता है,—गाँव की सारी जमीन सारे गाँव की है यानी कोई बे-ज़मीन रह ही नहीं सकता। यों भी वन, चरागाह, तालाब, झील, नहरें, कुएँ आदि तो सार्वजनिक होने ही चाहियें, होते भी हैं।

अब रह जाता है प्रश्न चल सम्पत्ति का। संयुक्त परिवार के अस्तित्व मात्र के लिए संयुक्त सम्पत्ति होनी ही चाहिये और यह उसी समय संभव होगी जब कि वह अविभाज्य हो। परन्तु चल सम्पत्ति के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता, वरना वैयक्तिक स्वामित्व का सारा उद्देश्य ही विफल हो जायेगा। हमें उत्तराधिकार के इसी अंश को देखना है। मान लीजिये एक व्यक्ति की साम्पत्तिक आय ५००) मासिक है। उसके चार पुत्र और एक पुत्री है। अर्थात् परिवार में माता-पिता को लेकर कुल सात सदस्य हुए। इसमें से परिवार की जीवनावश्यकताएँ, साम्पत्तिक

चल सम्पत्ति और वैयक्तिक बचत

सुरक्षा और विस्तार मध्ये ३००) निकल जाते हैं। यही ३००) "आवश्यक" आय हुई और शेष २००) "अतिरिक्त आय"। इस अतिरिक्त आय" का २५% परिवार को छूट मिलती है। इस ५०) में से बराबर-बराबर अथवा, माता-पिता की स्वीकृति से, न्यूनाधिक, प्रत्येक सातों सदस्य के हिस्से में आता है। यह वैयक्तिक बचत है और यही वैयक्तिक उत्तराधिकार की समस्या उपस्थित कर सकती है।

---

१ यों तो जब हम "आवश्यक आय" पर विचार करेंगे तो वहाँ उसके अन्तर्गत आनेवाले मदों पर विचार करेंगे। परन्तु यहाँ स्पष्ट कर ही देना है कि हम प्रचलित आर्थिक विचारों का विरोध करते हुए भी साम्पत्तिक सुरक्षा और उसके विकास को भी आवश्यक मद अर्थात् आवश्यक आय के अन्तर्गत ले रहे हैं क्योंकि सम्पत्ति को सुरक्षित और विकासमान न बनाया गया तो वह यही नहीं कि आगे चल कर पारिवारिक आवश्यकताओं की पूर्ति में भी असमर्थ हो जायेगी बल्कि यह भी कि सामाजिक और राष्ट्रीय विकास में भी बाधा पहुँच सकती है। हमने अभी "अर्न्ड" और "अन-अर्न्ड"—दो प्रकार की आय का जिक्र किया है। "अर्न्ड" अर्थात् "अर्जित" और "अन-अर्न्ड" अर्थात् "अनुपार्जित"। परन्तु ध्यान रहे हम उपार्जित और अनुपार्जित का प्रयोग न करके आय को "आवश्यक" और "अतिरिक्त"—इन्हीं दो वर्गों में बाँट रहे हैं। इस बात पर विशेष ध्यान रखना है क्योंकि कुछ अर्थशास्त्रियों ने "अन-अर्न्ड" आय पर ही समाज या राज का अधिकार बतलाया है। परन्तु यह भी तो सम्भव है कि अनुपार्जित आय भी व्यक्ति की आवश्यक आय हो। एक व्यक्ति परिश्रम और उद्योग-पूर्वक ५०) कमाता है। यह हुई उसकी उपार्जित आय। साथ ही साथ उसने कुछ धन अथवा साधन या कृषि के लिए दो बैल किसी दूसरे व्यक्ति को दे रक्खे हैं जिसे 'इन्वेस्टमेन्ट' या लागत कहेंगे। इसे लेकर दूसरा व्यक्ति स्वपरिश्रम द्वारा जो आय करता है वह तो उसकी अर्जित आय हुई। परन्तु इसमें से लागत लगाने या उधार देनेवाले को ५०) आय रूप प्राप्त हो तो यह उसकी अनुपार्जित आय होगी। परन्तु हम देखते हैं कि उसकी आवश्यकताएँ ७५) की हैं जिसकी पूर्ति वह उपार्जित व अनुपार्जित, दोनों को मिलाकर करता है। अतएव कहना तो यही होगा कि उसकी "आवश्यक" आय ७५) है और २५) उसकी 'अतिरिक्त आय' हुई। परन्तु यदि हम 'आवश्यक' और 'अतिरिक्त' के बजाय 'उपार्जित' और 'अनुपार्जित' के भेद से व्यक्ति और समाज (यां राज) के अधिकारों का निर्णय करेंगे तो विवाद उत्पन्न हो सकता है। यह दूसरी बात है कि किसी व्यक्ति को उधार देने या लागत लगाने का कहाँ तक अधिकार है। इसका भी निर्णय करना होगा। इसी प्रकार उपार्जित आय की बात है। एक व्यक्ति विशेष योग्यता या विशेष साधनों से युक्त होने के कारण स्वपरिश्रम द्वारा ५००) मासिक कमाता है। उसकी आवश्यकताएँ १००) मासिक ही हैं। क्या ४००) प्रति मास जो उसके पास एकत्र हो रहे हैं एक बड़ी सम्पत्ति के रूप में बदल कर साम्पत्तिक वैषम्य का प्रश्न न उपस्थित करेंगे? कहने का अभिप्राय "उपार्जित" और 'अनुपार्जित' के भेद से कार्य करने में पेचीदगियाँ उत्पन्न हो रही-हैं। पहले तो यही निर्णय करना होगा कि हम उपार्जित किसे कहें? जिसके उपार्जन में साक्षात् परिश्रम लगे? तो क्या व्यवसाय की नानारूपी वृहत् आय और पुस्तकों पर प्राप्त होनेवाली (पृष्ठ २२४ पर)

पहले तो यह कि वैयक्तिक बचत हो ही क्यों ? हम यह नहीं चाहते कि समाज पंगु और निरीह व्यक्तियों का झुण्ड मात्र हो और समाज उनके रोटी और धोती की समस्या को सुलझाने में उन्नति और उत्थान के अन्य महत्वपूर्ण प्रश्नों को छोड़ बैठे। प्रत्येक व्यक्ति को पारिवारिक माध्यम द्वारा अपने परिश्रम और पुरुषार्थ के बल पर सम्पन्न और स्वावलम्बी होना चाहिये। सम्पन्नता और स्वावलम्बन की दृष्टि से उसके पास जीवनावश्यकताओं की पूर्ति के उपरान्त समय-कुसमय के लिए साम्पत्तिक सञ्चय होना ही चाहिये। संयुक्त परिवार के सदस्य होने के नाते वृद्ध और श्रम के अयोग्य माता-पिता का पालन-पोषण सन्तानों का कर्तव्य अवश्य है फिर भी यदि इन वृद्धात्माओं के पास अपनी वैयक्तिक कही जानेवाली कोई निधि है तो इससे बढ़ कर क्या हो सकता है ? वृद्धावस्था को छोड़िये, युवावस्था में ही यदि कोई विपत्ति आ पड़ी तो भी पारिवारिक संरक्षण की क्रियाशीलता अथवा निष्क्रियता के अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप से ही सुरक्षित धन काम आ सकता है। पुत्री को लीजिये। विवाहोपरान्त वह किसी अन्य परिवार की सदस्या होने जा रही है। बेचारी परिवार की चल सम्पत्ति का उपभोग तो कर ही नहीं सकती परन्तु उसे नये जीवन में स्थापित करने के लिए परिवार ने क्या सहायता दी ? यही उसका दहेज[1] होगा और उसके नव जीवन का सहायक बन सकता है।

परिवार के सदस्यों की संख्या बढ़ गई है। प्रस्तुत साधन में एक साथ निर्वाह होना कठिन हो रहा है। एक या अनेक व्यक्तियों को अलग होकर स्वतन्त्र रूप से जीवन व्यापार शुरू करना है। पारिवारिक सहयोग और

पुश्तैनी रॉयल्टी को 'उपार्जित' श्रेणी में लेंगे ? इसी प्रकार अनेकों पेचीदगियाँ हैं जिन पर स्वतन्त्र रूप से ही विचार किया जायेगा। सम्प्रति, हमारा उद्देश्य, आवश्यक और अतिरिक्त आय से ही सिद्ध होगा।

१. विवाहोपरान्त पुत्री का नाता पिता की चल और अचल सम्पत्ति से टूट कर पति के परिवार से जुड़ जाता है। परन्तु पुत्री यदि स्वयं उचित और आवश्यक समझे तो अब तक अपने हिस्से का धन अपने साथ ले जा सकती है। यही उसका दहेज होगा। परन्तु इसके लिए पति की ओर से कोई दबाव मान्य नहीं हो सकता। यदि पति के परिवार में उसे जीवन के निश्चल साधन प्राप्त हो रहे हैं और वह स्वयं पिता के यहाँ से धन ले जाना अनावश्यक समझती है तो वह सहर्ष छोड़ जा सकती है। हाँ, यदि उसकी इच्छा और आवश्यकता के विपरीत भी पिता के यहाँ से उसे उसका हिस्सा प्राप्त नहीं हो रहा है तो पति वालों का ही दबाव नहीं, स्वयं समाज का भी हस्तक्षेप कार्य करेगा।

सहायता तो उसे प्राप्त होगी ही, परन्तु अपनी निजी सम्पत्ति होने के कारण कार्य और भी सुगमता और सुरुचिपूर्वक प्रारम्भ किया जा सकता है।[1] इसी प्रकार अनेकों बातें हैं जो व्यक्तिगत बचत की प्रेरणा करती हैं। यदि व्यक्तिगत बचत है तो उसका उत्तराधिकार अथवा वैधानिक स्वामित्वान्तर भी स्वाभाविक ही होगा क्योंकि जो तर्क एक के पक्ष में आता है वही दूसरे का भी समर्थन करता है।

१२३. व्यक्ति की यही व्यक्तिगत बचत, उसकी सन्तानों को, उत्तराधिकार में, परिवार के संयुक्त उत्तराधिकार के अतिरिक्त, प्राप्त होती है।

वैयक्तिक बचत और उत्तराधिकार —— 'मिताक्षरा' और 'दाय भाग' का सुमिश्रण

न्यायतः यह बचत भी सन्तानों में समान रूप से बँट जानी चाहिये, परन्तु उचित और आवश्यक हो तो माता-पिता इसके वितरण में स्वेच्छा का प्रयोग कर सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारी उत्तराधिकार व्यवस्था में 'दाय भाग' और 'मिताक्षरा', दोनों का उत्कृष्टतम रूप से समावेश हो जाता है जो अत्यन्त सरल, सुबोध और व्यावहारिक रीति भी है। हम दावे के साथ कह सकते हैं कि साम्पत्तिक उत्तराधिकार का इससे वैज्ञानिक तरीका कोई दूसरा हो ही नहीं सकता। वास्तव में हमारा लक्ष्य भूत, भविष्य और वर्तमान को ध्यान में रखते हुए एक सुखी और समृद्धिशाली एवं संघर्षहीन समाज की स्थापना पर ही है और हमें विश्वास है कि यह उसका श्रेष्ठतम उपाय है।

अब उत्तराधिकार सम्बन्धी अन्य दो चार प्रश्नों पर विचार करना और शेष रह जाता है।

१२४. व्यक्ति को साम्पत्तिक स्वामित्व का लाभ प्राप्त होने के कारण

---

१. इस दशा में पारिवारिक सम्पत्ति का प्रश्न उपस्थित होगा। सबसे पहले तो पारिवारिक सम्पत्ति अविभाज्य होने के कारण परिवार छोड़ जाने का अनावश्यक प्रलोभन ही न होगा और जो छोड़ेंगे भी तो वे अधिकांश पारिवारिक सम्पत्ति की पोषणार्थ क्षमता के अभाव में ही। अस्तु, सदस्यों के अलग हो जाने के उपरान्त जो भी पारिवारिक सम्पत्ति के साथ बंधा रहेगा वही उसका स्वामी होगा। परिवार छोड़ने पर कोई बाध्य न किया जायेगा और परिस्थिति-वश जो छोड़ेगा उसमें सबसे पहला वही होगा जो अलग जीवन आरम्भ करने में सर्वाधिक समर्थ होगा।

उसे आत्म विश्वास, आर्थिक निश्चिन्तता एवं जीवन संघर्ष में बल प्राप्त होता है। यदि उसकी सन्तानें उत्तराधिकार से वंचित कर दी जायें तो यही नहीं कि व्यक्ति का साम्पत्तिक स्वामित्व अर्थहीन बन जायेगा बल्कि यह भी कि जो पिता को प्राप्त है उसके पुत्र उससे वंचित रह जायेंगे अर्थात् आर्थिक निश्चिन्तता समाज का गुण न रह जायेगी। संक्षेप में, उत्तराधिकार वैयक्तिक सम्पत्ति की अनिवार्य शर्त है। यह दिखलाया जा चुका है कि हमारा साम्पत्तिक स्वामित्व वैयक्तिक परन्तु परिवारगत है। अतएव विदेशों के समान यहाँ उत्तराधिकारी की आयु का प्रश्न कोई महत्त्व नहीं रखता। यहाँ परिवार का प्रत्येक सदस्य पारिवारिक उद्यम में संयुक्त रूप से कार्य और उसके उपभोग का अधिकारी है। जब तक वह परिवार का सदस्य है पारिवारिक कार्य में उसे सक्रिय भाग लेना होगा, पारिवारिक स्वार्थों की रक्षा करनी ही होगी। युवा हो या वृद्ध, पारिवारिक मर्यादा के अन्दर ही चलना होगा। अतएव उसकी आयु से उत्तराधिकार के पूर्व या पश्चात्, दोनों परिस्थितियों में कोई विशेष परिणामजनक अन्तर नहीं पड़ता। उत्तराधिकार से उसकी आयु-जनित राष्ट्रीयता और निष्क्रियता का कोई विशेष सम्बन्ध नहीं और न यही बात है कि उसके उत्तराधिकार के कारण समाज में किसी विशेष साम्पत्तिक उलट-फेर या उतार-चढ़ाव का प्रश्न उपस्थित होता है।

उत्तराधिकार वैयक्तिक सम्पत्ति की एक अनिवार्य शर्त है

१२५. हम कह चुके हैं और अभी और अधिक विस्तार से कहेंगे कि जीवनावश्यकताओं की पूर्ति के लिए कार्य करना ही होगा। गांधी जी कहते हैं—"जो बिना कमाये खाते हैं वे निश्चय ही चोरी करके खाते हैं।"[1] इस बात पर विचार कीजिये कि एक व्यक्ति स्वपरिश्रम द्वारा १००) मासिक की आय करता है जो उसके परिवार के लिए बिलकुल पूरा है। वह बीमार पड़ गया, उसकी दैनिक कमाई बन्द हो गई। उसके पास न कुछ बचता

जीवनावश्यकताओं की पूर्ति के लिए कार्य करना आवश्यक है

---

1. "Those who ate without work were thieves"—Gandhiji, Young India, 13-10-24

था, न बचत है। अब उसे दवा-दारू या भोजनादि कैसे प्राप्त हो ? क्या वह परिवार समेत किसी सामाजिक बारिक में दाखिल हो जाय ? तो क्या इस प्रकार समाज के लाचारों के लिए सरकारी बारिकें और उनकी भरती तथा मुक्ति की जटिल व्यवस्था का बोझ भी ढोते चलना पड़ेगा ? हम ऐसी किसी भी व्यवस्था को सामाजिक सुदृढ़ता का द्योतक नहीं मानते जिसके सदस्य स्वावलम्बन के बजाय सामाजिक 'राशन' या 'सरकारी भत्तों' (Doles) पर ही जी सकें। इसलिए हमने व्यक्ति को साधन युक्त बनाने के साथ ही साम्पत्तिक स्वामित्व का अधिकार प्रदान किया है ताकि वह निश्चिन्त होकर जीवन-संघर्ष के कार्य कर सके। इसी बात के दूसरे पहलू पर विचार कीजिये। उपरोक्त व्यक्ति चार छोटे-छोटे बच्चों को छोड़ कर मर गया। यदि उसके पास कोई सम्पत्ति नहीं रही तो स्वभावतः बच्चों को सरकारी अनाथालय में भरती करना होगा। परिणामतः, स्वावलम्बन के बजाय समाज में निरीहता का उदय होगा और सारा सामाजिक विकास मारा जायगा। साथ ही साथ समाज को ऐसी अनावश्यक जिम्मेदारियों के बोझ के कारण विकास के अन्य क्षेत्रों में स्वतन्त्र और समर्थ होकर कार्यशील होने का अवसर ही न प्राप्त हो सकेगा। अभिप्राय यह कि सामाजिक व्यवस्था को सत्य और स्वगामी बनाने के लिए भी पूर्व कथित साम्पत्तिक स्वामित्व और उत्तराधिकार की व्यवस्था करनी होगी। हाँ, यह बात अवश्य है कि समाज को देखना होगा कि प्रत्येक परिवार और उसका प्रत्येक सदस्य साधनयुक्त और कार्यशील है, अन्यथा समाज में मुफ्तखोरों और निखट्टू मठाधीशों की सृष्टि तथा "चोर वृत्ति" (बिना कमाई के भोजन प्राप्ति) का संस्कार होगा।

१२६. परिवार और उनके सदस्यों को साधन युक्त एवं क्रियाशील रखना समाज का उसी प्रकार उत्तरदायित्व है जैसे परिवार की अनावश्यक सम्पत्ति पर अपना अधिकार समझना। किसी परिवार के फालतू साधन और सम्पत्ति का सदुपयोग करने के लिए जैसे समाज अन्य व्यक्तियों को कार्य एवं सहयोग पूर्ण श्रम द्वारा उसका लाभ लेने का आदेश दे सकता है, व्यवस्था कर सकता है, उसी प्रकार समाज यह भी कर सकता है कि यदि किसी परिवार में ५० बीघे जमीन की आवश्यकता है और उस परिवार के पास कुल २५ बीघे ही हैं या ५००) मासिक आय की आवश्यकता है

और उसकी मासिक आय २००) रु० ही है तो शेष साधन और उद्योगों की उस परिवार के लिए व्यवस्था करे। यहाँ यह आवश्यक नहीं कि ऐसे परिवारों की सम्पत्ति ही बढ़ाई जाये। तरीका यह भी हो सकता है कि यदि परिवार के एक या अनेक सदस्य स्वतन्त्र रूप से जीवन व्यापार में लग सकते हैं तो उन्हें आवश्यक और सामूहिक सुविधानुसार परिवार से अलग भी साधन युक्त बनाया जा सकता है परन्तु यदि एक माँ के सात छोटे-छोटे बच्चे हैं और दूसरा कोई वयस्क प्राणी उनकी सहायता के लिए नहीं है और न इतना साधन ही है कि इन सबका भरण-पोषण एवं सुख-सौरभ का विधान हो सके तो यहाँ परिवार की साम्पत्तिक स्थिति को बढ़ाना, नये साधनों से युक्त करना, नये रास्ते, नये उद्योग, तथा नई व्यवस्था से उन्हें उसी पारिवारिक छाया और मर्यादा में सम्पन्न बनाना होगा। व्यक्तिगत लेन-देन को चालू रखते हुए भी उत्तम यही होगा कि व्यक्तियों के बड़े-बड़े आर्थिक मसले ग्राम पंचायतों के माध्यम से ही हल किये जायें, विशेषतः इसलिए कि व्यक्तियों की ये सारी लेन-देन इस तरीके से चलें कि उनका न तो उत्पादन और साम्पत्तिक विकास पर असर हो और न उनके परिणाम में साम्पत्तिक विभाजन की समस्या खड़ी हो।

सदस्यों को साधन युक्त करना, उनकी साम्पत्तिक व्यवस्था करना, समाज का उत्तरदायित्व है

१२७. ये सारी बातें पढ़ने में पेचीदा मालूम होती हैं परन्तु व्यवहार में सरल हैं बशर्तेकि इस प्रकार की कार्य क्षमता समाज को ग्राम पंचायतों के माध्यम से प्राप्त हो। ग्राम पंचायतों का अर्थ है गाँववाले न कि पेचीदा पद्धतियों से चुने हुए दो-चार विशेष प्रतिनिधि या मुखिया। गाँववालों का अनिवार्य धर्म होगा कि गाँववाले काम करें और साधनयुक्त रहें। साधन हीन तो कोई रहने ही नहीं पायेगा, किसी भी दशा में,—लोगों को साधनयुक्त रखना समाज की एक प्राथमिक जिम्मेदारी होगी। यदि कोई पंचायत इस कार्य में असमर्थ हुई तो दूसरी या केन्द्रीय पंचायतों से सहायता मिलेगी। रही काम करने की बात, सो हमारा निश्चित मत है कि सुरुचिपूर्वक काम करके सुखी रहने से कोई भी वंचित नहीं रहना चाहता। परन्तु यदि कोई किसी कारण विशेष अथवा असामाजिक वृत्तियों के कारण काम से वंचित रहता

पारिवारिक उद्यम में सश्रम रहनेवाला व्यक्ति ही परिवार का सच्चा सदस्य है

ही है तो समाज के साम्पत्तिक समतुलन पर कोई परिणाम जनक प्रभाव नहीं पड़ता। परन्तु ऐसी गुंजाइश ही क्यों हो ? इसके लिए ऊपर कहा गया है कि परिवार का वही सच्चा सदस्य है जो पारिवारिक कार्य और उत्पादन में परिश्रम एवं सहयोगपूर्वक भाग ले। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को कार्ययुक्त रखने के लिए पारिवारिक दबाव भी है। परिवार के ऊपर समाज की भी आँख है। इसलिए अत्यन्त असाधारण परिस्थितियों को छोड़ कर कोई व्यक्ति बेकार या निखट्टू नहीं रह सकता।

१२८. स्वामित्वान्तर का दूसरा रूप दान और वसीयतनामा हो सकता है। जब तक सम्पत्ति पर वैयक्तिक स्वामित्व को अमान्य नहीं किया जाता दान और वसीयतनामे के अधिकार को भी व्यक्ति से छीनना असम्भव और अव्यावहारिक है। अतएव प्रश्न यही रह जाता है कि दान और वसीयतनामों के द्वारा समाज में वेश्याओं तथा निखट्टू मठाधीशों के समान अवाञ्छित तथा अनुत्पादक प्राणियों की सृष्टि तो नहीं हो रही है। अतः यह स्पष्ट होना चाहिये कि दान का पात्र कौन है ? जो उत्तराधिकार वर्ग में आते हैं उन्हें बिना किसी विशेष कारण के दान अथवा वसीयत प्राप्त करने की आवश्यकता ही क्या ? फिर तो बात यही बनती है कि जो उत्तराधिकार क्षेत्र से परे और कार्यशील प्राणी हैं उन्हें ही दान या वसीयत का लाभ प्राप्त होना चाहिये। इस वर्ग में दूर के रिश्तेदार, विद्यार्थी वर्ग, धार्मिक, सामाजिक तथा शिक्षण संस्थाएँ आदि आ सकती हैं। इस प्रकार साम्पत्तिक स्वामित्व और उसके पारिणामिक हेर-फेर को मानते हुए हम साम्यवादी समानता का दावा भले ही न कर सकें परन्तु यह बात तो स्वयं सिद्ध है कि थोड़ी बहुत जो वैषम्यता है भी वह बिलकुल प्राकृतिक और सामाजिक स्वार्थों के अनकूल है, कम से कम अनुत्पादक तो है ही नहीं। वास्तव में हमें साम्यवादी बँटवारे से अधिक प्रत्येक व्यक्ति को सुख-समृद्धि के अधिकाधिक साधन और अधिकाधिक अवसर प्रदान करने की आवश्यकता है। इसके लिए यह आवश्यक होगा कि समाज की उत्पत्ति बढ़ाई जाय।[१] भले ही इस प्रकार व्यक्ति-व्यक्ति में नपी-तुली समानता न हो सके क्योंकि

दान और वसीयतनामा

साधन और समृद्धि साम्यवादी बँटवारे से अधिक जरूरी—सरकारी हस्तक्षेप सामाजिक स्वतंत्रता का शत्रु

१. सामाजिक उत्पत्ति की वृद्धि पर विचार करते समय हमें दो प्रमुख बातों पर ध्यान (पृष्ठ २३० पर)

केवल साम्यवादी समानता के नाम पर हम "सम असम्पन्नता" मोल नहीं लेना चाहते। थोड़ी बहुत विषमता ही क्यों न हो, लोग सुखी और सम्पन्न तो हों।[1] विशेष बात तो यह है कि हमें जितना ही अधिक नपी-तुली समानता का शौक बढ़ेगा उतना ही सरकारी हस्तक्षेपों की आवश्यकता होगी और सरकारी हस्तक्षेप सामाजिक स्वतन्त्रता का परम शत्रु है।

१२६. इस प्रकार उत्तराधिकारी वर्ग को जब तक कि कोई असाधारण बात न हो, दान और वसीयत के उपभोग से वंचित कर देने के कारण सम्पत्ति वहीं जायेगी जहाँ कि उसकी आवश्यकता है। हम कोई आदर्श या काल्पनिक बात नहीं कर रहे हैं, हमारे सारे प्रस्ताव बिल्कुल व्यावहारिक और प्रचलित परम्पराओं के संयत और सुसंस्कृत रूप मात्र हैं। अस्तु यहाँ एक बात यह समझने की है कि व्यक्तियों में से अधिकांश लोग किसी न किसी परिवार के सदस्य ही होंगे और परिणामतः उसके अधिकारी भी होंगे। उन्हें पारिवारिक सुखोपभोग के साथ ही सामाजिक संरक्षण भी प्राप्त होगा ही। ऐसी दशा में जब कि बात असाधारण न हो, उन्हीं के माता-पिता या संरक्षक उन्हीं को दान या वसीयत करेंगे, तुलनात्मक दृष्टि से इसकी कम सम्भावनाएँ हैं। फिर अधिकांश यही होगा कि दान और वसीयत अपारिवारिक सूत्रों को प्राप्त हो। अपारिवारिक सूत्रों का अर्थ यह है कि पात्र या तो किसी दूसरे परिवार का सदस्य या कोई सार्वजनिक संस्था या मद होगा। सम्पत्ति की प्रस्तुत योजना में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि सारी अतिरिक्त

साम्पत्तिक योजना में नवभारत का आत्यंतिक ध्येय—व्यक्ति समाज के लिए क्रियाशील रहे

रखना होगा—एक तो यह कि कहीं भी, किसी भी स्थान पर उत्पत्ति हो, वह आवश्यक और अतिरिक्त की पकड़ में रहने के कारण समाज में अनावश्यक विषमता उत्पन्न कर ही नहीं सकती। दूसरे यह कि नवभारत की उत्पादन व्यवस्था और साधनों के अन्तर्गत सम्पत्ति में स्वच्छन्द और गुणात्मक वृद्धि हो ही नहीं सकती।

1. "The objection to Socialism is not that it would divide the produce of Industry badly, but that it would have so much less to divide". We have to choose between unequal distribution of wealth and equal distribution of poverty"—Sidgwick,—quoted in Economics of Inheritance, P. 32.

आय समाज की है जिससे दाता और पात्र, दोनों भिन्न हैं। ऐसी दशा में दान देने या लेनेवाले को जब तक कि सम्पत्ति की, यथार्थतः, आवश्यकता न हो सम्पत्ति में कोई आकर्षण ही न होगा। फल यह होगा कि दान और वसीयत का एक बहुत बड़ा अंश सार्वजनिक सूत्रों को प्राप्त हो जायेगा। और नवभारत का यही आत्यन्तिक ध्येय है कि व्यक्ति समाज के लिए और केवल समाज के लिए ही क्रियाशील रहे। यदि ऐसा नहीं है तो हमारी सारी साम्पत्तिक योजनाएँ व्यर्थ हैं।

वैवाहिक तथा अन्य सामाजिक स्वामित्वांतर

१३०. साम्पत्तिक स्वामित्वान्तर का तीसरा रूप वैवाहिक और अन्य सामाजिक प्रथाएँ हैं। इसमें से वैवाहिक को छोड़कर शेष सारी प्रथाएँ व्यवहारतः दान और वसीयत की कोटि में ही आ जाती हैं। अतएव इस सम्बन्ध में हमें सम्प्रति कुछ अधिक नहीं कहना है। वैवाहिक स्वामित्वान्तर के सम्बन्ध में भी हम आवश्यक उल्लेख कर चुके हैं।

"स्त्री-धन"

१३१. अब एक प्रश्न रह जाता है "स्त्री-धन" का। स्वभावतः इसका बहुत बड़ा महत्त्व है। इसमें एक प्रकार की पवित्रता का समावेश हो गया है। वास्तव में जब तक कि स्त्रियाँ सम्पूर्णतः स्वतंत्र और स्वावलम्बी न हो जायँ "स्त्री-धन" की महत्ता रहेगी ही। "स्त्री-धन" एक ऐसी निधि है जो समाज की साम्पत्तिक उलट-फेर में नहीं, आपद्‌काल में आत्मरक्षा के ही काम आ सकती है। यह अधिकांश चल सम्पत्ति से ही निर्मित होता है और होना भी इसी से चाहिए क्योंकि व्यक्ति की सारी अचल सम्पत्ति परिवारगत, संयुक्त और अविभाज्य है, उसे "स्त्री-धन" में परिणत ही क्यों कर किया जा सकता है?

१३२. अब अन्त में कुछ विशेष बातों को स्पष्ट कर देने की जरूरत है:—

मृत्यु कर

१. ऊपर हम साफ कर चुके हैं कि उत्तराधिकार को हम राष्ट्रीय निधि मानते हैं, साथ ही साथ साम्पत्तिक स्वामित्वान्तर की जो रूपरेखा हमने पेश की है, उसे लेकर विदेशों में प्रचलित "मृत्यु-कर" को अनावश्यक समझते हैं। वस्तुतः मृत्यु-कर के द्वारा साम्पत्तिक विषमता को रोकना असम्भव और अपर्याप्त ही नहीं बल्कि अप्रेरणात्मक भी है। लार्ड

पोर्ट समाइथ ने इंग्लैण्ड में "मृत्यु-कर" के अनुभव को लेकर ऐसा ही मत व्यक्त किया है (देखें 'इंग्लैण्ड, में गाँवों की पुनर्रचना', स. सा. संघ)।

संयुक्त परिवार के लिए संयुक्त सम्पत्ति

२. हमने कहा है कि सामाजिक सुदृढ़ता के लिए संयुक्त परिवार व्यवस्था की निर्विवाद आवश्यकता है और संयुक्त परिवार की सुरक्षा के लिए अचल सम्पत्ति का संयुक्त रहना अनिवार्य है। वहीं यह साफ कर दिया गया है कि यदि—

पारिवारिक सम्पत्ति की विकासमान योजना के लिए बाहरी लोगों का आवाहन और उनका स्वार्थ !

(अ) परिवार के सदस्यों की संख्या कम हो गई है और सम्पत्ति को वृद्धमान और उत्पादक रीति से सुरक्षित रखना असम्भव हो रहा है तो समाज (ग्राम पंचायतों के माध्यम से) दूसरे लोगों को उसमें शामिल करके साम्पत्तिक विकास की व्यवस्था करेगा। परन्तु इस प्रकार परिवार में बाहर के जो लोग शामिल हों या किये जायँ उनका इस सम्पत्ति में स्थायी स्वार्थ उसी समय और उसी दशा में स्वीकार किया जायेगा जब कि मूल परिवार की घटी हुई संख्या में फिर वृद्धि होने की गुञ्जाइश ही खतम हो चुकी हो। जब तक पारिवारिक सदस्यों की संख्या में पुनर्वृद्धि होने की गुञ्जाइश है नवागन्तुकों का स्वार्थ अस्थायी ही रहेगा। वस्तुतः, दत्तक व्यवस्था को ऐसी परिस्थितियों के लिए थोड़ा हेर-फेर के साथ कानूनी अनिवार्यता बना देने से काम चल जायेगा। ऐसे मौके पर गोद उसी को लिया जाये जो वयस्क हो, पुरुषार्थी और श्रमशील हो, उत्पादन में सक्रिय योगदान कर सके। स्त्री, पुरुष, कोई भी, किसी को भी, किसी उम्रवाले को अपना सकता है। बालकों के लिए सामाजिक, सरकारी, पंचायती, सहारा काम देगा।

दत्तक व्यवस्था

पारिवारिक सम्पत्ति का स्वाभाविक विभाजन

(ब) पारिवारिक सम्पत्ति में, इस प्रकार नवागन्तुक के स्थायी स्वार्थ की स्थिति होने पर यदि मूल सम्पत्ति के विभाजन का प्रश्न खड़ा हो तो उसे स्वाभाविक और "समाज गत" अथवा आय का व्यवस्थित और व्यावहारिक रूप मानना होगा।

(२) परिवार की घटी हुई संख्या यदि पुनः बढ़ जाये और मूल सम्पत्ति से नवागन्तुक के स्वार्थ को अलग करना हो तो समाज का उत्तरदायित्व होगा कि तुरन्त इनके जीविका की कोई समुचित व्यवस्था करे— यह व्यवस्था जमीन से अलग, औद्योगिक भी हो सकती है।

अपारिवारिक सदस्यों का परिवार से पृथक्कीकरण

(३) उसी प्रकार यदि परिवार की सदस्य संख्या सुलभ साधन से ऊपर बढ़ गई है तो समाज का उत्तरदायित्व होगा कि इसके लिए जमीन, उद्योग, या अन्य उत्पादक साधनों की व्यवस्था करने में सहायता करे।

परिवारों के प्रति समाज की जिम्मेदारी

(४) अचल सम्पत्ति, लड़की या लड़का, सब के लिए समान रूप से अविभाज्य होगी। लड़की या लड़का, जो जहाँ भी, जिस परिवार में भी होगा, उसके लिए वहीं पारिवारिक आधार पर व्यवस्था होगी। इसलिए बाप की जायदाद में बेटी का भी हक हो, यह सवाल ही नहीं उठता। हमारी इस समाज रचना में हिन्दू कोड बिल का साम्पत्तिक हव्वा खड़ा ही नहीं हो पाता।

बाप की जायदाद में बेटी का हक—हिन्दू कोड बिल का हव्वा

(५) अचल सम्पत्ति में जहाँ तक जमीन का सवाल है उसे उपजाऊ बनाये रखने के लिए, बैल, कुएँ तथा अन्य ऐसे ही साधनों को भी उसी श्रेणी में शामिल करके आवश्यकतानुसार विभाजन-अविभाजन के प्रश्न पर विचार करना होगा।

अचल सम्पत्ति में कुएँ और चरागाह

(६) चरागाहों के समान कुओं आदि को भी सामूहिक या सामाजिक श्रेणी में लिया जा सकता है।

—:●:—

(ब) कृषि और खाद्य समस्याएँ

(१)

१३३. सम्पत्ति का स्रोत पृथ्वी है। प्रत्येक देश में, प्रत्येक युग में, हमारी जीवनावश्यकताओं की पूर्ति में पृथ्वी का प्रारम्भिक और प्राथमिक महत्व रहा है और रहेगा भी। परन्तु खेद है कि इस पृथ्वी को लेकर जीने और मरनेवाले कृषक सबसे अधिक त्रस्त और अभावग्रस्त रहे हैं, विशेषतः उन देशों के कृषक जो कच्चे माल के उत्पादक हैं। धूप और ठण्ड से सुरक्षित, पंखों की हवा और बिजली की चकाचौंध में नाखूनों की 'पालिश' और होठों की 'लाली' के सौदागर खुशहाल और जीवन की अनिश्चितता से दूर देखे जाते हैं जब कि दिन-रात वर्षा और तूफान में कठोर परिश्रम के साथ खून पसीना करनेवाला किसान रोग और भूख से तड़प-तड़प कर दम तोड़ रहा है। अन्न के बिना किसी भी देश का अस्तित्व असम्भव है, परन्तु दुखद काक-पक्ष तो यह है कि वही अन्नदाता समाज में सब से अधिक उपेक्षित है। उसकी इज्ज़त सब से कम नहीं तो किसी से अधिक भी नहीं है। किसानों में भी अफीम की काश्त करने वाला व्यक्ति गेहूँ वाले से अधिक सम्पन्न और ठाठ-बाट में पाया जाता है।

पृथ्वी और कृषक

दुखद काकपक्ष

मतलब यह कि हमारी दृष्टि ही भ्रष्ट हो गयी है और जब तक हम कृषि को सही दृष्टि से हाथ में नहीं लेते सर्वोदय की बुनियाद पड़ ही नहीं सकती,—'नव भारत' कोरा सपना बना रहेगा।

१३४. परन्तु कृषि और खाद्य समस्याओं का प्रश्न इस प्रकार एक दूसरे में घुल-मिल गया है कि लोग भोजन के पैमाने में ही कृषि को समझने के आदी हो गये हैं। इसलिए ज़रूरी है कि हम भारत की खाद्य समस्याओं को समझकर ही भूमि और कृषि के प्रश्न पर विचार करें।[1]

कृषि–भोजन के पैमाने में

१३५. आज भारत स्वतंत्र है परन्तु उसकी गरीबी, उसका रोग और

---

१. यह अध्याय मेरे "भारत और भोजन" से लिया गया है।

दुख दूर नहीं हुआ। अरबों रुपये विदेशों से महँगे दामों पर पेट भरने के लिए अनाज मँगाने में खर्च हो रहे हैं फिर भी समस्या हल होती दीखती नहीं। सारे राष्ट्र की कमर टूटी जा रही है। जब तक देश में ही आवश्यक अन्न उत्पन्न नहीं कर लिया जाता, देश का अपार धन विदेशों की भेंट हुए बिना न रहेगा और हमारे जीवन के लाले पड़े ही रहेंगे। सरकार का कहना है कि शीघ्र वह विदेशी अनाज की आवश्यकता से मुक्त हो जायेगी परन्तु उसी सरकार का यह भी कहना है कि हिन्दुस्तान की आबादी बे-लगाम बढ़ती जा रही है—फिर भला कैसे भरोसा हो कि विदेशी अन्न की आवश्यकता से हमें स्थायी रूप से मुक्ति मिल सकेगी। हमारे सामने यह सारे प्रश्नों का एक महा प्रश्न है जिसे स्थायी रूप से हल करना है। जब तक हमारे भोजन का सवाल हल नहीं होता हमें सुख और शांति मिल ही नहीं सकती; एक दिन हम वर्ग युद्ध और गृह युद्ध से बढ़ते-बढ़ते विश्व युद्ध के बवण्डर में फँस कर अस्तित्व-हीन हो जायेंगे।

भोजन : मनुष्य का एक महा प्रश्न

१३६. वस्तुतः यह जीवन का मूल प्रश्न है, सारी उन्नति और उत्थान की एक बुनियादी शर्त है। जिस देश को, जिस राष्ट्र को, पेट भर भोजन की ही निश्चिन्तता न प्राप्त हो, वहाँ आजादी का मतलब भी क्या हो सकता है? इसके अलावा किसी तरह पेट भर लेना ही तो हमारा अभीष्ट नहीं हो सकता। भोजन हो, पेट भर हो, और फिर वह स्वस्थकर हो, शांतिपूर्वक, स्थायी और स्वावलम्बी रूप से उसके मिलते रहने की व्यवस्था हो—तभी देश सुखी और समृद्ध हो सकेगा, उसका विकास निश्चित गति को प्राप्त हो सकेगा। जहाँ भोजन की समुचित व्यवस्था नहीं, वहाँ हृष्ट-पुष्ट और मेधावी लोगों का अभाव ही रहेगा और ऐसा स्वत्वहीन राष्ट्र सभ्यता की परम्परा को भी सुरक्षित नहीं रख सकता, सभ्यता की दौड़ में वह टिक नहीं सकता, बहुत दूर जा नहीं सकता, राष्ट्रों की श्रेणी में खड़ा नहीं हो सकता,—वह निरीह और दुर्बल प्राणियों का एक झुण्डमात्र होगा, जिसे जो जहाँ चाहे दबा देने की कोशिश करेगा।

सारी उन्नति की एक बुनियादी शर्त

१३७. भारत सरकार का दावा है कि '५३ ई० तक वह विदेशी

अन्न की आवश्यकता से मुक्त हो जायगी। अव्वल तो व्यावहारिक दृष्टि से यह दावा गलत है क्योंकि जिस जनसंख्या के हिसाब से दावा पेश किया जा रहा है, बढ़ती हुई आबादी की संख्या उस हिसाब से बढ़ जाने पर मुँह-ताजी और मुक्ति की नयी समस्या खड़ी हो जायगी। इसलिए सरकारी दावों से बिलकुल स्वतंत्र, उत्पादन की एक ऐसी स्थायी और स्वावलम्बी व्यवस्था करनी होगी जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए स्वयं समर्थ हो, उसे सरकारी राशन कार्डों पर सड़े-गले, आधे पेट, अनुपयुक्त दानों की खोज न करनी पड़े। दूसरी बात यह है कि भोजन के प्रश्न पर विदेशों से जो मुक्ति प्राप्त करने का सरकारी दावा है वह कहाँ तक ठीक है, किस मानी में ठीक है, इस पर भी विचार करना होगा। क्या इस दावे में शुद्ध, स्वस्थकर, और संतुलित भोजन की पर्याप्त व्यवस्था है या किसी न किसी प्रकार पेट भर लेने का सवाल है।

स्वस्थ, स्वतन्त्र एवं स्वावलंबी खाद्य नीति की आवश्यकता

आज हमें राशन में २$\frac{1}{2}$ सेर के भाव से गेहूँ मिलता है। उसमें पाव-सवा-पाव तक कूड़ा-करकट मिला हुआ होता है। गेहूँ भी सड़ा-गला और घुना हुआ होता है। क्या इसी प्रकार, इसी हिसाब से हम विदेशी अन्न से मुक्ति प्राप्त करना चाहते हैं ?

१३८. वस्तुस्थिति तो यह है कि इस समय जितना मन या टन अन्न बाहर से आ रहा है, उतना ही भारत में पैदा या प्राप्त कर लेने की कल्पना मात्र ही सरकारी योजना का स्वरूप है। तो क्या इस समय जो हमारी खाद्यस्थिति है वह संतोषजनक है ? हर्गिज नहीं। इसलिए वजन के बजाय संतुलन के आधार पर, और आयात के आँकड़ों के बजाय वृद्धिमान जनसंख्या के आधार पर जब तक योजना नहीं बनती, समस्या का सच्चा हल प्रस्तुत करना सरकार के लिए सर्वथा असम्भव ही होगा।

समाधान का सच्चा आधार

१३९. सुख और सभ्यता की दृष्टि से ही नहीं, युद्ध और संघर्ष के लिए भी भोजन का प्रश्न एक निर्णायक महत्त्व रखता है। जो लोग भूखों मर रहे हों वे लड़ नहीं सकते। अकाल पीड़ित देश कभी मजबूत सेनाएँ खड़ी नहीं कर सकता। जहाँ लोगों को पूर्ण और समुचित रूप से स्वस्थकर

युद्ध में भोजन का निर्णायक महत्त्व

भोजन प्राप्त नहीं होता वे न तो संघर्षशील योद्धा बन सकते हैं और न विजय श्री का सुख भोग सकते हैं। आज तो सफलतापूर्वक युद्ध करने के लिए राष्ट्र की भोजन व्यवस्था को सब से पहले सुनिश्चित बनाना पड़ता । आज यदि इङ्गलैण्ड, अमेरिका और आस्ट्रेलिया हिन्दुस्तान को अन्न देना बन्द कर दें और यदि पाकिस्तान, चीन और बर्मा के रास्ते बन्द हो जायें तो हिन्दुस्तान की क्या दशा होगी ?

इतना ही नहीं, आज की रणनीति (स्ट्रेटजी) और युद्ध रेखाएँ भोजन के आधार पर बनती और चलती हैं। गत दो महायुद्धों के अध्ययन से भोजन के दिलचस्प और महत्त्वपूर्ण चित्र सामने आयेंगे। १९१४–१८ ई० के युद्ध में भोजन के ही प्रश्न पर जर्मनी की हार हुई। १९३९–४५ ई० के युद्ध में हिटलर ने पहले आस्ट्रिया और जेकोस्लावाकिया को क्यों लिया, उसने पहले पश्चिम में आक्रमण न करके पोलैण्ड को निशाना क्यों बनाया, युद्ध को जल्द से जल्द जीत लेने के लिए भयंकर "गोतामार-बम्बाजों" (डाइव बाम्बर्स) के आविष्कार की उत्कट आवश्यकता का जर्मनी में क्योंकर अनुभव किया गया, असंख्य युद्ध बन्दियों का आनन-फानन निर्दयतापूर्वक अन्त कर देने की पाशविक लीलाएँ क्योंकर अमल में लायी गयीं—इन सब के पीछे खाद्य-समस्याओं की स्पष्ट रेखा दृष्टि-गत होती है।

१४०. सच तो यह है कि यदि भारत को जीवित और स्वतन्त्र रहना है, यदि इसे स्वतन्त्रतापूर्वक संसार में आगे बढ़ाना है तो सब से पहले भोजन के प्रश्न को हल करना होगा। यह जनता और सरकार—दोनों की पहली जिम्मेदारी है। यह राष्ट्र निर्माण का श्रेष्ठतम अंग है, व्यावहारिक राजनीति का पहला सवाल है, समाज सेवा का एक पुनीत पर्व और व्यक्ति की ऐहिक सफलता की एक महत्त्वपूर्ण मञ्जिल है। इसलिए जब तक हम व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और फिर सारे संसार को नजर में रखते हुए भोजन के प्रश्न को सर्वाङ्गीण दृष्टि से हल करने की चेष्टा नहीं करेंगे, नतीजा केवल शून्य रहेगा।

सर्वाङ्गीण दृष्टि की आवश्यकता

(२)

१४१. आज संसार की जो समाज व्यवस्था चल रही है, उसमें

सरकारों को निर्णायक स्थान प्राप्त है। इसलिए, जब तक उसे बदल कर विकेन्द्रित आधार पर न खड़ा कर दिया जाये, हमारी खाद्य-समस्याओं का बहुतांश सरकारी नीति और नियम, सरकार की योजनाओं और कार्य्यवाहियों पर बहुत कुछ निर्भर करेगा। निम्नलिखित पंक्तियों से बात सरलतापूर्वक समझ में आ जायेगी।

खाद्य समस्या में सरकार का निर्णायक स्थान

१४२. अन्न के उत्पादन में सिंचाई का बहुत बड़ा स्थान है। हमारी केन्द्रीय और प्रांतीय सरकारें करोड़ों, अरबों रुपये की लम्बी-लम्बी योजनाओं में फँसी हुई हैं। कल्पना यह है कि एक दिन सारे देश में इनके द्वारा फल, फूल, अनाज के हरे-भरे लहलहाते हुए बाग़ और दूध, घी, मक्खन तथा शहद की नदियाँ बहने लगेंगी। इन भले आदमियों की समझ में नहीं आता कि भविष्य के सपनों से वर्तमान की उत्पीड़ाओं को दूर करना अधिक आवश्यक है। इन योजनाओं की आवश्यकता नहीं है, ऐसी बात नहीं। परन्तु इसके भी पहले गाँवों को सिंचाई के स्थायी कुओं से भर देना चाहिये ताकि लोग भविष्य की आशा में भूख और रोग के शिकार न हों। इस काम में सरकारों को जनता की पूरी मदद मिलेगी—उसे बहिष्कृत समुदाय के समान जनता से अलग, केवल अपनी अपर्याप्त केन्द्रीय निधि का मुँह नहीं देखना होगा। दामोदर बाँध को तो सरकार धीरे-धीरे चलाती ही रहे, परन्तु आवश्यक है कि छोटे-मोटे नदी-नालों को वह जनता की मदद से ही बाँध कर काम को चालू रखे और जनता को सपनों की अनिश्चितता से मुक्त रखे। कुओं और नालों के सम्बन्ध में स्थानीय साधनों का ही प्रमुख आधार होना चाहिये, विदेशी मशीनों का नहीं, वरना गाड़ी यहाँ भी दलदल में ही फँसी रहेगी। ट्रैक्टरों का प्रयोग भी इसी सिद्धान्त पर करना है।

सिंचाई और ट्रैक्टर

दामोदर बाँध से न तो भारत भर के प्रत्येक गाँव सींचे जायेंगे और न ट्रैक्टरों से हर घर की खेती होगी। हमें तो वर्तमान साधनों को ही सुधार कर काम लेना है।

१४३. सबसे बड़ी बात तो यह है कि राष्ट्र के इस गुरुतर प्रश्न पर सरकार की दृष्टि साफ होनी चाहिये। सरकार की नजर साफ न होने

के कारण ही आज भारत आजाद होकर भी विनाश के गढ़े में फँसता जा रहा है। आज देश में मिल की चीनी पर बड़ा

सरकार के दृष्टि-दोष का कुफल

जोर दिया जा रहा है क्योंकि शीशे के मर्तबानों में सफेद दानों का इस्तेमाल सरल और सुन्दर लगता है। सरकार की बहुत बड़ी शक्ति और बहुत बड़ी मदद इन मिलों के पीछे है और नतीजा यह है कि किसानों का एक बहुत बड़ा अंश मिलों के घृणित गुलाम के रूप में अवशेष रह गया है। लाखों-करोड़ों एकड़ भूमि गन्ने की खेती में फँसा दी गयी है और देश को पाकिस्तान, अमेरिका, और आस्ट्रेलिया के गेहूँ के लिए अनाथों के समान मुँह देखना पड़ रहा है। पं० जवाहरलाल को अमेरिका जाकर गेहूँ की भीख माँगनी पड़ती है।

१४४. इससे भी चिंतनीय दशा वनस्पति घी की है। वनस्पति घी मूँगफली का रासायनिक प्रक्रियाओं द्वारा जमाया हुआ ऐसा तेल है जिससे प्राणी की पाचन और जनन शक्ति नष्ट हो

वनस्पति घी

जाती है। सैकड़ों रोगों की सृष्टि होती है। मनुष्य नामर्द हो जाता है। और इसी जहरीले तेल के लिए सन् ४८ ई० में २१ लाख एकड़ भूमि में मूँगफली की पैदावार हो रही थी। (इस मात्रा में कमी नहीं, वृद्धि ही हुई है)। इतनी जमीन से १०॥ लाख परिवारों का आसानी से भरण-पोषण हो सकता है जो (वनस्पति की मिलों को क़ायम रखने के लिए) अन्न के लिए दूसरों के मुँहताज बना दिये जाते हैं। कहा जायगा कि जनता स्वयं मूँगफली पैदा करती है, परन्तु सरकारी दबाव और पूँजीवादी प्रलोभनों को हटा कर जनता को सच्चे रास्ते पर चलने की सुविधाएँ मिलने के बाद ही शायद यह सवाल हो सकता है। उसके पहले नहीं। फिर आखिर उस सरकार का मतलब ही क्या जो गरीब जनता के स्वार्थ को न देख कर मिल मालिकों की पूँजी की रक्षा के लिए जनता को धोखे में रखे, जनता पर दबाव डाले?

आज देश में ७३०००६० एकड़ से भी अधिक भूमि में गन्ना, चाय, नील, जूट आदि व्यावसायिक चीजों की उपज की जा रही है। जब तक इसमें कमी करके इसे अन्नोपयोगी नहीं बनाया जाता भारत की खाद्य समस्या कोरे अमेरिकी ट्रैक्टरों और रासायनिक खादों के भरोसे हल होने के बजाय बिगड़ती जायगी।

वनस्पति घी की मिलों के कारण देश की, स्वास्थ्य के अतिरिक्त, आर्थिक दृष्टि से भी भयंकर क्षति हो रही है। आर्थिक क्षति का मतलब ही यह है कि हम दीन और दुर्बल हो रहे हैं। यानी हम ऊँचे दर्जे के पौष्टिक भोजन प्राप्त करने के सामर्थ्य से वञ्चित कर दिये जाते हैं। वनस्पति की मिलों के आँकड़ों पर विचार कीजिये—"इस समय २२½ करोड़ की पूँजी इसमें लगी हुई है। १५००० मजदूर काम करते हैं। इन मिलों से जो दूषित चीज तैयार होती है, यदि उसे चिकना मान भी लिया जाये तो भी देश की जरूरत पूरी नहीं होती। २२½ करोड़ में कम से कम ६ लाख घानियाँ चालू की जा सकती हैं। और कम से कम ६००००० आदमी और ६००००० बैलों को पूरी जीविका मिल सकती है, जब कि मिलों से कुल १५००० आदमियों को काम मिलता है, भोजन तो किसी को नहीं। सारे देश को पूरा शुद्ध तेल जितना चाहिये उससे बहुत अधिक इन घानियों के द्वारा पैदा होगा। तेल का वह आधिक्य तथा घानियों से मिली हुई खली जो वनस्पति की मिलों में बर्बाद हो गयी है, हमारे धन के आधिक्य में प्राप्त होगी।" इस प्रकार हम देख सकते हैं कि वनस्पति मिलों की वर्तमान नीति यानी खाद्य तेलों से वनस्पति तैयार करने की नीति से भयंकर खाद्य एवं आर्थिक हानि हो रही है। यदि ये मिलें खाद्य तेलों के बजाय किसी अखाद्य तेलहन से वनस्पति तैयार करें तो न मिलों को तोड़ने का प्रश्न होगा, न सरकारी आय पर धक्का आयेगा। यह वनस्पति खाने के नहीं, रबड़ और साबुन की तैयारी में काम आयेगा (उपर्युक्त आँकड़े 'हरिजन' से लिये गये हैं)।

इसी प्रसंग में यह भी समझ लेने की जरूरत है कि वनस्पति के उद्योग ने देश की सम्पन्नता को बहुत बड़ा धक्का दिया है। 'हरिजन' में श्री झवेरचन्द माणकलाल ने मध्य प्रदेश का उल्लेख करते हुए लिखा है कि वनस्पति की मिलों के पहले वहाँ प्रति वर्ष १० लाख गाँठ कपास और ५५ लाख बोरे बिनौले पैदा होते थे और साथ ही गेहूँ, जुआर, तुअर आदि प्रांत की जरूरत से ज्यादा पैदा होता था और दूसरे प्रांतों में स्वतंत्रता-पूर्वक भेजा जाता था। वनस्पति के कारखानों के बाद कपास कुल ३ लाख गाँठ और बिनौला कुल १५ लाख बोरे होता है। अन्न तो इतना कम हो गया है कि प्रांत के खाने भर को ही नहीं होता। भारत में वनस्पति के कारखाने खुलने के बाद से अन्न और कपास की जमीन की जगह मूँगफली ने ले लिया है।

आज देश की स्थिति यह है कि चारों ओर से भुखमरी और अकाल मृत्यु की भयावनी आवाजें उठने लगी हैं। बिहार, पूर्वीय उत्तर प्रदेश तथा सम्पूर्ण दक्षिण भारत की स्थिति खतरनाक होती जा रही है। क्या इसका निराकरण केवल सरकारी घोषणाओं से ही हो जायेगा? हर्गिज़ नहीं। बड़े-बड़े भाषण, बड़े-बड़े आश्वासन, या संसद में कानून पास कर देने से खाली देश में अन्न की बखारें नहीं खड़ी हो जायेंगी। इसके लिए तो राष्ट्र और सरकार को अपनी कृषि और औद्योगिक उत्पादन की नीति साफ और ठीक करनी होगी वरना बड़े-बड़े नेताओं, बड़ी-बड़ी योजनाओं के बावजूद भी अकालों से देश को मुक्ति नहीं मिल सकती।

१४५. अमेरिका और युरोप की चमक-दमक को देखकर हमारे नेता और शासकों के दिमाग में खब्त सवार हो गया है कि हिन्दुस्तान में भी सारा काम कल-कारखानों से हो। यहाँ तक कि धान की भूसी भी मिलों में छुड़ायी जाने लगी है। परिणामतः गाँव-गाँव में चावल की मिलें खड़ी होती जा रही हैं और इसे औद्योगिक प्रगति बताकर सरकारें मदद भी कर रही हैं। परन्तु असलियत यह है कि मिलों के चावल का सारा भोजन तत्त्व नष्ट हो जाता है। इसका सीधा सा मतलब यह है कि जिस अंश में यह तत्त्व नष्ट होता है ठीक उतनी ही देश के अन्न के परिमाण में कमी हो जाती है। कहा जाता है कि देश में जितने अन्न की जरूरत है उससे १० प्रतिशत कम भारत में होता है। इसलिए यदि चावल की मिलें बन्द कर दी जायें तो भारत के भोजन की बहुत बड़ी समस्या अपने आप हल हो जायेगी।

चावल की मिलें

मिल के चावल से देश में 'बेरी-बेरी' का संक्रामक रोग कितने जोरों से फैल रहा है—यह दूसरी बात है और इस अंग पर हम फिर विचार करेंगे। कहने का मतलब यह है कि हमारे भोजन की समस्याएँ हमारी अपनी ही सृष्टि हैं और सरकारी दृष्टिकोण में परिवर्तन होने से ये सरलतापूर्वक हल हो सकती हैं।

ऐसे ही अन्य दिशाओं में भी काम हो रहा है। जब तक इस कार्य पद्धति में परिवर्तन न होगा, बात सरकार के लिए शुद्ध धोखादेही और जनता के लिए आत्महत्या से किसी अंश में कम नहीं समझी जा सकती।

१४६. कार्य पद्धति में परिवर्तन हो नहीं सकता जब तक जनता को स्वयं इस दिशा में कदम उठाने का मौका न दिया जायेगा। जब तक दिल्ली की भव्य अट्टालिकाओं से जनता को उठने-बैठने का कानून बनता रहेगा जनता कुछ कर न सकेगी। वस्तुतः आवश्यकता इस बात की है कि सबल और समर्थ ग्राम पंचायतों का निर्माण किया जाये। इन पञ्चायतों को अधिकार होना चाहिये कि वे स्थानीय साधनों के आधार और क्षेत्रस्थ परिस्थितियों के सामञ्जस्य में उत्पादन कार्य के लिए पूर्णतः समर्थ हों। यह नहीं कि पञ्चायतें तो खड़ी कर दी जायें पर उनसे कहा जाये कि यह दिल्ली का अधिकार क्षेत्र है, यह लखनऊ का अधिकार क्षेत्र है, और तुम हमारे परमिटों को लेकर हमारी गोदामों से मिट्टी का तेल बेचो। आज की पञ्चायतें तो केन्द्रों की वितरण एजेन्सियाँ मात्र या अधिक से अधिक बहस-मुबाहसे घर और सरपंचों के कुश्ती घरों के रूप में रक्खी जा रही हैं। इस हालत में क्या हम आशा कर सकते हैं कि ये पञ्चायतें देश की जटिल समस्याओं को हल कर सकेंगी ? हरगिज़ नहीं।

समर्थ ग्राम पञ्चायतों की आवश्यकता

१४७. कन्ट्रोल को चलाने के लिए सरकार को लोगों के फाजिल अन्न की आवश्यकता है। यह अन्न पञ्चायतों के माध्यम से ही वसूल होना चाहिये। नियम यह हो कि लोग अपना सारा फाज़िल अन्न पञ्चायती गोदामों में जमा कर दें। वहाँ से गाँवों के लिए पञ्चायतों के पास २५% छोड़ कर शेष सरकार के काम आना चाहिये। इसके लिए पञ्चायतों के आधीन सरकारों को वैज्ञानिक ढंग की गोदामें बनवा देनी चाहिये। चाहें तो सरकारी भाग पर सरकारी ताले लगा दिये जायें, परन्तु यह नहीं कि गाँव-गाँव से, व्यक्ति-व्यक्ति से भयंकर खर्चीली व्यवस्था के द्वारा अन्न को केन्द्रों में बटोरा जाये, कुछ रेल और कुछ सरकारी गोदामों में बरबाद किया जाये, और फिर बचे-बचाये, सड़े-गले अन्न को सरकारी कार्डों के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति के पास उलटे पहुँचाया जाये।

कन्ट्रोल

क्या इसी तरह हम देश की खाद्य समस्याओं को हल करने का दावा करते हैं ? अच्छा है कि हम जल्द सावधान हो जायें वरना बुरी तरह पछतायेंगे।

१४८. जीवन की आवश्यक वस्तुओं में सबसे पहले उपयोगिता (युटिलिटी वैल्यू) की दृष्टि होनी चाहिये, न कि रुपये की (मनी वैल्यू)। एक मूर्ख आदमी के हाथ से रोटियाँ छीन कर सोने की सिल पकड़ा देना हितकर नहीं, अहितकर है—भारी अनर्थ (बैड एकानामी) है। इसलिए पहले हमें यह देखना चाहिये कि किसान जो अन्न पैदा करता है उसका उसे पूरा लाभ मिले—इस अन्नदाता को, इसके परिवार और बाल-बच्चों को पहले पेट भर, स्वस्थकर और समुचित ढंग से भोजन की सुनिश्चित और स्थायी व्यवस्था होनी चाहिये।

उपयोगिता या रुपये की दृष्टि

१४९. आज हमारी सरकारें और सरकारी कर्मचारी कहते हैं कि किसानों को उनके अन्न की ऊँची से ऊँची क़ीमतें दी जा रही हैं। यह सरासर धोखादेही है। पेट का अन्न लेकर करेन्सी नोट पकड़ा देने से क्षुधा निवारण नहीं हो सकता। करेन्सी नोट लेकर अन्न देनेवाले इन्हीं किसानों को फिर दाने-दाने के लिए परेशान होना पड़ता है। इसलिए सरकारों का परम कर्तव्य है इन भोले-भाले किसानों में करेन्सी नोटों का चस्का पैदा करके उनकी जीवन दृष्टि को नष्ट न करें। कहा जाता है कि अनाज का दाम चढ़ जाने से आज का किसान खुशहाल हो गया है। बेशक, वह खुशहाल इस मानी में ज़रूर है कि अब वह दूध, दही, घी और गेहूँ के बजाय सरकारी सिक्कों के बल पर हमाम सोप, होंठों का रंग, शहरों में सिनेमा, मिल का मलमल, पेरिस के लेवेण्डर—न जाने क्या-क्या इस्तेमाल कर सकता है।

अन्न का ऊँचा दाम

१५०. इस परिस्थिति में परिवर्तन किये बग़ैर भोजन की समस्या हल नहीं हो सकती। इस काम के लिए सरकार को सबसे पहले व्यक्तिगत आधार पर अन्न की खरीद और गल्ला वसूली की नीति को तुरत रोक देना चाहिये। जैसे भी उचित और सम्भव हो किसानों का सारा फ़ाज़िल अन्न ग्राम पञ्चायतों में जमा करवा देना चाहिये। सरकार अपने लिए वहीं से अन्न प्राप्त करे और किसानों को उनके अन्न के बदले करेन्सी नोट नहीं, पञ्चायतों के माध्यम

गल्ला वसूली, व्यक्तिगत नहीं: पंचायतों द्वारा हो

से जीवन की आवश्यकताएँ प्राप्त होनी चाहियें। इन पञ्चायतों को सहकारिता, सरकारी महाजनों तथा कानूनी कार्य्यवाहियों की पूर्ण क्षमता और पूर्ण सामर्थ्य होना चाहिये। केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों को प्रत्येक शासकीय और वैधानिक उद्देश्यों के लिए इन पञ्चायतों को ही प्रारम्भिक एवं आधारभूत इकाई बनाना अनिवार्यत: आवश्यक है। आज गाँव और नगर की जनता हतबुद्धि-सी खड़ी है—सड़क पर पेशाब करने के लिए जुर्माना नगरपालिका करती है। सड़क पर मोटर चलाने का कर केन्द्रीय कानूनों के अन्तर्गत चलता है। गाँवों में चक्की चलाने का कार्य और कर जिला बोर्ड के क़ानूनों से चलता है। शालाएँ प्रान्तीय सरकार और सरकारी संस्थाओं की अलग-अलग व्यवस्था और क़ानून के अन्तर्गत हैं। ऐसी दशा में बेचारा सीधा-सादा नागरिक समझ भी नहीं पाता कि उसे क्या और कैसे करना है। भोजन की समस्या को एक सफल योजना के अन्तर्गत सुसंगठित रूप से चलाने के लिए इस गोरखधन्धे को तुरत बन्द करके सबल पञ्चायतों का आधार ग्रहण करना परम आवश्यक प्रतीत हो रहा है।

१५१. भोजन की समस्या भूमि पर ही निर्भर करती है, इसलिए धरती को उपजाऊ बनाना पहली आवश्यकता है। भारत में खेती हजारों वर्ष से होती आयी है, इसलिए पुरानी जमीनों की उपज शक्ति क्षीण हो चली है। इसे फौरन सँभालना है; इस संबंध में रासायनिक खादों का प्रचार किया जा रहा है। यह अत्यन्त घातक बात है। रासायनिक खादों से धरती एक-दो वर्ष तक बहुत उपज देती है परन्तु इसी बीच उसके पेट की सारी उत्पादक शक्ति बाहर निकल आती है और फिर वह बञ्जर से भी बदतर हो जाती है। अमेरिका जैसे विशाल देशों में जहाँ बड़े-बड़े चकों के आधार पर खेती होती है, वहाँ कुछ हिस्से में खेती और कुछ को परती छोड़ कर अदल-बदल की नीति के द्वारा दोष को बहुत कुछ मिटाने की चेष्टा भी होती है, परन्तु भारत में तो लोगों के पास इतने छोटे-छोटे टुकडे हैं कि पूरी ज़मीन पर पूरी पैदावार करके भी पूरा नहीं पड़ रहा है, फिर परती छोड़ने पर क्या होगा? अमेरिका में एक बात और है—ज़मीन के खराब हिस्सों को छोड़ कर नयी ज़मीनें तोड़ ली जाती हैं, परन्तु अब तो भारत में मिलों की बढ़ती के साथ जमीन को परती छोड़ते जाने की यह सुविधा भी खतम होती जा रही है। इसलिए यहाँ रासायनिक खादों के उपयोग से सोने का

धरती की उपज शक्ति; रासायनिक खाद या कम्पोस्ट?

अण्डा देनेवाली मुर्गी का पेट चीर देने के समान होगा। यहाँ तो 'कम्पोस्ट' खादों का उपयोग करने से ही समस्या हल हो सकती है।

१५२. रासायनिक खादों के बारे में डा० गांगुली लिखते हैं—"इसके द्वारा उत्पन्न किये गये अन्न में पोषक तत्त्वों का बिल्कुल अभाव रहता है" (हेल्थ और न्युट्रीशन, पृष्ठ २८३)। वहीं डा० केरल के मत का इस प्रकार उद्धरण किया गया है—"रासायनिक खादों के द्वारा फसल तो बढ़ गयी है, परन्तु जमीन का सत् समाप्त हो जाने से अन्न और सागों के पोषक तत्त्व भी बदल गये हैं।"

रासायनिक खाद

इस तरह उपर्युक्त पुस्तक में डाक्टर गांगुली ने कृषि विज्ञान विशारदों के अनुसंधान और प्रयोगों के प्रमाण से स्पष्टतः सिद्ध कर दिया है कि रासायनिक खाद अत्यंत दूषित चीज़ है। इसका सीधा-सादा अर्थ यही होता है कि रासायनिक खादों के प्रयोग से भारत की खाद समस्या सुधरने के बजाय बिगड़ती जा रही है। भारत सरकार के एक भूतपूर्व कृषि विशारद अधिकारी ने तो रासायनिक खाद के प्रयोग को अत्यंत विनाशक और जुर्म बताया है (हिन्दू, १७.११.४६)।

१५३. एक बात हम बड़ी चिंता से देख रहे हैं—वह है सिंचाई के लिए 'नलके' (बोरिंग) कुओं की बात। नलकों को झटपट जमीन में धँसा कर चटपट पानी निकाल लेने में बड़ी आसानी मालूम होती है। परन्तु इनके कारण इनके आस-पास पृथ्वी का पानी उतने ही नीचे चला जाता है जितने गहरे ये नलके जमीन में घुसे होते हैं। नतीजा यह होता है कि पानी दूर हो जाने से पृथ्वी के ऊपर के पेड़-पौधे पानी के अभाव में सूखने लगते हैं। पेड़ों में हरियाली और फलों का अभाव प्रचण्ड होता जा रहा है—इसके पीछे इस 'सब स्वायल' पानी की भी एक कहानी है। फलों का ही अभाव नहीं, पृथ्वी के वृक्ष-हीन होने से उसकी उपज भी मारी जाती है। भारत के भोजन की समस्या और पृथ्वी को उपजाऊ बनाने के प्रश्न को हल करने के लिए सरकार को यहाँ दृढ़ता और साव-धानी से काम लेना चाहिये।

'नल-कूप'

उत्तर प्रदेशीय सरकार ने गाँवों में नल-कूपों की पंचवर्षीय योजना बनाई है। कुछ कुवें बन चुके हैं। एक कुवें पर २००००) के लगभग लगते

हैं; एक कुवें से सरकारी कानूनों की पेचीद: परेशानियों के साथ कई गाँव की सिंचाई होती है। अब तक अनुभव यही रहा है कि इन नल-कूपों से गाँव वालों को सन्तोष नहीं है। कुछ तो मौलिक दोष हैं, कुछ सरकारी नियंत्रण आदि के कारण हैं। इन सब को मिला कर यही कहते बनता है कि नल-कूपों से गाँव की सिंचाई के प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार करके ही इसे अमल में लाना है। जो आपत्ति ट्रैक्टरों के विरुद्ध है, वही नल-कूपों के विरुद्ध भी है क्योंकि इन नल-कूपों से गाँव के आदमी और बैल, दोनों बेकार होते हैं। गोरक्षा भारतीय संस्कृति का आधारभूत अंग है। इन नल-कूपों से उस पर गहरा धक्का लगता है। वस्तुतः, भारत के उन गाँवों में जहाँ जमीन पथरीली नहीं और कुवें खोदे जा सकते हैं, अच्छे कुवों की ही व्यापक रूप से व्यवस्था होनी चाहिये।

गो रक्षा

१५४. भारत में जमीन के बँटवारे की जो स्थिति है जब तक वह पूर्णतः बदल कर चकबन्दी आधार पर खड़ी नहीं कर दी जाती जमीन को जोतने-बोने में हल-बैल का खास स्थान रहेगा, ट्रैक्टरों का नहीं। आज तो जहाँ ट्रैक्टरों की जरूरत है, वहाँ के लिए भी ट्रैक्टर उपलब्ध नहीं हो रहे हैं। भारत सरकार की सारी शक्ति के बावजूद भी कुछ सैकड़े ही ट्रैक्टर अब तक विदेशों से आ सके हैं। इसलिए, बैलों के लिए और घी-दूध तथा मक्खन के लिए भी गायों की सख्त जरूरत है। अतः जनता को गो सेवा और गो पालन, तथा सरकार को गोवध निषेध का तुरन्त प्रबन्ध करना चाहिये। गाय भारतीय संस्कृति का आधारभूत अंग है। इसे मिटाने से भारतीय सभ्यता ही मिट जायेगी।

अन्न की समस्या के लिए गाय की समस्या

१५५. देश में यदि दूध, मक्खन और घी की पर्याप्त व्यवस्था हो तो अन्न की खपत में कमी हो जाये। अतः अन्न के प्रश्न को हल करने के लिए गाय के प्रश्न को हल कर लेना तात्कालिक महत्त्व रखता है।

ट्रैक्टर

१५६. आज देश में ट्रैक्टर का शोर मच रहा है। इस शोर-गुल और इसके पीछे छिपे हुए रहस्य को भी गौर से समझ लेना चाहिये।

अव्वल तो भारत के वर्तमान भौमिक बँटवारे को ध्यान में रखते हुए, जैसा कि ऊपर कहा गया है, ट्रैक्टरों का प्रश्न उठता ही नहीं। यदि यह सम्भव भी बनाया जा सके तो सवाल होता है दूध और घी का। आप

खेती करेंगे ट्रैक्टर से तो बैलों की आपको जरूरत रहेगी नहीं। गाय के बच्चे नर और मादा—दोनों होते हैं। मादा को तो आप गाय बनाने के लिए रखना चाहेंगे परन्तु नर को मजबूरन मार खाना होगा या चमड़े के लिए जबह कर देना होगा। इस तरह भारत की गो रक्षा और गो सेवा समाप्त होकर गो-रक्षक देश गो-भक्षक ही नहीं बनेगा, बल्कि भारत का सारा आर्थिक ढाँचा ही उलट-पुलट जायेगा।

धीरे-धीरे गाय पालना भी कठिन हो जायेगा, क्योंकि गाय के लिए साँड़ की समस्या व्यक्ति के हाथ से निकल कर समूह और केन्द्र के हाथ में पहुँच जायेगी। और अन्त में इसका विस्तार इस प्रकार होगा कि प्रत्येक गाय के लिए दुरूह साधनों से एक साँड़ लाने के बजाय पिचकारी से गो वंश को जारी रखना अनिवार्य हो जायेगा।

परन्तु इससे भी भयंकर बात तो यह होगी कि ट्रैक्टर को एक बार स्थान दे देने से उसके लिए पूरी जमीन देनी पड़ेगी, यानी लोगों को अपनी अलग-अलग जमीनें एकत्र कर देनी पड़ेगी और लोगों का स्वतन्त्र, चेतन, स्वामित्व खतम होकर जड़वादी सामूहिकता में विलीन हो जायेगा। मतलब यह कि ट्रैक्टर को अपनाने का सीधा सा अर्थ है समूहवाद यानी कम्युनिज्म को आमंत्रण देना।

इसलिए यदि भारत की खाद्य समस्या को हल करना है तो ट्रैक्टरों के धोखे में हर्गिज नहीं आना चाहिये। यह विलायत के उद्योगपतियों का नाग-फाँस है जो आपको भाड़ में झोंक कर भी अपनी मशीनें बेचना चाहते हैं।

उसी तरह धरती को उपजाऊ स्थिति में सुरक्षित रखने के लिए जंगलों की जरूरत है। गायों के लिए चरागाह की जरूरत है—ये सब सार्वजनिक की अपेक्षा सरकारी प्रश्न अधिक हैं और इसीलिए यदि सरकार सचमुच भोजन की समस्या को हल करना चाहती है तो उसे फौरन जनता के सहयोग और जनता की सहायता से इन्हें हल कर लेना चाहिये।

भला इसी में है कि झूठी धारणाओं को छोड़कर फौरन काम में लग जाया जाये।

(४)

१५७. अब प्रश्न यह उठता है कि भोजन की समस्या में आदमी का स्थान कहाँ है

यह तो स्पष्ट है कि धरती से अन्न उत्पन्न करने के लिए, विशेषतः भारत की वर्तमान स्थिति में, मनुष्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। परन्तु दुख की बात यह है कि सरकार की सैनिक और शिक्षण नीति आदमी को खेती से निकाल कर दूर फेंक दे रही है। संसार की अन्य सरकारों के समान ही भारत सरकार भी सेना और शिक्षण शालाओं का विस्तार करती जा रही है यानी दिन-प्रति-दिन अधिक से अधिक आदमी खेती छोड़ कर अनुत्पादक होते जा रहे हैं। चूँकि सैनिक वर्ग अधिकांशतः गाँवों से ही आता है इसलिए जितने सैनिक बढ़ रहे हैं, उतने ही लोग अन्न के उत्पादन से खींच लिये जा रहे हैं, यानी अन्न के उत्पादन में उतनी ही कमी होती जा रही है। शिक्षा प्रणाली भी पढ़े-लिखे बेकारों की संख्या में दिन दूनी, रात चौगुनी वृद्धि कर रही है। इसलिए सेना और शिक्षा, इन दोनों प्रश्नों पर फिर से विचार करना है। यदि सेनाएँ रखी ही जायें तो उन्हें पक्की बारिकों में बेकार बन्द कर रखने के बजाय ग्रामीण क्षेत्रों में रखना बेहतर होगा। ताकि जब तक वे मोर्चे पर न जायें, खेती में मदद करती रहें। इससे अन्न का उत्पादन बढ़ जायगा। और सरकार को भी काफी आर्थिक मदद मिलेगी। सैनिक स्वयं तो अनुत्पादक हो ही जाते हैं, उनके भोजन के लिए दूसरों को अन्न उत्पन्न करना पड़ता है। यह दुहरा बोझ है।

सैन्य और शिक्षण नीति

आज की शिक्षा शुद्ध बौद्धिक शिक्षा है। जो पढ़-लिख लेता है वह अपना काम दूसरों से लेने लगता है। इस तरह भी खेती किसानी से बहुत बड़ी जन शक्ति शून्य हुई जा रही है। गाँव के लड़के पढ़कर शहरों में झक मार रहे हैं और गाँव से जन-बल और बुद्धि-बल दोनों गायब होता जा रहा है। इस तरह कृषि और ग्रामोद्योग, सब खतम हो रहे हैं। ग्रामोद्योग से ही कृषि और कृषि से ग्रामोद्योग चलते हैं। इन्हे चलानेवाले ही शहर और दफ्तरों में गायब हो रहे हैं तो फिर भला भोजन की समस्या कौन हल करेगा? भोजन की समस्या बौद्धिक योजनाओं से नहीं, व्यावहारिक कार्य्यवाहियों से ही हल होगी। परन्तु काम करनेवाले प्रोफेसर, आचार्य, वक्ता और बाबू बन रहे हैं, फिर खेती कौन करे? खेती को सुधारे और बढ़ाये कौन?

खेती और बाबू वर्ग

इतना ही नहीं। चूँकि आज की शिक्षा किताबी है, इसलिए पढ़ने-

वाले यानी विद्यार्थी वर्ग, बच्चे और बड़े, सभी प्रत्येक प्रकार के उत्पादन से वञ्चित रहते हैं। इस तरह हम समझ सकते हैं कि देश की अपार जन शक्ति निष्क्रिय, बल्कि विनष्ट हो रही है। स्वभावतः इसी विनाश का बहुत बड़ा प्रभाव कृषि और गो-पालन पर पड़ता है। अतः यदि इस घातक स्थिति को मिटाना है तो देश की शिक्षण पद्धति को गांधी जी की योजनाओं के अनुसार उत्पादक बनाना होगा, बल्कि स्वयं उत्पादकों को उत्पन्न करनेवाली बनाना होगा।

वर्तमान शिक्षा पद्धति और कृषि-कार्य

पूर्ण खेती

१५८. परन्तु जब तक हम "पूर्ण खेती" नहीं करते खेतों से हमें पूर्ण लाभ नहीं मिल सकता और न उससे काफी लोगों की पूर्ति ही हो सकती है। इसीलिए उद्योगवादी कहते हैं कि भारत में हिसाब से अधिक लोग खेती में लगे हुए हैं। इस प्रकार वे खेती से लोगों को अलग करके मिलों की मजदूरी के लिए वातावरण तैयार करना चाहते हैं। जब तक इस बात को ध्यानपूर्वक समझ कर काम नहीं किया जाता, अन्न का गुण और परिमाण दोनों अपूर्ण रहेगा।

पूर्ण खेती के अर्थ को अधिक स्पष्टता से समझने की जरूरत है। किसान धान, गेहूँ, और तेलहन—अनेकों चीजों का उत्पादन करता है। यदि वही धान से चावल बना कर बेंचे तो यह पूर्ण खेती होगी। गेहूँ गाँव में पैदा हो और आटा मिलों में पीसा जाये तो वह यही नहीं कि अपूर्ण खेती होगी और समाज का स्वावलम्बन और प्राकृतिक उद्योग नष्ट होगा बल्कि गाँव का गेहूँ मिलों में पीस कर गाँव में आटा बाँटना, स्वास्थ्य की दृष्टि से, विष बाँटने के समान होगा। धान को कूट कर चावल तैयार करने की प्रक्रिया तक खेती की सीमा है। यदि धान गाँव में पैदा हो, भूसी मिल में छुड़ायी जाये और चावल कहीं और दूर किसी दूसरी मिल में कूटा जाय तो धान पैदा करनेवाले किसान का काम अपूर्ण होगा और वह अपूर्ण खेती कहलायेगी। उसी प्रकार उरद, मूँग और तूर की बात है। उसी प्रकार सरसों और अलसी की बात है। गाँव में सरसों पैदा की जाय और तेल कहीं दूर दराज, किसी मिल में तैयार हो तो यह अपूर्ण खेती होगी। गाँव में सरसों और गाँव में ही तेल पैदा होना चाहिए। उसी प्रकार गाँव में ही कपास और उसकी प्रक्रिया को पूर्ण

करने के लिए गाँव में ही वस्त्र भी तैयार होना चाहिये वरना कपास गाँव में पैदा करके अहमदाबाद और बम्बई की मिलों में कपड़े तैयार करना, अपूर्ण कृषि कहलायेगी। यह बिल्कुल गलत प्रक्रिया है।

परिणामतः आज जो लोग खेती में लगे हुए हैं वे खेती पर भार बन रहे हैं क्योंकि कृषि जन्य स्वाभाविक उद्योगों का मिलों में स्थानान्तरण हो गया है। इस प्रकार ग्रामोद्योगों के मारे जाने से गाँवों की दशा अत्यन्त शोचनीय हो गयी है। इसका निराकरण किये बगैर खाद्य समस्या का सच्चा हल प्रस्तुत करना असम्भव हो जायेगा।

गृह उद्योग—जापानी और भारतीय पद्धति

१५९. इन गृह उद्योगों की सृष्टि करते समय हमें खास बात ध्यान में यह रखने की है कि ये जापानी नमूने पर कल-कारखानों के द्वारा नहीं चलेंगे क्योंकि जापान खेतिहर नहीं औद्योगिक देश है, इसलिए वहाँ के गृह-उद्योग खेती नहीं, कारखानों के प्रतिरूप और पूरक हैं। उनका आधार केन्द्रीकरण है, विकेन्द्रीकरण नहीं। वहाँ उत्पादन अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय के लिए किया जाता है, स्व-सम्पन्नता के लिए नहीं। भारत की भोजन समस्या केन्द्रीकरण के कारण ही खतरे में पड़ गयी है। केन्द्रीकरण का उद्देश्य मनुष्य को बेकार बना देना है। हमें मनुष्य को स्वावलम्बी और सबल इकाई में परिणत करना है। बिना इसके कोरे केन्द्रीय कानूनों से देश की भोजन समस्या हल होगी नहीं।

वृद्धमान जनसंख्या और अन्नोत्पादन

१६०. हम देख रहे हैं कि पश्चिमी जड़वाद के चक्कर में पड़कर भारतीय विद्वानों की भी बुद्धि उलट गयी है। कहा जाता है कि हिन्दुस्तान की आबादी बढ़ रही है। आबादी बढ़ रही है यानी अन्न की आवश्यकता बढ़ रही है। इसके इलाज के लिए उतना ही अधिक अन्न उत्पन्न करने के बजाय गर्भपात और भ्रूण हत्या को समाज धर्म और सरकारी कानून बनाया जा रहा है। गर्भ पात के रास्ते चलनेवाला देश दुर्बल और पतित लोगों का ही झुण्ड हो सकता है जिसे दूसरों की लाठी पर ही चलना होगा।

१६१. इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि बढ़ती हुई आबादी

के लिए अधिकाधिक अन्न उत्पन्न करने की दृष्टि से खेती और ग्रामोद्योगों की समन्वित धारा कायम की जाये। आज पाकि-

शरणार्थी समस्या और कृषि

स्तानी पलायन के फलस्वरूप इस नीति को तुरत अमल में लाने की जरूरत है क्योंकि शरणार्थियों की समस्या स्थायी होते हुए भी तात्कालिक समाधान की माँग कर रही है। उनके लिए झटपट कुछ न कुछ किया ही जायेगा और यदि नींव गलत पड़ गयी तो निश्चय ही हमारे भोजन की समस्या और भी जटिल हो जायेगी। भागे हुए लोगों को हिन्दुस्तान में बसा लेना ही बहादुरी नहीं होगी। यदि ढंग से काम न हुआ तो लोग वहाँ से भाग कर यहाँ गुलाम बन जायेंगे, और अपने साथ यहाँ वालों को भी गुलाम बना देंगे। इसलिए कलकत्ता और बम्बई में इनके वास्ते सीमेण्ट के बंगले तैयार कराने के बजाय इन्हें ग्रामीण क्षेत्रों में स्थान देकर कृषि और ग्रामोद्योग द्वारा देश को समृद्ध और स्वावलम्बी बनाने का भार इन्हें सौंप देना चाहिये। इस प्रकार सरकारों को भी मदद मिलेगी।

१६२. आज सरकारें करोड़ों रुपये "अधिक अन्न उपजाओ" पर खर्च कर रही हैं। यदि यह सारा कार्य समझ बूझकर, सही ढंग से न किया गया तो नतीजा कुछ न निकलेगा। यदि देश को अकालों से बचाना है तो तत्काल पञ्चायतस्थ गृह उद्योगों की सबल सृष्टि करनी होगी। देश में अन्न की कमी तो है ही परन्तु जहाँ अन्न है भी वहाँ बहुत से लोग पैसे न होने के कारण भोजन प्राप्त नहीं कर सकते।

अकाल का सच्चा समाधान— तकावी नहीं, ग्रामोद्योग

आज चावल रुपये का सेर-डेढ़ सेर और गेहूँ २-२॥ सेर मिल रहा है। जिनके पास खेत नहीं, अन्न नहीं, ग्रामोद्योग नहीं, इतना महँगा अनाज खरीदने को उनके पास इतना पैसा भी नहीं होता और भूखों मरते हैं। तकावी बाँट कर, सड़कें बनवा कर, या दूसरे सरकारी कार्यों में लगा-कर लोगों को कुछ पैसे दे देना सरकारों की पुरानी नीति रही है। इससे भी लाभ हो सकता है परन्तु वह लाभ पूरा या स्थायी नहीं होता। इस तरह लोगों को कोई स्थायी क्रय शक्ति नहीं प्राप्त होती। यह तो भूखे कुत्ते को रोटी का टुकड़ा फेंक देने के समान है, समस्या का सच्चा समाधान नहीं हो सकता। स्थायी समाधान के लिए तो ऐसी व्यवस्था करनी होगी जिससे लोग अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए स्वयं समर्थ बन सकें। ऐसा नहीं हो तो भारत की भूखी भीड़ और नाजियों के बन्दी-

समूह में कोई तात्विक अन्तर न होगा—दोनों सरकार की दया वृत्ति पर ही जीवित रहते हैं।

१६३. अतः आवश्यकता इस बात की है कि भुखमरी और अकाल की आशंका को मिटाकर जनता को सबल और स्वावलम्बी बनाने के लिए ऐसे कृषि जन्य उद्योगों की स्थापना की जाये जो सरकारी अनुमति पत्र और केन्द्रीय योजनाओं के मुँहताज न रह कर स्थानीय साधनों के द्वारा प्रफुल्लित हों जैसे खादी, घानी, चक्की, ढेंकी, गो पालन, ताड़ गुड़ आदि आदि। इन उद्योगों से लोगों को पैसे तो मिलेंगे ही कृषि भी 'स्वयं-पूर्ण' होगी। तात्कालिक समाधान में स्थायी निर्माण का फल प्राप्त होगा। चूँकि यह सब उत्पादक कार्य होगा, इसलिए स्वभावतः राष्ट्रीय सम्पत्ति में वृद्धि होगी। राष्ट्रीय सम्पत्ति में विस्तार का अर्थ ही होना है वैयक्तिक समृद्धि के साथ सरकारी आय का विस्तार यानी जो धन सरकारी कोष से इन नंगे-भूखों को पालने में खर्च होता है वह तो बचेगा ही उलटे सरकार को खर्च के बजाय आय का साधन प्राप्त होगा।

इस प्रकार जब तक भोजन की इस जटिल समस्या को व्यापक और संघटित रूप से हाथ में नहीं लिया जाता कल्याण की आशा छोड़ रखनी चाहिये।

(५)

(यह अंश श्री धीरेन भाई की पुस्तिका "यह स्वराज्य कैसा ?" से लिया गया है। इसमें किसान और कृषि का महत्त्वपूर्ण विवेचन है जिस पर हमारी खाद्य समस्याओं का प्रमुख आधार है।)

१६४. पंचायत बनाकर आपको सबसे पहला काम करना होगा अपने अन्न और वस्त्र की व्यवस्था का। आपको सबसे पहले इन्हीं वस्तुओं की जरूरत है और इन्हीं चीजों के इन्तजाम के बहाने पूँजीवादी राक्षस आपकी छाती पर बैठना चाहता है। आप हैं किसान। आपका सबसे पहला काम है मुल्क का पेट भरना। आज आप जो अन्न पैदा करते हैं, वह काफी नहीं। जो हिन्दुस्तान सारी दुनिया का पेट भरता था, उस हिन्दुस्तान को अब १०० करोड़ रु० का अनाज बाहर से मँगाना पड़ता है। भारत

पंचायत का पहला काम —— विदेशी अन्न का आर्थिक पहलू

के किसानों पर यह कलंक का टीका है। फिर इस १०० करोड़ के अनाज आने का मतलब क्या है? जब अंग्रेज ६० करोड़ रु० का कपड़ा लेकर आये तो आपने बढ़ती अनाज पैदा करके उसका दाम चुकाया था। आज जब बाहर से अनाज ही मँगा रहे हैं तो उसके बदले में आप क्या देंगे? क्या यह बात आपने कभी सोची है? यह तो उधार ही आवेगा न? जब अंग्रेजी सौदा का नकद दाम चुकाने पर भी वे आपके मालिक बन बैठे थे तो क्या यह उधार गल्ला देनेवाले आपको छोड़ देंगे?

आपको तो खूब मालूम है कि नकद देनेवाले बनिया और उधार देनेवाले पठान में क्या अन्तर है? इस तरह नकद बेचनेवाले अंग्रेजों से उधार देनेवाले रूस और अमेरिका कितने भयंकर होंगे इसका अन्दाज आप ठीक-ठीक लगा सकते हैं। इसलिए गाँव समिति बना कर आपका सबसे पहला काम है कि आप अपनी जमीन की पैदावार बढ़ावें ताकि वह १०० करोड़ रु० का अनाज न आने पावे।

गोपालन और कृषि

१६५. आप किसान हैं। आपको यह बताने की कोई जरूरत नहीं कि खेती की पैदावार बढ़ाने के लिए आपको चाहिये अच्छा बैल और इफरात खाद। पुराने जमाने में लोग कहते थे कि एक बीघा जमीन में २५ और ३० मन अनाज पैदा होता था। आज उसी खेत में ८ और १० मन अनाज पैदा होता है। यह क्यों? क्या आपने कभी इसका कारण सोचा है? उस जमाने में सारी जमीन के दो हिस्से होते थे। एक हिस्सा लिखा था माता अन्नपूर्णा के नाम, उसको जोतकर अन्न पैदा करने के लिए। और दूसरा लिखा था गो माता के नाम। हमारे देश में गो धन सबसे बड़ा धन माना जाता था। गोचर भूमि में गौवें स्वच्छन्द चरती थीं, उनके बलवान बछड़े खेत में गहराई तक जोतते थे। उनके गोबर से इफरात खाद होती है। और उनके दूध पिये हुए बच्चे सयाने होकर भरपूर मेहनत करते थे। यही कारण था कि उस जमाने में भारत भूमि की पैदावार इतनी होती थी। इसी कारण से आपके समाज में गो रक्षा का इतना महत्त्व बतलाया गया है।

लेकिन जब से आपको अंग्रेजों ने मिल का कपड़ा दिया, आपने चर्खा चलाना त्याग दिया और मिल के कपड़े के बदले में उसका दाम चुकाने के वास्ते बढ़ती अनाज पैदा करने के लिए गो माता की भूमि का

भाग जोतकर लाखों-करोड़ों गौओं का नाश कर डाला। इस तरह मिल के कपड़ों में फँस कर आपने करोड़ों गौओं की हत्या का पाप अपने सिर पर लाद लिया। क्या आपने कभी इस बात को सोचा है? आज अगर मुसलमान एक गौ का बलिदान किसी ईद के दिन कर देता है तो आपके क्रोध का पारा गरम होकर सैकड़ों मुसलमानों का वध करने के लिए तैयार हो जाता है। लेकिन क्या कभी आपने इस बात को सोचा है कि इस भयंकर मिल देवता की पूजा में आपने कितने लाख, कितने करोड़ गौओं की हत्या स्वयं कर डाली है? आप में से बहुत से लोग लाल झण्डा लेकर हिन्दू-धर्म के रक्षा की बात करते हैं। हिन्दू धर्म की रक्षा नारा लगाने से नहीं, गौ रक्षा से होगी।

गाय और खाद्य समस्या

१६६. इस तरह जब मिल के कपड़े की लालच में पड़कर आपने गाय को निर्वंश कर डाला तो आपको न अच्छा बैल मिलता है, न अच्छी खाद। नतीजा यह हुआ कि आपने खेत तो बढ़ा लिया लेकिन पैदावार हो गयी आधी और खानेवाले हो गये दूने क्योंकि जब पहले सब घर में गोपालन होता था तो बच्चे पीते थे दूध और बड़े खाते थे अन्न; आज बच्चों को भी भरोसा है उसी अन्न का। एक घर में यदि दो बड़े आदमी हैं तो उस घर में हैं चार बच्चे और यदि बड़े खाते हैं ३ बार तो बच्चे खाते हैं १२ बार। इस तरह गाय के निर्वंश होने से सिर्फ बैल और खाद की ही कमी नहीं, बल्कि आपके अन्न पर दूना खानेवाले हो गये। फिर यदि उसी अनाज पर अपने कपड़े का भी बोझ डालना चाहते हैं तो कहाँ से मिलेगा खाना और कहाँ से मिलेगा कपड़ा?

भैंस और गो रक्षा

१६७. इसलिए अगर आपको अन्न की पैदावार बढ़ा कर अपने को नाश से बचाना है तो आपका पहला काम है गोपालन। आज तो हम देखते हैं कि लोग गोपालन के बदले भैंस पालते हैं। आप जिस हिन्दू धर्म की बात करते हैं उस धर्म के किसी ग्रंथ में महिषि-धन नहीं लिखा हुआ है। सभी जगह गो-धन ही कहा गया है। महिषि को धर्म ग्रंथ में असुर कहा गया है। आज खेती के लिए बैल बाजार में खरीदते हैं दूध और घी के लिए भैंस पालते हैं। अगर आप गौ नहीं पालते तो आपके बैल कहाँ से आवेंगे? नतीजा यह होगा कि आपको बैल सप्लाई करने के लिए बैल

के व्यापारी ही गोपालन करते रहेंगे। उनमें से बछिया और बछड़ा दोनों पैदा होते हैं। अगर आप बछड़ा के ही गाहक होते हैं तो बछिया कौन लेगा? अगर पालनेवाले उसे नहीं लेंगे तो वह जायगा खानेवालों के ही हाथ में। इसी तरह आपके देश में ४० लाख गौओं की हत्या हर साल होती है और उसके जिम्मेदार हैं किसान जो अपनी खेती के लिए बाज़ार से बैल खरीदते हैं और दूध-घी के लिए भैंस पालते हैं। आज-कल गो हत्या बन्द करने का नारा जोरों से चला है। इसके लिए कानून बनाने की माँग की जा रही है। शायद कानून बन भी जावे। लेकिन जब आप गोपालन न करके भैंस पालन करेंगे तो कानून बनाने से ही गो हत्या कैसे बन्द होगी?

१६८. किसान भाई कहते हैं--"हम गऊ कहाँ से पालें?" उनके लिए गोचर भूमि चाहिये। वह भूमि आज कहाँ है? जो भी जहाँ-तहाँ, जो कुछ परती जमीन बाकी है, आज के जमींदार व ताल्लुकेदार उन्हें भी तोड़ते जा रहे हैं। फिर गो माता के लिए जमीन कहाँ से लावें? भाइयो; मैंने आपको अभी बतलाया है कि पुराने जमाने में आपकी जमीन दो हिस्सों में बँटी थी। एक माता अन्नपूर्णा के नाम और दूसरी थी गौ माता के नाम। आप जिस समय कपड़े के लिए चर्खा छोड़ कर मिल का भरोसा करने लगे तो आपने गौ माता को उसकी जमीन से बेदखल कर उसी जमीन में बढ़ती अन्न पैदा करने की विफल चेष्टा की।

चर्खा और गोपालन

गाँधी जी ३० साल से यही बात आप से कहते रहे कि आप चर्खा चलाकर अपना कपड़ा बना लें और गौ माता के हिस्से की यह जमीन मिल असुर के हाथ से छुड़ा कर गोचर भूमि के लिए परती छोड़ दें इसी से आपके वस्त्र और अन्न दोनों का इन्तजाम हो जायगा। ऐसा करने से जो जमीन अनाज के लिए बाकी बचेगी उसी में आज का ड्योढ़ा अन्न पैदा होगा। लोग कहते हैं कि गांधी जी ने खेती की बात नहीं की और चरखे पर ही सारा जोर लगाया। भाइयो? गांधी जी हमेशा दूर की और गहराई की बात सोचा करते थे।

बिना गोपालन खेती की तरक्की नहीं हो सकती, बिना गोचर भूमि के गोपालन नहीं हो सकता, और बिना चर्खा चलाये मिल असुर के कब्जे से गोचर के लिए भूमि नहीं खाली हो सकती। यही कारण था कि गाँधी जी बार-बार चर्खे पर जोर देते रहे। इस तरह अपने को बचाने के

लिए आप को महान असुरों का नाश करना है, वे हैं दूध घी के लिए भैंसें और कपड़े के लिए मिलें।

(६)

१६९. हम व्यक्ति के चेतन अस्तित्व और क्रियात्मक व्यक्तित्व को स्वीकार करते हैं। उसे हम समाज के किसी जड़ अंश के रूप में नहीं देखते और इसी लिए हम वैयक्तिक सम्पत्ति की सत्ता को निर्मूल नहीं बना सकते। परन्तु इस वैयक्तिक सम्पत्ति को हम केवल समाज के संदर्भ में ही समझ सकते हैं। हम पश्चिम के स्वच्छन्द व्यक्तिवाद को उतना ही घातक और अविवेकपूर्ण मानते हैं जितना जड़वादियों के समूहवाद को। कहने का मतलब, धरती पर किसानों के व्यक्तिगत स्वामित्व को स्वीकार करते हुए भी हमें ध्यान में रखना होगा कि धरती का उपयोग सामाजिक और सामूहिक सुख-समृद्धि की दृष्टि से ही होना चाहिये, अन्यथा सारी समाज व्यवस्था ही नष्ट-भ्रष्ट हो जायेगी, सारे राष्ट्र का जीवन खतरे में पड़ जायेगा,—पड़ा हुआ है।

धरती का उपयोग सामाजिक दृष्टि से हो

१७०. आज हम देखते हैं कि एक गाँव का क्षेत्रफल १००० एकड़ है और १०० परिवार उसमें आबाद हैं। इन आदमियों के साथ गाय-बैल और अन्य पशु भी हैं। औसत प्रति परिवार १० एकड़ की पड़ी या परिवारों की जनसंख्या के हिसाब से कुछ कम या ज्यादा भी हो सकती है। परन्तु यथार्थ यह है कि सम्पूर्ण क्षेत्रफल का बहुत बड़ा हिस्सा कुछ इने-गिने लोगों के हाथ में है और शेष थोड़े से हिस्से में सारा गाँव नन्हे-नन्हे से टुकड़ों को लेकर जिन्दगी और मौत की यातना भोग रहा है। बेशक जमींदारियाँ खतम हो रही हैं, परन्तु धरती का आनुपातिक बँटवारा करना अब भी शेष है। समस्या का वास्तविक हल तो यहीं से प्राप्त होगा। जब तक ऐसा नहीं होता हमारी कृषि परिणामजनक सिद्ध नह होगी, और जब तक कृषि ही परिणामजनक नहीं सिद्ध होती भोजन की समस्या का सच्चा हल भी नहीं प्राप्त हो सकता।

धरती का आनुपातिक बँटवारा

१७१. परन्तु धरती के बँटवारे से भी बड़ा प्रश्न सन्तुलित कृषि का है। आवश्यकता इस बात की है कि हम एक-एक गाँव को लेकर देखें कि

प्रत्येक गाँव में कितने खाद्य की आवश्यकता है, कितने चारे और चरागाह की आवश्यकता है और फिर उसे क्षेत्रफल और जनसंख्या के हिसाब से बाँट कर पूरा करने की व्यवस्था की जाये। परन्तु आज हो यह रहा है कि १००० एकड़ में से ५०० में गन्ना, मूँगफली, जूट और कपास की खेती हो रही है जिसे मिलों को भेंट करके करेन्सी नोट बटोरने की फ़िकर में लोग व्यस्त हैं और बाकी ५०० एकड़ में गाँव भर के भोजन की सीमा बाँधी जाती है, पशुओं के चारे और चरा-गाह का हिसाब लगाया जाता है। स्वभावतः नतीजा यह होता है कि खाद्यों का अभाव लोगों को उत्पीड़ित करने लगता है। और फिर भी हम यह कहते हैं कि आज किसान बड़ा खुशहाल है। हो सकता है कि उसके पास करेन्सी नोट हों, पर पेट के लिए रोटी के लाले तो पड़े ही हुए हैं।

संतुलित कृषि

१७२. वस्तुस्थिति यह है कि जिनके पास जमीन काफी है वे तो ठीक हैं परन्तु जिनके पास काफी जमीन नहीं है वे गाँवों में रह कर भी दानों के लिए बेहाल हो रहे हैं। इसलिए तत्काल आवश्यकता इस बात की है कि गाँव की खेती गाँव पंचायतों की सलाह और अनुमति (लाइसेन्स) से ही होनी चाहिये यानी कितनी धरती में कितना गेहूँ, कितनी धरती में कितनी तेलहन, कितनी धरती में कितनी दाल, कितनी कपास और कितना गन्ना पैदा करना है—उसी हिसाब से लोगों को पैदावार करने को आदेश दिया जायेगा।

खेती पंचायतों की अनुमति और निर्देश से हो

१७३. इस प्रकार गाँव भर की प्राथमिक आवश्यकताओं की सरलता पूर्वक एवं संतोषजनक रीति से पूर्ति हो सकेगी। आज जो हम चारों ओर से भुखमरी का शोर सुन रहे हैं, उसका अधिकांश निराकरण हो जायेगा। इस तरह खाद्यों का अधिकाधिक उत्पादन हो सकेगा और जैसा कि पीछे कहा जा चुका है कि सरकारों को पंचायतों के माध्यम से आसानी के साथ पर्याप्त मात्रा में खाद्यों की प्राप्ति हो सकेगी और गल्ला वसूली के खर्चीले एवं अन्यायपूर्ण रास्ते पर उसे उतरने की जरूरत ही नहीं होगी। आधिक्य क्षेत्रों (सर्प्लस एरिया) से अभावग्रस्त क्षेत्रों (डेफिशेंट एरिया) की पूर्ति करने में आसानी होगी। पंचायतों से (व्यक्तियों से नहीं) प्राप्त खाद्यों को स्थानीय गोदामों में सञ्चित करके स्थानीय आधार पर

पंचायती माध्यम और खाद्य समस्याएँ

वर्तुलाकार विस्तार के साथ पूर्ति करते जाने की नीति से खाद्यों के नष्ट होने की सम्भावनाएँ, यातायात की अड़चनें—सारी खतम हो जायेंगी। इस तरह यह भी आसान हो जायेगा कि देश के अभावग्रस्त क्षेत्रों की दृष्टि से कहाँ, कितना अधिक, और क्या उत्पन्न किया जा सकता है। उसी समय यह भी आसान होगा कि जूट, चीनी और कपास आदि की ऐसी व्यवस्था की जाये जिससे जनता की बुनियादी चीज़ों में कमी न हो। सम्भव है कि सारे हिसाब और सारी संयोजित चेष्टा के बावजूद भी आवश्यक खाद्य का पर्याप्त उत्पादन सम्भव न हो। ऐसी हालत में पंचायतों और सरकारों को यह आसानी से पता रहेगा कि बाहर से कितनी चीजें मँगानी हैं।

संतुलित कृषि के इन तरीकों से वैयक्तिक सम्पत्ति के सिद्धांत अक्षुण्ण बने रह सकते हैं, सामूहिक कृषि (कलेक्टिव् फार्मिंग) की अप्रियता से भी लोग वञ्चित रह सकते हैं।

खाद्यों के अधिकाधिक उत्पादन की जितनी सख्त जरूरत है उनके रक्षण की आवश्यकता उससे कम नहीं है। इस रक्षा कार्य में वैयक्तिक चेष्टाओं का जहाँ तक सामूहिक महत्त्व है, हमने आगे विचार किया है, यहाँ हम रक्षा के केवल उसी अंश को ले रहे हैं जिससे सरकार और समाज का संयोजित सम्बन्ध है। इस स्थल पर हमारा ध्यान अति वृष्टि, अनावृष्टि, बाढ़ और बन्दरों के प्रकोप या अन्य ऐसे ही उपकरणों पर जाता है।

बरसाती पानी का निकास

१७४. हम देखते हैं कि स्वयं अति वृष्टि से उतनी हानि नहीं होती जितनी कि वर्षा के पानी के जमाव से ताल-तलैया, नदी-नाले बन कर फसलों को डुबा रखने से होती है। इसलिए जरूरत इस बात की है कि हमारी सारी विकास योजनाओं में बरसाती पानी के निकास की सुनिश्चित व्यवस्था को सबसे पहले हाथ में लिया जायेगा। हमारा अनुभव है कि जहाँ भी यह समस्या वर्तमान है वहाँ की जनता को यदि थोड़ी सी भी सरकारी सहायता मिल जाये तो वह स्वयं इस चिरकालीन विपदा से मुक्त होने की व्यवस्था कर सकती है। सरकार को केवल प्रेरणा और सहारा देने भर की जरूरत है। उसी प्रकार अनावृष्टि के लिए कूओं और नहरों की भी व्यवस्था की जा सकती है। बेशक बाढ़ की समस्या

भयंकर और जटिल है जो गाँव और जिलों के आधार पर नहीं, राष्ट्रीय या प्रान्तीय आधार पर हल करनी होगी।

१७५. प्रति वर्ष देश का अपरिमित अन्न नदियों की बाढ़ में विनष्ट हो जाता है। जब तक इस प्रश्न को हल नहीं किया जाता भारत की भोजन समस्या सुनिश्चित और विकाससमान बन ही नहीं सकती। यह समस्या दामोदर योजना से भी अधिक जरूरी है।

बाढ़ और कृषि

यह बुद्धिमत्ता समझ में नहीं आती कि वर्षों में अरबों के खर्च से तैयार होनेवाली सिंचाई की योजना में हम उलझे रहें परन्तु हर साल करोड़ों मन अन्न को नदियों की बाढ़ से बचाने का कोई उपाय ही न हो। यथार्थतः इस काम को हमें सबसे पहले हाथ में लेने की जरूरत है। नदियों की बाढ़ को रोकने के लिए मजबूत बाँधों की जरूरत है। इस कार्य में सरकार को प्रत्येक गाँव से अपार धन और जन की सहायता मिलेगी। नदियों के बाँध की जिम्मेदारी सम्बद्ध क्षेत्रों में टुकड़ा-टुकड़ा करके बाँट देने से कार्य जल्द और आसानी से पूरा हो सकता है। जो गाँव के सामर्थ्य के बाहर की बात हो उसे चाहिये कि सरकार सुलभ बनाये। जो लोग इस कार्य में सहायक नहीं होते उन पर सरकारी दबाव डालने के बजाय उन्हें छोड़ देना चाहिये। जब वे देखेंगे कि सहायता देनेवाले सुखी हैं और वे सहायता न देने के कारण विनष्ट हो रहे हैं तो झक मार कर बाँधों की योजना में सरकार के साथ हो जायेंगे।

१७६. बाढ़ के बाद बन्दरों की समस्या कृषि के लिए विशेष चिन्ता का विषय बन रही है। बन्दरों के अमेरिकी व्यापार की नारकीय कहानियों से तो किसी इन्सानी दिल में दर्द, क्षोभ और घृणा का संचार होगा परन्तु जो लोग सीधे तौर से भी बन्दरों को मार डालने के पक्ष में नहीं हैं समस्या उनके लिए अधिक जटिल है। बन्दरों को पकड़ कर जंगलों में छोड़ देने से वे फिर लौट आ सकते हैं। इसलिए एक सज्जन ने सलाह दी थी कि बन्दरों को पकड़ कर भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में नर-मादा करके अलग-अलग बन्द कर दिया जाये। ये स्थान बड़े-बड़े बागों को "जाली बन्द" करके ही तैयार होंगे। कुछ तो उन्हें उन बागों से ही भोजन मिल जाया करेगा और कुछ भक्त जनों के द्वारा भेंट किए हुए आहार से मदद

बन्दर

मिलेगी। इस प्रकार जो कुछ खर्च होगा वह स्वच्छन्द विनाश का शतांश सहस्रांश भी नहीं होगा। दूसरी ओर नर-मादा अलग-अलग रहने के कारण बन्दरों की वृद्धि ही नहीं खतम होगी, कुछ दिन के बाद उनकी जाति ही प्राकृतिक रूप से क्षीण हो जायेगी। इस सलाह पर विचार करने की जरूरत है।

(७)

प्राप्त साधनों में ही अधिकाधिक उत्पादन की जरूरत

१७७. हमारे पास भोजन के जो साधन हैं वे अधिक से अधिक उत्पन्न हों ताकि जीवन के इस मूल प्रश्न पर हम अधिक से अधिक आत्मनिर्भर हो सकें। हमें जितना भी सुलभ है उसका हमें अधिक से अधिक गुण प्राप्त हो ताकि हम थोड़े में भी ज्यादा कर सकें—यही हमारी चेष्टा, यही हमारी योजना होनी चाहिये।

•

खूराक की हद कायम करें

१७८. भोजन की जब देश में कमी है तो भोजन को किसी भी रूप में खराब करनेवाले सीधे देश पर आघात करते हैं। हमारी मूढ़ता से जितना भोजन नष्ट होता है, हम उतना ही देश को कमजोर बनाते हैं। हमारे पास पैसे हैं; हम जरूरत न होते हुए भी सेर के बजाय दो सेर अन्न इस्तेमाल करते हैं—इसका मतलब है कि हमने भूखे लोगों से १ सेर भोजन छीनकर खराब कर दिया। देश में जब पेट भरने का सवाल पैदा है तो किसी को कोई हक नहीं कि वह इन कीमती दानों को जायकों में नष्ट करे—भूखी भीड़ के बीच तश्तरियों का दौर चलाना जुल्म और बर्बरता है। मुल्क के साथ गद्दारी है। आज जो लोग हिन्दुस्तान का दम भर रहे हैं, जो लोग गरीबों की हिमायत कर रहे हैं, उनका पहला फर्ज है कि अपनी खूराक की हद कायम करें, वरना उनका सारा उपदेश, "अधिक अन्न उपजाओ" के सारे नारे, 'एक वक्त उपवास' करने की सारी सलाहें—सरासर धोखादेही साबित होंगी और एक दिन अपनी इन मक्कारियों के लिए उन्हें पछताना होगा।

१७९. वैयक्तिक सुख और राष्ट्रीय समृद्धि के सपने देखनेवालों को

साफ तौर से समझ लेने की जरूरत है कि जब तक देश को पर्याप्त स्वस्थकर भोजन नहीं मिलता उनकी सारी आशाएँ दुराशा मात्र रह जायेंगी, उनके सारे मनसूबे झूठे साबित होंगे। जो लोग यह सोचते हैं कि सरकारी राशन में ताजी साग-सब्जी, फलों के टोकरे, दूध, दही, मट्ठे और मक्खन के डिब्बे, गेहूँ, मूँग, मसूर और शक्कर के बोरे उनके घरों में ढकेले जायँगे, उनसे बढ़कर बेवकूफ और पागल कोई हो ही नहीं सकता। भोजन प्राणी का वैयक्तिक क्षेत्र है, समाज और सरकारें केवल हमारी सहायता कर सकती हैं। मूल प्रश्न को तो हमें स्वयं हल करना होगा। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है कि वह सरकार को कोसते रहने के बजाय सावधानी पूर्वक काम में लग जाये।

खाद्य प्रश्न के समाधान के लिए प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं, सचेष्ट होना चाहिये

(८)

१८०. भोजन के प्रश्न पर सबसे पहले हमारी नजर अपूर्ण और अपुष्टकर भोजन पर ही जाती है। प्रत्येक प्राणी को कम से कम इतना भोजन तो मिलना ही चाहिये जिससे वह जीवन व्यापार को सुचारु रूप से चला सके। हमने जीवन शक्ति की चर्चा करते हुए देखा है कि शक्ति यानी शरीर की गर्मी को कायम रखने के लिए कितना और कैसा भोजन आवश्यक है ताकि अपेक्षित मात्रा में शक्ति प्राप्त हो जाये। इसीलिए अधिक शारीरिक श्रम करनेवालों को अधिक भोजन की जरूरत होती है। यदि यह भोजन सरकारी राशन से मिलता है तब तो सरकार का पहला काम हो जाता है कि वह ऐसी व्यवस्था करे जिससे जनता को पूरी खूराक मुयस्सर हो सके। और जो नहीं मिलता, उस कमी को स्वयं पूरी करना प्रत्येक व्यक्ति का जीवन धर्म होता है।

जनता के पूरी खूराक की व्यवस्था

हमने शुरू में ही कहा है कि भारत में प्रत्येक व्यक्ति को शरीर की बनावट के हिसाब से अवस्था भेद के अनुसार कितने जीवन मान यानी कितने भोजन की जरूरत है। खाद्य पदार्थों की तालिका से यह मालूम हो जायगा कि भिन्न-भिन्न वस्तुओं में कितना जीवन मान यानी किस मात्रा में जीवन शक्ति होती है। खूराक की शक्ति निर्धारित करने में इससे काफी मदद मिलेगी।

१८१. इसके बाद, बल्कि इसी के साथ, हमें यह भी ध्यान में रखना होगा कि हम जो कुछ खाते-पीते हैं उनमें आहार और जीवन तत्त्वों की पर्याप्त संख्या है या नहीं,—शरीर केवल पेट भरने से ही नहीं चलता। भिन्न-भिन्न तंतुओं को स्वस्थ-कर रीति से सजीव और सक्रिय रखने के लिए अनेक तत्वों की जरूरत होती है और ये सब हमें भोजन के द्वारा प्राप्त होते हैं। इसलिए हम जो कुछ खाते हैं, उसका पारिमाणिक ही नहीं, तात्विक गठन भी होना चाहिये।

खाद्य का पारिमाणिक के साथ तात्विक गठन जरूरी है

१८२. इन दोनों दृष्टियों के मेल से जो भोजन लिया जाता है वही शरीर में जीवन उत्पन्न करता है, शरीर संवर्द्धन और संपोषण का कारण बनता है, मनुष्य स्वस्थ और क्रियाशील बना रहता है, प्रसन्नता उसके चेहरे पर छलकती रहती है, उसकी त्वचा चिकनी और कान्तिमय होती है। ऐसे सुन्दर, सुडौल, हृष्ट-पुष्ट और कान्तिमय सक्रिय प्राणी को देखकर समझना चाहिये उसे पूरी खूराक मिलती है, जो मिलती है वह पूरी तरह हजम होकर शरीर निर्माण, संरक्षण और संवर्द्धन में लग जाती है।

तात्विक एवं परिपूर्ण भोजन का प्रमाण

परन्तु जब हम टेढ़े-मेढ़े रोगी, दुर्बल, हारे और थके हुए, जीवन से उदासीन और कार्य से विमुख, आलसी और कामचोर प्राणी को देखते हैं तो समझना चाहिये उसे पूरा और तत्त्वपूर्ण भोजन नहीं मिलता, या जो मिलता है वह पूर्णतः शरीर के काम नहीं आता अथवा वह दोषपूर्ण है जिससे दुष्ट प्रवृत्तियों की सृष्टि होती है। आज हमारा देश ऐसे ही भूखे और रोगी लोगों से भर गया है। क्या ऐसे लोगों को लेकर संसार के बलवान राष्ट्रों के साथ उन्नति और उत्थान की दौड़ लगायी जा सकती है? राष्ट्र की रीढ़ जनता है—वही रोगी और दुर्बल हो तो क्या कुछ पढ़े-लिखे बुद्धिजीवी लोगों से हमारे देश में जान आ सकती है? क्या कुछ जवाहर और पटेल, कुछ डालमिया और बिड़ला के प्रदर्शन से भारत बलवान हो जायेगा? हो नहीं सकता।

१८३. अतएव समुचित और सम्पूर्ण भोजन किसे कहते हैं—यह हमारे ज्ञान की पहली सीढ़ी होनी चाहिये। फिर उस ज्ञान को राष्ट्रीय जीवन में परिणत करना हमारी पहली शिक्षा, पहली राजनीति और

पहली समाज सेवा का अङ्ग बनना चाहिये। खेद है कि आज ऊँचे-ऊँचे होटलों में न्यूयार्क की 'पेस्ट्री' और ब्रितानिया बिस्कुट के जायके लेते फिरनेवाले लोग भारत के उजड़े हुए गाँवों के क्षुधानिवारण का राग अलाप रहे हैं। यह उससे कम अफसोस की बात नहीं है कि गाँवों के उद्धार की कसम खानेवाले सेवक और संस्थाएँ भी प्रांतीय रसद विभाग के भरोसे गाँवों की अन्नपूर्णता और स्वावलम्बन की दुहाई दे रही हैं। हिन्दुस्तान की भूख इन तरीकों से हरगिज़ दूर नहीं हो सकती। जब तक खाद्य समस्या को हम अपने कार्यक्रम का व्यावहारिक अंग और आधार नहीं बनाते केवल बौद्धिक बातों से देश की कोई समस्या हल न होगी।

खाद्य समस्या व्यावहारिक कार्य-क्रम से ही हल होगी

आज जो लोग देश के हित चिंतन में लगे हुए हैं उन्हें खाद्य-समस्याओं की पूरी जानकारी होनी चाहिए। उन्हें यह भी जानना चाहिये कि अपूर्ण, असंतुलित या दूषित भोजन का शरीर पर क्या प्रभाव होता है और फिर एक-एक की क्षति सारे राष्ट्र की कितनी भारी क्षति बन जाती है, क्योंकर वह सारे राष्ट्र को जर्जर और निःसत्व बना देती है।

१८४. वस्तुतः अन्न और वस्त्र, मनुष्य की दो मूल आवश्यकताओं में शामिल हैं। इन दो में से भी अन्न का पहला स्थान है और यदि इसी के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान अपूर्ण हो, हमारा कार्य-क्रम अधूरा हो, तो इससे बढ़कर शोचनीय स्थिति और क्या हो सकती है? इसीलिए आवश्यकता इस बात की है कि हमारी सारी शिक्षा पद्धति में भोजन शास्त्र का व्यापक और महत्त्वपूर्ण स्थान होना चाहिये। और यही कारण है कि गांधी जी ने खादी और कृषि को नयी तालीम के दो मूल उद्योग माना है। कृषि और भोजन, दो अन्योन्याश्रित एवं पर्य्यायवाची चीजें हैं। अतः शिक्षकों, विशेषतः नयी तालीम के अध्यापकों को, इसकी विधिवत् एवं व्यावहारिक जानकारी कराना और करना चाहिये।

शिक्षा पद्धति में भोजनशास्त्र का समावेश आवश्यक है

भारत रोगों के यातनापूर्ण दलदल में जिन्दगी और मौत की साँसें ले रहा है—इनमें से अनेकों के पीछे भोजन की करुण कहानियाँ हैं, अनेकों की सृष्टि हमारी खाद्य अज्ञानता और कुसंस्कारों से होती है।

बेरी-बेरी, रतौंधी, मोतियाबिन्द, प्रसूत ज्वर, रक्ताल्पता—अनेकों में से ये कुछ ऐसे रोग हैं जिन्होंने राष्ट्रीय जीवन के लिए समस्या खड़ी कर दी है, परन्तु भोजन सम्बन्धी मामूली सी जानकारी और सतकर्ता के द्वारा देश को इनके चंगुल से मुक्त किया जा सकता है। पेट भर होने पर भी यदि भोजन संतुलित नहीं है तो वह दूषित और रोगप्रद बन जाता है। अपूर्ण और असंतुलित भोजन से बच्चों की वृद्धि और विकास मारा जाता है। क्या ऐसे बच्चे किसी उन्नतिशील राष्ट्र के सदस्य बन सकते हैं? जिन माताओं को आवश्यक भोजन नहीं मिलता वे स्वस्थ सन्तानों को क्योंकर जन्म दे सकती हैं? बच्चों की सुरक्षा और संपोषण के लिए वे स्वयं भी क्योंकर स्वस्थ और सुखी रह सकती हैं?

आज, ठीक इसी स्थल पर, हमारे अध्यापक वर्ग का महत्त्व स्थापित होता है। शिक्षा के मानी यही तो नहीं होते कि कुछ बच्चों को बटोर कर इनके खोपड़ों में कुछ ऐसी किताबी बातें ठूँस दी जायें जिनसे उनके जीवन प्रवाह का कोई साक्षात् सम्बन्ध न हो या जिनसे उनकी व्यावहारिक गति-विधि पर कोई असर न पड़े। वह शिक्षा भी क्या जो सीधे जीवन तत्वों से न मिलकर कागजी पन्नों में धरी हो? यदि बालक गणित की कठिनतम सूक्तियों को हल कर रहा हो और दूसरी ओर उसकी नाड़ियाँ और मांसपेशियाँ सूखती जा रही हों तो क्या हम स्वीकार कर सकते हैं कि उसे जीवन की सही शिक्षा मिल रही है? वस्तुतः जीवन को सही तौर से कायम रखना जीवन की पहली शिक्षा होनी चाहिये, पहली योग्यता होनी चाहिये, वरना क्षीणप्राय गणितज्ञों से यही नहीं कि सबल राष्ट्र नहीं बनेगा बल्कि हम इन्हें गणितज्ञ भी नहीं मानेंगे।

व्यक्ति के, राष्ट्र के, ये आधार भूत सवाल हैं और इन्हें सावधानी पूर्वक हाथ में लेना होगा। परन्तु इस सिलसिले में खास बात समझने की तो यह है कि आहार तत्त्वों की तालिकाओं से संतुलित भोजन के नुसखे तैयार कर देने से ही हमारे भोजन की समस्या हल नहीं हो जायेगी। भारत बड़ा गरीब देश है, इसलिए भोजन के जो नुसखे हम तैयार करें वे संतुलन की रक्षा करते हुए सस्ते से सस्ते होने चाहियें। सस्ते ही नहीं, सुलभ भी होने चाहियें।

१८५. परन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि हम जो कुछ खाते हैं उसके उत्पादन में हमारा कितना अंश है—इस प्रश्न पर हमें

सतर्क रहना होगा। आज हिन्दुस्तान को बहुत सा अन्न विदेशों से महँगे दामों पर मँगाना पड़ रहा है। विदेशों से

स्वावलम्बी दृष्टि की आवश्यकता

केन्द्रीय सरकार द्वारा मँगाकर बँटनेवाला अन्न कभी पूरा और स्वस्थकर नहीं हो सकता। जहाजों में, बन्दरगाहों में, गोदामों में सड़ने-गलने और खराब होने के बाद ही वह हमें अपूर्ण मात्रा में प्राप्त होता है। इसके अलावा भारत जैसे विशाल देश के ३०–४० करोड़ प्राणियों को पूर्ण तरह से रसद पर रखा भी नहीं जा सकता, रसद पहुँचायी भी नहीं जा सकती। हमें अपनी जरूरत का बहुत बड़ा अंश स्वयं मुहैया करना है। यही कारण है कि हमारी नजर स्वावलम्बन पर ही होनी चाहिए। स्वावलम्बन के बिना कोई राष्ट्र आत्मनिर्भर या बलवान हो ही नहीं सकता।

समतोल भोजन

१८६. हमने शुरू में कहा है कि भारत में प्रति व्यक्ति लगभग २६०० जीवन मान (कैलरी) की प्रतिदिन आवश्यकता है। इस दृष्टि से समतोल भोजन की एक तालिका इस प्रकार हो सकती है—

चावल—(मिल कुटा)	५ छटाँक
बाजरा, गेहूँ, जव—(चोकरदार आटा)	२½ ,,
दूध—	४ ,,
दाल—(अरहर ½ छ०, उर्द १ छ०)	१½ ,,
तरकारी—(बैगन ½, गवार की फ० ½, भिण्डी ½, सहजन ½, चिचिड़ा ½)	३ ,,
पत्तीदार भाजी—(लाल चौ. १ छ., पालक ½ छ., सहजन की पत्ती ½ छ.)	२ ,,
चर्बी—(मक्खन, घी, तिल का तेल)	१ ,,
फल—(आम ½, केला ½)	१ छटाँक

यह समतोल भोजन की तालिका है। इससे निम्नलिखित तत्व प्राप्त होते हैं, जो शरीर के संरक्षण और संवर्द्धन के लिए पर्याप्त हैं—

नत्रज	७३ ग्राम
चर्बी	७४ ग्राम
कार्बोहाइड्रेट	४०८ ,,

चूना	१.०२ ,,
फासफोरस	१.४७ ,,
लोहा	४४.०० ,,
'अ'	७००० (इकाइयाँ)
'ब १'	४०० ,,
'स'	१७० मिलिग्राम (लगभग)
जीवनमान (कैलरी)	२५९०

ऊपर का भोजन केवल नमूने के तौर पर है। देश और काल तथा परिस्थिति के अनुसार खाद्य-पदार्थों में हेर-फेर हो सकता है। भोजन के बाद ही फौरन ½ छटाँक के लगभग गुड़ खाने से बहुत लाभ होता है। भोजन सुपाच्य बनता है यानी शरीर को शक्ति अधिक मिलती है। गुड़ स्वयं शक्ति प्रदान करता है।

चावल मिल कुटा होने से दूसरे अन्न को नहीं छोड़ना चाहिये। केवल चावल ही लेना है तो वह हाथ कुटा हो और दूध और दाल में वृद्धि कर देनी होगी। उसना चावल अरवा से अधिक संयोजक होता है। मिल कुटा होने पर भी अधिक हानि नहीं करता। चावल बिल्कुल छोड़ देने से अनाज की मात्रा केवल छः छटाँक ही काफी होगी। दूध न मिले तो हर्ज नहीं, मट्ठे और मक्खनियाँ दूध से काम चलाया जा सकता है।

१८७. यह तो हुई भोजन के शुद्ध संतुलन की दृष्टि। परन्तु हमारे भारतीय खाद्य योजना सामने दो प्रमुख प्रश्न हैं। वस्तुतः भारत की के दो निर्णायक प्रश्न खाद्य योजना के ये दो निर्णायक प्रश्न हैं—

(१) भारत की गरीबी।

(२) भारत में अन्न की कमी।

इन दोनों बातों की अवहेलना करके देश भर के लिए, व्यक्ति या वर्ग विशेष के लिए नहीं, कोई सामान्य आधार नहीं स्थिर किया जा सकता। इन्हीं प्रश्नों को ध्यान में रख कर गांधी जी ने (हरिजन, २५-१-४२) में जो मर्यादाएँ स्थिर की थीं उनका उल्लेख करने के पश्चात् ही हम इस समस्या को अधिक विस्तार से समझने की कोशिश करेंगे।

१८८. "हमारी तात्कालिक समस्या भूखों को भोजन और नंगों को

वस्त्र देने की है। देश में इस समय दोनों की कमी है। युद्ध की प्रगति के साथ[1] यह अभाव दिन-प्रति-दिन कटुतर होता जायेगा। बाहर से गल्ले और कपड़े का आयात बन्द है।[2] पैसे वालों पर भले ही असर न हो, पर गरीबों पर तो असर पड़ ही रहा है। अमीरों को गरीबों के खून पर पलने के सिवा दूसरा कोई रास्ता ही नहीं है। इसलिए जो जितना ही अन्न बचाता है, उतना ही उसके उत्पादन के बराबर है। इसलिए जिन्हें गरीबों का ख्याल और आत्मीयता है, उन्हें अपने खर्चों को कम करना चाहिये। इसके अनेक रास्ते हैं, उनमें से कुछ का उल्लेख यहाँ करूँगा। अमीर लोग बहुत ज्यादा खाते हैं और उससे भी ज्यादा बर्बाद करते हैं।

गांधी जी का सुझाव

एक समय एक ही अनाज का उपयोग होना चाहिये। बहुत से घरों में चावल, दाल, रोटी, घी, गुड़, तेल, फल और साग सब्जी आम तौर से इस्तेमाल किया जाता है। जिन्हें दूध, पनीर, अण्डा या मांस के रूप में प्राणिज नत्रज मिलता है उन्हें दाल बिलकुल न खाना चाहिये। गरीबों को केवल वानस्पतिक नत्रज मिलता है; अगर अमीर लोग दाल और तेल छोड़ दें तो गरीबों को जिन्हें प्राणिज नत्रज और चर्बी नहीं मिलती ये अत्यावश्यक पदार्थ सुलभ हो जायँगे। इसके बाद अनाज द्रव रूप (जैसे पतली खीर वगैरह) में नहीं खाना चाहिये क्योंकि जब यह सूखा या किसी शोरबे में भिगो कर नहीं (यानी रोटी या भात) खाया जाता है तो आधी मात्रा में ही पर्याप्त होता है। इन्हें कच्ची सब्जियों जैसे गाजर, टमाटर, प्याज, सलाद, मूली के साथ खाना अधिक लाभप्रद है। कच्चे सलाद का १ छटांक पावभर पकी हुई सब्जी के बराबर होता है। रोटी दूध के साथ नहीं खाना चाहिये। एक वक्त का भोजन रोटी और कच्ची सब्जी का हो, दूसरे वक्त पकी हुई सब्जी और दूध या दही के साथ भोजन हो। मीठी तश्तरियाँ बन्द कर देनी चाहिये। उसके बजाय थोड़ा गुड़ या चीनी रोटी या दूध के साथ या खाली ही खाना चाहिये।

---

१. आज भारत की स्थिति युद्धकालीन भारत से भी बदतर है। शरणार्थियों की संख्या लाखों से करोड़ों तक पहुँच रही है। उन्हें भोजन देना है।

२. इस समय यदि आयात बन्द नहीं है तो वह बन्द होने से भी अधिक प्राणघातक है क्योंकि देश का अपार धन इसमें लग रहा है और नतीजा यह है कि जीवन के अन्य कार्य-क्रम मुर्झा कर मरने पर आ रहे हैं।

ताजे फल अच्छे होते हैं, पर शरीर-यंत्र को व्यवस्थित रखने के लिए थोड़े ही काफी होते हैं। यह महँगी वस्तु है और अमीरों द्वारा लोलुपता पूर्वक हड़प लेने से बेचारे गरीब और रोगी वंचित हो जाते हैं जिन्हें इसकी अमीरों से अधिक जरूरत है।

कोई भी डाक्टर, जिसने खाद्य विज्ञान का अध्ययन किया है, इस बात का प्रमाण देगा कि ऊपर दिये हुए नुसखे से सुन्दर स्वास्थ्य में मदद मिलेगी।

भोजन के सदुपयोग और सुरक्षा का यह एक रास्ता है, पर इतने ही से स्थिति में बहुत ज्यादा अन्तर न होगा।

अनाज के व्यापारियों को लाभ और मुनाफाखोरी छोड़ देना चाहिये। कम से कम में उन्हें संतोष करना चाहिये। अगर वे गरीबों के लिए अनाज का उपयोग नहीं करते तो लूट लिये जाने के खतरे में पड़ना होगा। उन्हें पड़ोस वालों के संपर्क में रहना चाहिये। कांग्रेस वालों को चाहिये इन्हें समय का संदेश दें।

सबसे जरूरी बात यह है कि गाँव वालों को समझाया जाय कि उनके पास जो है उसकी रक्षा करें और पानी की सुविधा के अनुसार ताजी फसलें तैयार करें। उन्हें बताना चाहिये कि केला, आलू, चुकन्दर, रतालू और सूरन तथा कुछ हद तक कद्दू खाद्य-पदार्थ हैं और आसानी से पैदा किये जा सकते हैं। जरूरत पड़ने पर रोटी का स्थान ले सकते हैं।

पैसों के लिए कताई का सरलता पूर्वक लाभ लिया जा सकता है।... काहिल लोग ही भूखे मरते हैं, मरना ही चाहिये। सब्र के साथ काहिलों को भी कार्यशील बनाया जा सकता है।"

समतोल भोजन का उदाहरण दिया गया है। उसे गांधी जी की रूप-रेखा में बैठा कर काम लेने से भोजन की समस्या को सुलझाने में बहुत बड़ी मदद मिलेगी। इसमें अमीर और गरीब, सबके लिए रास्ता है।

१८६. इस समय देश में भोजन की समस्या उत्कट रूप में विद्यमान है। तात्कालिक कठिनाइयों को हल करने के अलावा भी राष्ट्रीय समृद्धि के लिए भोजन के प्रश्न पर व्यक्ति और समाज, दोनों को सचेष्ट और सावधान रहना चाहिये। अक्सर देखा जाता है कि जिसको जो मिला, जब भी मिला, और जितना भी मिला, पेट में भर लिया जाता है। दूसरी ओर दफ्तर, खेत और कारखाने जानेवालों का कोई समय ही नहीं

घातक तरीके

होता। जितना खाना चाहिये यदि मिला भी तो खाने का मौका नहीं होता। भोजनों के बीच समय और मात्रा का ठीक हिसाब नहीं रहता। ये सारे तरीके व्यक्ति और राष्ट्र, दोनों के लिए घातक हैं। बच्चों के खाने-खिलाने का भी कोई ढंग, कोई सीमा नहीं होती। बच्चे जहाँ नहीं मिलता, भूखों मरते हैं, जहाँ मिलता है गाय-बैल की तरह चरते फिरते हैं। इसलिए सबसे पहले तो भोजन का समय और ढंग निश्चित रखना चाहिये। इसके विना समतोल भोजन की मर्यादा कायम ही नहीं हो सकती।

भोजन और शिक्षण शालाएँ

१९०. भोजन के समय का निश्चित ढंग होने से स्वास्थ्य के लिए हितकर तो है ही, मात्रा भी निश्चित हो जायेगी,—जो होगी उसका पूरा-पूरा लाभ मिलेगा; शरीर शक्ति बढ़ेगी और सामूहिक रूप से राष्ट्र का हित होगा—लोग क्रियाशील होंगे, उत्पादन बढ़ेगा। इस स्थान पर माँ-बाप के समान ही या बल्कि उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान अध्यापकों का है। इसलिए आवश्यक है कि शाला में जानेवाले शिशुओं की भोजन-व्यवस्था, यथासंभव, शाला से ही सम्बद्ध हो। भोजन की व्यवस्था ही नहीं, उसके उत्पादन और तैयारी में भी बालकों की प्रमुख रूप से जिम्मेदारी होनी चाहिये। शाला में स्थान, साधन और परिस्थिति के अनुसार ऐसे खाद्य-पदार्थों के उत्पादन की योजना बनायी जाय जो कम से कम में अधिक से अधिक और यथासम्भव, पर्याप्त हो सके। शाला की भोजन-सामग्री में उनका उपयोग होना चाहिये। इस प्रकार कृषि और भोजन की व्यापक प्रक्रियाओं द्वारा बालकों को श्रेष्ठतम रीति से शिक्षा दी जा सकेगी और ये लोग सच्चे नागरिक बन सकेंगे जिन पर एक सबल राष्ट्र का आधार कायम हो सकता है। केवल तात्कालिक दृष्टि से भी देश की खाद्य-समस्या के सामाधान में इस प्रकार बहुत बड़ी मदद मिलेगी। दूसरों को इस दिशा में क्रियाशील होने के लिए प्रेरणा प्राप्त होगी।

(९)

१९१. भारत में शिशु और बच्चों की समस्या सबसे टेढ़ी है। दूध का भयानक अभाव है; जो होता है वह भी पैसों के लिए घी बना दिया जाता है। बच्चों को समय के पहले ही अनाज पर ढकेल दिया जाता है; गरीबी में दूसरा चारा भी नहीं दीखता। इसलिए इस प्रश्न को गम्भीरता

पूर्वक हाथ में लेना है। मजदूरी करनेवाली माताएँ बच्चों को अफीम देकर सुला देती हैं, कुछ तो इसलिए कि जागते शिशु को लेकर कमाई करने में बाधा होती है और कुछ इसलिए भी कि भूखे बच्चे रोयेंगे; इसलिए उन्हें बेहोश रखना ही रक्षाजनक प्रतीत होता है। नतीजा, दोनों हालत में यही होता है कि बच्चे आवश्यक पोषण के अभाव में रोग और मृत्यु के शिकार हो जाते हैं, उनकी शरीर-रचना नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है। बेचारी ये गरीब स्त्रियाँ स्वयं भी भूखी रहती हैं, बच्चों के लिए इनके स्तन में दूध भी नहीं होता।

शिशु और बच्चे

१६२. इसलिए, सबसे पहले, शिशु की रक्षा और विकास के लिए, आवश्यक है कि माँ के भोजन की सम्पूर्ण व्यवस्था की जाये। वस्तुतः गर्भवती और दूध पिलानेवाली माँ को अतिरिक्त पोषण की जरूरत है जिसका हिसाब नीचे दिया जाता है—

माताओं को अतिरिक्त भोजन

तत्व	अतिरिक्त प्रतिशत
जीवन मान (कैलरी)	२५
नत्रज	५०
चर्बी	१०
फास्फोरस	५०
चूना	१००
लोहा	५०

इसी प्रकार जीवन तत्वों में भी सुविधानुसार वृद्धि कर देने की जरूरत है।

१६३. शिशु को अवस्था और बनावट (वजन) के हिसाब से प्रति दिन कितने जीवन मान की जरूरत होती है, इसका हम उल्लेख कर चुके हैं। शिशु की मुख्य ख़ुराक माँ का दूध ही है। माँ के १/२ छटाँक दूध से २० 'जीवनमान' प्राप्त होता है। इस तरह एक महीने के बच्चे को १० छटाँक दूध की जरूरत पड़ेगी। यदि ५ बार (आध पाव प्रति बार) पिलाया जाये तो अच्छी दुधार माँ को भी १५ छटाँक दूध मुश्किल से ही होता है। इसलिए आवश्यक है कि छठे महीने बच्चे को

दुध - मुँहा बच्चा और अन्न

अलग से भी कुछ शुरू कर दिया जाये। छः महीने तक हो सके तो (यदि माँ हृष्ट-पुष्ट और निरोग हो) बच्चे को माँ के दूध पर ही रखा जाये। माँ का दूध बढ़ानेवाली उपयुक्त खुराक देकर, जरूरत के मुताबिक दूध बढ़ाने की भी कोशिश होनी चाहिये क्योंकि माँ के दूध के बराबर कोई गिज़ा है ही नहीं। इसकी मुख्य श्रेष्ठता इसकी सुपाच्यता में है। जल्द बिगड़ना नहीं, छूनिहर दोषों का इसे कम भय रहता है।

१९४. परन्तु यह लापरवाही हर्गिज न होनी चाहिये कि बच्चा माँ का या कुदरती दूध तो पी ही रहा है, इसलिए और कुछ करने की जरूरत नहीं। माँ का स्वस्थ दूध जब तक काफी हो, कोई फिकर नहीं, वरना फौरन आवश्यक प्रबन्ध करना चाहिये। बच्चे को पूरी खुराक मिल रही है, इसकी परीक्षा उसके साप्ताहिक वजन की वृद्धि से की जानी चाहिये। २-३ छटाँक प्रति सप्ताह वजन बढ़ना चाहिये,—न बढ़े तो समझें, पूरी खूराक नहीं मिल रही है। सच यह है कि मिलती ही नहीं। भारत की गरीब स्त्रियों को विदेशी स्त्रियों का तिहाई दूध भी नहीं होता और बच्चे क्षीण और दुर्बल रहते हैं। जिन स्त्रियों को खाना मिलता भी है तो वह इतना तत्वहीन होता है, या भून-बघार कर अथवा अन्य प्रकार के अज्ञान के कारण इतना तत्वहीन बना दिया जाता है कि स्त्रियों को पूरा दूध नहीं होता। जो समर्थ हैं उनके भोजन का तो सुधार करके ठीक किया जा सकता है, परन्तु बेचारी गरीब औरतों का क्या हो ?— जिन्हें भरपेट भोजन ही नहीं मिलता हो उन्हें पौष्टिक भोजन की सलाह देना मूर्खता होगी। फिर भी ऊपर हमने भोजनों की जो सूची दी है, जो तरीके बताये हैं उनसे गरीबों को भी उपयोगिता बढ़ाने में मदद मिलेगी। सस्ते में भी बहुत कुछ किया जा सकता है।

गरीबी और मातृत्व—सहायक तरीके और खाद्य पदार्थ

इन औरतों को अंकुरित अन्नों का विशेप रूप से सहारा लेना चाहिये। दूध के बजाय मथे हुए दूध से भी काम लिया जा सकता है। बिल्कुल न मिलने से तो कुछ अच्छा ही होगा। मट्ठा भी अच्छी चीज है। जो तत्व है वह तो है ही, पाचक और रक्तशोधक होने से अन्य खायी हुई चीजों के गुण को बढ़ायेगा। खाद्यों की सूची में कई अत्यन्त सस्ती और दुग्धवर्धक चीजें हैं, उन्हें लें। गाय के दूध के अभाव में बकरी पाल लेने की कोशिश करनी चाहिये। बकरी का दूध "जीवन मान" की दृष्टि से गाय के ही बराबर गुणकारी और सुपाच्य और भैंस के दूध के

दोषों से मुक्त है। इसकी सेवा-सुश्रूषा और खर्च बर्दाश्त करना बहुत भारी न होगा। बकरी अधिकतर पत्तियों पर ही रहती है। कडुवी और काँटेदार झाड़ियों में लम्बी रस्सी से बाँध कर चरायी जा सकती है।

शिशु को माँ के दूध की आवश्यक मात्रा के अभाव में गाय या बकरी का दूध शुद्ध और संशोधित जल के साथ मिलाकर देना चाहिये, क्योंकि सभी दूधों में माँ के दूध से अधिक नत्रज होता है और बच्चों के पाचन के प्रतिकूल पड़ता है। पानी मिलाने से नत्रज की मात्रा पाचन के अनुसार कम हो जाती है। ताजे शिशु के दूध में $\frac{1}{2}$ दूध और $\frac{1}{2}$ पानी और फिर धीरे-धीरे पानी की मात्रा घटाते घटाते $\frac{1}{3}$ कर देनी चाहिये। चूँकि पानी मिलाने में दूध की शक्कर कम हो जाती है, इसलिए शक्कर मिला देना चाहिये। परन्तु चीनी देशी, साफ शक्कर होनी चाहिये—मिल की दानेदार चीनी नहीं क्योंकि यह शरीर से चूने का अपहरण कर लेती है। इस तरह दिनभर में तीन-चार बार और बड़े शिशु को ५-६ बार पिलाने की जरूरत है। दूध उबाला हुआ हो, दूध का बर्तन भी गरम पानी से खूब साफ किया हो।

दूसरे महीने की अवस्था से थोड़ा 'स' भी शुरू कर देना चाहिये यानी संतरा, आम, टमाटर या पपीहते का रस दो-तीन चम्मच देना चाहिये। जिनको सुलभ हो और पसंद हो वे काड मछली का १-२ बूँद तेल भी दूध में मिला सकते हैं। बड़े बच्चे को १ चम्मच तक दिया जा सकता है। बच्चों को दूध मिलने से शरीर में 'द' बनता है, इसलिए ऋतु और स्वास्थ्य का ख्याल रखते हुए धूप और ताजी हवा का खुला लाभ करना स्वास्थ्यप्रद और शरीरवर्धक है।

लोहे से रक्त बनता है, जो दूध में पर्याप्त रूप से नहीं मिल पाता। इसलिए दूसरे-तीसरे महीने से किसी न किसी रूप में लोहा देना जरूरी है वरना बच्चा रक्ताल्पता (अनेमिया) का शिकार हो जायेगा। डिब्बे या बोतलों के दूध से ताजा दूध अच्छा होता है। डिब्बे खुल जाने पर बहुत जल्द खराब हो जाते हैं। यों भी उनका 'स' उत्पादन क्रिया की कड़ी आँच से नष्ट हो चुकी होती है। इसलिए यदि देना ही हो तो संतरे और टमाटर का रस भी देना जरूरी है। आज के बच्चे बचपन से ही कमजोर होते हैं और छोटी अवस्था में ही चश्मे लगने लगते हैं—इसका एक कारण यह होता है कि कृत्रिम दूधों में 'अ' नहीं रहता। इसलिए 'अ' मिलना

चाहिए, चाहे जिस रूप में हो। 'अ' की कमी से आदमी बिलकुल अंधा हो जाता है।

बच्चों को ठोस भोजन छठे महीने के बाद शुरू करना चाहिये। १०वें महीने से केवल गाय के दूध और भोजन पर भी बच्चा रह सकता है। बच्चों के भोजन में गेहूँ या बाजरे की दलिया, मूँग के दाल का पानी, उबाली हुई सब्जियों का रस, या रोटी और मक्खन या घी और थोड़ा नमक होना चाहिए। १ वर्ष के बाद अनाज और फलों का भर-पेट भोजन दिया जा सकता है, परंतु दूध का प्रबन्ध होना ही चाहिए। नमकीन दलिया में साग-सब्जी का मिश्रण बड़ा लाभप्रद होगा।

(१०)

१९५. शोर है कि देश में अन्न का अभाव है और जनसंख्या बे-हिसाब बढ़ती जा रही है। इसलिए पढ़े-लिखे लोग और सरकारी वर्ग मिलकर कृत्रिम मैथुन और गर्भपात आदि के द्वारा जनन-निग्रह के लिए जमीन को सिर पर उठा रहे हैं। इस तरह एक विचित्र स्थिति उत्पन्न हो गयी है। प्राकृतिक मार्ग से लोग विरत होते जा रहे हैं, नैतिक अराजकता का बोलबाला है। परन्तु मजा तो यह है कि इन बावेलों से समस्या में रत्ती भर भी सुधार नहीं हो रहा है। 'ज्यॉगरफी आव् हंगर' के विद्वान लेखक ने विश्व की खेतिहर भूमि और जनसंख्या की तुलना से स्पष्ट कर दिया है—

जनसंख्या

"अकाल एक तरह के कुदरती कानून का नतीजा है, इस कथन का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। इस सम्बन्ध में कुछ बुनियादी आँकड़ों के विश्लेषण से मालूम होगा कि यह कल्पना कितनी कृत्रिम है। धरती की सतह का ७१ प्रतिशत भाग समुद्र है और बाकी २९% हमारी पृथ्वी का ठोस हिस्सा है। इस पृथ्वी का क्षेत्रफल लगभग ५ करोड़ ६० लाख वर्ग मील है। जिसका ३०% भाग जंगल है, २०% भाग में घासवाले मैदान हैं, १८% भाग पहाड़ी प्रदेश है, और ३२% भाग उष्ण कटिबन्ध या ध्रुव वृत्त वाला रेगिस्तान है। अमेरिका के कृषि-विभाग के विशेषज्ञ रॉबर्ट सॉल्टर और होमर शान्ट्ज के कथनानुसार केवल २ करोड़ ५० लाख वर्ग मील—पृथ्वी का आधा ठोस भाग—जमीन पर ही खेती के मौजूदा तरीकों से खेती की जा सकती है। रेगिस्तान और पहाड़ी प्रदेश खेती के योग्य नहीं माने जाते, यद्यपि हाल में कृषि-विज्ञान को ऐसे भागों में खेती करने में अच्छी सफलता मिली है। यह सीमित हिसाब भी मनुष्य जाति को खेती के लिए कोई १६ अरब एकड़ जमीन देता है; दूसरे शब्दों में दुनिया

की मौजूदा आबादी के हिसाब से हर एक आदमी को ८ एकड़ जमीन खेती के लिए मिलती है। खेती और पोषण के विषय में प्रमाण माने जानेवाले विशेषज्ञों ने, पोषण के आधुनिक ज्ञान के प्रकाश में, खेतीवाले भाग और खुराक की पैदावार के परस्पर सम्बन्ध का अध्ययन करते हुए यह अन्दाज कूता है कि प्रति मनुष्य लगभग २ एकड़ जमीन युक्ताहार के अनिवार्य पोषक तत्व मुहैया कर सकती है। इस अनुपात से खेती की जाय तो दुनिया की खेती लायक जमीन का एक चौथाई भाग भी उपयोग में आयेगा; उसी से दुनिया की सारी आबादी को पूरी खुराक मिल सकेगी। अभी तक पृथ्वी का जोता जानेवाला भाग २ अरब एकड़ की हद तक यानी धरती की कुल खेती लायक जमीन के १/८ तक भी नहीं पहुँचा है। इससे जाहिर है कि भूख और अकाल किसी कुदरती कानून के नतीजे नहीं हैं।" ('ज्यागरफी आव् हंगर', पृष्ठ २१-२२, हरिजन सेवक ३१-५-५२ से उद्धृत)

वस्तुस्थिति यह है कि एक शक्तिशाली वर्ग जन नज़र के सामने जनसंख्या के काले बादल खड़ा करके सत्य उसकी आँखों से छिपा रखने पर तुला हुआ है क्योंकि इसी में उसका स्वार्थ निहित है। अतः इस रहस्य का भण्डा फोड़ किये बिना भारत में अन्नाभाव की समस्या को हम न तो समझ सकेंगे और न उसे हल करने के लिए किसी सही और सम्मिलित चेष्टा में लोग अपनी व्यक्तिगत शक्ति और साधन का योग दे सकेंगे।

जनसंख्या बढ़ी है, हम इससे इनकार नहीं करते, परंतु 'जन-वृद्धि' एक शुद्ध सापेक्ष (रिलेटिव) तथ्य है। जन-वृद्धि के साथ यदि साधनों की कमी हो तो उसे जन-वृद्धि कहेंगे। यदि जन-वृद्धि के होते हुए भी भोजन के साधन पर्याप्त हों तो फिर जन-वृद्धि का महत्त्व ही क्या रह जाता है? घबड़ाहट क्यों हो? भारत में जितनी जमीन जोती-बोयी जाती है उसकी कई गुना जमीन बेकार परती पड़ती है।

जनन निग्रह नहीं, उत्पादन बढ़ाने की जरूरत

१६६. इतना ही नहीं। प्रति बीघा या प्रति एकड़ पैदावार की औसत भारत में दुनिया के सभी देशों से कम और दुनिया की औसत के दसवें हस्से से भी कम है। भारत की जल-वायु और मिट्टी अधिकाधिक उपज के लिए परम उपयुक्त है, इसलिए थोड़ी सी चेष्टा से केवल मौजूदा जमीन में ही पैदावार कई गुना बढ़ायी जा सकती है। पैदावार बढ़ाने में सरकार और समाज की बहुत बड़ी जिम्मेदारी होती है, परंतु व्यक्तियों की जिम्मेदारी उससे कम नहीं होती। अतः आवश्यकता

इस बात की है कि पैदावार के सम्बन्ध में प्रत्येक आदमी व्यक्तिगत रूप से सही दृष्टि और सही तरीकों को अपनाये और फिर सब मिलकर ऐसी सामूहिक चेष्टा में लगें कि भारत की कुल पैदावार बढ़ जाये। व्यक्तिगत चेष्टाओं के समुच्चय बिना सामूहिक सुख-समृद्धि की सच्ची स्थापना हो ही नहीं सकती। केवल सरकारी कानूनों से विश्व का विकास नहीं हो सकता।

इसलिए स्वाभाविक प्रश्न यही होता है कि कृषि योग्य जमीन को बढ़ाया जाये या गर्भपात शुरू किया जाये? "यह तो ठीक उसी तरह है जैसे खाट छोटी होने पर लम्बे आदमी के पाँव काट देने की सलाह दी जाये" (प्रो० एस० एल० दोशी,—"क्या जनन निग्रह भारतीय दरिद्रता का समाधान है?"—अमृत बाजार पत्रिका, ३-९-५०)। निस्संदेह, गर्भपात और भ्रूण-हत्या के बजाय उपज और उपजाऊ जमीन को बढ़ाना ही सही दिमाग का सबूत होगा।

हमने शुरू में ही दिखाया है कि केवल वनस्पति घी की मिलों को चालू रखने के लिए लाखों एकड़ अन्न योग्य जमीन में मूँगफली पैदा की जाती है और लाखों परिवार के अन्न का साधन छिन गया है। उसी प्रकार सफेद चीनी और जूट की मिलों को चालू रखने के लिए गन्ने और जूट की खेती में लाखों एकड़ अन्न योग्य जमीन को फँसा दिया गया है। परिणामतः साधन सम्पन्न उद्योगपति और उनसे प्रभावित उद्योगवादी वर्ग जनवृद्धि का शोर मचाने लगा है ताकि जनता का ध्यान भी अपने अपहृत जीवन साधन की ओर न जाने पाये।[१]

१९७. जनसंख्या के तुलनात्मक आँकड़े

अब जरा प्रश्न की गहराई में उतरिये। भारत में जनवृद्धि हुई है, दूसरे देशों में भी जनवृद्धि हुई है, परन्तु अन्य देशों की तुलना में भारत की जनस्थिति क्या है इसका गौर से अध्ययन करने की आवश्यकता है। ऐसे उदाहरणों से साफ हो जायगा कि भारत में जनवृद्धि की असलियत क्या है?

---

१. अमृत बाजार पत्रिका में १३-३-५० को पी० टी० आई० का एक समाचार छपा है—"दिल्ली की आबादी जनवरी और मई '५० के बीच ४१२००० घट गयी है क्योंकि रसद विभाग ने जाली कार्डों को रद्द कर दिया है।" ऐसे ही जाली प्रमाणों पर लोग जन-वृद्धि का अस्तित्व कायम करना चाहते हैं। दिल्ली ही नहीं, अहमदाबाद और अन्य स्थानों पर भी ऐसा ही हुआ है।

वर्ष	जनसंख्या, प्रति वर्ग मील[1]			१८७१ के आधार पर एक तुलनात्मक अध्ययन		
	भारत	फ्रांस	इङ्गलैण्ड	भारत	फ्रांस	इङ्गलैण्ड और वेल्स
१८७१	२१५	१७४	३८६	१००	१००	१००
१८८१	२२७	१८२	४४५	१०५·५	१०४·६	११४·४
१८९१	२२९	१८५	४९७	१०६·५	१०६·३	१२८
१९०१	२१०	१८८	५५८	९७·६	१०८	१४३·४
१९११	२२३	१८९	६१८	१०३·६	१०८·६	१५८·८
१९२१	२२६	१८४	६४९	१०५·१	१०५·७	१६६·८

	इङ्गलैण्ड	फ्रांस	भारत
पिछली अर्धशताब्दी की वृद्धि	६६·८	५·७	५·१
प्रति दस वर्ष की औसत वृद्धि, प्रतिशत	१३·३	१·१५	१·०

नोट :—साधारणतः १०% प्रतिशत वृद्धि होनी चाहिये।

इससे स्पष्ट है कि भारत में जन-वृद्धि की कोई समस्या नहीं है।

१. राजस्व और हमारी दरिद्रता (अंग्रेजी, पृष्ठ १०४ से उद्धृत)।

● एक दूसरा आँकड़ा देखिये—

"भारतीय जनवृद्धि की मन्द प्रगति"[1]
(१८८१ से १९३१ ई० तक)

संयुक्त राष्ट्र (अमेरिका)	१८६·०
जापान	७४·१
ब्रिटेन	५५·१
इटली	४०·८
स्विट्जरलैण्ड...	४३·५
जर्मनी	४२·२
भारत	३९·०
स्पेन	३०·८
फ्रांस	११·३

१९८. इस प्रश्न पर एक दूसरे पहलू से भी विचार कीजिये। मद्रास सरकार के स्वास्थ्य संचालक डा० आॅक्रॉयड लिखते हैं—"...... मैं जन्म-निरोध का नाम भी नहीं लेना चाहता क्योंकि भारत में वह सर्वथा असंभव है। परन्तु जनता को यदि स्वस्थ जीवन के तरीकों को समझाया जाये तो उसका असर अवश्य होगा। मद्रास शहर के एक भाग में इसका ऐसा ही नतीजा हुआ। मैं जब मद्रास शहर (१९२४–२५ ई०) की जन-संख्या का निरीक्षण कर रहा था तो मुझे यह देख कर बड़ा आश्चर्य हुआ कि नगर के ब्राह्मण और युरोप निवासियों की जनसंख्या करीब-करीब बराबर निकली। इतना ही नहीं। जैसे-जैसे हम अन्य वर्गों में सामाजिक व्यवस्था के अनुसार नीचे उतरते गये जन-वृद्धि की गति उतनी ही तीव्र मिली। सबसे नीचे पहुँच कर वह ब्राह्मणों की दूनी मिली। इससे मैं इसी नतीजे पर पहुँचा कि यदि स्वास्थ्य की शिक्षा का प्रसार हो तो अधिक जनसंख्या का प्रश्न ही नहीं उठेगा।"[3]

दूसरा पहलू

१९९. हमारे सामने इस तरह दो बातें आयीं (१) पहले तो यह

---

१. प्रो० एस० एल० दोशी, अमृत बाजार पत्रिका ३-९-५०

२. 'पापुलेशन ट्रेन्ड इन इण्डिया'—बी० के० सरकार, प्रो० दोशी द्वारा उद्धृत।

३. हमें क्या खाना चाहिये, पृष्ठ ८३ से उद्धृत

कि भारत में जन-वृद्धि की समस्या नहीं है ; जन-वृद्धि का हव्वा इसलिए खड़ा किया जाता है कि हम सच्चाई को समझ न सकें और भारत के औद्योगीकरण में बाधक न हों; बल्कि उलटे भारत को जल्द से जल्द औद्योगीकरण के रास्ते पर पहुँचा दें क्योंकि हमें जन-वृद्धि से डरा कर इससे बचने के दो ही रास्ते बताये जाते हैं—

दो महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष

(अ) जनन निग्रह
(ब) औद्योगीकरण

चूँकि जनन निग्रह का प्रश्न पूरी तरह और फौरन हल नहीं होता, इसलिए ख्वाह-म-ख्वाह औद्योगीकरण का समर्थन करना पड़ेगा ।

(२) दूसरी बात यह बनती है कि जन-वृद्धि को संयत करने के लिए जनता का जीवन स्तर ऊँचा करना होगा। जीवन स्तर ऊँचा होने का एक यह भी मतलब होता है कि लोगों को पेट भरने के लिए पशुवत् परिश्रम करना पड़े यानी भोजन की समस्या के वास्तविक हल के लिए लोगों को भोजन की ओर से अधिक से अधिक निश्चित बनना होगा।

परन्तु जब हम यह देखते हैं कि इङ्गलैण्ड का जीवन स्तर ऊँचा होते हुए भी वहाँ आबादी बढ़ रही है तो हमारा ध्यान एक और ही बात पर जाता है : वह यह कि जन-वृद्धि का मूल कारण ही औद्योगीकरण है। ऊपर डाक्टर ऑकरॉयड ने स्पष्ट तौर से साबित किया है कि जन-वृद्धि में स्वास्थ्य और सफाई के प्रभाव का बहुत बड़ा हाथ है। औद्योगीकरण का मतलब शहरी सभ्यता है और शहरी सभ्यता अस्वस्थकर वातावरण की जननी है (देखिये जाथार और बेरी का 'इण्डियन एकॉनॉमिक्स', जिल्द १)। औद्योगिक केन्द्रों में ठसाठस भरमार के कारण लोग चूहों की तरह बच्चे पैदा करते हैं—खेतिहर और औद्योगिक जनता की तुलना से यह बात साफ हो चुकी है और इस पर नवभारत में काफी विस्तार से लिखा जा चुका है। यहाँ सिर्फ इतना ही कहना है कि भोजन की समस्या को हल करने के लिए अव्वल तो जन-वृद्धि का प्रश्न नहीं है। जो है वह

(१) गरीबी
और
(२) औद्योगीकरण की वृद्धि

के कारण है।

भोजन की समस्या को हल करने के लिए सब से पहले इन दोनों कारणों को दूर करना होगा या, कम से कम, रोक थाम करनी होगी।

२००. जीवन स्तर को ऊँचा करना और गरीबी को दूर करना—दोनों के एक ही मानी हैं। इसका मतलब यह है कि उत्पादन को अधिकाधिक बढ़ाया जाये, परन्तु उत्पादन की इस वृद्धि की शर्त यह होनी चाहिये कि बेकारी न बढ़े। पर हम देखते हैं कि औद्योगीकरण की तीव्रता के साथ बेकारी भी तीव्र होती जाती है। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि हमारे उत्पादन-क्रम का विस्तार चर्खात्मक विकेन्द्रीकरण के आधार पर ही हो; उत्पादन क्रम का यही एकमात्र रास्ता है जहाँ शत-प्रति-शत रोजी का विधान हो सकता है। मिलें अधिक से अधिक स्थान और अधिक से अधिक धन लेकर कम से कम लोगों को रोजी देती हैं। चर्खात्मक उद्योग-व्यवस्था में ठीक इसी का उलटा होता है।

उत्पादन की विकेन्द्रित वृद्धि आवश्यक है

हमने पुस्तक के प्रथम खण्ड में वनस्पति मिलों की पूँजी और कार्यकर्ताओं की तुलना से देखा है कि २०३ करोड़ की पूँजी से कुल १५००० हजार आदमियों को काम मिला जब कि उतने ही से चर्खात्मक विधान में ९०००० लोगों को काम दिया जा सकता है। उसी प्रकार केवल ४००००००) की पूँजी से चर्खासंघ ने जितने बड़े दायरे में काम किया, जितने लोगों को काम दिया, उतने में एक मिल भी थोड़े से आदमियों को लेकर कुछ एकड़ जमीन में मुश्किल से काम कर पाती। भारत की मिलों में जितनी पूँजी लगी है उतने से कितने लोगों को रोजी मिली है? और फिर हिसाब लगाइये कि उतने ही से विकेन्द्रित आधार पर कितने बड़े दायरे में कितने लोगों को काम और रोजी दी जा सकती है। इस स्थान पर मिलवाले कहते हैं कि जो लोग इस तरह बेकार होते हैं, उन्हें दूसरे धन्धों में लगाया जा सकता है और इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्यों की बहुतायत को ही वे तरक्की मानते हैं। यह भिन्न-भिन्न प्रकार के काम क्या हैं?—खेती के बजाय चाक मिल और सोप फैक्टरी, घानी के बजाय वनस्पति का उत्पादन, लिपस्टिक, और नेल पॉलिश के कारखाने, गुड़ और चीनी के बजाय चीनी मिलों में 'अलकोहल' तैयार करना इत्यादि-इत्यादि। क्या इसी को सच्चा कार्य कहेंगे जिससे जीवन की आवश्यकताएँ

केन्द्रित और विकेन्द्रित उद्योग का एक तुलनात्मक उदाहरण

दूर होने के बजाय उलटे नयी आवश्यकताएँ और नये रोग पैदा हो जायँ ?

२०१. इस सम्बन्ध में जीवन स्तर ऊँचा करने का हव्वा खड़ा किया जाता है। पहले तो हम यह पूछते हैं कि इस ऊँचे स्तर का अर्थ ही क्या जहाँ १० के लिए सिनेमा, सिगरेट, रेडियो और नाचघर की व्यवस्था हो और ९० को कुष्ट और क्षय से गल-गल कर कीड़े-मकोड़ों की तरह मरने के सिवा दूसरा रास्ता ही न हो। और फिर, सचमुच, ऊँचा स्तर क्या है ? शुद्ध अनाज, शुद्ध दूध, घी, प्राकृतिक जीवन और प्राकृतिक आनन्द मनोरञ्जन को छोड़कर नकली सामान और नकली जीवन, रोटी के बजाय सिगरेट, कॉन्ट्रासेप्टिव्, लिपस्टिक, और हम्माम साबुन, दुग्धालयों के बजाय मदिरालय, प्रसूति गृहों के बजाय गर्भपातालय—क्या यही ऊँचा स्तर है ?

जीवन स्तर

२०२. अमृत बाजार पत्रिका (३-९-५०) में प्रो० दोशी और सरदार के० एम० पणिक्कर ने विद्वत्तापूर्वक हर पहलू से, वैज्ञानिक एवं प्रामाणिक रीति से सिद्ध कर दिया है कि यही नहीं कि १९वीं सदी के व्यापक अनुभवों ने मालथस के बहु-प्रचारित जन-सिद्धांतों को गलत ठहराये हैं, बल्कि यह भी कि भारत में न तो जन-वृद्धि की समस्या है, और न भारतीय परिस्थितियाँ ही ऐसी हैं जो हमें जनन-निग्रह की प्रेरणा दें। प्रश्न यह अवश्य है कि उत्पादन बढ़ाया जाये। हम मानते हैं कि उत्पादन को बढ़ाने के लिए हमारे ढंग और साधन युग और परिस्थितियों के अनुसार उत्कृष्ट आकार और प्रकार के होने चाहिये, परन्तु इसका यह मतलब हर्गिज नहीं होता कि चर्खे के बजाय हम सूती मिलों का जटिल व्यूह खड़ा कर दें। अधिकतम उत्पादन के लिए हमें अपने औजारों और तौर-तरीकों में अधिकतम सुधार अवश्य करना है, परन्तु इसके पीछे जो क्रियात्मक शक्ति है, स्वावलम्बन और स्व-सम्पन्नता की जो सञ्जीवनी शक्ति है, उसकी रक्षा करते हुए। यह कार्य औद्योगिक केन्द्रीकरण से नहीं, चर्खात्मक विकेन्द्रीकरण से ही सम्पन्न होगा। जन-संख्या और भोजन की अन्योन्याश्रित समस्या को इसी तरह और केवल इसी तरह हल किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में अमृत बाजार पत्रिका (१५-६-५३, सम्पादकीय) ने विद्वत्तापूर्वक सर्वाङ्गीण समीक्षा करते हुए लिखा है "हमें यह हर्गिज न भूलना चाहिये कि जन-वृद्धि साधारणतः

जनवृद्धि और अधिक उत्पादन का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध, विकेन्द्रित उत्पादन पद्धति की जरूरत

उन्हीं क्षेत्रों में होती है जो बहुत घने आबाद हैं ; जिन क्षेत्रों की आबादी कम है वहाँ जन-वृद्धि का कोई उल्लेखनीय प्रमाण नहीं मिलता।······ हमारे देश में शहरों की आबादी अत्यधिक बढ़ती जा रही है और गाँव वीरान होते जा रहे हैं।·········यदि आबादी का समान रूप से बँटवारा हो सके तो रोग को एक बहुत बड़ी हद तक मिटाया जा सकता है।······ और जनसंख्या इस प्रकार समान वितरण, कृषि और ग्रामोद्योगों के समुत्थान से ही संभव है······।"

२०३. अतएव जन-वृद्धि और जनन-निग्रह के बावेलों को छोड़कर हमें सही तौर से काम में लगने की जरूरत है, सम्मिलित रूप से, सहयोग और सद्भावनापूर्वक। जरा सोचिये कि प्रकृति ने आखिर स्त्री और पुरुष को बनाया ही क्यों और उनके सहयोग का प्राकृतिक परिणाम भी क्या होता है? परन्तु इन जनन-निरोधकों ने प्राकृतिक कार्य को ही दोष घोषित कर दिया है। परिवार में हँसते-खेलते हुए बच्चों को देखकर खुश होने के बजाय ये लोग मातम मनाते हैं; मातृत्व के पुण्य पर्व को इन्होंने असामाजिक कृत्य और देश-द्रोह का रूप दे दिया है। कैसा पाप और कैसी धोखादेही है कि काम करके उसके नतीजे की जिम्मेदारी यह नहीं लेनी चाहते, ठीक उसी तरह जैसे किसी को मारकर कोई हत्यारा न बनना चाहे।

प्राकृतिक और अप्राकृतिक जीवन

२०४. परन्तु ध्यान में रखने की बात यह है कि इन प्रकृति-द्रोहियों को आप निःशस्त्र नहीं कर सकेंगे जब तक कि आप अनाज, दूध और फल के बजाय लिपस्टिक, मिल की चीनी, वनस्पति घी, नेल-पालिश, चाकलेट और आइसक्रीम की माँग करते रहेंगे। इस तरह गैर-जरूरी चीजों को जरूरी बना देने से उसी घातक औद्योगीकरण और परिणामतः गर्भपात और भ्रूण-हत्या की जरूरत रहेगी। हिन्दुस्तान में भले ही जन-वृद्धि की समस्या न हो, जनन-निग्रह की जरूरत पैदा कर दी जायेगी, जवाहरलाल और राजेन्द्र बाबू से इसके लिए कानून भी बनवा लिया जायेगा।

प्रकृति - द्रोहियों को निःशस्त्र करने का सही उपाय

(११)

२०५. भारत की खाद्य समस्या इसलिए और भी कटु हो गयी है

कि सभी अन्न पर टूट पड़े हैं। हमने यही समझ लिया है कि पेट भरने का एकमात्र सहारा अनाजों का है। सभी अनाज पर टूटते हैं जब कि अनाजों से शक्ति (जीवन मान—कैलरी) तो भले ही मिल जाती है, पर शरीर संरक्षक तत्वों की पूर्ति नहीं होती।

खाद्य समस्या कटुतर क्यों है ?

हमने आहार तत्वों का अब तक जो अध्ययन किया है, उससे हम समझ चुके हैं कि शरीर के लिए अन्न से अधिक आवश्यक बहुत सी दूसरी चीजें हैं। अन्न के लिए जितनी जमीन, जितना साधन और शक्ति की आवश्यकता पड़ती है दूसरी चीजों के लिए इतनी जरूरत नहीं पड़ती। यदि हम इस बात को ध्यान में रखें तो प्रति व्यक्ति जितनी जमीन उपलब्ध है, उतने में ही बहुत कुछ किया जा सकता है। खेतिहर जमीन पर जो दबाव पड़ रहा है वह भी हलका हो जायेगा, अन्न के लिए हाय-हाय भी कम हो जायगी, और हम आसानी से थोड़े में ही बहुत ज्यादा सुख और शक्ति प्राप्त कर सकेंगे।

अन्न के मोह को त्यागने से खाद्य साधनों में वृद्धि

२०६. गाँव का एक गरीब आदमी है। उसके पास खेती के लिए काफ़ी जमीन नहीं है। खेती के लिए न तो सहायक लोग हैं, और न हल-बैल और सिंचाई का साधन प्राप्त है; बीज के लिए पैसे नहीं। एक छोटी सी घास फूस की झोपड़ी में स्त्री-बच्चों को लेकर दीन—दरिद्र की भाँति गुजर करता है और अन्न की मुँहताजी में जानवर की तरह दम तोड़ता हुआ मरता फिरता है। फिर भी अच्छा और पूरा अन्न नहीं मिलता। इस बेचारे को यह नहीं मालूम कि यदि पेट भर अन्न मुयस्सर भी हो जाये तो शरीर में बल और मेधा नहीं उत्पन्न होगी जब तक दूध, घी, साग-भाजी, फल और अन्य चीज़ें न प्राप्त हों। उसे यह नहीं समझाया जाता कि यदि वह अन्न के मोह को कम कर दे तो उसके साधनों में अपने आप वृद्धि हो जायेगी। अब इन्हीं बातों पर विचार कीजिये—

केला

(१) केला एक बड़ा ही उत्तम लौह प्रधान फल है। कच्चे केले की तरकारी बड़ी पौष्टिक और सुपाच्य तरकारी होती है। केले के फूल में जीवन तत्व 'अ' का प्राचुर्य है। पक्का केला भी उसी प्रकार गुणकारी फल है। यह ठोस भोजन के रूप में भी प्रयुक्त होता है, यहाँ तक कि जब केले

का पेड़ काट दिया जाता है तो उसके डंठल की भी उत्तम तरकारी बनती है। और यही केला बिना हल-बैल, बिना जमीन और बीज, के ही पैदा होता है। झोपड़े के चारों ओर लगा दीजिये। अच्छा सुन्दर बाग तैयार रहेगा। भोजन देता रहेगा। घर की नालियों से ही इसकी सिंचाई हो सकती है।

(२) कद्दू—बहुत अच्छी सब्जी है। भर पेट तरकारी देने के अलावा इसके बीज से उत्तम प्रकार का तेल निकाला जा सकता है। और यह कद्दू होता कहाँ है? झोपड़े के ऊपर बेचारा फैला रहता है, फल देता रहता है। झोपड़ा न हो, घर हो तो भी थोड़े से झाड़ झंखार पर फैलाया जा सकता है। दस-पाँच पेड़ में १०-५ घड़े पानी बहुत होते हैं। यदि ठीक तरह से देख-भाल की जाये तो जाड़ा, गर्मी, वर्षा—१२ महीने हमें भरा-पूरा रख सकता है।

कद्दू

बहुत से साग हैं जो बहुत आसानी से, बहुत थोड़ी जगह में पैदा हो सकते हैं। यहाँ तक कि शहरों में गमलों में पैदा किये जा सकते हैं। अक्सर शहरों में भी इतनी जमीन मिल जाती है कि साग और सब्जी आसानी से बिना किसी परिश्रम के उत्पन्न हो जाये।

गाँवों में जिन्हें जमीन उपलब्ध है, वे अनाज ही पैदा करें, ऐसी बात नहीं। कन्द, मूल, फल में कम जमीन, कम साधन और अधिक संपोषण और संरक्षण प्राप्त होता है। शर्त तो यह है कि हम कुछ करना चाहें, वरना कुछ होगा नहीं।

गाँधी जी ने भोजन के प्रश्न पर बहुत कुछ लिखा है, पूर्ण वैज्ञानिक, आर्थिक और राजनीतिक ढंग से प्रत्येक पहलू पर सुझाव दिया है। उनके लेखों का संकलन "खूराक की कमी और खेती" के नाम से नवजीवन कार्यालय, अहमदाबाद से प्रकाशित हो चुका है। 'हमें क्या खाना चाहिये'—यह पुस्तक ग्रामोद्योग संघ, वर्धा से प्रकाशित हुई है। इसी प्रकार और भी अपार साहित्य भरा पड़ा है। हमें उनसे दिशा प्राप्त करनी चाहिये, जनता को इस ओर जागृत और सचेष्ट करना चाहिये ताकि लोग अपना दुख दूर करने के लिए अपने पैरों पर खड़े हों। सरकार की ओर मुँह उठाये पड़े रहने से बात बनेगी नहीं, बिगड़ती जायेगी। सरकार अकेले कुछ कर भी नहीं सकती। जनता को

भोजन की समस्या को आन्दोलन रूप से चलाने की जरूरत है

स्वावलम्बी बनना चाहिये। इसीमें हित है। यदि हम सरकार के भरोसे पड़े रहेंगे तो सरकार को पूँजीपतियों और विदेशियों के दरवाजे पड़ा रहना पड़ेगा और देश आजाद होकर भी गुलाम बना रहेगा। आज जो सचमुच देश को सुखी और सम्पन्न देखना चाहते हैं, उन्हें चाहिये कि भोजन के प्रश्न पर आन्दोलन रूप से कार्य प्रारम्भ करें, जनता को योजना-पूर्वक अपना प्रश्न स्वयं हल करने के लिए तैयार करें। सच तो यह है कि जो जनता की रोटी का प्रश्न हल करेगा, जनता उसी की होगी, और इसी-लिए आज भारत की सच्ची राजनीति भी भोजन की राजनीति है।

(३) भोजन की समस्या को हल करने के लिए अन्य आवश्यक बातें भी हैं, जैसे सहकारिता, सिंचाई, ग्रामोद्योग, वस्त्र, स्वावलम्बन आदि। इन सारी बातों का रचनात्मक ढङ्ग से अध्ययन करके स्वावलम्बी रास्ते निर्धारित करने की जरूरत है। हम चाहें तो बहुत कुछ कर सकते हैं, बशर्ते कि मिल-जुल कर काम करने पर तुले हों। आज देश भर में पंचायतें काम कर रही हैं; इनका बहुत सा समय लड़ने-झगड़ने में जाता है। इन्हें जीवन के मूल प्रश्नों पर झगड़ा छोड़ देना चाहिये। लोगों को अधिकारों के लिए लड़ना छोड़कर तथ्य को पकड़ना चाहिये—कुछ कम या कुछ ज्यादा, नीचे या ऊँचे, यदि हमें अपने जीवन को सुखी बनाने का मौका मिलता है तो व्यर्थ झगड़े-फसाद में गाड़ी रोक कर बैठे रहना अनर्थ होगा और अंत में अवसर भी हाथ से निकल जायेगा। गांधी जी अंग्रेजों को हिन्दुस्तान से उखाड़ फेंकने पर तुले हुए थे; उनसे बढ़कर असहयोगी संसार में पैदा हुआ ही नहीं, परन्तु भोजन के प्रश्न पर उन्होंने भी अंग्रेजों से सहयोग की सलाह दी थी। यही दृष्टि हमारी होनी चाहिये।

अन्य उपाय

पंचायतों को समर्थ बनाने से सहकारिता को बल मिलेगा, भोजन की अन्य समस्याओं को हल करने में मदद मिलेगी, सिंचाई का काम आसान बनाया जा सकेगा, पशुओं के चरागाह की समस्या को हल किया जा सकेगा।

दूध-दही की दृष्टि से पशुओं का प्रश्न कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। आज गाँव के जानवरों को कहीं चरने का ठिकाना नहीं रह गया है। गाय-बैल ही नहीं रहेंगे तो हमारी खेती क्या होगी? दूध-दही कहाँ से मिलेगा?

आदमी के भोजन के लिए जानवर के भोजन की समस्या को हल

करना होगा। जानवरों को हरा चारा मिलना चाहिये—इस सम्बन्ध में हमें योजना और सतर्कतापूर्वक काम करने की जरूरत है।

(१२)

२०७. जनसंख्या के समान ही भारत को अकाल का देश कहा जाता है। प्रचार यह है कि यह मानसून का देश है,—कभी सूखा पड़ता है, कभी अति वृष्टि से फसलें नष्ट हो जाती हैं।

परन्तु सत्य यह है कि भारत में ज्यों-ज्यों सभ्यता का विकास हुआ है अकालों की गति और भीषणता, दोनों बढ़ती गयी हैं। '४३ का बङ्गाल का अकाल तो दुनिया के सारे इतिहास में अपना कोई नमूना ही नहीं रखता। इससे साफ हो जाता है कि यदि अकालों का कारण केवल मानसून या अन्य प्राकृतिक दोष होता तो रेल, तार, जहाज, यातायात तथा अन्य सरकारी और गैर-सरकारी साधनों की वृद्धि के साथ इसमें कमी होनी चाहिये थी, परन्तु ऐसा हुआ नहीं—क्यों? क्योंकि भारत का आर्थिक गठन ही इस प्रकार से किया गया था कि इसे भूखों मरना पड़े। और अब तक आजाद होकर भी हम लोग आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन के बजाय अनावश्यक वस्तुओं की वृद्धि में लग रहे हैं। विज्ञान का अवैज्ञानिक और प्रकृति का अप्राकृतिक प्रयोग ही हमारा कार्य-क्रम बन गया है, और इसीलिए अन्य देशों के समान ही हमारे रोग और हमारी निरीहता बढ़ती जा रही है। इस गलत दृष्टि का परित्याग करना ही प्रत्येक व्यक्ति का जीवन धर्म होना चाहिये वरना समूह, समाज और राष्ट्र कभी सुखी हो ही नहीं सकता। समाज और देश के दुखी और दुर्बल होने से व्यक्ति कभी सुख पा ही नहीं सकता।

अकाल और उसके कारण

२०८. भारत को अंग्रेजों ने कच्चे माल का उत्पादक बना दिया; यहाँ के सारे उद्योग-धन्धों को उन्होंने नष्ट कर दिया। नतीजा यह हुआ कि अधिकतर लोग तो कोरे अनाज की खेती पर निर्भर हो गये यानी खेत में किसी तरह फसल खड़ी करके काट देना ही उनका काम रह गया। वास्तव में खेती पूरी ही नहीं होती जब तक उसकी सारी प्रक्रियाएँ पूरी न हों। गेहूँ, तेलहन या कपास की खेती के मानी है आटा, तेल और कपड़ा। इन कार्यों के गाँव में न होने से खेती अपूर्ण रह गयी,

ग्रामोद्योगों का अभाव और अकाल

लोग बेकार होकर भूखों मरने लगे। यह बेकार और क्षुधा पीड़ित समुदाय मिल, शहर या सरकारी दफ्तरों की नौकरी पर हिलने-डोलने लगा। स्वतंत्र जीविका का कोई जरिया रहा ही नहीं। यहाँ तक कि गाँवों में तेली तक न रह गये, लोग मिलों के तेल के आश्रित हो गये। आटा और धान की भूसी भी मिलों में छुड़ाई जाने लगी। इस तरह एक ओर तो जमीन इतने लोगों को अन्न देने में असमर्थ होने लगी, दूसरी ओर शहर और कारखानों की तेजी-मंदी के साथ लोग डूबते-उतराते रहे। लोग अपना कच्चा माल अंग्रेजों के हवाले करके उनकी मर्जी पर जीते-मरते रहे।

भारत की राजनीतिक शक्ति बढ़ने पर भी इस हालत में सुधार नहीं हुआ क्योंकि इसे तो कारखानों के लिए कच्चे माल का उत्पादक मात्र बना रखा गया था। गन्ने, जूट, कपास—इन चीजों के उत्पादक और विकास पर जितना जोर दिया गया, अन्नादि पर नहीं। अव्वल तो जूट और गन्ना, गेहूँ या चावल बन कर पेट नहीं भर सकता था और दूसरे जूट और गन्नेवाले भी तो मिलों के ही क्रीत दास रूप स्थित थे।

२०६. ग्रामोद्योगों को पुनर्जीवित करके खेती के बोझ को दूर कर देने की जरूरत है। ग्रामोद्योगों के बिना अन्न पर जो दबाव पड़ता है, वह कम नहीं हो सकता। किसान को कपड़े के लिए, मिट्टी के तेल के लिए, साबुन के लिए—सभी के लिए अन्न को पैसों के भाव पर बेंच देना पड़ता है। यदि खादी, तेल घानी, शहद, साबुन तथा अन्य चीजें गाँव में ही ग्रामोद्योग रूप से तैयार हों तो इनसे किसान को आर्थिक बल भी मिलेगा और अन्न पर का दबाव भी कम हो जायेगा। उसी प्रकार

ग्रामोद्योगों के अभाव से कृषि पर दबाव

यदि किसान को उत्तम प्रकार के बीज आसानी से न मिलें तो अच्छा अन्न पैदा करना किसान के लिए असम्भव हो जायेगा। जब तक अच्छा और काफी अन्न पैदा नहीं होता, खाद्य समस्या हल हो ही नहीं सकती। अतः सिंचाई के लिए, बीज के लिए, सरल और सुगम पंचायती तरीके और महाजनी तथा अन्य क्रय-विक्रय के लिए सहकारिता को सक्रिय बनाने से ही खाद्य समस्या हल होगी।

खाद्य समस्या और सहकारिता

भारत की खाद्य समस्या के सम्बन्ध में खाद्यों की बर्बादी को रोकने की सख्त जरूरत है। बर्बादी कई तरह से हो रही है:—

खाद्यों की बर्बादी

(१) खाद्यों को इस तरह बनाना-खाना कि उनके गुण नष्ट हो जाते हैं जैसे हरी सब्जी को बहुत भूनना, बघारना या मसाला देना। ऐसे तत्वहीन पदार्थ से पेट भर लेने से भूख भले मिट जाये, शरीर को लाभ नहीं होता। इसका सीधा सा मतलब यह है कि उतने से व्यक्ति वंचित रह गया। ऐसे व्यक्तियों के जोड़ का मतलब है राष्ट्र का एक बहुत बड़ा भाग खाद्यों से वंचित हो गया। साग-सब्जी ही नहीं, चावल का धोकर बहा देना, बार-बार ताजी चीजों के लिए खेत या बाजार जाने के डर से एक बार ही खरीद कर रख लेना और खाते रहना, चाहे सूख कर, सड़ कर, उनका गुण विनष्ट हो चुका हो, अच्छा नहीं। ऐसी जो चीज, जितनी भी खायी जाये, शरीर की आवश्यकताओं की उनसे पूर्ति नहीं होती। यानी उतने खाद्य की समस्या खड़ी हो जाती है।

(२) दावतों में पूरी पकवान में अन्न की बर्बादी, लोगों को ठूस-ना। यह सब फौरन रुकना चाहिये।

अगर दावतें देना ही जरूरी हो तो पीछे बताए हुए पेय और नाश्तों से काम लिया जाए, और वह भी कम से कम मात्रा में, कम से कम बार। इस प्रकार खानेवालों को जो कुछ मिलेगा संतुलित होगा, और इधर अन्न तथा चिकने की आवश्यक बचत भी हो जायेगी। जो लोग शुद्ध घी वगैरह नहीं इस्तेमाल करते वे अन्नादि का नाश तो करते ही हैं, खानेवालों को भी मुसीबत में डालते हैं क्योंकि ऐसी चीजें सरासर स्वास्थ्य को खराब करनेवाली होती हैं।

(३) अक्सर घरों में देखा जाता है कि खाना जरूरत से ज्यादा बना लिया जाता है या जबरदस्ती परस दिया जाता है और वह आखिरकार फेंक दिया जाता है। यह देश और समाज, दोनों पर आघात है। देश में जब अन्न की समस्या उत्पन्न हो, उस हालत में एक दाना भी खराब करना जुर्म है। बनानेवाले और खिलानेवाले—सबको सावधान हो जाना चाहिए, वरना सब को पछताना पड़ेगा। खास कर माताओं को बच्चों के भोजन में यह सतर्कता बरतनी चाहिये।

(४) बर्बादी का एक भयंकर रूप सरकारी तरीके हैं। गल्ला रेल की गोदामों में, बन्दरगाहों में, गलता और सड़ता रहता है। जब इतनी मेहनत और इतने खतरे के साथ वह प्राप्त किया जाता है तो उसके सञ्चय और सञ्चालन की पूरी-पूरी व्यवस्था होनी चाहिये। वास्तव में गल्ले को तो इस तरह इकट्ठा ही नहीं करना चाहिये। गल्ले की वसूली की जरूरत

हो सकती है या बाहर से भी अन्न मँगाया जा सकता है, परंतु एक बार उसे केन्द्रित गोदामों में इकट्ठा किया जाये और फिर जहाँ से आया था वहीं बँटने के लिये भेजा जाये—हिमाकत का इससे बड़ा नमूना और क्या हो सकता है ?

गल्ला यदि इकट्ठा ही करना है तो उसे जिले या तहसील की गोदामों में ही रखा जाये ; पंचायतों की गोदामें सबसे सुन्दर साधन बन सकती हैं। रेल के डिब्बे और गोदामों में उन्हें सड़ने का तो मौका न रहेगा।

गोदामें जहाँ हों, वैज्ञानिक तरह की हों, जानकार लोगों की देखरेख में हों ; खराब होने के पहले ही चीजों को इस्तेमाल कर लिया जाये। अच्छी वैज्ञानिक ढंग की गोदामों से अन्न का दुरुपयोग रुक जायेगा यानी हमारे खाद्यान्न का अभाव बहुत कुछ स्वतः दूर हो जायेगा।

अंत में, जो खाना चेष्टाओं के बावजूद बच ही जाये, या जो चीज खराब हो ही जाये, उसे दुधार पशुओं को खिला देना चाहिये ताकि उसका कुछ न कुछ हिस्सा लौट कर दूध के रूप में हमें प्राप्त हो सके।

(१३)

संतुलित भोजन के लिए संतुलित कृषि

२१०. भारत और भोजन के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार करते समय हमें यह स्पष्ट रूप से समझ लेने की जरूरत है कि संतुलित भोजन के लिए संतुलित कृषि परम आवश्यक तो है ही, संतुलित कृषि पर समाज का संतुलन भी निर्भर करता है।

कृषि के समस्यात्मक पहलू पर विचार करते हुए हमने जोर दिया है[१] कि खेती पंचायतों की सलाह और अनुमति (लाइसेन्स) से ही होनी चाहिये यानी कितनी धरती में कितना गेहूँ, कितना तेलहन, कितनी दाल, कितनी कपास और कितना गन्ना पैदा करना है—उसी हिसाब से लोगों को पैदावार का आदेश दिया जायेगा।......इस प्रकार गाँव भर की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो सकेगी......।

यहाँ हम उसी समस्या को समाज संतुलन की दृष्टि से और भी सफाई के साथ समझने की कोशिश करेंगे।

२११. एक आदमी को भोजन में जैसे गेहूँ, जौ, चावल, दाल, दूध,

१. भारत और भोजन, पृष्ठ २२-३७

फल, साग-सब्जी की सम्मिलित आवश्यकता होती है उसी प्रकार उसके परिवार और फिर परिवारों के समूह अर्थात् गाँव भर को इन चीजों की सम्मिलित और समन्वित आवश्यकता होती है। जिन्दगी की इन जरूरी चीजों में से गाँव में जिस चीज की पैदावार न होगी उसे कहीं बाहर से मँगा कर ही कमी को पूरी करनी होगी। जिस हद तक यह कमी होगी और जितनी दिक्कत इस कमी को दूर करने में होगी उतनी ही दूर तक, उतना ही अधिक वह गाँव दूसरों का मुँहताज होगा, यानी उतनी ही उसकी स्वतंत्रता में कमी होगी। स्पष्ट रूप से ध्यान में रखने की जरूरत है कि यह केवल राजनीतिक ही नहीं, मौलिक स्वतंत्रता है। इस मौलिक स्वतंत्रता के अभाव का मतलब है सामाजिक संतुलन का अभाव।

समाज संतुलन का अभाव

२१२. गौर कीजिये। गाँव की १००० एकड़ जमीन में से, गाँव की खाद्यावश्यकताओं का विचार किये बिना ही, केवल पैसों के लिए, ५०० एकड़ या उससे भी अधिक में, गन्ना और मूँगफली जैसी व्यावसायिक चीजें पैदा की जा रही हैं। नतीजा यह होता है कि अन्न के लिए उस गाँववालों को दूसरों का मुँहताज होना पड़ता है। इस मुँहताजी का स्पष्ट अर्थ है जघन्य दासता और घोर केन्द्रीकरण। गन्ना, मूँगफली, जूट आदि जिनकी कारखानों में ही खपत होती है उनकी पैदावार से हमें मिलों की मर्जी पर जीना-मरना पड़ता है। कुछ उत्साही समाजवादी और समूहवादी, सम्भवतः रूस के हवाले से, कहेंगे कि पंचायती (कम्युनिस्ट) राज में ऐसा नहीं होगा क्योंकि वहाँ वास्तविक सत्ता जनता के हाथ में ही रहती है। परन्तु यह तो सफेद झूठ है। सोचिये तो सही! बनारस में मूँगफली पैदा होती है, सूरत में रूई पैदा होती है, बिहार में गन्ना पैदा होता है, बङ्गाल में चावल पैदा होता है, पंजाब में गेहूँ पैदा होता है। और इसी पृथक्कीकरण को विशेषता का रूप देकर उक्त चीजों की उक्त क्षेत्रों में प्रचण्ड पैदावार की जाती है। मान लिया इन सब स्थलों पर उसी एक जनता का राज है। फिर भी एक क्षेत्र को दूसरे स्थल की सुविधा-असुविधा पर हिलना-डोलना पड़ेगा। एक की दिक्कत से दूसरे में दिक्कत पैदा हो जायेगी। इसके अलावा इन सब को सामूहिक और सम्मिलित व्यवस्था के लिए, यहाँ तक कि दैनिक जीवन की छोटी-छोटी बातों के लिए भी एक अत्यन्त जटिल और महँगी केन्द्रीय सरकार की

मुँहताजी का अर्थ है दासता और केन्द्रीकरण

जरूरत अनिवार्य हो जायेगी। केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण, दो ध्रुव के समान एक-दूसरे के विरोधी हैं, एक जड़ है, दूसरा चेतन। चेतन (व्यक्ति) को जड़ (केन्द्र) के इशारे पर नाचना पड़ेगा।

संतुलित कृषि के अभाव में समाज का पारस्परिक विच्छेद

२१३. एक कदम और आगे बढ़िये। जब गाँव की कृषि संतुलित रीति से नहीं होती, जब उसमें स्वसम्पन्नता का विचार नहीं होता तो लोगों की नजर स्वभावतः गाँव से हटकर केन्द्र पर, मौलिक आवश्यकताओं से हट कर मिल और पैसों पर अटक रहती है। परिणामतः गाँव का पारस्परिक तार टूट जाता है। गाँव में कपड़ा बुननेवाले जुलाहे को गाँव के दूसरे किसानों से कोई वास्ता नहीं रह जाता। वह कपड़ा बुनकर कस्बा या शहर के बनिया के हाथ बेंच देता है। गाँव के सुख-दुख, गाँव के रस्म व रिवाज, गाँव वालों के नीति-धर्म से उसे कोई लगाव नहीं रह जाता। उसे अपने पड़ोसी के दर्द का आभास भी नहीं होता। इसीलिये वह गाँव में रह कर गाँव की गाय को काट कर बकरीद की कुर्बानी के नाम से खुश होता है। हिन्दुस्तान में बस कर भी वह पाकिस्तान की हिमायत करता है। हिन्दू-मुसलमान ही नहीं, हिन्दू-हिन्दू भी एक-दूसरे को उसी प्रकार चूसते और सताते हैं क्योंकि उनकी जरूरतों का कोई पारस्परिक सूत्र नहीं रह गया है। और कुल मिलाकर सारे समाज का जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है। समाज का सारा संतुलन ही नष्ट हो जाता है। और इसी सूत्र से आज एक राष्ट्र दूसरे का गुलाम बन रहा है, गुलाम बने रहने के लिए बाध्य हो रहा है, बाध्य किया जा रहा है।

संतुलित कृषि बिना विकेन्द्रीकरण असम्भव

२१४. इसलिए "क्षेत्रस्थ सम्पन्नता" (रीजनल सेल्फ सफीशियन्सी) के आधार पर जब तक "संतुलित कृषि" (बैलेन्स्ड ऐग्रीकल्चर) नहीं होती, भारत के भोजन की समस्या तो हल होगी ही नहीं, देश का सामाजिक संतुलन भी नष्ट हो जायगा। ट्रैक्टर और कारखानों को छोड़ कर हल-बैल और चर्खे ले लेने पर भी हम विकेन्द्रित रामराज से बहुत दूर, केन्द्रवाद के घातक दलदल में फँसकर भ्रष्ट हो जायेंगे।[1]

---

१. किस तरह इस केन्द्रवाद का घातक चक्र हमें हाड़-माँस सहित हड़प रहा है, इसका निम्नलिखित तथ्य से प्रमाण मिल जायगा :— (शेष पृष्ठ २९१ पर)

इस प्रकार हम समझ सकते हैं कि संतुलित भोजन के लिए संतुलित कृषि और संतुलित कृषि के लिए प्रत्येक व्यक्ति की दृष्टि और चेष्टाएं संतुलित होनी चाहिएँ। प्रत्येक व्यक्ति जब तक अपनी आवश्यकताओं को मर्यादित करके उनका संतुलन कायम न करेगा और फिर उनकी पूर्ति के लिए सही और संतुलित ढंग से कोशिश न करेगा, समस्याओं का समाधान होना असम्भव है। आवश्यक अभाव फिर उसके निराकरण के बहाने सरकारी नियंत्रण (कन्ट्रोल) का विनाशक चक्र जो हमारे सामाजिक तन्तुओं को दीमक के समान एक-एक करके चाटता जा रहा है, उसकी जिम्मेदारी से कोई व्यक्ति इन्कार नहीं कर सकता। मतलब यह कि वर्तमान परिस्थितियों को दूर करके विकेन्द्रित आधार पर सही और स्वयं-पूर्ण समाज की स्थापना में प्रत्येक व्यक्ति का अपना स्पष्ट हिस्सा है और सब के जोड़ से ही नवभारत का नव-निर्माण होगा।

(श) भू-दान-यज्ञ और ग्रामोद्योग

२१५. भारत की लगभग ८५ फी सदी जनता गांवों में बसती है। इनके जीवन का सहारा, किसी न किसी रूप में, पृथ्वी यानी कृषि रह गया है।

वस्तुस्थिति

सदियों की गुलामी से त्रस्त जनता में इतना दम नहीं रहा कि वह धरती को कमा कर उर्वरा बनाये; कृषि के साधन भी नष्ट-भ्रष्ट हो चुके हैं। सरकारी सहायता अपर्याप्त सिद्ध हो रही है। लोग खेती से उदासीन और जीवन से निराश हो रहे हैं। ऐसी निराश स्थिति में भारत की वर्तमान भूमि व्यवस्था बाध में दर्द बन रही है। भारत की कुल आबादी की ८२%

जनता जैसा ऊपर कहा गया है, गाँवों में धरती के सहारे टिकी हुई है और विडंबना यह है कि इस विशाल जनसंख्या का लगभग ४५% भूमिहीन हैं। क्या ऐसी हालत में किसी देश की आर्थिक दशा स्थिर रह सकती है? स्वभावतः क्षोभ और हिंसा ने लोगों को पथच्युत और विकास से विमुख कर दिया है।

२१६. देश का हित चिंतन करनेवाला कोई भी व्यक्ति इस दुर्व्यवस्था को सहन नहीं कर सकता। इस दशा को सुधारने के दो ही तरीके हो सकते हैं :—

दो तरीके

(१) जिनके पास जमीनें हैं उनसे जबर्दस्ती छीन कर जिनके पास नहीं हैं उनमें बाँट दी जायें। स्पष्ट है कि इस जोर-जबर्दस्ती में भयंकर हिंसा का आश्रय लेना होगा।

यह जड़वादी तरीका है जिसे रूस और कम्युनिस्टों के साथ जोड़ा जाता है। इस तरीके को जन-क्रांति के नाम पर अमल में लाया गया है परन्तु दुनिया को उससे वास्तविक सुख-शांति प्राप्त नहीं हुई; प्राप्त हो ही नहीं सकती थी। जन-क्रांति का यह तरीका है भी नहीं। वस्तुतः प्रश्न केवल जमीन के वितरण या पुनर्वितरण का ही नहीं, जमीन के आधार पर स्वावलम्बन का है जो केवल जमीनें बाँट देने से ही सिद्ध नहीं होगा।

(२) दूसरा तरीका है संत विनोबा का भू-दान-यज्ञ जिसे उन्होंने अप्रैल, '५१ में तेलंगाना (हैदराबाद) में शुरू किया।

सत्य यह है कि जमीन उसी की है जो उसकी सेवा करे, स्वयं जोते-बोये, कमाये और स्वावलम्बी स्वामित्व पूर्वक जीवन का सुख भोग करे क्योंकि "जमीन पर सब को उसी प्रकार हक है जैसे हवा, पानी और रोशनी पर"। हवा, पानी और प्रकाश पर जिस हद तक व्यक्ति का स्वाधिकार नहीं है, उसी हद तक वह परावलम्बी है। परावलम्बन मानवता के शुद्ध विकास में बाधक होता है।

जमीन पर नैसर्गिक अधिकार

इसीलिए यदि किसी के कब्जे में हजारों बीघा जमीन हो और किसी के पास एक गज भी न हो तो यह सरासर अन्याय है, ऐसा अन्याय जो सारे समाज में घातक विषमता उत्पन्न करेगा, समाज में दुर्व्यवस्था, अशांति और असमृद्धि को जन्म देगा और अंत में मनुष्य के स्वावलम्बन को भी नष्ट कर देगा। इस मौलिक दोष को मिटाकर

समता और स्वावलम्बन स्थापित करने में ही वैयक्तिक और, अंततः, सामूहिक कल्याण है।

परन्तु जोर-जुल्म से लोगों में कायम की हुई समता से हिंसा प्रतिहिंसा और सामाजिक अस्थिरता का प्रजनन होता है। स्वावलम्बन तो किसी हालत में नहीं सधता। इसीलिए विनोबा जी ने जमीन वालों को स्वयं, प्रेमपूर्वक, अपनी फाजिल जमीनें बे जमीन वालों को देकर सामाजिक सुरक्षा और समुत्थान का कारण बनने की सलाह दी है।

२१७. परन्तु दोनों में से किसी भी तरीके से समस्या का स्थायी समाधान प्राप्त नहीं हो सकता। पहला तरीका तो गलत है ही, उसमें पराजय की स्वीकृति है, दूसरे तरीके के बारे में स्वयं, उसके जनक, संत विनोबा ने ही कहा है कि "इससे समस्या हल नहीं होगी; मैं तो केवल हवा पैदा करना चाहता हूँ ताकि लोग समझ जायें कि बे-जमीन और जमीन वालों के बीच की घातक विषमता को देर तक कायम नहीं रखा जा सकता। इस विषमता के मिटते ही समानता के लिए मार्ग प्रशस्त हो जायेगा।

भू-दान-यज्ञ—सामाजिक क्रांति की एक मनोवैज्ञानिक पीठिका

विनोबा जी का भू-दान-यज्ञ कोई स्थायी व्यवस्था नहीं, एक अभूतपूर्व सामाजिक क्रांति की मनोवैज्ञानिक पीठिका है। वस्तुतः इसे सामाजिक क्रांति का त्रिविध सूत्र कहा गया है। स्वयं विनोबा जी कहते हैं कि इसके द्वारा "मैं पहले तुम्हारा हृदय परिवर्तन करूँगा। फिर तुम्हारा जीवन परिवर्तन करूँगा। और बाद में समाज रचना में परिवर्तन लाऊँगा। इस प्रकार तेहरा इन्कलाब, त्रिविध परिवर्तन, मैं तुम्हारे जीवन में देखना चाहता हूँ।"

२१८. जमीन सम्पत्ति का बुनियादी स्रोत है और यदि बुनियाद में ही विषमता हो तो स्पष्ट है कि सारा सामाजिक ढाँचा ही विषमता से व्याप्त रहेगा, सामाजिक समुत्थान की सारी कल्पनाएँ झूठी साबित होंगी, सारी योजनाएँ निष्फल जायेंगी।

पृथ्वी—सम्पत्ति का बुनियादी स्रोत

२१९. पश्चिमी अर्थशास्त्रियों का कहना है कि सभी खेती करें,

यह जरूरी नहीं। हम भी यह नहीं कहते कि सभी खेती पर आधारित रहें। परन्तु इसका यह भी मतलब नहीं हो सकता कि कुछ थोड़े से लोग हजारों-लाखों एकड़ के चक लेकर बैठ रहें और बाकी लोग उनकी मजदूरी में क्रीत दास के समान जीवन-यातना में नित्य-निरंतर घुल-घुल कर प्राण गँवाते रहें। पहली बात तो यही बनती है कि मालिक संचालक के रूप में हों या मजदूर के रूप में, जमीन पर काम करने-वालों का उस पर समान हक होना चाहिये। इससे भी बड़ी बात यह है कि अन्न प्राणी की प्रथम आवश्यकता है, जीवन की बुनियादी जरूरत है, और इसी को कुछ थोड़े से लोगों के हाथों में केन्द्रित और संगठित करके उसे समाज की पहुँच से दूर कर देना समाज की स्वतंत्रता, समाज के अस्तित्व पर ही कुठाराघात करना है। इसीलिए सामूहिक कृषि की पश्चिमी कल्पना, स्पष्टतः जड़ता की जननी सिद्ध हुई है। हम वैयक्तिक स्वच्छंदता के हामी नहीं हैं, हम हर्गिज नहीं चाहते कि हर शख्स की मनमानी में समाज टक्कर खाता फिरे परन्तु यह भी तो नहीं हो सकता कि व्यक्ति की चेतना, व्यक्ति का व्यक्तित्व ही खतम कर दिया जाये। व्यक्ति की स्वचेष्टाएँ, व्यक्ति का व्यक्तित्व, योजना आयोग के पुरस्कारों की मदद से जिंदा नहीं रखा जा सकता। व्यक्ति और समाज का सजीव और साक्षात् सम्बन्ध होना चाहिये, दोनों का पारस्परिक आदान-प्रदान होना चाहिये।

पृथ्वी—व्यक्ति और समूह

२२०. हम गत अध्याय में "क्षेत्रस्थ सम्पन्नता" और "संतुलित कृषि" पर विचार कर चुके हैं। समस्या का वास्तविक हल वहीं प्राप्त होगा। उसे नजर में रखते हुए जब हम भू-दान-यज्ञ पर विचार करते हैं तो पहला प्रश्न होता है कि आखिर "आर्थिक पर्याप्त" ("एकॉनॉमिक होल्डिंग") किसे कहा जाये? कम से कम कितनी जमीन प्रत्येक के पास होनी चाहिये? विनोबा जी ने एक परिवार के लिए ५ एकड़ खुश्क या १ एकड़ तर जमीन की सीमा बाँधी है।

"आर्थिक पर्याप्त"

विनोबा जी भूदान को दान नहीं, हक जरूर कहते हैं, पर वहाँ दाता की स्वेच्छा और कुल जमीन की मात्रा, यही दो निर्णायक प्रश्न बनते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को ५० एकड़ चाहिये, ऐसा कह देने से ही काम तो चलेगा नहीं। मान भी लें कि सभी जमीनवाले अपनी सारी जमीनें छोड़ दें तो

क्या वह सबके लिए प्रति व्यक्ति ५० एकड़ बन जायेगी ? इतनी जमीन आयेगी कहाँ से ? जमीन कोई रबड़ है नहीं जिसे खींच कर लम्बी कर दी जाये। इन बातों को देखते हुए, जमीनें छीन कर ली जायें या दान में प्राप्त हों, भूमि वितरण के लिए कम से कम पर हद बाँध कर ही योजना बनानी होगी, अधिक से अधिक यानी 'सीलिंग' वाली कल्पना अव्यावहारिक और घातक सिद्ध होगी।

अब प्रश्न उठता है कि इस तरह जो हद हम कायम करते हैं क्या वह आर्थिक दृष्टि से पर्याप्त है ? इस प्रश्न को, खुलासे के लिए कई टुकड़ों में बाँटना होगा—

(१) क्या कोई व्यक्ति केवल ५ एकड़ लेकर पारिवारिक तुष्टि और राष्ट्रीय समुन्नति को संभव बना सकता है ?

(२) इस प्रकार देश को असंख्य छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँट देना क्या आर्थिक दृष्टि से हितकर है ?

(३) क्या गाँव में बसनेवाले सभी लोगों का जमीन पर हक है और जो भी जमीन माँगे, उसे जमीन मिलनी ही चाहिये ?—इस प्रकार जमीन के, छोटे से छोटे, चाहे जितने भी टुकड़े क्यों न हो जायें ?

हम अन्तिम प्रश्न को सबसे पहले लेंगे। यह सिद्धांततः उचित और व्यवहारतः आवश्यक है कि एक गाँव में जितने परिवार आबाद हैं, उन सब का गाँव की कुल जमीन, कुल सम्पत्ति और साधनों पर, समान अधिकार हो। इसलिए गाँवों में बसनेवाले परिवारों को जो स्वयं खेती कर सकते हैं और खेती करें, उन्हें खेती के लिए जमीन मिलनी ही चाहिये। गाँव की कुल जमीन का जब तक समान रूप से बँटवारा नहीं हो जाता, और इस समीकरण में यदि जोर-जुल्म, हिंसा और बर्बरता के दुष्परिणामों से हम दूर रहना चाहते हैं, तो हमें बँटवारे की न्यूनतम हद कायम करनी ही होगी और वह है विनोबा जी का एक एकड़ तर या पाँच एकड़ खुश्क। जहाँ तक भू-दान और भूमि-वितरण का प्रश्न है, विनोबा जी ने इसे बिल्कुल साफ कर दिया है—

"यह मैं चाहता हूँ कि जो भी जमीन पर परिश्रम करके रोटी कमाना चाहे, उसे जमीन दी जाये।······लेकिन जमीन तकसीम करने के सम्बन्ध में मैंने···साफ कर दिया था कि बढ़ई, बुनकर, लोहार आदि जिनके पास जीविका के अन्य साधन हैं उन्हें हम जमीन नहीं देनेवाले हैं।······अगर

हर बे-जमीन को हम जमीन देना चाहें तो प्रधान मंत्री भी जमीन माँग सकते हैं।......"

इससे प्रकट है कि जमीन उसी को मिलेगी जो खेती अच्छी तरह जानता है, अच्छी तरह करना चाहता है और जिसके पास रोजी का दूसरा जरिया नहीं है।

इतना तय हो जाने के बाद, स्वभावतः, हमारे सामने पहला प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या इतने से प्रत्येक परिवार का काम चल जायेगा ? स्पष्ट है कि जब हम जमीन की न्यूनतम सीमा कायम करते हैं तो परिवार की अधिकतम संख्या भी हमारे सामने होगी। परिवार यदि बहुत बड़ा है और उसके पास कुछ भी जमीन नहीं है तो न्यूनतम जमीन को लेकर उसे केवल अन्न और वस्त्र का साधन बनाना होगा,—अन्न और वस्त्र की कमी अथवा परिवार की अन्य आवश्यकताओं के लिए अन्य ग्रामोद्योगों का सहारा लेना होगा जो स्थानीय एवं सहयोगी आधार पर चलेंगे।[1]

हमारी योजना में जोर-जबर्दस्ती को स्थान नहीं है, इसलिए यहीं यह भी तय हो जाता है कि किसी के पास कुछ कम जमीन और कम साधन हो सकते हैं और किसी के पास जरूरत से ज्यादा भी हो सकता है। पिछले अध्यायों में "आवश्यक" और "अतिरिक्त" आय पर विचार करते हुए स्पष्ट किया जा चुका है कि "अतिरिक्त आय" समाज की है, उसी प्रकार समाज को अपने प्रत्येक सदस्य की आवश्यकता की पूर्ति के लिए उसे साधन-युक्त और कार्यशील बनाने की जिम्मेदारी लेनी होगी। इस कमी-बेशी की सारी व्यवस्था में गाँव पञ्चायत और परिवार का माध्यम ही श्रेष्ठ माना जायेगा।

अब प्रश्न यह होता है कि क्या भू-दान योजना में मिले हुए छोटे-छोटे टुकड़े आर्थिक दृष्टि से "पर्याप्त" (एकॉनॉमिक होल्डिंग). होंगे ? विरोधियों का यह भी कहना है कि बैल, कूएँ, तथा अन्य साधनों के बिना

---

१. सामूहिक कृषि और सहयोगी एवं सम्मिलित कृषि में भेद है। समूहवादी पद्धति जड़-वादी है जिसमें केन्द्रित ढंग से, कुछ संचालक विशेष के इशारों पर, शेष सारा समूह, स्वचेतना और स्वचेष्टा से शून्य होकर काम करता है। इसके विरुद्ध सम्मिलित एवं सहयोगी कृषि है जिसमें सारा समूह पारस्परिक सहयोग के साथ सम्मिलित रूप से काम करता है, जिसमें वैयक्तिक चेतना और स्वचेष्टाओं को पूरा-पूरा अवसर प्राप्त होता है। समूहवादी तरीकों के विरुद्ध सम्मिलित एवं सहयोगी कृषि के लिए भी "सामूहिक" शब्द का प्रयोग होता है। परन्तु उपर्युक्त भेद को हमें सावधानी पूर्वक ध्यान में रखना होगा।

सफल और सम्पन्न खेती नहीं हो सकती और पाँच एकड़ या एक एकड़ की खेती पर एक जोड़ी बैल या अन्य उपर्युक्त साधनों का भार वहन नहीं किया जा सकता। पहली बात तो यह है कि एक के बजाय कई परिवार साधनों का सम्मिलित एवं सहयोगी उपयोग करेंगे। एक कूएँ से कई खेतों की सिंचाई और एक जोड़ी बैल से कई की जोताई-बोआई हो सकती है। इसके अलावा चीन और जापान ने ज़मीन के छोटे से छोटे टुकड़ों को लेकर, बिना हल-बैल, खेती का उच्चतम मान स्थापित किया है। खेती केवल बैलों से ही नहीं, कुदाल और फावड़ों से भी की जाती है। इन तरीकों से केवल खेती हुई है सो बात नहीं, राष्ट्रीय उपज का श्रेष्ठतम मान भी स्थापित किया गया है। कल तक जो चीन भूख और रोग का शिकार था आज वह इन्हीं तरीकों से सुखी और अन्न-सम्पन्न है। कल का अभावग्रस्त चीन आज भारत जैसे कभी के अन्नसम्पन्न देश की क्षुधा निवारण के लिए अन्न देने जा रहा है। जापान जैसा पथरीला देश भी छोटे-छोटे टुकड़ों में कुदाल-फावड़ों से खेती करके आज भारतीय अन्नाभाव से मुक्त है।[1] स्वयं विनोबा जी ने अपने पावनार आश्रम में इसका सफल नमूना पेश किया है। युद्धग्रस्त इङ्गलैण्ड ने "फावड़ों की खेती" (हार्वेस्ट आव् द स्पेड) से राष्ट्र की खाद्य समस्या को हल करने

---

१. चीन और जापान का उल्लेख करते समय हमारा लक्ष्य केवल उनके साम्पत्तिक परिमाण पर ही है। परन्तु साम्पत्तिक उत्पादन में जहाँ समाज-दर्शन (Social Philosophy) का प्रश्न उठता है वहाँ गांधी विचारधारा की रचनात्मक पद्धति उन सबसे बिल्कुल अलग, अपना स्वतन्त्र स्वरूप प्रकट करती है, इसे ध्यान में रखने की जरूरत है। गांधी विचार-धारा में "विकेन्द्रीकरण" और "स्वावलम्बन", दो सूत्रात्मक शब्द आते हैं। यहाँ ये दोनों शब्द अन्योन्याश्रित भी माने जाते हैं। आज औद्योगिक देशों में भी "विकेन्द्रीकरण" की गर्म चर्चा है। इसका वहाँ केवल इतना ही अर्थ समझा जाता है कि बड़े-बड़े उद्योग और कारखानों का किसी एक स्थान पर संगठित और केन्द्रित रूप से काम न चला कर उन्हें अलग-अलग स्थानों में टुकड़े-टुकड़े करके चलाया जाये; चूँकि यह केन्द्र में नहीं रहा इसलिए इसे अब केन्द्रित के विरुद्ध विकेन्द्रित नाम दिया जाता है। परन्तु गांधी का 'विकेन्द्रीकरण' इससे बहुत आगे, बिल्कुल अलग की चीज है। "औद्योगिक विकेन्द्रीकरण" और "रचनात्मक (गान्धी) विकेन्द्रीकरण" में अन्तर यह है कि एक विकेन्द्रित होकर भी किसी एक केन्द्र से ही जीवन और गति प्राप्त करता है, किसी एक केन्द्र के ही नियन्त्रण में रहता है, जब कि गान्धी के विकेन्द्रीकरण में स्वावलम्बन और चैतन्य स्वसम्पन्नता पहली शर्त है। रचनात्मक विकेन्द्रीकरण में संपुष्ट इकाइयों के योग से ही किसी सुदृढ़ केन्द्र का रूप स्थिर होता है, किसी सर्वग्राही केन्द्र के बल से निर्जीव, निःस्व, इकाइयों का परिचालन नहीं होता। (पृ० २६८ पर)

की चेष्टा की थी। (देखें "अन्नपूर्णा", स० सा० सं०) वस्तुतः केवल जमीन की लम्बाई पर "आर्थिक पर्याप्त" की हद नहीं कायम की जा सकती, इसके साथ और भी अनेकों विचारणीय प्रश्न हैं। ३० गज × ६० गज का टुकड़ा पर्याप्त हो सकता है जब कि १०० एकड़ भी अपर्याप्त हो सकता है। इसका भी किशोरलाल भाई ने बहुत ही स्पष्ट रूप से 'हरिजन' में खुलासा किया है।

२२१. आज संसार के सामने अन्नोत्पादन की विकट समस्या उपस्थित है। अमेरिकी कृषि विभाग के प्रसिद्ध भू-वेत्ता, डा० चार्ल्स ई० केलॉग का अनुमान है कि संसार में इस समय दो अरब तीस करोड़ (२३००००००००) एकड़ भूमि अन्नोत्पादन के काम के लिए खाली पड़ी है। इस विशाल भू-खण्ड पर छोटे-छोटे परिवारों को बसा कर आसानी के साथ संसार की अन्न समस्या को हल किया जा सकता है और साथ ही साथ संसार की बेकारी की समस्या का समाधान भी प्राप्त हो सकता है। भारत के योजना आयोग का विचार है कि लगभग दस करोड़ (१०००००००) किसानों को खेती से अलग करके दूसरे धन्धों में लगाने की जरूरत है जो असम्भव सा ही मालूम होता है। इसका हल विनोबा जी के भू-दान-यज्ञ और स्वावलम्बी साम्ययोग में प्राप्त होगा। यहाँ भोजन की गारण्टी और सबके लिए पूरे काम की व्यवस्था है।

सबको काम मिलना चाहिये

विडम्बना तो यह है कि आज देश में एक ओर भयंकर बेकारी और दूसरी ओर भूख और अभाव की बढ़ती हुई पेचीदगियों ने हमारे ऊपर दुहरी जिम्मेदारी लाद दी है—लोगों को पूरा काम और भरपेट भोजन मिलना चाहिये। यही ईमानदारी और नैतिकता है, यही सच्ची राजनीति

रचनात्मक पद्धति में उद्योग धन्धे स्वावलम्बी और स्व-सम्पन्न होते हैं, केन्द्रों के विक्रय या वितरण भण्डार (Sale or Distributing depots) नहीं होते। इसीलिए 'विकेन्द्रीकरण' होते हुए भी वहाँ लोकशाही और जन-शक्ति के बजाय तानाशाही (totalitarianism) और 'कटरे' (Regimentation) की सत्ता रहती है। वहाँ मनुष्यों को कल-पुर्जों और पशुओं के समान चलाया और हाँका जाता है, परन्तु रचनात्मक पद्धति में प्रत्येक व्यक्ति स्वावलम्बी और समर्थ होने के कारण कुल का एक चेतन इकाई बनता है।

जमीन के पुनर्वितरण की पाश्चात्य कल्पना और भू-दान-यज्ञ की रचनात्मक पीठिका में भी यही सैद्धांतिक अन्तर है। चीन और जापान की भूमि समस्या को समझते हुए इस बात को ध्यान में रखना होगा।

और शुद्ध अर्थशास्त्र है। किसी भी योजना की यही कसौटी साबित होगी। परन्तु भारत के योजना आयोग का कथोपकथन यह है कि हम सब को पूरा काम देने की जिम्मेदारी नहीं ले सकते। जिस योजना में लोगों को काम देने की भी व्यवस्था न हो वह योजना नहीं, मजाक है।

कृषि और ग्रामोद्योग का अटूट संबंध है

२२२. हम पुस्तक के पिछले भागों में ग्रामोद्योग की रूपरेखा पर विचार कर चुके हैं। यहाँ केवल इतना ही कहना है कि कृषि और ग्रामोद्योगों का अटूट सम्बन्ध है। प्रत्येक गाँव में जरूरत की चीजों का उत्पादन होना चाहिये। प्रत्येक घर गृह उद्योग में लगा होगा; खेती की कमी को इन उद्योगों से ही पूरा किया जायेगा। गाँव का कोई भी कच्चा माल, यथासम्भव, कच्ची हालत में गाँव से बाहर न जा सकेगा। गाँव में वे ही चीजें बाहर से आ सकेंगी जो स्वयं गाँव में तैयार नहीं होतीं या जिन्हें मँगाने के लिए कोई असाधारण कारण हो। सारे गाँव का आयात-निर्यात ग्राम पञ्चायितों के द्वारा ही होगा और पञ्चायतों के "वस्तु-विनिमय-बैंक" के माध्यम से प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करेगा।

मिल बहिष्कार

२२३. ग्रामोद्योगों को पुनर्जीवित करने के लिए गाँवों में मिलें हर्गिज न रहने पायेंगी। वस्त्र एवं खाद्य सामग्री के लिए तो मिलों की कोई भी वस्तु कोई ग्रामवासी न इस्तेमाल कर सकेगा। इस तरह मिल बहिष्कार ग्रामोद्योग की बुनियादी शर्त है। स्पष्टतः कृषि के लिए ग्रामोद्योग और ग्रामोद्योगों के लिए व्यक्ति-प्रधान कृषि अनिवार्य है। इसीलिए कृषि और ग्रामोद्योगों को विनोबा जी 'सीता-राम' कहते हैं।

इस तरह जब हम व्यक्ति-प्रधान कृषि के साथ ग्रामोद्योगों की सजीव शृङ्खला खड़ी करेंगे तो भारत में पुनः दूध की नदियाँ बहने लगेंगी, लोग हँसी-खुशी सबल और सम्पन्न राष्ट्र का रूप धारण कर सकेंगे। इसी में भू-दान-यज्ञ की सफलता निहित है। और इस यज्ञ की सफलता पर ही हमारी सम्पूर्ण रचनात्मक पद्धति की नींव पड़नेवाली है। यह अर्थशास्त्र का एक युगान्तरकारी कदम है। इससे विश्व में समता और समानता के नव-प्रयोगों को प्रेरणा मिलेगी।

२२४. पिछले अध्यायों में उद्योग-धन्धों पर विचार करते हुए हम काफी खुलासे के साथ लिख चुके हैं। यहाँ उन्हीं में से दो खास बातों को फिर से दुहरा देने की जरूरत है—

औद्योगिक उत्पादन की दो प्रमुख शर्तें

(१) हम गाँवों की पुनर्रचना और समुत्थान के लिए प्रत्येक सुलभ साधन का सदुपयोग करेंगे; हम मशीनों का भी उपयोग करेंगे, परन्तु उन्हीं शर्तों के साथ जिनका हम उल्लेख कर चुके हैं।

(२) हमारे खाद्य तथा औद्योगिक उत्पादनों का लक्ष्य केवल पेट भरना या स्वार्थ-सिद्धि तक ही सीमित रहेगा, ऐसी बात नहीं। हम अपने उत्पादन में पर्याप्त आधिक्य कायम करना चाहते हैं ताकि आवश्यकतानुसार देशी और विदेशी व्यापार भी चलाये जा सकें। परन्तु ध्यान में रखने की बात यही है कि हम विभिन्न वर्गों या देशों के 'मान' (स्टैन्डर्ड्स) की अन्तर्पूर्ति के लिए उत्पादन नहीं करेंगे। कहने का मतलब यह है कि दिन में दर्जनों पोशाक बदलने के लिए, खिड़की, मेज़, और दीवारों को ढकने के लिए, अमीरों के जूतों के नीचे ज़मीन पर फैलाने के लिए या ऐसे ही कामों के लिए स्वयं अधनंगे रहकर वस्त्रोत्पादन के हम कायल नहीं हैं। जिन लोगों को दो वक्त भोजन भी मुयस्सर नहीं, उनसे इसलिए अधिक अन्न उपजाओ नहीं कहा जा सकता कि तरह-तरह के और दिन में कई बार खानेवालों को सप्लाई करना है।

(५) यातायात

२२५. आज हम देखते हैं कि अमेरिका के चिड़ियाघरों को भारत से हवाई जहाज द्वारा हाथी पहुँचाये जाते हैं। यह साधनों का दुरुपयोग है। इसी प्रकार जंगली लकड़ियों को जल्द से जल्द शहरों में ढेर कर देने के लिए रेल के डिब्बों और मोटरों को काबू कर लेने के लिए गलत और सही तरीके इस्तेमाल हो रहे हैं। इन सारी बातों को देखते हुए हमें इस सम्बन्ध में अपनी नीति को स्पष्ट कर देने की जरूरत है क्योंकि राष्ट्रीय गति-विधि के साथ ही कृषि, व्यापार तथा उद्योग-धन्धों का दारोमदार इसी पर है।

स्पष्ट नीति की जरूरत

हम रेल चाहते हैं, हवाई जहाज चाहते हैं, अच्छी-चौड़ी सड़कें चाहते हैं, सब कुछ चाहते हैं, पर यह हर्गिज नहीं चाहते कि रेल, मोटर और हवाई जहाजों के कारखानों की बढ़ोत्तरी को कायम रखने के लिए ही हम इन सवारियों के इस्तेमाल को बढ़ाते जायें। हिन्दुस्तान में पैदा होनेवाला फल यदि हवाई जहाज से इङ्गलैण्ड पहुँचाया जाये तो बात समझ में आ सकती है क्योंकि जल मार्ग की लम्बी यात्रा में वह मन्तव्य स्थान तक पहुँच न पायेगा; हम यह भी समझ सकते हैं कि काश्मीर के मोर्चे पर चटपट सैनिक उतार देने के लिए हवाई जहाजों का इस्तेमाल आवश्यक होगा, परन्तु हिन्दुस्तान का हाथी अमेरिका के चिड़िया घर में हवाई जहाज से पहुँचाये जायें, हिमालय के लकड़ी के लट्ठे भी हवाई जहाजों द्वारा ढोये जायें, या सैर-तफरीह के लिए भी हम पार्सलों की तरह बंद गाड़ियों या हवाई जहाजों में एक स्थान से दूसरे स्थान पर झट से जा बैठने की कोशिश करें—समझ में आता नहीं। यह केवल अनावश्यक जल्दी का ही सवाल नहीं है; इस तरह हम बैल और गाड़ीवान तथा समुद्री जहाजों में लगनेवाले मनुष्य समुदाय का काम छीन कर निर्जीव मशीनों को देते हैं। कुछ वर्ष पहले बनारस में सुन्दर बैलगाड़ियाँ और इक्के सुलभ थे, कितने ही लोग उनके सहारे जीते और पलते थे। परन्तु आज शहर से इक्के-ताँगे गायब हो चुके हैं, बैल गाड़ियों की संख्या भी सीमित ही रह गयी है। अब घोड़ों के बजाय आदमी घोड़े की शकल में रिकशे खींच रहा है। यह आदमी जानवर से भी बदतर हालत में है। यदि इस दुर्दशा को रोकना है, यदि चेतन सृष्टि को कलमय जड़ता के हवनकुण्ड में लोप हो जाने से रोकना है तो हमें सवारी और यातयात सम्बन्धी नीति को फिर से कायम करना होगा।

गलत दृष्टि के अलावा इसका आर्थिक पहलू भी हानिकारक ही प्रतीत होता है—रेल-डिपो और हवाई अड्डों में मिल और कारखानों के समान ही देश की धरती का बहुत बड़ा भाग बर्बाद हो रहा है। यह देश की छाती पर बोझ है। इसलिए रेल और हवाई मार्ग के अनावश्यक विस्तार को यथासम्भव कम करना होगा। इसके बदले सड़क और जल मार्ग के उपयोग को आवश्यकतानुसार बढ़ाना चाहिये। यहीं यह साफ होना चाहिये कि किस काम में मोटर, किस काम में बैलगाड़ी और किस काम में रेल या हवाई जहाज का उपयोग होगा।

२२६. सड़कों के किनारे फलदार वृक्षों तथा ग्रामोद्योग भण्डारों की स्थापना होनी चाहिये। इनसे मिलनेवाले लाभ से सम्बद्ध क्षेत्र के स्वास्थ्य और शिक्षा का काम चलाया जा सकता है। इन राजमार्गों के निर्माण और सुरक्षा में केन्द्र द्वारा सम्बद्ध क्षेत्रों का सहयोग प्राप्त करने की व्यवस्था की जा सकती है।

सड़कों के किनारे—फलदार वृक्ष, ग्रामोद्योग भण्डार, मार्ग कर

कृषि और ग्रामोद्योग में लगनेवाली सवारियों पर मार्ग कर (Vehicle tax) न लगना चाहिये।

२२७. यातायात सम्बन्धी राष्ट्रीय नीति को भी स्पष्ट रूप से निर्धारित कर देने की जरूरत है। इसके बिना चारों ओर दुर्व्यवस्था और कठिनाइयाँ बढ़ती जा रही हैं। हम देखते हैं कि अभावग्रस्त क्षेत्रों में खाद्य सामग्री अथवा पशुओं के लिए चारे की तत्काल आवश्यकता है परन्तु बहुधा प्राप्ति स्थानों से चीजें समय पर नहीं पहुँच पातीं जब कि लखनऊ से नैनीताल सरकारी हवाखोरी के लिए सैकड़ों परिवारों की ढुलाई में गाड़ियाँ और मोटरें लगी रहती हैं। कब, किस काम के लिए, किस सवारी का उपयोग और सुविधा होनी चाहिये—इसकी स्पष्ट नीति होनी चाहिये।

राष्ट्रीय नीति

यह हमारे आये दिन का अनुभव है कि जीवनावश्यकताओं को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने में जितनी दिक्कत और खर्च होता है वह कल-पुर्जे, व्यापारी अथवा विलास सामग्रियों के आयात-निर्यात में नहीं होती। यह नीति उस विदेशी हुकूमत की थी जो अपने व्यापार के लिए ही भारत पर राज करती थी और उसी विदेशी व्यापार की दृष्टि से ही यहाँ की यातायात नीति निर्धारित हुई थी। उस नीति में आमूल परिवर्तनकरना है।

२२८. भारत की यातायात नीति ऐसी होनी चाहिये जिससे ग्रामोद्योगों को न कि न्यूयार्क, लण्डन, बम्बई, अहमदाबाद, दिल्ली या कलकत्ता के उद्योगपतियों को जीवन प्राप्त हो। स्पष्ट है कि भारत का ८५% गाँव है। इसलिए भारतीय यातायात में ८५% गाँवों का हिस्सा होना चाहिये, गाँवों की सुविधा और ग्रामोद्योगों की समृद्धि का विधान होना चाहिये। मशीनोत्पादित पदार्थों का भाड़ा बढ़ा देना चाहिये, सुविधाएँ आवश्यकतानुसार घटा देनी चाहियें और उसी अनुपात से ग्रामोद्योगी वस्तुओं को राहत मिलनी चाहिये।

यातायात नीति और ग्रामोद्योग

कितना दुःखद उपहास है कि जिन गाँवों को लेकर आज भारत विश्व का एक सबल राष्ट्र बनने का दावा करता है वे ही ग्रामीण गाड़ियों में भेड़ बकरियों की तरह ठुसे चलते हैं, पायदानों पर चमगादड़ों की तरह लटकते हुए या छतों पर धूप, वर्षा और कड़ी सर्दी में भी बन्दरों की तरह बैठ जाते हैं परन्तु उसी गाड़ी के बहुत बड़े भाग में थोड़े से मुलायम बदन लोग विलासितापूर्ण यात्रा का सुखोपभोग करते हुए देखे जाते हैं। जब तक हमारी यह यातायात नीति न बदलेगी, देश में शान्ति और व्यवस्था के बजाय अशांति और हिंसा की वृद्धि होगी। हमारी आर्थिक प्रगति असंभव साबित होगी,—८५ को दबा कर १५ को मोटा बनाने का मतलब मोटी अकल वाला भी समझ सकता है। वह अच्छी तरह समझ सकता है कि दिल्ली और लखनऊ में भव्य और विशाल सड़कें क्यों और क्योंकर बनती हैं जब कि गाँवों में चलने को रास्ते भी नहीं हैं।

दुखद उपहास

यह सब हमने केवल दिशा निर्देश के लिए लिखा है, तफसील तय करने की यहाँ जरूरत नहीं है। हम देखते हैं कि आज देश की अपार शक्ति और सम्पत्ति इन सड़क और राजमार्गों के पीछे बर्बाद हो रही है फिर भी देश का जीवन इनकी लपेट में फँसा हुआ कराह रहा है। इसलिये जरूरी है कि हमारी नीति स्पष्ट हो ताकि मार्ग के रोड़े दूर किये जा सकें और देश को गतिशील और जीवमान होने का मौका मिले।

(स) शिक्षा : नयी तालीम

(मनुष्य की पाँच मूलभूत आवश्यकताएँ हैं—अन्न, वस्त्र, निवास, स्वास्थ्य और शिक्षा। शिक्षा अंतिम परन्तु सब से अधिक महत्त्वपूर्ण विषय है। गांधी जी की शिक्षा पद्धति समाज के सारे आर्थिक ढांचे को बदल देनेवाली है। धीरेन भाई ने अपनी 'नयी तालीम' में इसका अधिकारी एवं सुरुचि पूर्ण विवेचन किया है। यह अध्याय उसी पुस्तक से लिया गया है। जैसी समाज रचना हो, उसकी शिक्षण प्रणाली भी वैसी ही होती है। इस तरह सर्वोदय समाज के लिए गांधी जी की शिक्षा योजना अनिवार्यतः आवश्यक तो है ही, परन्तु देश की वर्तमान स्थिति में, जब कि हमारी शिक्षा पद्धति के कारण ही घातक बेकारी की दिन दूनी, रात चौगुनी, वृद्धि हो रही है, एक रचनात्मक शिक्षण पद्धति की संकटकालीन आवश्यकता भी उपस्थित हो गयी है।)

(१)

२२९. 'नयी तालीम' द्वारा गांधी जी वास्तविक जन-तंत्र की स्थापना करना चाहते थे। विकेन्द्रीकरण के आधार पर स्वावलम्बी समाज की योजना जन-तंत्र के इतिहास में एक बड़ी क्रान्तिकारी कल्पना है और शासन-यन्त्र से तानाशाही के भय को दूर रखने का केवल यही एकमात्र उपाय है। लेकिन सिर्फ राजनीतिक स्वराज्य से ही समाज का संतुलन कायम नहीं हो सकता। इतिहास को देखने से पता चलता है कि एकांगी क्रान्ति से प्रजा कभी अपना उद्देश्य सिद्ध नहीं कर पायी है। इसलिए यह आवश्यक है कि जनता अपने आदर्श पर पहुँचने के लिए और फिर उस आदर्श पर स्थायी रूप से कायम रहने के लिए सभी क्षेत्र में सर्वांगीण क्रान्ति करें, और हर क्षेत्र की वही दिशा होनी चाहिये। इस बात पर जोर देने की आवश्यकता इसलिए है कि प्रायः जोश में आकर क्रान्तिकारी लोग सर्वांगीण दृष्टि और क्षेत्र सामंजस्य की बात भूल जाते हैं और विभिन्न क्षेत्र के लिए विभिन्न दिशा में कदम उठाते हैं। यही कारण है कि गांधी जी शुरू से ही राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक, सभी क्षेत्र में एक साथ क्रान्तिकारी आन्दोलन करते रहे। परन्तु देश ने केवल राजनीतिक दिशा में चलकर सिर्फ राजनीतिक मुक्ति पाई और बाकी दो दिशाएँ शून्य ही रह गयीं। लोगों ने इस बात पर गौर नहीं किया कि 'सन् २१ से ही गांधी जी असहयोग और सत्याग्रह द्वारा अंग्रेजी सल्तनत से लड़ते हुए रचनात्मक कार्यक्रम पर अत्यधिक जोर देते रहे और जनता का ध्यान आर्थिक तथा सामाजिक क्रान्ति की ओर अंतिम क्षण तक खींचते गये। एक ओर तो वे राजनीतिक क्षेत्र में एक नये ढँग की क्रान्ति द्वारा एक नया राजनीतिक ढाँचा कायम करना चाहते थे और दूसरी ओर वे नयी तालीम यानी नव शिक्षा के द्वारा संसार के वर्तमान आर्थिक और सामाजिक ढाँचे में आमूल परिवर्तन करके उसे स्थायी रूप से शोषणहीन यानी अहिंसात्मक रूप देने की चेष्टा कर रहे थे। अतएव यह आवश्यक है कि हम नयी तालीम के आर्थिक और सामाजिकक आधार पर भी ठीक से विचार कर लें।

सर्वांगीण क्रान्ति

२३०. पहले समाज की व्यवस्था वर्तमान जैसी जटिल नहीं थी।

पहले मनुष्य प्रकृति की गोद में रमता था। प्रकृति माता के अंचल में जो कुछ आसानी के साथ मिल जाता था मनुष्य उसी में सन्तोष कर लेता था। फिर श्रम और समय लगाकर अपनी साधारण बुद्धि के द्वारा वह कुछ पैदा करने लगा। इस प्रकार उसने कृषि, पशु-पालन और उद्योग के द्वारा अपने उपभोग्य सामग्री के दायरे का विस्तार किया। धीरे-धीरे जब उसने देखा कि प्रकृति के अनन्त साधनों को उपयोग में लगाने से जिन्दगी में अधिक आराम और सुख मिल सकता है तो उसकी तृष्णा बढ़ने लगी; उसका संतोष खतम हो गया; वह अधिकाधिक पैदा करने की फिकर में पड़ गया और उसने तरह-तरह के उत्पादन यन्त्रों की सृष्टि की। यन्त्रों के आविष्कार से मानव-समाज में भिन्न-भिन्न वस्तुओं को प्राप्त करने की लालसा तीव्र हो उठी। और इस लालसा को तृप्त करने के लिए लोग यन्त्रों के आकार और प्रकार को अधिकाधिक विशाल और जटिल बनाते गये। भाप, बिजली—तरह तरह की शक्तियों को इस्तेमाल करने के तरीके निकले और उत्पादन के तरीकों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। परिवर्तनों ने नये परिवर्तनों को जन्म दिया और यन्त्र दिनोंदिन विशालतर होते गये।

उत्पादन यन्त्रों का विस्तार

•

उत्पादन के साधन और समाज व्यवस्था

२३१. समाज की व्यवस्था उत्पादन के तरीकों पर निर्भर करती है और उत्पादन के तरीके उसके साधनों के स्वरूप से ही बनते हैं। अतः यंत्रों की जटिलता और विशालता के कारण उत्पादन के तरीके जटिल और केन्द्रित हुए और फिर समाज-व्यवस्था ने जटिल केन्द्रीकरण का रूप धारण किया। केन्द्रित समाज की समस्याएँ धीरे-धीरे जटिल होती गयीं। और मनुष्य अपने उद्देश्य को प्राप्त न हो सका। समाज ने यदि अपनी उद्देश्य सिद्धि की ओर प्रगति की होती तो आज का मनुष्य अभावों का शिकार नजर न आकर भरा-पूरा नजर आता। अतः वस्तुस्थिति को गंभीरतापूर्वक समझने की जरूरत है।

(२)

२३२. मनुष्य की मौलिक आवश्यकताओं को देखकर उसके सुख

और संपत्ति का अन्दाज़ लगाया जा सकता है। मोटरकार, साबुन तथा अन्य सामग्री की प्रचुरता होने पर भी अन्न, वस्त्र और आश्रय की कमी हो अथवा मनुष्य के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य की सुविधाएँ न हों तो शेष सभी चीजों के भरे रहने पर भी लोगों को उनसे लाभ के बजाय हानि ही अधिक होगी। यह सभी जानते हैं कि हर प्रकार के वस्तु पदार्थों का मूल स्रोत पृथ्वी है। पृथ्वी से जो कच्चा माल पैदा होता है उसी से हमारी उपभोग्य सामग्रियों का उत्पादन होता है। केन्द्रीय उद्योगों की प्रगति के साथ-साथ अनेकों अनुपभोग्य वस्तुओं की आवश्यकता हुई। विस्तृत भूभाग में पैदा किये हुए कच्चे माल को एक केन्द्र में लाने और फिर वहाँ से पक्के माल को जनता तक पहुँचाने की जरूरत के कारण संसार में माल बाँधने के लिए बारदाने की आवश्यकता दिन-प्रति-दिन बढ़ती जाती है। इसके अलावा चीजों को बार-बार एक स्थान से दूसरे स्थानों पर भेजने के लिए यातायात का जो विराट् संगठन करना पड़ता है, उसके लिए भी ऐसी ही अनेक चीजों की जरूरत होती है। फिर उद्योगों को बढ़ाकर उस माल को खपाने के उद्देश्य से उद्योगवादियों द्वारा जीवन-मान ऊँचा करने का जो वहम दुनिया में फैलाया जाता है उसके फलस्वरूप संसार में ऐसी वस्तुओं की माँग बढ़ती जा रही है जिनसे वासनाओं की भले ही तृप्ति हो जाये लेकिन, यथार्थतः, वे जीवन के लिए आवश्यक नहीं हैं। केवल उद्योग-वादियों के प्रचार से ही नहीं, बल्कि औद्योगिक केन्द्रीकरण की अप्राकृतिक स्थिति के कारण भी शृंगार और मनोरंजन के लिए बेकार चीजों की आवश्यकता बढ़ती जाती है। औद्योगिक केन्द्रों की घनी आबादी एवं अस्वास्थ्यकर वातावरण के कारण लोगों को दैनिक श्रम के दुष्प्रभाव से बचने के लिए शुद्ध, हवादार और सुन्दर प्राकृतिक वातावरण की जरूरत होती है जिससे बड़े-बड़े नगरों की आबादी वंचित रहती है। अतः लोगों को विश्रान्ति के कृत्रिम साधनों की आवश्यकता महसूस होने लगती है जिसके लिए उन्हें नाना प्रकार की फिजूल चीजें पैदा करनी पड़ती हैं ताकि अँधेरी कोठरियों की दिन भर की थकान से मन को भुलाया जा सके।

केन्द्रीय उद्योग से अनुपभोग्य एवं बेकार वस्तुओं की सृष्टि

२३३. इस सम्बन्ध में खास बात ध्यान में रखने की यह है कि आज

के औद्योगीकरण के द्वारा उत्पादन की गति बढ़ सकती है, परन्तु उसके परिमाण में कोई विशेष अन्तर नहीं हो सकता। एक मन धान से जो चावल निकलेगा वह चाहे मिल से निकाला जाये या ढेंकी से, वह हर हालत में एक ही मन रहेगा। यह लोगों का वहम है कि कारखानों से पैदावार बढ़ती है। उलटे, जैसा कि हमने ऊपर देखा है, औद्योगीकरण के कारण बेकार चीजों की जरूरत पैदा हो जाती है। इन सबका घूम-फिर कर धरती पर असर पड़ता है। इस दबाव का सामना करने के लिए जनता की मौलिक आवश्यकताओं को छोड़कर ऐसी चीजों की पैदावार शुरू होती है जो कल-कारखानों के मानदण्ड पर थोड़े में भी अधिक "रुपया" बना सके—इसे 'मनी क्राप' या पैसा देनेवाली फसल कहा जाता है। इस तरह धरती अनाज के खेतों से छूटकर गन्ने और जूट के रेशों में फँसती जा रही है, धान को छोड़कर वह नारियल की कामुक में लीन हो रही है और जब बंगाल का रौरव अकाल मानवता को हड़प जाने के लिए दहाड़ता हुआ सामने आता है तो अन्न के बजाय हमारे पास जूट के खाली बोरों और हम्माम की टिकियों का ही सहारा शेष रहता है। समाज के घृणित दीवालियेपन का क्या इससे अधिक जघन्य कोई दूसरा रूप हो सकता है?

समाज का दीवालियापन

२३४. इसी तरह बंगाल में चावल की भूमि "पाट" की खेती में, बिहार और उत्तर प्रदेश में गेहूँ की जमीन गन्ने की पैदावार में, मद्रास में धान की जमीन नारियल के पेड़ों में, इसलिए लगायी जा रही है कि उससे अधिक से अधिक बारदाना, मिठाई और साबुन आदि पैदा हो सकें। फलतः यदि एक ओर देश में ऊपरी वस्तुओं की प्रचुरता है तो दूसरी ओर लोग खाने के लिए भी तरस रहे हैं। आज दिल्ली की सड़कों पर छह आने में सुन्दर कंघी चाहे जितनी मिल सकती हैं लेकिन रुपये में १२ छटांक चावल मिलना कठिन है। फिर यह कैसी प्रचुरता? यह कैसा भयंकर आर्थिक उपहास है?

भयंकर आर्थिक उपहास

२३५. गत दो सौ वर्षों से प्रचुरता की यह मरीचिका, मनुष्य की अनवरत चेष्टा के बावजूद भी हाथ नहीं लग रही है। बल्कि उलटे समाज में अनेकों जटिल समस्याएँ पैदा होकर विश्व युद्ध के रूप में घनीभूत होती जा रही हैं। संसार महाप्रलय के गर्त में डूब मरने पर आ गया है। निस्संदेह, स्थिति अत्यंत शोचनीय है।

अत्यंत शोचनीय स्थिति

(३)

२३६. जनता जब स्वावलंबी थी तो वह शान्तिपूर्वक अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर लेती थी। लोगों को जब अपनी जरूरत अपने श्रम से ही पूरी करनी पड़ती है तो यह कठिन हो जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति अकेला ही अपनी सारी जरूरतें अपने हाथों से पैदा कर ले। अतः स्वावलंबी समाज-व्यवस्था के लिए यह आवश्यक है कि सहयोग यानी साझेदारी के ढंग से सामाजिक उत्पादन का कार्य चले। वस्तुतः उत्पादन के तरीकों से ही सामाजिक व्यवस्था की रूपरेखा बनती है। जब हम लोग स्वावलंबी तरीकों से उत्पादन करते थे तो समाज के सारे काम उसी साझेदारी के तरीके से चलते थे। साझे का मतलब है कि समाज के प्रत्येक सदस्य को एक-दूसरे का भरोसा हो यानी लोग आपस में इन्सानी नाते से बँधे रहें। सहयोगी समाज तभी चल सकता है जब मनुष्य एक-दूसरे को धोखा न दे यानी वह ईमानदार रहे क्योंकि साझे में बेईमानी चल ही नहीं सकती और साझे के बिना जनता स्वावलंबी नहीं हो सकती। स्वावलंबी समाज में जनता का नैतिक स्तर, स्वभावतः, ऊँचा रहता है।

स्वावलंबन और सहयोग

२३७. आर्थिक और सामाजिक केन्द्रीकरण में समाज की वह स्थिति नहीं रह जाती; लोगों की आवश्यकताओं की सामग्री औद्योगिक केन्द्रों से और समाज की व्यवस्था राजकीय केन्द्रों से वितरित होती है। ऐसी हालत में मनुष्य अकेला रहकर पड़ोसी की बिलकुल परवाह न करके भी, आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है। यहाँ यह आवश्यक नहीं होता कि कोई किसी के भरोसे रहे या लोग दूसरों की फिक्र करें क्योंकि सभी लोग अलग-अलग केन्द्रीय यंत्र-तंत्र के भरोसे रहने लगते हैं। ऐसी दशा में आपसी सहयोग, साझेदारी या इन्सानी नाते का टूट जाना स्वाभाविक है। अब जिन्दा रहने के लिए पारस्परिक रिश्तों की उतनी आवश्यकता नहीं रही। फिर इस केन्द्रीय व्यवस्था में जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति भी कई एजन्सियों के पेचदार माध्यम से होने लगी। परिणामतः मूल वितरण-कर्त्ता और जनता का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध भी नहीं रह गया। इससे समाज में

केन्द्रीय समाज में पारस्परिक सहयोग का अभाव

सभी पराये हो गये। फिर धोखा देना, लूट लेना, शोषण कर लेना आदि प्रवृत्तियों के लिए हिचक या लेहाज की गुंजाइश कहां? आज समाज में चोर-बाजारी, धोखा, बेईमानी, रिश्वतखोरी का बाजार इस कदर गरम है कि मनुष्य-मनुष्य का इन्सानी नाता बिलकुल खतम-सा दीख रहा है; मानवता का कोई मतलब ही नहीं रह गया है।

जनता का नैतिक ह्रास

२३८. वस्तुतः स्वतंत्र रूप से सिर्फ अपने विवेक के भरोसे मानवी प्रवृत्तियों की पवित्रता की रक्षा करना सबके लिए कठिन होता है। दुनिया में बहुत थोड़े आदमी ऐसे हैं जो नैतिक आधार पर जीवन में सत्य, अहिंसा, ईमानदारी, सहयोग आदि सद्वृत्तियों को स्थायी रूप से अपना सकते हैं। इन प्रवृत्तियों को अगर आम जनता में कायम रखना है तो व्यक्तिगत शिक्षण के साथ तदनुकूल समाज-व्यवस्था की टेक लगाना होगा क्योंकि आम जनता की मूल सद्वृत्तियों को अगर परिस्थिति के अनुसार उनकी अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति के द्वारा जागृत न रखा जाय तो दूसरी शैतानी वृत्तियाँ उन्हें दबा देती हैं। मनुष्य के अन्दर सुर और असुर का संघर्ष तो चलता ही रहता है। यही कारण है कि जब से दुनिया की आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था आपसदारी का आधार छोड़कर व्यक्ति-व्यक्ति के स्वतंत्र आधार पर सीधे केन्द्रों से बँधी रहने लगी तब से संसार में असत्य, हिंसा, बेईमानी, द्वेष, घृणा आदि दुर्गुणों का विस्तार बढ़ता गया। नतीजा यह हुआ कि पहले साधारण गृहस्थ के लिए जिन सद्गुणों की आवश्यकता थी आज वे ही महात्मा के लक्षण बताये जाने लगे। इस तरह हम देखते हैं कि उत्कर्ष के बजाय जनता का भीषण नैतिक ह्रास हो रहा है।

अगर दुनिया की मौजूदा गुत्थी को सुलझाना है, अगर मानवता को असत्य, हिंसा तथा प्रलय से बचाना है तो संसार के आर्थिक और सामाजिक ढाँचे को स्वावलंबी आधार पर विकेन्द्रित उत्पादन और विकेन्द्रित व्यवस्था के पैराये में ढालना होगा ताकि मनुष्य की दैनिक आवश्यकताओं के लिए आपसदारी की अटूट स्थापना हो सके परन्तु जबतक जनता में, सामान्यतः सत्यपूर्ण प्रेम और सहयोग न हो, यह आपसदारी कायम हो ही नहीं सकती।

२३९. औद्योगिक केन्द्रीकरण के कारण युद्धरूप घोर हिंसा और

वर्गसंघर्ष की विनाशक स्थिति कैसे पैदा होती है इसे हम समझ चुके हैं।

चर्खा : स्वावलम्बी उत्पादन का केन्द्र-बिन्दु है

हमने यह भी देखा है कि यंत्र और तन्त्र के केन्द्रीकरण से मनुष्य का एक-दूसरे के साथ मानवता का सम्बन्ध टूट जाता है और लोग मशीनों के पुर्जे बन जाते हैं। सारा समाज सजीव समष्टि के बजाय एक विशाल जड़तन्त्र का रूप धारण कर लेता है। मनुष्य की अन्तर्हित सद्वृत्तियाँ अनुकूल परिस्थिति के अभाव में नष्ट-भ्रष्ट होती जाती हैं। समाज में असत्य, द्वेष तथा हिंसा का जमघट होता जा रहा है। इस घातक स्थिति का निराकरण स्वावलम्बी अर्थनीति और समाज व्यवस्था से ही हो सकता है। इसीलिए गांधी जी ने चर्खे को अहिंसा का प्रतीक माना है क्योंकि वह स्वावलम्बी उत्पादन का केन्द्र-बिन्दु है।

'नयी तालीम': भावी समाज का आधार

२४०. अब प्रश्न यह है कि ऐसी समाज-व्यवस्था कायम करने का तरीका क्या हो ? एक स्थायी समाज-व्यवस्था के लिए उचित वातावरण पैदा करने के उद्देश्य से, साधारणतः, कुछ तात्कालिक कार्यक्रम बन सकता है और लोगों पर उसका कुछ प्रभाव भी पड़ सकता है परन्तु जिस आदर्श समाज की हम कल्पना करते हैं उसकी जरूरत के मुताबिक नागरिक तैयार करने के लिए शिक्षा-पद्धति में ही ऐसा क्रान्तिकारी परिवर्तन करने की जरूरत है जिससे भविष्य के नागरिक बचपन से ही उस ढाँचे में ढल सकें। गांधी जी 'नयी तालीम' के जरिये जनता को उसी ढाँचे में ढालना चाहते थे। विकेन्द्रीकरण के आधार पर स्वावलम्बी समाज तभी संभव हो सकता है जब समाज के प्रत्येक व्यक्ति में स्वतन्त्र रूप से जिन्दगी की आवश्यकताओं की पूर्ति तथा समाज-व्यवस्था चलाने की योग्यता हो। सिर्फ योग्यता से ही ऐसा समाज कायम नहीं रह सकता। उनके संस्कार और उनकी प्रवृत्ति भी स्वावलम्बी होनी चाहिये।

'नयी तालीम' : स्वावलम्बन की

२४१. इसलिए नयी शिक्षा-पद्धति में शिक्षा का माध्यम अक्षर न रखकर सामाजिक वातावरण तथा उत्पादन की प्रक्रिया रखी गयी है। सामाजिक वातावरण के अध्ययन से उनको समस्याओं का ज्ञान होता है। समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने का अभ्यास होता है। इस अभ्यास

भविष्य के इन स्वतन्त्र नागरिकों का स्वभाव बन जाता है। जब तक जनता में इस प्रकार जिम्मेदारी की स्वयं प्रेरणा नहीं होगी, लोग अपनी आन्तरिक व्यवस्था और सुरक्षा के लिए किसी बाहरी शक्ति के मुँहताज बने रहेंगे और लोकशाही वास्तविक न होकर वैज्ञानिक पोथियों में दबी रहेगी। परन्तु बचपन से ही उत्पादन की प्रक्रियाओं का अभ्यास होने पर मनुष्य आसानी से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए केन्द्रीय यन्त्रों का भरोसा छोड़ देता है। बचपन से ही कठिन होते हुए भी इन प्रक्रियाओं के माध्यम से विभिन्न विषयों का ज्ञान कराने के कारण उत्पादन क्रम की जड़ता नष्ट हो जाती है और लोग उसके वैज्ञानिक तत्व को भी समझते हैं और लगातार प्रगति होती रहती है। इस प्रकार नयी तालीम की पद्धति से जनता की प्रवृत्ति केन्द्रीय यंत्र-तंत्र का भरोसा करने के बजाय अपने पर भरोसा करने की प्रवृत्ति उत्पन्न करती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि नयी तालीम स्वावलम्बन की एक परम क्रियात्मक शक्ति है।

केवल भरोसे की बात नहीं। आज जनता के श्रम का जो शोषण हो रहा है वह मौलिक आवश्यकताओं की प्राप्ति की वैज्ञानिक कुंजी अपने हाथों में होने के कारण नहीं हो पायेगा और उनका अभाव-जनित उत्पीड़न भी खतम हो जायेगा।

(४)

नयी तालीम के शिक्षण केन्द्र स्वावलम्बी होने चाहियें

२४२. गांधी जी ने 'नयी तालीम' के लिए यह भी जरूरी कहा है कि इसके शिक्षण-केन्द्र स्वावलम्बी होने चाहियें ताकि स्वावलम्बन की धारणा बच्चों की प्रकृति में, उनके संस्कार और व्यवहार में, प्रविष्ट हो जाये। शिक्षण-केन्द्रों को स्वावलम्बी बनाने के लिए बच्चों को इस बात का विचार करना पड़ता है कि वे कौन उपाय करें जिनसे उनकी शाला स्वावलम्बी हो। इस सिलसिले में उनको यह भी सोचना पड़ता है कि वे अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए किस-किस से सहायता लें। सहायता की यह खोज ही उन्हें सामाजिक सहयोग की ओर प्रेरित करती है।

२४३. इस पद्धति के अनुसार शाला की व्यवस्था भी बच्चों को ही

करनी होती है। शिक्षक केवल मार्ग-दर्शक के रूप में रहते हैं। इस तरह बच्चे जब अपनी शाला की सारी व्यवस्था अपने हाथ में ले लेते हैं तो शाला उनके लिए एक समाज बन जाती है और शिक्षक वहीं के वातावरण को सामाजिक विषयों का ज्ञान कराने के लिए एक सहज माध्यम बना लेते हैं। इस प्रकार बच्चों में आत्म-विश्वास और आपसदारी के संस्कारों का विकास होता है। वे सहयोगी और स्वावलम्बी समाज की उपयुक्त नागरिकता की ओर बढ़ते हैं।

शाला की व्यवस्था और शिक्षक

२४४. हमने पहले ही कहा है कि मनुष्य को जब अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति अपने आप करनी पड़ती है तो उसकी सामाजिक प्रवृत्तियों का विकास सहज हो जाता है। लोग कह सकते हैं कि पुराने जमाने में भी स्वावलम्बी उत्पादन-पद्धति थी; फिर लोग परावलम्बी क्यों हो गये? पहली बात तो यह है कि उस काल में लोग केन्द्रीकरण की बुराइयों से परिचित न थे, इसलिए उन्होंने विकेन्द्रीकरण के वैज्ञानिक आधार पर समाज-व्यवस्था की स्वावलम्बी योजना नहीं बनायी थी। दूसरी बात यह थी कि उत्पादन की प्रक्रिया शिक्षा का माध्यम न होकर वह अलग से यंत्रवत् चलती थी और ज्ञान-विज्ञान की चर्चा लोग अलग बैठकर क्रिया करते थे। नतीजा यह हुआ कि उत्पादन का कार्य विज्ञान से शून्य हो गया और उसमें जमाने की आवश्यकता के अनुसार प्रगति न हो सकी; दूसरी ओर ज्ञान-विज्ञान की चर्चा के पीछे वैज्ञानिक अनुभव का अभाव हो गया और उसका स्तर गिर गया।

प्राचीन शिक्षण-पद्धति

२४५. गांधी जी ने इस घातक स्थिति के निराकरण के लिए कहा कि यदि स्वावलम्बन तथा विकेन्द्रीकरण के आधार पर समाज की नींव अटल बनानी है तो उत्पादन की प्रक्रियाओं को सजीव, वैज्ञानिक और प्रगतिशील बनाये रखना जरूरी होगा। नयी तालीम की पद्धति इसी दिशा में एक संयोजित चेष्टा है।

नयी तालीम: वैज्ञानिक एवं प्रगतिशील समाज की एक संयोजित चेष्टा है

२४६. मनुष्य के लोभ ने केन्द्रीय यंत्रवाद और उद्योगवाद का प्रसार किया। केवल उपभोग्य वस्तु की प्रचुरता की तृष्णा ही नहीं बल्कि मनुष्य की एक और प्रवृत्ति ने मशीनों के प्रभाव

श्रम से बचने की प्रवृत्ति को बढ़ने में मदद की। वह है मनुष्य की श्रम से

बचने की प्रवृत्ति। मशीनों का प्रयोग करके उसने देखा कि थोड़ी मेहनत से ही अधिक उत्पादन हो जाता है। इसने मनुष्य में एक ऐसी प्रबल तृष्णा उत्पन्न की कि वह अपनी सारी बुद्धि इसी दिशा में लगाने लगा।

पूँजीवाद प्रचुरता की लालसा और मेहनत न करने की इच्छा—इन दो विरोधी बातों के एक साथ होने का दुष्परिणाम है

२४७. वस्तुतः श्रम न करने की प्रवृत्ति की कहानी बहुत पुरानी है। इतिहास के प्रारम्भ काल में पारस्परिक हिंसा से त्रस्त होकर मनुष्य ने जब केन्द्रीय शासन-प्रथा की शुरुआत की थी तभी से समाज में वर्ग या श्रेणियों का बीज पड़ गया था। शासक, व्यवस्थापक, और व्यापारी वर्ग की जिंदगी स्वयं श्रम न करके उत्पादक-वर्ग के श्रम पर चलने लगी। इस प्रकार श्रम करनेवालों से श्रम न करनेवालों की प्रतिष्ठा अधिक होने के कारण श्रम से बचने में शान समझी जाने लगी और ऐसे आलसी लोगों की समाज में प्रतिष्ठा भी होने लगी। श्रम की प्रतिष्ठा खतम हो जाने से श्रम को बचाने की प्रवृत्ति का विकास होना स्वाभाविक था। इस प्रकार एक ओर तो प्रचुरता यानी भरे-पूरे रहने की लालसा और दूसरी ओर श्रम से बचने की प्रवृत्ति, इन दो विरोधी बातों के मेल से जिस उद्योगवाद की सृष्टि हुई उससे पूँजीवादी समाज का विकास हुआ और, परिणामतः, वर्ग-विषमता उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी।

बाबू वर्ग

२४८. केन्द्रीय व्यवस्थापक-वर्ग तथा पूँजीपति-वर्ग के लिए क्रमशः इस बात की आवश्यकता हुई कि उन्हें एक ऐसा वर्ग मिले जो उत्पादन की प्रत्यक्ष प्रक्रियाओं से छुट्टी पाकर शासन तथा उद्योग-संचालन में सहायता कर सके। इस उद्देश्य से उन्होंने ऐसी शिक्षा-पद्धति बनायी जिसमें शरीर-श्रम तो न करना पड़े, परन्तु व्यक्ति की समाज में प्रतिष्ठा बढ़ जाये (इसे काहिल और कोढ़ियों की पूजन-विधि कह सकते हैं)। ऐसे लोग सिर्फ लिखने-पढ़ने की योग्यता रख सकते हैं और वे यांत्रिक व्यवस्था के पुर्जे बनने के सिवाय दूसरा स्वतन्त्र कर्म कर ही नहीं सकते। इस तरह समाज में पढ़ी-लिखी एक मध्यम श्रेणी यानी बाबू-वर्ग की सृष्टि हुई। ज्यों-ज्यों इस किताबी शिक्षा का प्रसार हो रहा है त्यों-त्यों इस वर्ग की संख्या बढ़ती जा रही है और आज यह संख्या इतनी अधिक हो गयी है कि संसार में इस बाबू वर्ग की समस्या ने एक भीषण वर्ग-समस्या खड़ी कर दी है।

इस समस्या के हल हुए बिना संसार की समस्याएँ सुलझ ही नहीं सकतीं। गांधीजी 'नयी तालीम' के जरिये इसी दिशा में एक निश्चित और क्रान्तिकारी कदम उठाना चाहते थे।

वस्तुतः सत्य और अहिंसा के आधार पर समाज तभी टिक सकता है जब दुनिया में कोई किसी का शोषण न करे यानी मानव-समाज में एक ही वर्ग हो क्योंकि एक वर्ग का दूसरे वग के शोषण से ही वर्ग-विषमता का अस्तित्व कायम होता है। यही कारण है कि भारत के शास्त्रकारों ने कहा है कि सतयुग में एक ही वर्ग था और जब तक फिर से दुनिया में एक ही वर्ग न हो जायगा तब तक सतयुग का पुनरागमन असम्भव है।

समाज ज्यों-ज्यों सत् से विरत होता गया, सामाजिक जटिलता बढ़ती गयी; दूसरी ओर समाज में ज्यों-ज्यों विषमता बढ़ती गयी वैसे ही सत्य का भी लोप होता गया और अन्त में आज संसार एक भयंकर स्थिति में पहुँच गया है। अतः सबसे पहले इस घातक स्थिति का ही अन्त करना है। गांधीजी 'नयी तालीम' के द्वारा यही करना चाहते थे।

श्रेणी हीन समाज

२४९. श्रेणी-हीन समाज का मतलब तो यही है कि संसार में एक ही श्रेणी का अस्तित्व रहे। फिर सवाल उठता है कि एक श्रेणी कौन सी हो? हम देखते हैं कि संसार में, मुख्यतः, तीन ही श्रेणियाँ हैं; (१) रईस (श्रीमान्); (२) बाबू और (३) श्रमिक। अगर समाज को श्रेणी-हीन बनाना है तो यह जरूरी है कि इन तीनों में से किसी दो को खतम करके एक को रखा जाय। फिर प्रश्न यह होता है कि इनमें से किसे रखा जाय और किसे खतम किया जाये? उत्तर स्पष्ट है—यदि एक ही वर्ग को रखना है तो वह वर्ग ऐसा होना चाहिये जो अपने भरोसे टिक सके। किसी वर्ग के अपने भरोसे टिकने का मतलब यह है कि वह स्वयं अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके यानी जिन्दगी की आवश्यकताओं को वह स्वयं पैदा कर सके या यों कि पैदा करने के लिए श्रम कर सके। वह एक मात्र श्रमिकों का वर्ग है। रईस और बाबूओं का अस्तित्व तो श्रमिक के शोषण पर ही खड़ा होता है। इस प्रकार श्रेणी-हीन समाज का मतलब ही यह है कि समाज में केवल वही रहे जो अपने श्रम से उत्पादन कर सकता हो। इसका सीधा मतलब यही है कि जो लोग शोषण पर जिन्दा हैं उन्हें खतम कर दिया जाये।

पाश्चात्य देशों में भी लोगों ने इसी प्रकार श्रमिकों के श्रेणी-हीन

समाज की कल्पना की है। और इस दिशा में उन्होंने काफी चेष्टा भी की है। इस चेष्टा में रईस और बाबू-वर्ग का संघर्ष भी हुआ। यह चेष्टा श्रमिकों द्वारा, हिंसात्मक तरीके से रईस और बाबू-वर्ग का नाश करने की थी क्योंकि उन लोगों ने सोचा कि दो वर्ग का नाश कर देने से सिर्फ तीसरा वर्ग ही समाज में बच रहेगा। लेकिन इस प्रकार वर्ग-संघर्ष के हिंसात्मक तरीके का नतीजा क्या होगा? यह तो बिलकुल सर्वविदित बात है कि हिंसा से प्रतिहिंसा की सृष्टि होती है और हिंसा तथा प्रतिहिंसा के घात-प्रतिघात से मानव-समाज हमेशा छिन्न-भिन्न होता रहा है और समाज अपनी अभीष्ट सुख-शान्ति की आकांक्षाओं में कभी सफल नहीं हो सकता। सुख-शान्ति को तिलाञ्जलि भी दे दी जाये, पर क्या इष्ट सिद्ध हो जायेगा? हिंसात्मक तरीकों से क्या शोषक वर्गों का अंत हो सकेगा? जो लोग हिंसात्मक तरीके से इनका नाश करने की सलाह देते हैं वे अपने को बहुत बड़ा वैज्ञानिक समझते हैं, लेकिन वे भूल जाते हैं कि विज्ञान का प्रथम नियम यह है कि "संसार में किसी चीज का लोप नहीं हो सकता।" वस्तुओं का सिर्फ रूप-परिवर्तन ही हो सकता है। वैज्ञानिक यूरोप ने ऊपर की श्रेणियों का लोप करने की चेष्टा करते समय विज्ञान के इस मौलिक नियम की उपेक्षा कर डाली और नतीजा यह हुआ कि वहाँ इन वर्गों का नाश न होकर वे परिवर्तित रूप में व्यवस्थापक वर्ग के नाम से अपने स्थान पर बने रहे और चूँकि यह परिवर्तन हिंसात्मक तरीकों से हुआ इसलिए स्वभावतः उससे प्रतिहिंसा उत्पन्न हुई।

नयी तालीम : समाज को उत्पादक वर्ग का रूप देती है

२५०. प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया अनिवार्य है। इस नवजात व्यवस्थापक वर्ग ने समाज को बौद्धिक और शासकीय शिकञ्जों में इतनी कड़ाई से जकड़ रखा है जैसा कि वह अपने पहले रईस और बाबू के रूप में कभी सोच भी नहीं सकता था। अतएव समाज यदि यह चाहता है कि संसार में उत्पादकों का केवल एक ही वर्ग रह जाये तो उसकी ऐसी व्यवस्था ढूँढ़ निकालनी होगी जिससे शेष दो वर्गों का लोप होकर सारा समाज सीधे स्वयं उत्पादकों के रूप में परिवर्तित हो जाये। गांधीजी नयी तालीम के जरिये समाज को इसी रास्ते पर ले जाना चाहते थे। उनका तरीका उत्पादकों द्वारा रईस और बाबुओं के हिंसात्मक नाश का नहीं, बल्कि वह उनको उत्पादक-श्रेणी में मिला देने का अहिंसात्मक तरीका था। हिंसात्मक

तरीकों से कोई किसी को मिला नहीं सकता क्योंकि सम्मेलन तो प्रेम और सहयोग से ही हो सकता है।

२५१. हिंसा से दुनिया में क्रान्ति नहीं हो सकती। वस्तुतः हिंसा और क्रांति दो परस्पर विरोधी बातें हैं। क्रान्ति का अर्थ है समूल परिवर्तन। जो मनुष्य परिवर्तन में विश्वास रखता है वह हिंसा नहीं कर सकता क्योंकि हिंसा केवल निराशा का प्रमाण है। जिसे यह विश्वास नहीं रह जाता कि लोगों में परिवर्तन हो सकता है वही नाश की बात सोचता है। इस तरह हिंसा एक निराशावादी प्रवृत्ति है और निराशावादी प्रवृत्ति द्वारा क्रान्ति की सफलता की आशा करना स्वयं को धोखा देना है। अतः समाज में अगर वास्तविक और समूल क्रान्ति करना है तो वर्ग-संघर्ष की हिंसात्मक और निष्फल चेष्टा न करके वर्ग-परिवर्तन के अहिंसात्मक तरीके से निश्चित क्रान्ति की ओर कदम उठाना होगा।

हिंसा : निराशा का प्रमाण

२५२. तर्क के खातिर ही सही, अगर थोड़ी देर के लिए हम ऊपर बताये मार्ग को छोड़ भी दें तो भी आज के वैज्ञानिक युग में हिंसात्मक तरीके से किसी समस्या का व्यावहारिक समाधान नहीं हो सकता। इस युग में तो हिंसा के द्वारा समस्याओं का हल करने की चेष्टा में मानव-समाज का ही अन्त हो जायगा। पुराने जमाने में जब विज्ञान का आज जैसा अत्यधिक "विकास" नहीं हुआ था उस समय हिंसात्मक तरीके से मामलों का फैसला करने पर भी समाज के लिए बचत की गुंजाइश थी। पत्थर, डंडा-धनुष-बाण, तलवार और बन्दूक से भी मनुष्य चाहे जितनी कोशिश करता था, ध्वंस का परिणाम एक हद के अन्दर ही रहता था। लेकिन आज कॉस्मिक शक्ति के जमाने में अगर हिंसा का प्रयोग किया गया तो उसका परिणाम क्या होगा इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है। इस तरह आज के वैज्ञानिक युग में हिंसा की सभी योजनाएँ नितान्त अव्यावहारिक होने के कारण उन पर विचार भी नहीं किया जा सकता। अतएव सच्ची और सम्पूर्ण क्रान्ति के लिए गांधी जी के अहिंसात्मक मार्ग के सिवा कोई दूसरा विश्वसनीय रास्ता रह ही नहीं जाता।

अहिंसात्मक मार्ग: सच्ची और सम्पूर्ण क्रान्ति का एकमात्र रास्ता

२५३. ऊपर बताया गया है कि गांधी जी की क्रान्ति का तरीका रईस और बाबुओं को संशोधित करके उत्पादक-श्रेणी में सम्मिलित करने का है। यही कारण है कि उन्होंने अपने तमाम आन्दोलनों को आत्मशुद्धि का आन्दोलन कहा है। इसके लिए पहले तो वह नैतिक तरीके से शोषक वर्ग के विवेक को जाग्रत करते हुए कहते हैं "तुम शोषक का रूप त्याग कर स्वेच्छा से उत्पादक-श्रेणी में मिल जाओ और उनके साथ उत्पादन के काम में लग जाओ।" अपने रचनात्मक कार्यक्रम की सारी प्रवृत्तियों को गांधी जी ने इसी दिशा में लगाया। ऊँचे वर्ग के नवजवानों को ग्रामीण बनकर अपने श्रम से उपार्जन करके समग्र ग्राम-सेवा का कार्यक्रम तैयार करना, खादी पहनने के लिए अष्टमांश सूत कातने का नियम बनाना, बम्बई जैसे शहर के लोगों को भी जमीन न मिले तो गमले में ही अपने हाथ से अन्न पैदा करके अन्न ग्रहण करने का अधिकार प्राप्त करने की सलाह देना, सेवक विद्यालयों में शरीर-श्रम से भी पहला स्थान उत्पादन कार्य को देना, प्रत्येक मनुष्य को किसी न किसी तरह उत्पादन-कार्य में प्रवृत्ति करके उसे श्रमिक-वर्ग में मिला देने की ही गांधी जी की ये सारी चेष्टाएँ थीं।

आत्मशुद्धि

यों तो गांधी जी के सभी कार्य श्रेणी-हीन समाज की पूर्व-पीठिका स्वरूप रहे हैं, लेकिन "नयी तालीम" के द्वारा दुनिया में केवल उत्पादकों का एक श्रेणी-हीन समाज रखने का जो ढंग है वह उनकी अन्तिम परन्तु अत्यन्त व्यापक और संयोजित चेष्टा थी।

२५४. इस शिक्षा पद्धति में उत्पादन की प्रक्रिया द्वारा ही प्रत्येक विषय की जानकारी होती है, यानी इसमें उन्होंने शिक्षा का माध्यम ही शरीर श्रम द्वारा उत्पादन कार्य्य बना दिया है। इस पद्धति में अपनी बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए श्रम करते हुए मनुष्य की सारी बौद्धिक शिक्षा पूरी होती है। इसीलिए उसका नाम 'बुनियादी तालीम' रखा गया है क्योंकि इस पद्धति में जीवन की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति की चेष्टा में मनुष्य को अपने स्वाभाविक कार्यों के लिए समयानुकूल शिक्षा मिलती है।

"नयी तालीम" बनाम "बुनियादी तालीम"

२५५. इसका अर्थ यह है कि समाज में वही व्यक्ति शिक्षित कहलाता

है जिसमें उत्पादन के कार्यों का अभ्यास हो यानी जो स्वयं उत्पादक हो। पुरानी तालीम कोठरियों में बैठकर केवल पुस्तकों को घोंटने की पद्धति थी जिसका परिणाम यह होता था कि जो लोग अपने बच्चों को विद्यालय में भेजते थे उन्हें बच्चों को उत्पादन कार्य से मुक्त कर देना पड़ता था यानी उत्पादक वर्ग के बच्चे अपनी श्रेणी से छूटकर बाबू-वर्ग की श्रेणी में मिल जाते थे। इस तरह पुरानी तालीम भी श्रेणी परिवर्तन की ही पद्धति थी, लेकिन उलटी दिशा में। फलतः पुरानी तालीम की प्रगति के साथ बाबुओं की संख्या बढ़ने लगी और उत्पादकों के कन्धों पर शोषकों का बोझ बढ़ता गया जिसने आज संसार में वर्ग-विषमता को इतना जटिल बना दिया है। अगर यही रफ्तार रही तो बहुत जल्द दुनिया में शोषकों की संख्या इतनी बढ़ जायगी कि उनके बोझ से उत्पादक दबकर मर जायेगा और उत्पादक के मरने से बाबू लोग भी सूखकर मर जायेंगे।

पुरानी तालीम—श्रेणी परिवर्तन परन्तु उलटी दिशा में

नयी तालीम से बाबुओं का ह्रास होकर उत्पादकों की वृद्धि होती है क्योंकि हल, कुदाल, चर्खा तथा निहाई और हथौड़ी के साथ जुड़ी होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति सहज ही उत्पादक बन जाता है और प्रत्येक उत्पादक को अपना उत्पादन कार्य करते हुए ही शिक्षित बन जाने का मौका मिलता है। इस तरह जब बौद्धिक-वर्ग के प्रत्येक व्यक्ति को उत्पादक बनना पड़ता है और प्रत्येक उत्पादक को बौद्धिक विकास का संपूर्ण अवसर मिलता है तो समाज में वर्ग-भेद स्वतः समाप्त हो जाता है। यहाँ हिंसात्मक संघर्षों के अशान्तिकर दलदलों में फँसने की आवश्यकता ही नहीं होती।

२५६. आजकल जो लोग श्रेणी-हीन समाज की बातें करते हैं वे स्वयं शुद्ध बौद्धिक वर्ग के ही जीव हैं, लेकिन धोखा तो यह है कि वे अपने को श्रमिक-वर्ग का ही एक सदस्य मानते हैं। उनका कहना है कि आखिर सभी लोग सब काम स्वयं नहीं कर सकते और समाज में श्रम-विभाजन की आवश्यकता तो है ही। अतएव जो लोग किताब लिखते हैं, भाषण करते हैं, या ऐसे ही दूसरे बौद्धिक श्रम करते हैं तो फिर शरीर-श्रम पर ही क्यों जोर दिया जाय! इन लोगों की दलील है कि यह भी उत्पादन ही है। इस तरह वे कहते हैं कि कोई बौद्धिक श्रम और कोई शरीर-श्रम को अपनाये। इस बात को वे श्रेणी-विभाजन न कहकर श्रम-विभाजन कहते हैं। उनका कहना है कि जो लोग बौद्धिक कार्यक्रम में लगे हैं उन्हें शरीर-श्रम में फँसा

कर समय और शक्ति का अपव्यय करने से क्या लाभ! वे कहते हैं कि जो बौद्धिक कार्य के लायक हैं वे बौद्धिक श्रम करें और जो शरीर-श्रम के लायक हों वे शरीर-श्रम करें। ऐसा करने से ही, उनकी राय में, समाज श्रेणी-हीन हो जायगा। आश्चर्य की बात यह है कि वे ही लोग भारत के प्राचीन वर्ण भेद की प्रथा के सबसे अधिक खिलाफ हैं। वे कहते हैं कि वर्ण-व्यवस्था एक प्रतिगामी व्यवस्था है। इससे समाज की प्रगति रुक जाती है। वे समाज को ब्राह्मण या शूद्र की श्रेणियों में बाँटने के घोर विरोधी हैं। बौद्धिक कार्यक्रम करनेवालों को शरीर-श्रम की आवश्यकता नहीं और उनके व्यक्तिगत आराम और दूसरे कार्यों के लिए दूसरे लोगों को मुकर्रर किया जाये जो इसके लायक हों। यह ब्राह्मण और शूद्र का दूसरा रूप नहीं तो क्या है? फर्क सिर्फ इतना है कि आज कल लोग वर्ण भेद को जन्मना न मानकर कर्मणा मानते हैं। लेकिन वे भूल जाते हैं कि अगर श्रमिक को बौद्धिक और शारीरिक दो श्रेणी में बाँटना ही है तो समाज की प्रगति के लिए जन्मना श्रेणी ही अधिक वैज्ञानिक होगी क्योंकि उससे समाज को पूर्णरूपेण पैतृक संस्कार का लाभ मिल सकेगा। हो सकता है कि कोई एकाध व्यक्ति अपवाद रूप में ऐसा निकले जिसके लिए यह पद्धति अन्याय का रूप हो लेकिन समाज की वैज्ञानिक व्यवस्था एकाध अपवाद की ओर न देखकर सारे समाज के हित को ही देखेगी।

श्रम बनाम श्रेणी विभाजन—जन्मना या कर्मणा?

वस्तुतः यह धारणा गलत है कि बौद्धिक और शारीरिक श्रम करनेवाले एक ही श्रेणी में रखे जा सकते हैं क्योंकि प्रत्येक मनुष्य यह जानता है कि इन दो प्रकार के श्रमों में एक रुचिकर और दूसरा अरुचिकर है और रुचिकर श्रम ही श्रेष्ठ है। अतः प्रत्येक मनुष्य चाहेगा कि उसे रुचिकर श्रम का ही मौका मिले। इसलिए अगर समाज को अरुचिकर श्रम की आवश्यकता है उसे यह काम व्यवस्था या परिस्थिति के दबाव से ही लेना होगा क्योंकि स्वेच्छा से कोई भी उस काम को पसन्द नहीं करेगा। आज के पैसे के लोभ या परिस्थिति की मजबूरी से भी भंगी का काम करने के लिए उच्च वर्ण के लोग तैयार नहीं होते। अतः अगर समाज में न्याय और स्वतन्त्रता के आधार पर श्रमिक का एक ही वर्ग कायम रखना है तो प्रत्येक व्यक्ति को बौद्धिक और शारीरिक दोनों काम करना होगा।

अगर मजबूरन ही ब्राह्मण और शूद्र की दो श्रेणी कायम रखना है तो

मानव विकास के एक मूल सिद्धान्त का फायदा समाज की प्रगति के लिये क्यों न प्राप्त हो ? यह "सन्तान को पैतृक स्वभाव की प्राप्ति" या संस्कारों का सिद्धान्त है। किसी शिक्षित परिवार का पाँच साल का लड़का स्कूल जाकर किसान और मजदूर के उसी उम्र के लड़के से पढ़ने में हमेशा आगे ही रहता है और किसी किसान और मजदूर का लड़का उसी उम्र के शिक्षित श्रेणी के लड़के से खेत खोदने में या बोझा उठाने में आगे रहता है क्योंकि दोनों में पैतृक संस्कार की भिन्नता है। अतः बौद्धिक और शारीरिक श्रमिकों के रूप में समाज के लोगों को बाँटना है तो हित उसी में है कि वह जन्मगत हो; "जन्मना" ही वैज्ञानिक सिद्धान्त है। अतः जो लोग जाति-भेद के खिलाफ हैं उन्हें श्रम के श्रेणी-विभाग के भी खिलाफ होना पड़ेगा क्योंकि यदि श्रम का श्रेणी-भेद रखना है तो "जन्मना" का सिद्धान्त हटा कर "कर्मणा" के सिद्धान्त की बात करना समाज को योग्यता और कुशलता से वंचित कर देना होगा।

श्रेणीहीन समाज का श्रम विभाग

२५७. लोग प्रश्न कर सकते हैं कि बिना श्रम विभाजन के फिर समाज का उत्पादन कार्य कैसे चलेगा ? यह सही है कि प्रत्येक व्यक्ति अकेला प्रत्येक काम नहीं कर सकता। अतः श्रम विभाजन का कुछ आधार होना ही चाहिये। वास्तविक श्रेणीहीन समाज में वह आधार गुण सम्बन्धी न होकर वस्तु सम्बन्धी होगा यानी कोई किसी वस्तु को पैदा करेगा तो कोई दूसरी वस्तु को। लेकिन उत्पादन कार्य में तो प्रत्येक व्यक्ति को शारीरिक और बौद्धिक, दोनों श्रम करना होगा। श्रम विभाजन के नाम पर किसी को टट्टी फिरने का श्रम और किसी को उसे साफ करने के श्रम की जो प्रथा चल गयी है, गांधी जी की कल्पना के श्रेणी-हीन समाज में इसकी गुंजाइश नहीं है। उनकी कल्पना के अनुसार श्रेणी-हीन समाज में प्रत्येक व्यक्ति को बौद्धिक और शारीरिक श्रम, दोनों ही करना पड़ेगा, वरना यह सिद्धान्त नहीं, कोरी बात ही रह जायगी। इस प्रकार श्रेणी-हीन समाज रचना की दिशा में भी गांधी जी की 'नयी तालीम' का तरीका दूसरे सभी तरीकों से अधिक व्यवहारिक, वैज्ञानिक और वास्तविक है।

(५)

२५८. शिक्षित समाज में इधर 'समान अवसर का नारा' चल पड़ा

है। कहते हैं कि शिक्षा के लिए प्रत्येक मनुष्य को बराबर मौका मिले।

समान अवसर का सच्चा मतलब

अगर शिक्षा की पद्धति ऐसी हुई कि मनुष्य को उत्पादन का कार्य छोड़ देना पड़े तो प्रत्येक को शिक्षा का मौका देने का मतलब यह होता है कि हर व्यक्ति को उत्पादन कार्य छोड़ देने का मौका दिया जाय। इसका मतलब यह है कि प्रत्येक व्यक्ति शिक्षाकाल की समाप्ति के बाद ही उत्पादन कार्य में लगे। फिर शिक्षा-समाप्ति के बाद लोगों को इस बात का भी समान अवसर देना होगा कि वे अपने लिए स्वेच्छा से रुचिकर या अरुचिकर श्रम को पसन्द करें। इससे लोग किस ओर झुकेंगे यह प्रत्येक व्यक्ति समझ सकता है। यदि सभी लोग अपनी शिक्षा के अनुसार रुचिकर श्रम की ओर झुकेंगे तो क्या समाज इसके लिए समुचित व्यवस्था कर सकेगा! इस प्रकार उत्पादन कार्य समाप्त हो जाने से समाज का काम कैसे चलेगा? लोग कहते हैं कि हम इस बात को बहुत दूर तक खींच ले गये। समान अधिकार का मतलब यह नहीं है कि ख्वाहमख्वाह सब लोग अधिकार का इस्तेमाल करके शिक्षा के क्रम को पूरा ही कर दें। बहुत से ऐसे लोग होंगे जो शिक्षा की ओर जायेंगे ही नहीं, या कुछ दिन बाद पढ़ाई छोड़कर हल चलाने लगेंगे। स्वभावतः शायद ऐसा ही होगा। लेकिन इसका कारण यह नहीं होगा कि अधिकांश लोगों की रुचि ही पढ़ाई की ओर नहीं, बल्कि अगर वे पढ़ने नहीं जाते तो इसका कारण परिस्थिति की मजबूरी ही है और अगर परिस्थिति की मजबूरी के कारण कोई पढ़ने नहीं जाता तो समान अवसर की बात कहाँ रही? अतः अगर समान अवसर देना है तो पद्धति ऐसी बनानी होगी जिससे प्रत्येक मनुष्य अपनी मौजूदा परिस्थिति में रह कर भी शिक्षा का अवसर पा सके।

आज प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति की जबान से एक दूसरी बात भी सुनायी पड़ रही है। वह यह कि शिक्षा अनिवार्य की जाय। अगर शिक्षा अनिवार्य कर दी जाय तो उसका मान इतना होना चाहिये जिससे बाद को उसकी शिक्षित स्थिति कायम रह सके, यानी उसे १५ साल की उम्र तक तो शिक्षा देनी ही चाहिये। १५ साल की उम्र तक पाठशाला की कोठरी में बैठकर किताब पढ़ने के बाद जब वह अपने खेत का हल पकड़ेगा तो उसकी क्या दशा होगी इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। मौलिक उत्पादन की प्रक्रिया का अभ्यास बचपन से हुए बिना उस काम

में कुशलता तथा गति नहीं आ सकती। अतः यह साफ है कि पुरानी पद्धति से १५ साल की उम्र तक स्कूलों में पढ़ने के बाद प्रत्येक आदमी को उत्पादन कार्य में लगने से मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति संभव नहीं है।

विकेन्द्रित समाज में उत्पादन कार्य के अभ्यास की बचपन से ही आवश्यकता

२५६. दूसरे औद्योगिक मुल्कों में जहाँ यन्त्रों से ही उत्पादन होता है वहाँ यन्त्र चालक को हाथ, आँख और दिमाग चलाकर उत्पादन नहीं करना पड़ता। वहाँ चालक भी यन्त्र का पुर्जा बनकर चलता रहता है। वहाँ बचपन से अभ्यास का कोई सवाल ही नहीं उठता। अतः वहाँ इस प्रकार पढ़ाई के बाद भी यन्त्र चलाना संभव हो जाता है। लेकिन गांधी जी के विकेन्द्रित और स्वावलम्बी समाज में उत्पादन कार्य के लिए बचपन से उत्पादन की वैज्ञानिक प्रक्रियाओं का अभ्यास अनिवार्य है। वह तभी संभव होगा जब उन प्रक्रियाओं को शिक्षा का माध्यम बना दिया जाये।

बापू की 'नयी तालीम' विश्वकी श्रेष्ठतम पद्धति

२६०. अगर दुनिया के सारे उत्पादन कार्यों का सुचारु रूप से संचालन करते हुए श्रेणी-हीन समाज बनाना है तो यह जरूरी है कि प्रत्येक मनुष्य उत्पादन कार्य करते हुए बौद्धिक विकास कर सके वरना जन-हित के सारे सिद्धान्त जनता का वोट पकड़ने के लिए कोरे राजनीतिक नारे रह जायेंगे। उन्हें व्यवहार में लाना या वास्तविक रूप देना संभव नहीं होगा। अतएव अगर हमारा ध्येय संसार में शासन-हीन और श्रेणी-हीन समाज की रचना करना है, अगर मानवता को हिंसा और शोषण से मुक्त करके पूर्णतः स्वतन्त्र बनाना है तो उसके लिए बापू की बतायी हुई 'नयी तालीम' के सिवा शिक्षा का दूसरा व्यावहारिक और वैज्ञानिक तरीका अब तक किसी ने बताया ही नहीं।

(ह) विनिमय और माध्यम

[हम स्पष्ट कर चुके हैं कि इस सारी रचना में हमने केवल उन्हीं विषयों को लिया है जो 'नवभारत' के निर्माण में अपना सैद्धांतिक महत्त्व रखते

हैं और समाज के अन्तर्गत हमने उन्हीं स्थलों पर विचार किया है जो हमारी समाज रचना के तात्विक आधार माने जा सकते हैं। विनिमय सामाजिक जीवन का वह अङ्ग है जिसे लेकर ही विश्व ने वर्तमान रूप धारण किया है। इस अन्तिम समस्या को समझ लेने के पश्चात् हम नवभारत की "सैद्धांतिक प्रस्तावना" की अन्तिम कड़ी को पूरा कर चुके होंगे। यह अध्याय वास्तव में जटिल होने के साथ ही अत्यन्त लाक्षणिक (Technical) भी है परन्तु सर्वसामान्य के लिए इसे शत-प्रति-शत अलाक्षणिक बनाने का प्रयत्न किया गया है क्योंकि 'नवभारत' अर्थ-शास्त्र की पाठ्य-पुस्तक की अपेक्षा भारत के नव-निर्माण की वैचारिक प्रेरणा के रूप में ही विशेष महत्त्व रखता है।]

सरकारी नोटों की असलियत

२६१. आज हमारा सारा जीवन-व्यापार रुपयों के सहारे चलता है। पैदाइश, मौत, विवाह, उत्सव, व्रत, पूजा, व्यापार, उद्योग—रुपयों के बिना सब जगह व्यवधान उपस्थित होता है; जीने के लिए रुपया चाहिये, मरने के लिए रुपया चाहिये, रुपया ही हमारा साधन और शक्ति बना हुआ है, रुपये से ही धन दौलत का अन्दाज और सांसारिक जीवन की सफलता सिद्ध होती है।

इतनी बड़ी चीज रुपया और यह है क्या चीज? आप नहीं जानते? धातु या कागज के टुकड़ों पर सरकारी छाप के साथ कुछ संख्याएँ लिखी होती हैं—ये संख्याएँ ही भिन्न-भिन्न कीमतों की सूचना देती हैं। उन टुकड़ों का मालिक उतनी कीमतों का मालिक कहलाता है। आपके पास कागज का एक छोटा सा टुकड़ा है, उस पर सरकारी मुहर के साथ १००) छपा है। इसका मतलब आप १००) के मालिक हैं। १००) का मालिक होने का मतलब है १००) में जो कुछ मिल सके आप उतने सब के मालिक हैं। अगर उस टुकड़े पर सरकारी मुहर न हो तो वह टुकड़ा १००) नहीं बन सकता और आप १००) के मालिक भी नहीं बन सकते। इसका मतलब यह कि सरकार की मुहर से ही कागज और धातु के टुकड़ों में कीमत पैदा हो जाती है। जब जो सरकार होती है तब उसी की मुहर चलती है। मुगलों के वक्त में मुगलों के सिक्के चले, अंग्रेजों के वक्त में अंग्रेजों के, और अब प्रजातन्त्र के सिक्के चलते हैं। सरकारें बदलती हैं तो मुहरें बदल जाती हैं। इसका मतलब यह है कि वर्तमान मुहरोंवाली सरकार ही उन रुपयों की जामिन बनती है। कल अंग्रेजों की हुकूमत थी। आज कांग्रेस की हुकूमत है। जो सिक्के कल अंग्रेजों की मुहर से चलते थे

आज अगर हमारी सरकार उस जमानत की जिम्मेदारी लेने से इनकार कर दे तो क्या होगा ? जो उन सिक्कों को लेकर दौलतमंद बने फिरते हैं, नंगे, भूखे और भिखारी बन जायें। कांग्रेस ने ऐसा नहीं किया क्योंकि उसने अंग्रेजों से सुलह और समझौते के साथ हुकूमत को अपने हाथ में लिया था, इसलिए उसने अंग्रेजों के बुरे और भले, झूठ और सच—सबकी जिम्मेदारियाँ भी अपने ऊपर ले लीं। परन्तु जहाँ ऐसा नहीं होता वहाँ इस प्रकार जिम्मेदारी ली भी नहीं जाती। अक्सर ऐसा होता रहता है और जनता की दौलत हवा हो जाया करती है। हममें से बहुतों को अनुभव होगा कि बर्मा में जापानी नोटों की कैसी छीछा-लेदर हुई ?

इसलिए सिक्कों की कीमत को केवल सरकारी मुहरों की हवाई जमानत से ऊपर उठाकर उनमें सच्ची कीमत पैदा करने के लिए जरूरी यह होता है कि जितने रुपये के नोट चलें उतना ही सोना या चाँदी देश के अन्दर सरकारी खजाने में जमानत के तौर पर जमा रहे और कोई चाहे तो उन नोटों को खजाने में जमा करके उतना सोना चाँदी ले ले। अगर ऐसा नहीं होता तो हमारी सारी दौलत झूठी होगी। जिसे हम रुपया समझते हैं, वह कोरी कल्पना रहेगी।

सदा, सर्वदा, प्रत्येक देश, में ऐसे ही सोने और चाँदी के सुरक्षित कोष के आधार पर सरकारों को सिक्के और नोट चलाने का हक हासिल होता है। स्पष्ट है कि जितने के नोट और सिक्के देश में चलते हैं सरकार के ऊपर जनता का उतना ही कर्ज होता है। पिछले युद्ध का हम सभी को पता है; देश की अनंत धनराशि विदेशों को भेज दी गयी। बङ्गाल और दक्षिण भारत में जिस समय लोग भूख और रोग की पीड़ा से कीड़े-मकोड़ों की तरह मर रहे थे सरकार भारत के गल्ले को विदेशों में पहुँचाने में व्यस्त थी। उसी प्रकार जीवनोपयोगी वस्तुओं की अनंत राशि भारत से बाहर भेज दी गयी और इसके बदले में हमें सरकारी नोट पकड़ा दिये गये, यहाँ तक कि धातु के रुपयों के बजाय भी कागज के एक-एक रुपये के टुकड़े थमा दिये गये। इन नोटों को हम खायें, पीयें, ओढ़ें या बिछायें—क्या करें ? इन नोटों को बदल कर यदि सोना या चाँदी भी मिल जाती तो हम परेशान न होते। बदले में सोना और चाँदी मिलना तो दूर रहा, स्वयं सरकार के पास भी इन नोटों के बदले की द्रव्य नहीं मौजूद है। नीचे के आँकड़ों से बात साफ हो जायेगी :—

सन् १९२० ई० में सरकारी नोटों के पीछे			८०·९%	धातु	(सोना-चाँदी)
,, १९३५ ,,	,,	,,	७०·९%		सुरक्षित थी
,, १९३९ ,,	,,	,,	२०%	,,	,,
,, १९४१ ,,	,,	,,	१५%	,,	,,
,, १९४३ ,,	,,	,,	६%	,,	,,

यानी '४३ में जितने के नोट चल रहे थे उनकी असली कीमत रुपये में एक आने से भी कम थी। परन्तु अफसोस है कि गाड़ी यहीं आकर नहीं रुकी है।

भारत के अर्थ मंत्री ने हमें बताया है कि २५-११-४९ को देश में ११०९४३०००००) के सरकारी नोट प्रचलित थे और उनकी जमानत में कुल ४००२०००००) का सोना रिजर्व बैंक में रखा हुआ था, यानी हमारे नोटों की असली कीमत -) प्रति रुपये से भी नीचे,)॥ प्रति रुपये पर पहुँच गयी है। यदि इसी में लाखों के उन जाली नोटों को मिला लिया जाये जो जाली तौर से बाजारों में फैले हुए हैं तो दशा और भी शोचनीय हो जाती है।

इन आँकड़ों से स्पष्ट हो जायेगा कि सरकारी नोटों के रूप में देश की दौलत क्या है! अब इस समस्या के दूसरे पहलू पर विचार कीजिये।

एक किसान के पास गेहूँ है और दूसरे तेली के पास खली है। इन दोनों के बीच सरकारी सिक्का है। इन तीनों की पारस्परिक स्थिति को निम्नलिखित रूप से व्यक्त करना होगा—

गेहूँ	रुपया	तेल
५ सेर	२)	१ सेर
क	ख	ग

=५ क : २ ख : १ ग

उपर्युक्त अनुपात यदि कायम रह सके तो पण्यों के मूल्य में कोई हेर-फेर न होगा और समान स्थिति बनी रहेगी, परन्तु यदि उतने ही तेल और गेहूँ के लिए रुपयों की संख्या घट या बढ़ जाय तो यथानुसार सस्ती या महँगी का प्रभाव उत्पन्न हो जायेगा।

२६२. आज ठीक इसी दुर्दशा में हम फँसा दिये गये हैं। सरकार

कारण से हो, जब देश में धन-धान्य की कमी हो जाती है और दूसरी ओर सरकार को अपने बे-लगाम खर्चों तथा वैदेशिक व्यापार के दबाव आदि के कारण जब अन्धाधुन्ध नोटों के छापने पर बाध्य होना पड़ता है तो रुपये की वही दुर्दशा होती है जो आज हमारे सामने मौजूद है। भारत पर यह कोई नयी मुसीबत आई है, सो बात नहीं। चारों ओर ऐसी परिस्थितियों में ऐसा ही होता रहा है। इसलिए सभी सरकारों को और हमारी अपनी प्रजातंत्र सरकार को तो विशेष रूप से, बे-लगाम नोटों के छापने से बचना चाहिये वरना जनता का विश्वास रुपयों से उठ जाता है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमारी आँखों के सामने है। आज अरबों के नोट देश में चला दिये गये हैं, यानी सरकार ने अरबों रुपया देश में बिखेर दिया है परन्तु चारों ओर से शोर यही उठ रहा है कि देश का सारा व्यापार ठप होता जा रहा है। कई शहरों में भिन्न-भिन्न वर्ग के भिन्न-भिन्न लोगों को मैंने कहते हुए सुना है कि व्यापार रुपये में ।) रह गया है। महँगे से महँगे दाम पर भी किसान खुशी से गल्ला देने को राजी नहीं है। क्यों? क्योंकि रुपयों में उसका विश्वास हिल-सा गया है। रुपयों के अवमूल्यन ने उसे और भी गहरा धक्का दिया है। यह अविश्वास कैसे उत्पन्न होता है, और कैसे काम करता है, इसका नकशा नीचे के आङ्कड़ों में नजर आयेगा—

जुलाई १९१४ ई० में रूस में नोटों के पीछे ९२% स्वर्ण कोष सुरक्षित था और सितम्बर में एक पौण्ड के बदले १२२५ रूबल [रूसी सिक्का] मिलता था। परन्तु जब १९२३ ई० में "स्वर्णविहीन अरक्षित" [इनकॉन्वर्टिबिल] नोटों का मुद्रण शुरू हुआ तो एक पौण्ड के बदले ५०४००००००० रूबल भी महँगे दिख रहे थे। उसी प्रकार १९१४ ई० में आस्ट्रिया में एक डालर के बदले ४·९ क्रोनेन मिल रहे थे, परन्तु १९२३ ई० में "अरक्षित स्वर्ण-विहीन" मुद्रण के फलस्वरूप १४ डालर के बदले १०००००००० क्रोनेन भी भारी हो गये। जर्मनी में १९१४ ई० में १ पौण्ड के बदले २० मार्क मिलते थे परन्तु १९२३ ई० में १०००००००००००० मार्क भी एक पौण्ड के बदले महँगे हो रहे थे। अन्त में तो यहाँ तक हुआ कि जर्मनी में जर्मनी के नोटों को जर्मन जनता ने लेना इनकार कर दिया और उसके बदले विदेशी बैंकों के नोट अधिक विश्वसनीय माने जाने लगे। इस प्रकार जब स्वर्णहीन-मुद्रण-नीति के कारण सरकार मुद्रास्फीति का घातक चक्र चला देती है तो स्वभावतः

की अटूट मुद्रण नीति ने प्राणघातक महँगी उत्पन्न कर दी है। चीजों के दाम कई गुना बढ़ गये हैं और साधारण कमाई-वाले को उन पर काबू पाना असम्भव हो रहा है। अरबों के नोट देश भर में बिखरे हुए हैं फिर भी दुर्भिक्ष का-सा वातावरण व्याप्त है। यह सब केवल सरकारी नोटों का परिणाम है। इस दयनीय दशा को लाक्षणिक भाषा में "मुद्रास्फीति" कहा जाता है।

मुद्रास्फीति

भारत के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री, आचार्य सी० एन० वकील इस मुद्रा-स्फीति को "डकैती" कहते हैं, क्योंकि डकैती और मुद्रास्फीति—"दोनों अपने शिकार को उसकी सम्पत्ति से वञ्चित कर देते हैं—डकैती तो प्रत्यक्ष रूप से, और मुद्रास्फीति अप्रत्यक्ष रूप से।" आचार्य वकील ने मुद्रा-स्फीति को साधारण से बहुत भीषण डाका बताया है क्योंकि डाके में तो कभी, और कुछ लोग ही शिकार होते हैं। परन्तु मुद्रास्फीति में सारा राष्ट्र शिकार हो जाता है।

एक रुपये का २॥ सेर गेहूँ मिलता है। यदि एक रुपये का ५ सेर गेहूँ मिलने लगे तो कहेंगे कि गेहूँ सस्ता हो गया। गेहूँ और रुपये के पारस्परिक सम्बन्ध के नकशे पर ध्यान दीजिये। एक ओर गेहूँ और दूसरी ओर रुपये को देखिए—

	रुपया	गेहूँ
[अ]	१)	ऽ२॥
[ब]	१)	ऽ५
[स]	५)	ऽ५

[अ] में रुपये की जो संख्या थी [ब] में भी वही है, परन्तु गेहूँ अधिक आ गया है इसलिए उतने ही रुपयों में अधिक गेहूँ मिलने लगा है, यानी गेहूँ सस्ता हो गया है। [ब] में जितना गेहूँ था [स] में भी उसकी उतनी ही मात्रा है परन्तु [स] में रुपयों की संख्या बढ़ गयी है। इस प्रकार उतने ही गेहूँ के लिए अधिक रुपये मिलने लगे हैं यानी रुपया सस्ता हो गया है।

अब बात आपकी समझ में साफ तौर से बैठ रही होगी। सरकार के युद्धकालीन अनुत्पादक और अन्धाधुन्ध खर्चों से हो, रोग, महामारी, अकाल या देशव्यापी दंगों के कारण से प्रजा की बरगलाई हुई विध्वंसक नीति और अनुत्पादक हड़तालों के कारण हो, अथवा अन्य किसी भी

कारण से हो, जब देश में धन-धान्य की कमी हो जाती है और दूसरी ओर सरकार को अपने बे-लगाम खर्चों तथा वैदेशिक व्यापार के दबाव आदि के कारण जब अन्धाधुन्ध नोटों के छापने पर बाध्य होना पड़ता है तो रुपये की वही दुर्दशा होती है जो आज हमारे सामने मौजूद है। भारत पर यह कोई नयी मुसीबत आई है, सो बात नहीं। चारों ओर ऐसी परिस्थितियों में ऐसा ही होता रहा है। इसलिए सभी सरकारों को और हमारी अपनी प्रजातंत्र सरकार को तो विशेष रूप से, बे-लगाम नोटों के छापने से बचना चाहिये वरना जनता का विश्वास रुपयों से उठ जाता है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमारी आँखों के सामने है। आज अरबों के नोट देश में चला दिये गये हैं, यानी सरकार ने अरबों रुपया देश में बिखेर दिया है परन्तु चारों ओर से शोर यही उठ रहा है कि देश का सारा व्यापार ठप होता जा रहा है। कई शहरों में भिन्न-भिन्न वर्ग के भिन्न-भिन्न लोगों को मैंने कहते हुए सुना है कि व्यापार रुपये में ।) रह गया है। महँगे से महँगे दाम पर भी किसान खुशी से गल्ला देने को राजी नहीं है। क्यों ? क्योंकि रुपयों में उसका विश्वास हिल-सा गया है। रुपयों के अवमूल्यन ने उसे और भी गहरा धक्का दिया है। यह अविश्वास कैसे उत्पन्न होता है, और कैसे काम करता है, इसका नकशा नीचे के आङ्कड़ों में नजर आयेगा—

जुलाई १९१४ ई० में रूस में नोटों के पीछे ९२% स्वर्ण कोष सुरक्षित था और सितम्बर में एक पौण्ड के बदले १२२५ रूबल [रूसी सिक्का] मिलता था। परन्तु जब १९२३ ई० में "स्वर्णविहीन अरक्षित" [इनकॉन्वर्टिबिल] नोटों का मुद्रण शुरू हुआ तो एक पौण्ड के बदले ५०४००००००० रूबल भी महँगे दिख रहे थे। उसी प्रकार १९१४ ई० में आस्ट्रिया में एक डालर के बदले ४·९ क्रोनेन मिल रहे थे, परन्तु १९२३ ई० में "अरक्षित स्वर्ण-विहीन" मुद्रण के फलस्वरूप १४ डालर के बदले १०००००००० क्रोनेन भी भारी हो गये। जर्मनी में १९१४ ई० में १ पौण्ड के बदले २० मार्क मिलते थे परन्तु १९२३ ई० में १००००००००००० मार्क भी एक पौण्ड के बदले महँगे हो रहे थे। अन्त में तो यहाँ तक हुआ कि जर्मनी में जर्मनी के नोटों को जर्मन जनता ने लेना इनकार कर दिया और उसके बदले विदेशी बैंकों के नोट अधिक विश्वसनीय माने जाने लगे। इस प्रकार जब स्वर्णहीन-मुद्रण-नीति के कारण सरकार मुद्रास्फीति का घातक चक्र चला देती है तो स्वभावतः

धीरे-धीरे जनता का विश्वास सरकारी सिक्कों से उठ जाता है। इस अविश्वास का परिणाम यह होता है कि सरकार की सत्ता क्षीण-सी हो जाती है और राष्ट्र के जीवन तथा कारोबार में घोर अराजकता उत्पन्न हो जाती है। भारत के सामने नेताओं की लाख ईमानदारी और सतत चेष्टाओं के बावजूद भी जो घोर अर्थ संकट और पेचीदगियाँ उत्पन्न हो गयी हैं उसमें सरकार की मुद्रास्फीति का बहुत बड़ा भाग है। आज स्वतन्त्र होकर भी भारत का करोड़ों रुपया जो 'पौण्ड पावने' के रूप में अंग्रेजों के गोरखधन्धे में बेकार हो रहा है, स्वातन्त्र्य और सामर्थ्य की हुँकारें लेते हुए भी अंग्रेजों के पुछल्ले के समान आज जो भारतीय रुपये का "अवमूल्यन" [डिवैल्युएशन] करना पड़ता है, वह ऐसी ही मुद्रास्फीति का दुष्परिणाम है।

अतः आवश्यक है कि सबसे पहले भारत की एक मौलिक, स्वतन्त्र और सुदृढ़ मुद्रा-नीति हो जिस पर संसार के आर्थिक ज्वार-भाटों का असर न हो, भव्य अट्टालिकाओं के सुविरचित अन्तस्थलों में जनसमुदाय से अलग और दूरी पर बन्द रहनेवाले अर्थशास्त्रियों की दिमागी उलट-फेर का प्रभाव न पड़ने पाये।

भारतीय मुद्रा की इसी अविश्वसनीय चञ्चलता को लक्ष्य करके हिलटन यंग कमीशन ने सिफारिश की थी कि "भारतीय मुद्रा की सुदृढ़ता को सोने की शकल में सुरक्षित रखने के लिए मुद्रा को सोने के आधार पर ही इस प्रकार चलाना चाहिये कि आवश्यकतानुसार उसे सीधे और निर्विरोध रूप से सोने में बदला जा सके, परन्तु स्वयं सोने का मुद्रा [रुपये] के रूप में व्यवहार न होना चाहिये।" परन्तु अफसोस है कि आज भी हमारी मुद्रा का आधार सोना नहीं, इङ्गलैण्ड का संदिग्ध पौण्ड पावना ही बना हुआ है और नतीजा यह है कि इङ्गलैण्ड की चाल पर हमें भी नीचे-ऊपर होना पड़ रहा है। इङ्गलैण्ड के "अवमूल्यन" के साथ ही भारत को भी विवश होकर "अवमूल्यन" की खंदक में उतरना पड़ता है।

२६३. कांग्रेस सरकार की नजर में देश की यह दुर्गति नहीं है, ऐसी बात नहीं। परन्तु इस दुर्गति से छूटने के रास्ते पर चलने की उसके पास हिम्मत का अभाव ही दीख रहा है। हम देखते हैं कि मुद्रास्फीति की यातना से छूटने के लिए "मुद्रा विस्फीति" (डिफ्लेशन) की बातें होने लगी हैं क्योंकि इन लोगों ने अंग्रेजी में छपी हुई अर्थशास्त्र की मोटी-मोटी

मुद्रा विस्फीति

पाठ्य पुस्तकों में दिये हुए सिद्धांतों को अच्छी तरह जहननशीन किया है। उसके बाहर इन बातों के रचनात्मक पहलू पर गौर करने का इन्हें न तो मौका मिला और न हिम्मत हुई।

'डिफ्लेशन' यानी मुद्रा विस्फीति का अर्थ मुद्रास्फीति का ठीक उलटा होता है यानी नोटों का प्रचलन वस्तु पदार्थ की तुलना में कम कर दिया जाये। मुद्रास्फीति का उल्लेख करते हुए ऊपर जो कुछ दिखाया गया है उसकी ठीक विपरीत दिशा में सोचिये तो 'विस्फीति' का चित्र साफ नजर आने लगेगा। यहीं यह भी नजर आयेगा कि रुपयों की अधिकता से जिस प्रकार चीजें काबू के बाहर महँगी हो जाती हैं, उसी प्रकार रुपयों की कमी से इतनी सस्ती भी हो सकती हैं कि उत्पादक वर्ग को उत्पादन में रस ही न रह जाये और सारा उत्पादन कार्य ही ठप पड़ जाये। ये दशाएँ भी हमारे अनुभव में आ चुकी हैं। इसलिए हमें तो 'स्फीति' और 'विस्फीति' के घातक चक्रों से बिल्कुल स्वतन्त्र, किसी स्थायी मुद्रा-नीति का सहारा लेने में ही उद्धार नजर आता है।

आज नोटों के आधिक्य से जो मुद्रास्फीति की स्थिति उत्पन्न हो गयी है, उसके निराकरण के लिए सरकारी टैक्स में वृद्धि करके, सरकारी खर्चों में कमी करके, वेतन में कटौती करके, सरकारी ऋणों में जनता का रुपया फँसा कर या अन्य ऐसे ही तरीकों से नोटों को वापस ले लेने से ही बात नहीं बन जायेगी।

सही रास्ता

२६४. वस्तुतः, हमें अधिक श्रम और अधिक उत्पत्ति करके नोटों की सतह में ऊपर उठना होगा। भारत जैसे नंगे, भूखे, रोगी और दरिद्र देश के लिए तो यही एकमात्र सच्चा रास्ता है। मुद्रा-विस्फीति का अमेरिका जैसे देशों में कोई मतलब निकल भी सकता है जहाँ वस्तु पदार्थ के रूप में धन-धान्य की प्रचुर मात्रा भरी हुई है, जहाँ दिन-रात में अनेकों बार भोजन की व्यवस्था है, जहाँ मेज-कुर्सियों पर भी रेशम और ऊन के गद्दे पड़े रहते हैं, जहाँ स्कूल, अस्पताल, और अन्य सभी सुविधाओं की भरमार है। वहाँ नोटों की मात्रा घटा देने से शायद काम चल भी जाये, परन्तु केवल नोटों की मात्रा घटा देने से बेचारे भूखे और नंगे भारत के पेट में दाने और तन पर कपड़े नहीं हो जायेंगे, यह काम तो काफी भोजन, वस्त्र, और काफी औषधि आदि की सुगमता से ही बनेगा। यानी हमें हर हालत में श्रम और उत्पत्ति को बढ़ाना होगा। परन्तु वह सब स्फीति और

विस्फीति के गोरखधन्धे में पड़कर हवा न हो जाये, इसलिए हमें अपनी मुद्रा नीति को वस्तु विनिमय ('बार्टर') और सहकारिता (को-आपरेटिव्स) के आधार पर ही खड़ा करना होगा।

विनिमय पर विचार करते हुए हम अर्थ-शास्त्र की टेढ़ी-मेढ़ी परिभाषाओं में आपको उलझा रखना उचित नहीं समझते; यों तो देखने में यह प्रश्न जितना सरल मालूम होता है, वास्तविक व्यवहार में उतना ही जटिल है, परन्तु यहाँ हम केवल 'वस्तु-स्थिति' (Facts) के तुलनात्मक निरीक्षण से यह समझने का प्रयत्न करेंगे कि हमारे वर्तमान विनिमय की व्यावहारिक भित्ति क्या है, उसके माध्यम और मानव जीवन की आवश्यकताओं का नाता कैसा है और यदि उनमें परिवर्तन की गुंजाइश है तो क्योंकर। यह स्मरण रखना चाहिये कि यह हमारा अन्तिम परन्तु सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अध्याय है और इस पर विचार किये विना हम 'नव-भारत' की कल्पना भी नहीं कर सकते।

विनिमय, एक अनिवार्य आवश्यकता

२६५. आखिर विनिमय की आवश्यकता ही क्यों होती है? सरल-सा उत्तर है कि किसान जुलाहे को अन्न देकर वस्त्र ले लेता है और इस प्रकार किसान तथा जुलाहा—दोनों के अन्न-वस्त्र, दोनों वस्तु की सहज ही पूर्ति हो जाती है परन्तु इस वैयक्तिक लेन-देन के साथ सामाजिक सम्पन्नता का प्रश्न लगा हुआ है क्योंकि व्यक्ति के संघटित समूह को ही समाज कहते हैं। सम्पन्नता का प्रश्न उठते ही 'आधिक्य' (Surplus) की आवश्यकता विद्यमान होती है। एक किसान को अपने तथा अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए जितने अन्न की आवश्यकता है यदि वह उतने से अधिक पैदा नहीं करता तो वस्त्र के बदले जुलाहे को देने के लिए उसके पास अन्न का अभाव ही रहेगा। एक ही मनुष्य अन्न, वस्त्र तथा जीवन की अन्य आवश्यकताओं का अकेले उत्पादन करने में सफल नहीं हो सकता, अनुपाततः उसे जरूरत से ज्यादा प्रबन्ध और परिश्रम करना पड़ेगा, फिर भी अनेकों कार्य्य और वस्तु उसके किये के बाहर हो जायेंगी। यही कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति अपना उत्पादन क्षेत्र परिमित करके उस पर संगठित 'जोर' देता है और परिणामतः 'आधिक्य' स्थापित करना उसके लिए सहज हो जाता है। जीवनावश्यकताओं के निमित्त 'आधिक्य' और फिर उस 'आधिक्य' द्वारा अन्यान्य वस्तुएँ प्राप्त करने के लिए 'विनिमय' का विधान करके मनुष्य जीविका और जीवन-

संघर्ष को सुगम तो बनाता ही है, अपनी कार्य-व्यस्तता को कम करके (क्योंकि अब उसे अकेले ही एक के बजाय अनेकों कार्य में उलझा नहीं रहना है) मनोरञ्जन तथा ज्ञानोपार्जन के लिए भी यथेष्ट अवकाश प्राप्त करता है। उसे अब अपने पुरुषार्थ में आत्मविश्वास का अनुभव होता है। इस प्रकार एक अविच्छिन्न जीवन प्रवाह के लिए विनिमय धीरे-धीरे अनिवार्य आवश्यकता का रूप धारण कर लेता है।

विनिमय-माध्यम की सृष्टि

२६६. अब एक कदम और आगे बढ़िये। यहाँ पहुँच कर स्वाभाविक प्रश्न होता है कि कितने अन्न के लिए कितना वस्त्र या कितने वस्त्र के लिए कितना अन्न देना होगा? इस कितने-कितने का प्रश्न उठना ही सिद्ध करता है कि दोनों के बदलौन का एक निश्चित आधार, एक व्यवस्थित पैमाना होना चाहिये—बदलौन का पैमाना अर्थात् विनिमय-माध्यम। यह प्रश्न और भी जटिल हो जाता है जब हम देखते हैं कि किसान को अब अपने गाँव के जुलाहे से अन्न बदल कर कपड़ा नहीं लेना है बल्कि उसके बदले जापानी मिलों से तन ढकने के लिए नकली रेशम मँगाना है या जर्मनी के कारखानों से हजामत के लिए उस्तरे और 'ब्लेड' लेने हैं। तो क्या वह अपनी गेहूँ की बोरियाँ जापान और जर्मनी भेज कर रेशम और उस्तरे मँगाये? सम्भव भी हो तो खेद यह है कि जापान को गेहूँ या चना नहीं, लोहे की और जर्मनी को पेट्रोल की दरकार है। फिर भी जर्मन या जापानी को भारतीय किसान से विनिमय करना ही पड़ता है क्योंकि गेहूँ या चना वह किसी रूसी या अमेरिकन को देकर अपनी आवश्यकता को पूरी करता है। इस प्रकार पारस्परिक विनिमय ने एक अन्तर्राष्ट्रीय 'परावलम्बन' के रूप में हमारी ग्राम्य-सम्पन्नता[1] का

---

१. ग्राम्य-सम्पन्नता शब्द का प्रयोग केवल विश्लेषणात्मक ही नहीं, अर्थ तथा उत्तरदायित्व पूर्वक किया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय परावलम्बन के पुजारियों का कहना है कि भारत को जर्मनी के कोयले, रूस के तेल तथा नार्वे के कागजों पर निर्भर करना ही पड़ेगा अन्यथा मनुष्य के लिए सङ्गठन और सहयोग पूर्वक कार्य करना असम्भव और मानव विकास की गति भङ्ग हो जायगी। परन्तु हमारे कृपालु आलोचकों को स्मरण रखना होगा कि बाकू और मैक्सिको के तेल की खानों तथा टाटा और क्रप्स के स्टील कारखानों तथा अहमदाबाद, मैनचेस्टर या कोब के मिलों की सामूहिक उपज के पहिले भी ढाका के मलमल देश-विदेश में प्रचलित थे, भारतीय और चीनी कारीगरी संसार भर में प्रतिष्ठित थी, मुगल कला और मीनाकारी विश्व-विस्मय का कारण मानी जाती थीं; लोग कलमयी खानों की सामूहिक उपज के अभाव में धातुओं से वञ्चित थे, (पृष्ठ ३३२ पर)

स्थान लेकर विनिमय के लिए विनिमय-माध्यम की सृष्टि को अनिवार्य बना दिया है।

२६७. इस विनिमय माध्यम के प्रश्न पर तनिक ध्यान से विचार कीजिये। जर्मन अपने उस्तरे भारतीय को देकर जापानी से नकली रेशम की गाँठें मँगाता है और वह जापानी अपने रेशम जर्मन को देने के पश्चात् कुछ को मेक्सिकन से तेल के पीपे और शेष का मिस्री और अमेरिकन से रूई मँगाता है। स्वभावतः विनिमय-क्रम की यह अनन्त और गतिमान श्रृङ्खला विनिमय-माध्यम को एक "स्वतन्त्र" और "स्वगामी" सृष्टि में परिणत होने पर बाध्य कर देती है। स्वतन्त्र इस

सो बात भी नहीं; बड़ी से बड़ी तोपें, भारी से भारी घण्टे और कलश, तलवार, बन्दूक, बर्तन तथा सर्वत्र नाना रूप से धातु का उपयोग होता था; सोने-चाँदी की पालकियाँ, मूर्त्तियाँ, हाथियों के हौदे तथा जवाहरात की भरमार सिद्ध करते हैं कि हम आज की कलमयी, केन्द्रित और सामूहिक उपज के बिना भी धातु और धन-धान्य से परिपूर्ण थे। भारतीय इतिहास और साहित्य के साथ ही हमारे निकट-पूर्वजों के अनुभव हमें साक्षात् कराते हैं कि हम खनिज पदार्थों का तब भी प्रत्येक आवश्यक उपयोग करते थे। मिट्टी के तेल बिना हम अँधेरे में रहते थे, सो बात नहीं। तब के झाड़ और फानूसों का बहुरङ्गी तथा चित्ताकर्षक 'प्रकाश अब के बिजली-पसन्दों की 'नयन जोत' को हर कर हसरत का कारण बन गया है। हम तब जाड़े में कपड़े बिना ठिठुर कर या गर्मी की लू से झुलस कर चूहों की मौत मर जाते थे, सो बात भी नहीं। फिर बात है क्या? बात यह है कि तब वही और उतनी ही उपज की जाती थी जिसकी और जितने की आवश्यकता और खपत या निश्चित वैदेशिक माँग होती थी। तब हमारी उपज को हमारी आवश्यकताओं पर निर्भर रहना पड़ता था और उत्पादक तथा खरीदार का पारस्परिक साक्षात् उनकी आवश्यकताओं के अनुपात को नियन्त्रित और प्राकृतिक धरातल पर स्थिर रखने में क्रियात्मक शक्ति बना रहता था। परन्तु अब उपज करके कहीं न कहीं, भारत या काङ्गो में, किसी न किसी के द्वारा, आवश्यकता या अनावश्यकता का विचार किये बिना ही, माल उसके सिर ठोंक देना है; यह है सामूहिक उपज और उसकी "प्रचारित" तथा "जबरदस्ती" की खपत; यही कारण है कि हम देश, काल, ऋतु, आचार, विचार तथा व्यवहार के प्रतिकूल भी हजारों कार्य और वस्तु के आदी होते जा रहे हैं; यह आदत हमारी आवश्यकताओं की सूचक नहीं और इसी अनावश्यक खपत को सफल विस्तार देने के लिए "पूँजी-प्रेरित" "विद्वान् लोग" "ग्राम्य-सम्पन्नता" के विरोध में "अन्तर्राष्ट्रीय-परावलम्बन" के नारे लगा रहे हैं और परिणाम यह है कि अति-उपज (Over-Production) और भोजनागार में भूख की उत्पीड़क यातनाओं से लोगों की व्याकुलता बढ़ती ही जा रही है। जरा सोचिये कि हम बसे तो हैं बनारस के गाँव में और हमारे बच्चे विलायत की बिस्कुट और हालैण्ड की बोतलों पर पल रहे हैं। कहलाने को हम हिन्दुस्तानी हैं और लदे हैं जापान या अमेरिका के नकली रेशम से। परिणामतः हम सीधे-से (Direct) "विनिमय" के स्थान में एक दुरूह और पेचदार (Complicated) माध्यम का सूत्र प्राप्त करने के लिए बाध्य हो जाते हैं।

प्रकार कि आप गेहूँ पैदा करें या खरगोश के बच्चे, आपको कपड़ों की आवश्यकता हो या मूँछ काली करने के लिए खिज़ाब की, आपको अब एक माध्यम प्राप्त है जिसके द्वारा संकटकालीन अथवा अन्य असाधारण परिस्थितियों को छोड़कर आप अपनी वाञ्छित वस्तु को सहज ही प्राप्त कर सकते हैं, अपने वाञ्छित कार्य को सुलभ बना सकते हैं। स्वगामी इस प्रकार कि वह आपके बिना भी एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य के पास, एक स्थान से दूसरे स्थान पर, सदा, निरन्तर गति से, पहुँच कर कार्य करता रहता है। अर्थात् अब जीवन की आवश्यकता और विनिमय प्रेरणा में कोई साक्षात् और तात्कालिक सम्बन्ध नहीं रहा। अब लोग अपने माल अथवा परिश्रम के बदले मुद्रा प्राप्त करते हैं जो विनिमय-माध्यम के रूप में प्रचलित होता है। वर्तमान मुद्रा-विधान के पूर्व भी विनिमय-माध्यम की चलन रही है (कौड़ी अथवा बैल इत्यादि) परन्तु आज की मुद्रा पद्धति ने विनिमय माध्यम को एक अत्यन्त विकृत और जटिल रूप दे दिया है। खैर, इस प्रश्न के विचार पर हम फिर आयेंगे, यहाँ हमें केवल यही समझना है कि अब लोग जीवनावश्यकता की पूर्ति के लिए नहीं, बल्कि सिक्कों के लिए उत्पत्ति और कार्य करते हैं, या यों कि अब हमारे श्रम और उत्पादन का लक्ष्य जीवनावश्यकता की पूर्ति नहीं, पैसों की प्राप्ति पर अवलम्बित हो गया है।

'स्वतन्त्र' और 'स्वगामी विनिमय-माध्यम के दो आंवश्यक विशेषण

२६८. इस अस्वाभाविकता के साथ एक तीसरी पेचीदगी पैदा होती है; उत्पत्ति और जीवनावश्यकता की पूर्ति के मध्य एक नवीन प्राणी की सृष्टि अनिवार्य हो गयी है जिसे 'मिडिलमन' या दलाल कहना चाहिये। 'दूकानदार' या आढ़त-वाले भी इसी वर्ग में आते हैं। आपका गुड़, उसका कपास, तीसरे का गेहूँ, चौथे का लोहा या ज़ेवर—सब लेते जाते हैं और सबको बदले में सिक्के अर्थात् प्रचलित "विनिमय-माध्यम" देते जाते हैं। हम इन सिक्कों को देकर समय तथा आवश्यकतानुसार किसी अन्य व्यक्ति या स्थान से अपनी मनोवाञ्छित वस्तु को प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार अब जुलाहे को किसान की या किसान को जुलाहे की न तो आवश्यकता ही रह जाती है, न उनका पारस्परिक साक्षात् या सम्पर्क हो पाता है। दलालों की चख-चख और बाजारू चहल-पहल में वह पैसा

पैसे की माया

लेता है और उन्हीं पैसों के हेर-फेर से अपनी आवश्यकता पूरी करता है और, परिणामतः, लोगों का सामाजिक परस्पर भी छिन्न-भिन्न हो जाता है। इस प्रकार हमारे विनिमय-माध्यम के "स्वतन्त्र" और "स्वगामी" होने के कारण दूकानदार और महाजनों को उत्पादक और खरीदार—दोनों पर अपना घना साया फैलाने का सुअवसर प्राप्त हो गया है। एक ओर तो लोगों को ऐसा माध्यम मिल जाता है जिसके द्वारा अत्यन्त सरलता पूर्वक अदल-बदल की झक-झक या परेशानी उठाये विना ही निष्कण्टक रूप से वह अपनी आवश्यकता पूरी कर लेते हैं, दूसरी ओर उत्पादक वर्ग को स्वतन्त्र होकर अपने कार्य विस्तार में सहायता मिलती है। परन्तु अभी यहाँ बात ध्यान में रखने की तो केवल यह है कि इस माध्यम की उपरोक्त विशेषता के कारण चारों ओर लेन-देन का सौदा सहज ही गर्म हो उठता है; कुछ भी दो, माल या मेहनत, कहीं भी, कैसे भी दो, कुछ कागज या धातु के टुकड़ों के हेर-फेर से काम बन जाता है। इस मुद्रा-विधान से श्रम और पूँजी, दोनों सन्तुष्ट हैं; एक की परेशानी दूर होती है, दूसरे को शक्ति और सम्पन्नता का साधन प्राप्त होता है क्योंकि जितनी ही अधिक मुद्रा का वह मालिक होगा उतना ही उसका कार्य-क्षेत्र व्यापक होगा और इसी शक्तिशाली और सम्पन्न व्यापकता को अकाट्य और स्थायी बनाये रखने के लिए पूँजीपति श्रेणी-बद्ध होकर आयोजना और प्रचार करता है और श्रमिक वर्ग भी स्वार्थ-वश उसीका समर्थन करता है। परिणामतः हमारा "साधन" (माध्यम) "साध्य" (आवश्यकता) बन कर सबको आच्छादित कर लेता है; अमीर, गरीब, सेठ, साहूकार, मजदूर, किसान, राजा, रङ्क—सब पैसे की माया में फँस जाते हैं।

२६९. अब यहाँ आकर इस माध्यम का चतुर्थ खण्ड प्रारम्भ होता है—सरकारी नियमन। बिना सरकारी नियमन के मुद्राविधान के दूषित या भङ्ग होने का भय है, अतएव सभी लोग सरकारी हस्तक्षेप का समर्थन करते हैं। अब सिक्कों पर सरकारी आधिपत्य स्थापित हो जाता है अर्थात् उत्पादन और जीवन की आवश्यकता तथा श्रम और पूँजी के बीच विनिमय माध्यम रूपी डोर को पकड़े हुए सरकार हमारे जीवन-यापन पर भी कानून का अप्रत्यक्ष परन्तु प्रत्यक्ष से भी प्रबल पञ्जा रख देती है। इसका एक प्रबल प्रमाण आपको अभी ३९-४५ ई० युद्ध के परिणाम स्वरूप रुपयों की कमी और हमारी आर्थिक

सिक्कों पर सरकारी आधिपत्य

बेचैनी से मिला होगा। हजारों काम रुकने लगे, बाजार में सौदा मिलना भी कठिन हो गया, चारों ओर अजीब कोलाहल और हाहाकार का साम्राज्य था। सरकार को विवश हो कर एक रुपये का कागजी नोट चलाना पड़ा; चाँदी के रुपये की मिलावट में भी हेर-फेर करना पड़ा।[1] सरकार ने बे-लगाम होकर नोट छापे।

२७०. माध्यम द्वारा समस्त विनिमय व्यवहार पर सरकारी आधिपत्य होने का एक दुःखद प्रमाण भारतीय विनिमय अनुपात (१ शि० ६ पें०) से मिलेगा। माध्यम पर सरकारी आधिपत्य होने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय विषमता उत्पन्न हो जाती है क्योंकि बहुधा राजनीतिक कारणों वश ही एक देश को दूसरे का मुँहताज होना पड़ता है। एक राष्ट्र स्वेच्छा-पूर्वक दूसरे का आर्थिक जीवन दूभर कर देता है। ३९-४५ ई० युद्ध के पहले भी कई देशों के सम्मुख (जब कि उनका अन्य देशों से सम्बन्ध-विच्छेद नहीं हुआ था और उन देशों में यथेष्ट उपज भी थी) विनिमय-माध्यम के अभाव के कारण जीवन-मरण की समस्या खड़ी थी। विनिमय-माध्यम की इसी पेचीदगी के कारण भयङ्कर सामाजिक विषमता और अंतर्राष्ट्रीय वैमनस्य उत्पन्न हो जाता है।

विनिमय माध्यम—वर्तमान स्वरूप और सामाजिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय विषमता

२७१. डा० ग्रेगरी इस कटु सत्य का जिक्र करते हुए हमारे नेत्रों के सम्मुख एक शोचनीय चित्र प्रस्तुत करते हैं—

"चाय और रबर वाले अपनी उपज को घटाते जा रहे हैं क्योंकि मध्य युरोपीय देशों के पास पैसा (सिक्के) ही नहीं जिसे देकर वह उनकी उपज को खरीद सकें।"[2]

---

१. एक रुपये के नोट की चलन में रिजर्व बैंक कानून का, युद्ध से स्वतन्त्र और पूर्व निश्चित आयोजन था, फिर भी उस स्थगित निश्चय को कार्य रूप देना ही उसका युद्ध से सम्बन्ध जोड़ देता है; कुछ भी हो, युद्ध की पेचीदगी या रिजर्व-बैंक कानून का पूर्व निश्चित उद्देश्य, दोनों ही आर्थिक सङ्कट और "माध्यम" की पेचीदगी का प्रकाश करते हैं। खैर, इस प्रश्न तथा सिक्कों के "रूपक" (Token) अङ्ग पर आगे चल कर विचार होगा।

२. रुपये की परिभाषा करते समय हम उसके लाक्षणिक तथा अन्य अनेक पहलू पर फिर विचार करेंगे परन्तु एक बात यहाँ समझ लेना आवश्यक है कि रुपये से अर्थ ताँबे के सिक्के, कागज के नोट, हुण्डी और चेक इत्यादि, सोने चाँदी तथा अन्य धातुओं के सिक्के होते हैं। क्या इङ्गलैण्ड और अमेरिका जो माल दूसरे देशों से खरीदते हैं उसका दाम सोने की सिल्लियों (पृष्ठ ३३६ पर)

२७२. इस प्रकार विनिमय विधान और उसके माध्यम की दूषित पेचीदगियाँ इन अर्थ शास्त्रियों के ही दिये हुए हमारे प्रचलित सिद्धांतों पर भी आघात करना चाहती हैं ; "माँग और पूर्ति की व्याख्या" (Law of Demand and Supply) झूठी दीख रही है। माँग भी है, माल भी है, पर लेने और देनेवाले, दोनों, अपने-अपने स्थान पर निरीह और निष्क्रिय-से खड़े हैं। अफगानिस्तान को भारतीय कपड़ों की जरूरत है परन्तु वह भारतीय कपड़ों का दाम भारतीय सिक्कों से नहीं, काबुल के मेवों से चुकाना चाहता है। परन्तु भारत तो भारतीय सिक्के या सोना चाहता है। परिणामतः न तो भारत को मेवे प्राप्त होंगे न अफगानिस्तान को कपड़े। भारत में लाखों चीजों की कमी है। सारे देश में हाहाकार है। परन्तु भारत को विदेशों से माल नहीं मिल पा रहा है क्योंकि "स्टर्लिंग" (पौण्ड पावने) ने भारत की सोने या सिक्के की निधि को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है। उसी प्रकार सिक्कों का पारस्परिक आधार नष्ट हो जाने के कारण हिन्दुस्तान और पाकिस्तान को एक-दूसरे का माल सुगमतापूर्वक नहीं मिल रहा है।

माँग और पूर्ति

साधन (माध्यम) ने साध्य (वस्तु) का स्थान लेकर एक अजीब उलझन पैदा कर दी है। अब कपड़े और मेवों की माँग के लिए सिक्कों की माँग पैदा होती है। सिक्कों के अभाव में जीवनावश्यकता का अभाव और अन्त में लोगों का जीवन कृत्रिम पैरायें में ढलने लगता है। इस माध्यम का एक और परिहास जनक उदाहरण लीजिये—

"पत्रकारों ने कुस्तुन्तुनिया के सर्वश्रेष्ठ होटलों में पौण्ड के भाव से (नाम पर) इतने सस्ते में बसर किया जो इस प्रकार सस्ते होने के लिए हास्य-जनक था।"

से ही चुकाते हैं ? नहीं ; आखिर हुण्डी और नोटों का ही प्रयोग तो होता है। फिर भला कुछ देशों के लिए उसी सुविधा का अभाव क्यों हो जाय ? स्पष्ट उत्तर है कि हमारे विनिमय विधान और उसके माध्यम का वर्तमान रूप। इसी उलझन से बचने के लिए भारत सरकार के भू० पू० व्यवसाय मन्त्री सर ज़फ़रउल्ला खाँ ने "बार्टर" (वस्तु से वस्तु विनिमय) का प्रस्ताव किया था। जर्मनी के अर्थ मन्त्री डा० शॉट ने इसी नीति का प्रयोग करके जर्मनी को आर्थिक विनाश से बचाने का जबरदस्त आयोजन किया था। भिन्न-भिन्न देशों में पण्यों के बदले पण्यों का सफलता पूर्वक आदान-प्रदान किया गया है। इससे मुद्रा या मुद्रा-धातु पर वस्तु विनिमय की श्रेष्ठता सिद्ध होती है।

२७३. अभिप्राय यह कि विनिमय-माध्यम के सरकारी रूप ने वस्तु पदार्थ के मूल्य को बिल्कुल कृत्रिम और निराधार-सा बना दिया है। और यदि परिणाम स्वरूप मनुष्य-मनुष्य, समाज और राष्ट्र में अनुचित विषमता उत्पन्न हो गयी है तो आश्चर्य नहीं बल्कि इसे सरकारी देन और प्रचलित माध्यम सिद्धांतों का ही फल समझना चाहिये।

सिक्के और जीवनावश्यकता

२७४. इसी विचारधारा को आगे बढ़ाने के लिए यह दुहराना पड़ता है कि अब लोगों के सम्मुख यह प्रश्न नहीं कि कितने गज कपड़े के लिए कितने सेर गेहूँ या जौ अथवा कितने अन्न के लिए कितना परिश्रम करना होगा, बल्कि प्रश्न यह है कि सिक्कों की अमुक संख्या के लिए कितना परिश्रम या कितनी वस्तु देनी होगी। पारस्परिक व्यवहार में भी अब एक किसान दूसरे से यह कहता हुआ बहुत कम देखा जाता है कि—भाई मेरे खेत में चार दिन सिंचाई करा दो मैं तुम्हारे खेत में चार दिन गुड़ाई करा दूँगा। वह अब कहता है कि—"चलो हमारे खेत में पानी चला दो, दो आने पैसे दे दूँगा।" श्रम ही नहीं, उत्पादन भी "पैसों के लिए" हो रहा है। कल वाला किसान जो गेहूँ, जौ, या तूर की पैदावार करके अपनी तथा सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति का उत्तरदायित्व सँभाले हुए था आज वही जौ, गेहूँ या तूर की अपेक्षा गन्ने की फसल पर उतर आया है और चीनी की मिलें उसकी खड़ी फसल को लेकर तत्काल पैसे दे देती हैं; इस प्रकार वह अनेक झंझटों से बचने की तो सोचता ही है, पैसे भी उसे अधिक मिलते हैं; अब उसका लक्ष्य पैसों पर है न कि जीवनावश्यकताओं पर। इस बात पर ध्यान से विचार कीजिये। गेहूँ का गुण यह है कि उससे पेट भर कर सुखी और स्वस्थ रहा जाये। गेहूँ का यही असली मूल्य है। यह अमीर-गरीब, सबके लिए एक समान है। परन्तु अब गेहूँ वाले को सीधे गेहूँ देकर कपड़ा नहीं मिलता। अब गेहूँ के लेनेवाले और देनेवाले, दोनों की नजर गेहूँ के क्षुधा निवारक या आवश्यकता निवारक तत्वों पर नहीं, उसके बदले कितने सिक्के मिल सकते हैं, इस बात पर है। इसका अर्थ यह कि गेहूँ का प्राकृतिक मूल्य नष्ट करके उसमें एक बिल्कुल ही कृत्रिम मूल्य की सृष्टि की गयी है। विशेष बात यह स्मरण रखने की है कि अब गेहूँ वाले ने पैसों के लोभ में मिल वालों की इच्छा और आवश्य-

कृत्रिम मूल्य

कतानुसार गन्ने बोया है इसलिए अब मिल वालों की न्यूनाधिक खपत और बिक्री पर उसकी उपज, उसके कार्य-क्रम निर्भर हैं, उन्हीं की मर्जी और व्यवस्था पर उसे जीना-मरना पड़ता है।[1] यही नहीं, बल्कि यह भी समझने की बात है कि अब वह गुड़ या गेहूँ देकर जुलाहे से कपड़े नहीं प्राप्त कर रहा है बल्कि मिल से पैसे लेकर कस्बे वाले दूकानदार से अपने लिए चीजें मोल ले रहा है। उसी एक गाँव के जुलाहे और किसान, मोची और ठाकुर की पारस्परिकता नष्ट हो गयी है। सारा सामाजिक सूत्र ही छिन्न-भिन्न हो चला है। इसमें वह रेल, पुलिस, जहाज, चुङ्गी या इनकम टैक्स के साथ ही दूकानदारों का मुनाफा भी चुका रहा है। इन्हीं बातों से भूख और लाचारी का विस्तार हो रहा है। इस प्रकार साधन को साध्य और माध्यम को मूल समझ लेने का फल यह होता है कि हमारा सामूहिक जीवन, हमारा सामाजिक संघटन अब पारस्परिक श्रम और सहयोग पर अवलम्बित नहीं रहा, पैसों के नाम पर दुःख और अभाव के एक विचित्र गोरख-धन्धे में उलझा हुआ लड़खड़ा रहा है। पारस्परिक श्रम और सहयोग के ढीले पड़ जाने से मनुष्य के सारे बन्धन ढीले पड़ गये हैं, स्वार्थ, अनाचार और साम्प्रदायिकता ने समाज में घर कर लिया है। सारांश यह कि वर्तमान मुद्रा-विधान और विनिमय-माध्यम का आधार अप्राकृतिक हो जाने के कारण समस्त संसार का जीवन संकटमय हो उठा है। कहलाने के लिए अर्थशास्त्र के अनेकों महा विद्वान् और धुरन्धर पण्डित समस्या का हल करने में सिर-पच्ची कर रहे हैं परन्तु उनके द्वारा हमें कुछ बड़े-बड़े लाक्षणिक और अज्ञेय शब्दों के सिवा अधिक प्राप्त होता नहीं दीखता।

वर्तमान मुद्रा-विधान और विनिमय-माध्यम का अप्राकृतिक आधार

---

1. "A farmer, who cultivates Money Crops for factories, is no better than factory labourer. In fact the lands, which are given up to these crops, are functionally part of the factory, which means the farmers working on these farms are themselves factory labours. They lose their independence, they have no bargaining power, and they get the lowest of returns"—J. C. Kumarappa, Industrial Survey Committee Report, Part I, vol. 1, P. 5.

(२)

२७५. प्रत्येक ग्राम में विभिन्न पेशे के लोग रहते हैं; आज ही नहीं, पहले भी लोग इसी प्रकार बसे हुए थे। अन्न, वस्त्र, जेवर, जवाहरात, शिक्षा, कला और कारीगरी, औषधियाँ तथा अस्त्र-शस्त्र की पूर्ति प्रत्येक गाँव, प्रत्येक नगर, न्यूनाधिक रूप में स्वयं करता था। एक को दूसरे का बहुत ही कम मुँहताज होना पड़ता था; कम से कम प्रत्येक क्षेत्र सन्तुष्ट और स्व-सम्पन्न था। पारस्परिक अदल-बदल द्वारा अनेक आवश्यकताओं को पूर्ण कर लेना उसके लिए सरल-सी बात थी। यह नहीं कि हम बसे हैं काशी में और हमारे बच्चे अँग्रेजी बिस्कुट या हॉलैण्ड की बोतलों पर पल रहे हैं। कहलाने को हम हिन्दुस्तानी हैं पर हमारा तन जापान के नकली रेशम से लदा पड़ा है, हमारी चाय जावा की चीनी बिना मीठी ही नहीं होती। परिणामतः, "वस्तु विनिमय" के स्थान में हम "विनिमय-माध्यम" का एक अस्वाभाविक सूत्र प्राप्त करने के लिए बाध्य हो जाते हैं।

पारस्परिक अदल-बदल द्वारा जीवनावश्यकताओं की पूर्ति

२७६. यह कहा जा चुका है कि विनिमय द्वारा मनुष्य अवकाश, अधिक सुविधा और सम्पन्नता ही नहीं, सामूहिक सहयोग और सामाजिक जीवन को भी सुलभ बनाता है। यह भी दर्शाया गया है कि अब वह विनिमय से "विनिमय-माध्यम" पर उतर आया है। "विनिमय-माध्यम" यानी वर्तमान मुद्रा-विधान में सिक्के, करेन्सी नोट, बैंक-चेक, हुण्डियाँ तथा ट्रेज़री-बिल इत्यादि सभी सम्मिलित हैं।

'विनिमय-माध्यम' शब्द का स्पष्टीकरण

२७७. संसार का सम्पर्क घनिष्ठ हो जाने के कारण लोगों की पारस्परिक लेन-देन भी बढ़ गयी है और इसे निरन्तर गति से बढ़ती रहने के लिए "विनिमय-माध्यम" को विस्तार देते जाना ही (भले ही उस स्वच्छंद विस्तार में अनाचार और उलझनें पैदा हो गयी हैं) सरकारों का लक्ष्य बन गया है। मशीनाश्रित व्यवस्था के अन्तर्गत पूँजी में केन्द्रीयता का समावेश हो गया है और पूँजी का अर्थ है मुद्रा (विनिमय-माध्यम)। मुद्रा के लिए सभी लालायित हैं और वह पूँजीपतियों (साम्राज्यवादियों का परिवर्तित रूप) के हाथ या

मुद्रा (विनिमय-माध्यम) की व्यापक माँग

सरकारी सूत्रों में केन्द्रित है, अर्थात् असंख्य लोगों पर थोड़ों का सहज ही प्रभाव स्थापित हो जाता है।

सम्पत्ति के उत्तरोत्तर पेचीदगी के साथ विनिमय माध्यम की जटिलता

२७८. विनिमय के साथ ही ज्यों-ज्यों वस्तु-पदार्थ का साम्पत्तिक रूप जटिल होने लगता है विनिमय-माध्यम की जटिलता भी गूढ़ होती जाती है। करोड़ों मन गंगा जल हिमालय से निकल कर हिन्द-सागर में वह जाता है; जिसकी जितनी इच्छा हो घर ले जाये, नहाये, धोये, भोजन बनाये; कोई पूछ-ताछ नहीं, कोई रोक-टोक नहीं; इसलिए उसका कोई मूल्य भी नहीं। परन्तु जब दक्षिण भारत में उसकी शीशी और बोतलें परिश्रम और पुरुषार्थ के साथ पहुँचानी पड़ती हैं तो निस्सन्देह गंगा जल का मूल्य लगने लगता है और वही स्वतन्त्र मूल्यहीन वस्तु अब सम्पत्ति के रूप में प्रकट होती है, ठीक उसी प्रकार जैसे बन्द घर में हवा का सुखोपभोग करने के लिए बिजली के पंखे द्वारा प्राप्त हवा का मूल्य स्थिर हो जाता है। अब वही हवा और वही पानी साम्पत्तिक रूप में हमारे सम्मुख आ रहे हैं। नहरों में सिंचाई करनेवाले, पर्वतागारों में बटुरकर बिजली पैदा करनेवाले या बोतलों में बन्द होकर दक्षिण भारत पहुँचनेवाले गंगा के सञ्चित जल के समान यदि हवा का भी आयात-निर्यात प्रारम्भ हो जाय तो वह भी निश्चित रूप से सम्पत्ति की गणना में आ सकती है। सम्पत्ति की इस बढ़ती हुई पेचीदगी के साथ स्वभावतः माध्यम की जटिलता बढ़ती जाती है, विशेषतः वर्तमान युग में जब कल-कारखानों के द्वारा सम्पत्ति के केन्द्रित उत्पत्ति पर कुछ थोड़ों का ही आधिपत्य हो जाता है और वे लोग उसके सदुपयोग और दुरुपयोग का स्वेच्छानुसार सञ्चालन करते हैं। इसलिए एक ऐसे माध्यम की आवश्यकता अनिवार्य हो जाती है जो लेन-देन के लिए सदा सुविधानुसार तैयार रक्खा जा सके। सिक्के पहले भी थे परन्तु अब उनको सदा सुरक्षित रखने की आवश्यकता अनिवार्य हो गयी है क्योंकि बेंचनेवाले केन्द्राधिपति बन जाने के कारण "माँग और खपत" के अन्तर्गत नहीं रहे, माँग और खपत को ही अपने मनोवाञ्छित इशारों पर पैदा कर रहे हैं। माल रहते हुए भी नहीं बेंचते, बेंचकर उसके मूल्य को किसी सुअवसर के लिए रख छोड़ते हैं; अपने धन और सम्पत्ति को वह स्वेच्छानुसार जहाँ उन्हें अधिक गुञ्जाइश, अधिक मुनाफा दीखता है, लगाते हैं; भारत का धन जापानी मिलों में, जापान का धन अफ्रीका

के जंगलों में, अफ्रीका का सोना अमेरिका के बैंकों में, अमेरिका की रूई चीन की बाजारों में खप रही है और वह भी विचित्र रोक-थाम और व्यावसायिक चालों के साथ। कहने का अभिप्राय, मुद्रा अर्थात् विनिमय-माध्यम में स्थायित्व का गुण होना परमावश्यक हो गया है ताकि वह वर्षों तहखानों में दबे रहने पर भी खराब न हो सके। फलवाला शाम तक अंगूर की टोकरी खाली न कर ले तो उसका माल खराब हो जायगा और बात उसकी जीविका पर भी आ सकती है। उसी प्रकार किसान और जुलाहे को भी शीघ्रातिशीघ्र अपना माल खपाना चाहिये वरना उसकी सुरक्षा कठिन हो जायगी और यदि लम्बी रक्षा करनी पड़ी तो वह बे-मौत मरा। परन्तु सिक्कों को जब तक मन चाहे दबाये रखिये और फिर भी वह आपकी योजनानुसार कार्य करेंगे। विरोधाभास तो यह है कि सिक्कों के इस स्थायित्व ने ही संसार की व्यवस्था को भ्रष्ट कर दिया है। लोगों को मनमाना खर्च करने का अवसर मिलता है और वह अपने खर्च में समाज तथा राष्ट्र को आवश्यकताओं को सुगमतापूर्वक नजर अन्दाज कर जाते हैं।

विनिमय-माध्यम में स्थायित्व का गुण परमावश्यक है

२७६. सिक्कों का यह दोष विशेष दुःखदायी तब बन जाता है, जब वह छोटे से बड़ा और बड़े से भी बड़ा करेन्सी और बैंक नोट, चेक, ट्रेजरी बिल, ड्राफ् और हुण्डी बन जाता है।

विनिमय के लिए एक सरल से माध्यम का होना दोष-युक्त नहीं होता बशर्ते कि उनका अङ्कित मूल्य (Denominations) अधिक न हो। छोटे-मोटे सिक्के (पैसे, एकन्नी, दुअन्नी, चवन्नी तथा अठन्नी, पेनी या सेन्ट आदि) अधिकतर जीवन के दैनिक व्यवहार में ही काम आते हैं; इन्हें बटोर कर जमा रखने या व्यावसायिक उलट-फेर में बहुत कम काम लिया जाता है। परन्तु रुपये शिलिङ्ग, करेन्सी या बैंक नोटों द्वारा बड़े-बड़े सौदे होते हैं, एकत्रित करके वैयक्तिक कोष तैय्यार होता है, चोर बाजार का संचालन किया जाता है जिनका हमारे आर्थिक अस्तित्व पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है, समाज में आर्थिक विषमता उत्पन्न हो जाती है, कहीं धनाधिक्य, कहीं धनाभाव खड़ा हो जाता है और परिणामतः नाना प्रकार के रोग और व्याधियाँ उत्पन्न

आर्थिक रोग मूलतः माध्यम-विधान से ही उत्पन्न होते हैं

होकर हमें त्रस्त करने लगती हैं। संसार का प्रत्येक आर्थिक रोग मूलतः इस प्रकार के माध्यम-विधान से ही उत्पन्न होता है। केवल दो-चार उदाहरणों से ही बात स्पष्ट हो जायगी।

(अ) आप किसी देहाती को एक रुपया देकर दस सेर गेहूँ खरीदते हैं। वह चुपके से आपको गेहूँ देकर आपका रुपया लेता है क्योंकि वह जानता है कि उसी रुपये को लौटाकर वह अपना तन ढकने के लिए जुलाहे से कपड़ा ले सकता है, सुनार को देकर अपनी स्त्री के लिए नाक की लौंग खरीद सकता है। आप किसी से काम कराकर उसे १) दे देते हैं और वह अपने परिश्रम के बदले आप से प्राप्त रुपये के द्वारा अपने अन्न और वस्त्र की व्यवस्था करता है। किसान, जुलाहा या मजदूर, आपके रुपये को देकर अपने बीमार बच्चे के लिए दवा खरीदते हैं और वह दवा कैनाडा या इङ्गलैण्ड से आयी है। दवा वाला डाक्टर कैनाडा से माल मँगाने में आपका ही रुपया इस्तेमाल करता है। परन्तु कैनाडा वाले आपका रुपया वैसे ही नहीं स्वीकार कर लेते जैसे हम और आप। कैनाडा वालों का दाम तो कैनाडा के ही सिक्कों में चुकाना पड़ेगा और आपके सिक्कों का मूल्य उनके लिए उतना ही है जितना उसमें वास्तविक द्रव्य है। आपके रुपये या नोट में कितनी चाँदी या कागज है? बेशक

सरकारी सुदृढ़ता और सिक्के

आपकी सरकार (जिसके नाम से आपके सिक्के चल रहे हैं) अपने 'मेटैलिक रिज़र्व' या "करेन्सी बैंकिङ्ग" द्वारा आपके सिक्कों की जमानत करती है और आपके यह सिक्के (Token Money) सरकारी निश्चित दर पर ही स्वीकार कर लिये जाते हैं और यदि आपकी सरकार सुदृढ़ और विश्वसनीय हुई तो आपके सिक्के निर्विरोध स्वीकार भी होते रहते हैं।[1]

---

१ सरकार की दुर्बलता अर्थात् उसके "रिजर्व" और "करेन्सी बैंकिङ्ग" की कमजोरी से दशा कैसी शोचनीय हो सकती है—आपने डा० ग्रेगरी के तुर्की सम्बन्धी उपरोक्त उदाहरण तथा भारत सरकार की बड़े नोटों की "रद्दी करण" आज्ञा की पारिणामिक पेचीदगियों से देखा होगा। विनिमय में ही नहीं, यों भी जितना माल या परिश्रम आपने दिया, उसके बदले में आपको प्राप्त सिक्के में उतना ही द्रव्य नहीं रहता। समय पड़ने पर आप कह सकते हैं कि आप ठगे गये, आपको धोखा दिया गया, कसदन नहीं, गलत तरीकों के कारण।

परन्तु इसमें वास्तविक पेचीदगी क्या होती है ?[१] एक ओर जैसा अभी कहा गया है, धनाधिक्य और धनाभाव की दीवार खड़ी होती है और उसी विषमता के आधार पर प्रलयंकारी व्यावसायिक चालें, आर्थिक उलट-फेर और सामाजिक ववण्डर पैदा किया जाता है, दूसरी ओर कैनाडा की माँग है कि उसके माल के बदले उसे उतनी ही चाँदी या सोना मिलना चाहिये। कैनाडा में एकत्रित आपके सिक्के भारत लौटाये जायें और फिर यहाँ से उतनी ही चाँदी या सोना भेजा जाय, इसमें कुछ खतरा है, कुछ खर्च होगा अर्थात् आपके सिक्कों का कैनाडा को चुकता पाने के लिए कुछ बट्टा देना पड़ा। बस इसी सिद्धान्त पर एक देश का दूसरे देश के सिक्के से विनिमय-दर स्थिर होता है जो परिवर्तनीय परिस्थितियों का अपेक्षित होने के कारण नित्य नयी परेशानियाँ उत्पन्न करता रहता है। यह दूसरी बात है कि अधिकांशतः सोना या चाँदी नहीं लौटाना पड़ता परन्तु वह व्यावसायिक विधान और पारस्परिक समझौता हमारे प्रस्तुत माध्यम प्रश्न से पृथक् की बात है।

मुद्रा विधान की परिवर्तनीय परिस्थितियों की नई परेशानियाँ

(ब) यहाँ से हम तनिक और आगे बढ़ते हैं। हमने अभी-अभी यह समझने की कोशिश की है कि "वैदेशिक व्यापार की आर्थिक पूर्ति" के लिए ही हमें "देश-देश की मुद्रा का विनिमय-दर" स्थापित करना पड़ता है परन्तु वैदेशिक व्यापार छोटे-छोटे सिक्कों द्वारा नहीं बड़े-बड़े कागजी नोट और अन्य महाजनी युक्तियों से ही चलता है।

मुद्रा ही सर्वव्यापी क्रयशक्ति है

१. सिक्कों में यदि उतनी ही धातु हो जितना मूल्य उन पर अङ्कित होता है तो सिक्कों के बनाने और चलाने का खर्च सरकार पर जबर्दस्त घाटे के रूप में पड़ेगा। अतएव इसे पूरा करने के लिए सरकार सिक्कों के धातु में अनुपाततः कमी करके काम चला लेती है। होना तो चाहिये कि सरकार इस खर्च की सार्वजनिक कोष से पूर्ति करे जैसे सड़क और सराय बनाना सरकारी धर्म है। मेरे इस विचार का समर्थन कई अन्य विद्वानों के द्वारा भी होता है। इतना ही नहीं, अभी कुछ दिन पहले अमेरिका में "स्वर्ण-सनद" (Gold Certificate) की चलन भी थी। यह सनद होते तो बतौर नोट के ही थे पर इच्छा होने पर आप सरकारी खज़ानों से उतना ही सोना ले सकते थे। परन्तु संसार की व्यावसायिक पेचीदगियों में पड़कर उस प्रथा को रद्द करना पड़ा और हमें संसार के समस्त मुद्रा-विधान को सोच समझ कर उसी बात पर सप्रमाण जोर देने का साहस होता है जिसकी ओर मैं आपको ले चल रहा हूँ।

मुद्रा के इस पहलू को समझने के लिए यह स्मरण रखना परम आवश्यक है कि आजकल "रुपया"—जिसे अंगरेजी में 'मनी' (Money) कहते हैं केवल चाँदी के सिक्कों, सोने की मुहरों या कागजी नोटों को ही नहीं, बल्कि उन तमाम शक्तियों को कहते हैं जिनके द्वारा हम कुछ वस्तु-पदार्थ या शक्ति की लेन-देन कर सकते हैं—संक्षेप में, रुपये को "क्रय-शक्ति" (Purchasing Power) कहना चाहिये।

रुपया : क्रय-शक्ति

यहाँ इस बात में उलझने की न तो आवश्यकता है, न ही वह हमारे प्रस्तुत विषय का कोई अनिवार्य अङ्ग है कि कुछ पूँजीपतियों का गुट और सत्ताधारियों का समूह मात्र ही इस "क्रय-शक्ति" का विधायक वर्ग है और सर्वसामान्य को उसी के जाल में फँसे हुए जीना-मरना पड़ता है। पौण्डपावने के सूत्र से हमारे समस्त मुद्रा विधान पर इंगलैण्ड और अमेरिका का सिक्का बैठा हुआ है। इस प्रकार भारतीय मुद्रा विधान पर विदेशियों का प्रभुत्व होने से सारे देश का जीवन दुखी हो गया है। हमारी सुदृढ़ सरकार भी इस गोरखधन्धे में फँसकर लाचार-सी दीख रही है। अनिच्छा होते हुए भी इङ्गलैण्ड और अमेरिका की सुविधा के लिए रुपये का मूल्य घटा देना पड़ता है (अवमूल्यन, '४९ ई०) और सारे राष्ट्र के आर्थिक जीवन में भयंकर उथल-पुथल पैदा हो जाती है।

क्रय-शक्ति का विधायक वर्ग

२८०. हमारे इस मुद्रा (Coins) का, चाँदी की छोटी चवन्नी या कागज का हजारा नोट—जिनमें उतना ही द्रव्य नहीं होता जितने के लिए वे प्रचलित होते हैं—अस्तित्व प्रमुखतः "रूपक" (Token) होने के कारण ही इस प्रकार की लाचारी उत्पन्न होती है क्योंकि हमारी मुद्रा प्रचलित सरकार या व्यवस्था की परमुखापेक्षी है और उसी के साथ या उसी की इच्छा पर उसका मूल्य राई से पर्वत और पर्वत से राई हो सकता है अर्थात् हमारी मुद्रा कोई वास्तविक वस्तु नहीं, केवल एक सरकारी आज्ञा है जो सहज ही बन-बिगड़ सकती है[1]।

रूपक मुद्रा और सरकार

---

१. भारत सरकार का नोटों के सम्बन्ध में '४६ का 'काला-कानून' इसी बात का एक सचित्र प्रमाण है। वास्तव में देखा जाय तो बड़े-बड़े नोटों की चलन में सरकारी स्वार्थ और सुविधा ही प्रधान है क्योंकि सरकार को बिना किसी विशेष खर्च के बहुत ही बड़ी "क्रय-शक्ति" प्राप्त हो जाती है जिसके लिए उसे कर्ज या टैक्स का सहारा नहीं लेना पड़ता। अतएव (पृष्ठ ३४५ पर)

२८१. अस्तु हम मुख्य बात यह समझने की चेष्टा कर रहे हैं कि वैदेशिक व्यापार, जिसके परिणाम में हमारा दैनिक जीवन उलटता-पलटता रहता है और जो "स्वदेशी" आदर्श के हुण्डियाँ और मान्य हो जाने पर भी वर्तुलाकर विस्तार-क्रम में आर्थिक उलट-फेर अनिवार्य हो जायेगा, बड़े-बड़े कागजी नोट, चेक और हुण्डियों से ही चलता है। इनमें भी हुण्डियाँ, सरकारी हों या महाजनी, विशेष महत्त्व रखती हैं क्योंकि अधिक सरल और स्वच्छन्द होने के कारण वह अधिक प्रचलित हैं। मूलतः हुण्डियों को दो अजनबी व्यापारियों के लेन-देन की एक व्यावसायिक उक्ति कहना चाहिये। सम्प्रति, हम हुण्डियों का महाजनी वर्णन न करके इतना ही कहना यथेष्ठ समझते हैं कि इनके चतुर हेर-फेर तथा व्यावसायिक संचालन के द्वारा हमें नित्य प्रति बहुत सी मुद्रा या द्रव्यादि (सोना, चाँदी आदि) यहाँ से वहाँ नहीं करना पड़ता परन्तु इसका अर्थ यह होता है कि जिसको तुरन्त पैसा मिलना चाहिये उन्हें अपनी भरपाई के लिए महीनों भी प्रतीक्षा करनी पड़ जाती है। जो पैसा आज मिलना चाहिए वह यदि छः मास के पश्चात् मिले तो प्रचलित महाजनी के अनुसार ६ महीने का सूद भी उसूल होना चाहिए। या यों कि जब भारत की हुण्डी अमेरिका वाला लेता है तो वह यह भी सोचता है कि हुण्डी का अङ्कित मूल्य भारत से भरपाने के लिए खर्च और समय लगेगा; उतना मूल्य हुण्डी की रकम से कम हो जाना चाहिये। बस, इसी सिद्धान्त पर व्यावसायिक समझौतों का जाल, विनिमय दरों की विषमता, तथा अनेक आर्थिक उलट-फेर होते रहते हैं और हम नित्य बाजारू उतार-चढ़ाव के शिकार होते रहते हैं।

सूक्ष्म दृष्टि से कागजी नोट तथा बैंक के चेक और हुण्डियाँ—इसी श्रेणी में आ जाते हैं और इन सबने मिलकर घातक उलझनें पैदा कर दी हैं। विनाशक सट्टेबाजी (Speculation) को जन्म लेने का यहीं कुअवसर प्राप्त होता है। यह सामूहिक सट्टेबाजी संयुक्त-राष्ट्र जैसे देश की साम्पत्तिक धुरी को तोड़ सकती है।[1]

हम कह सकते हैं कि इनके अस्तित्व में कोई लोक हित नहीं, विशेषतः, जब कि ह[illegible] खेंगे कि इनके बिना हमारा जीवन-व्यापार अधिक सुगम और सुदृढ़ हो सकता है।

१. संयुक्त राष्ट्र के सन् ३२ के महाजनी संकट का इतिहास देखिये।

(३)

'मुद्रा विधान' में 'वस्तु-विनिमय' के आधार पर एक सामञ्जस्यात्मक मार्ग की आवश्यकता

२८२. हमने यह भली-भाँति समझ लिया है कि समस्त संसार के प्रचलित विनिमय-माध्यम शत-प्रति-शत दूषित हो गये हैं और परिणामतः उसका मुद्रा-विधान गलत रास्ते पर पहुँच गया है। यही नहीं कि उसमें सुधार की आवश्यकता है, बल्कि "वस्तु-विनिमय" (Barter) के आधार पर एक सामञ्जस्यात्मक मार्ग निकालना ही श्रेयस्कर दीख रहा है, अतएव हम चाहते हैं कि—

प्रजात्मक सहयोगी बैंक

(अ) प्रत्येक गाँव या शहर में एक सुदृढ़ और सुसंगठित पंचायत हो जो "प्रजातंत्रात्मक" आधार पर उस गाँव के ही समस्त व्यक्तियों द्वारा निर्वाचित तथा गाँव के सुशिक्षित और अनुभवी लोगों द्वारा सञ्चालित हो और उसके हाथ में स्थानीय शासन के निमित्त आवश्यक शक्ति भी हो ताकि वह अपने निर्णयों को लोगों पर लागू करने में समर्थ हो सके। ऐसी शक्तिशाली और सुव्यवस्थित पंचायत के अन्तर्गत प्रत्येक स्थान में एक "सहयोगी बैंक" होना चाहिये। पंचायत का कर्तव्य होगा कि वह अपने क्षेत्र के प्रत्येक व्यक्ति को परिस्थिति तथा आवश्यकतानुसार श्रम और उपार्जन पर बाध्य करे और साथ ही साथ असमर्थ लोगों को उपार्जन का साधन देकर उनसे आवश्यक उपार्जन कराये। बैंक का कार्य होगा कि ऐसे श्रमिक समुदाय का महाजन बन कर उनके जीवन संघर्ष को सुगम बनाये। बैंक की लेन-देन द्रव्य और मुद्रा से नहीं, जीवनावश्यकता से चलेगी। यह बैंक जुलाहे का कपड़ा, किसान का अन्न,[१] सुनार के जेवरात, लुहार का सामान, चित्रकार की कला कृतियाँ उसी प्रकार लेकर जमा करेगा जैसे रुपये या करेन्सी नोट और यह उसी प्रकार लोगों को आवश्यक वस्तु भी देगा। इन बैंकों का आवश्यक सूद या मुनाफा मुद्रा के रूप में नहीं, वस्तु-पदार्थ के रूप में ही होगा। हमें इन प्रस्तुत बैंकों को सहयोगी-संस्था (Co-Operative Societies) और सहयोगी बैंकों का सम्मिश्रण रूप स्थापित करना होगा। किसको, कैसे, कितना, कितने समय के लिए, कितने सूद पर,

---

१. बैंक द्वारा एकत्रित अन्नादि का किसानों का कर और कर्मचारियों का वेतन चुकाने में भी उपयोगी होगा। इसी प्रसंग में भारत सरकार को सिक्के के स्थान में वस्तु पदार्थ के व्यवहार की बात भी सोचनी चाहिये।

किन प्रमाणों पर, कर्ज देना चाहिये—यह सब आवश्यक हेर-फेर के साथ महाजनी कानून और प्रथा के अनुसार तय कर लेना होगा।

(ब) उपर्युक्त (पंचायत और बैंक) विधान के पश्चात् बहुत कम लोगों को, बहुत कम पैसों की आवश्यकता पड़ेगी। वहाँ केवल यही नहीं कि एक वस्तु लेकर दूसरी वस्तु दी जायेगी बल्कि श्रम और मजदूरी के बदले में भी जीवन की आवश्यकताएँ प्रदान की जायेंगी।

पंचायत और सहयोगी बैंक

शिक्षक, रेलवे, पुलिस और चुंगी के कर्मचारी तथा नौकरी पेशावालों को भी इसी प्रकार सन्तुष्ट करना होगा।[1] मनुष्य-मनुष्य की आर्थिक विषमता दूर होने के साथ ही मालिक और सरकार, सब के खर्च में आश्चर्यजनक कमी भी हो जायेगी। आखिर सेनाओं में कपड़ा और खूराक मिलती ही है; वही प्रथा अन्यत्र लागू करने में क्या हर्ज है? यदि कोई अड़चन है तो उसे हम प्रारम्भिक कहेंगे और उसका दूर होना कठिन नहीं। परन्तु प्रश्न यह होता है कि हम रेल पर सवार हुए या हमने डाकखाने से एक चिट्ठी भेजी तो उसके बदले में हम क्या देंगे? ऐसी ही और इसी सिद्धान्त पर अन्य अनेकों बातें उत्पन्न हो सकती हैं जहाँ एक सुगम माध्यम की आवश्यकता अनिवार्य दीखने लगती है। अतएव

घटोत्तर नोट

प्रसिद्ध अर्थशास्त्री जेसेल (Gessel) के मतानुसार जिसका आस्ट्रिया में सफल प्रयोग भी हो चुका है[2] हम "घटोत्तर" (Diminishing Value) नोटों का प्रस्ताव करेंगे। इसका यह अर्थ है कि आज आपको एक रुपये का नोट मिला; एक महीने के पश्चात् उसे चलानेवाले को –) का टिकट लगाकर चलाना पड़ेगा। दूसरे मास फिर –) का दूसरा टिकट लगाना पड़ेगा क्योंकि प्रति मास उनकी कीमत में –) की दर से कमी होती जायेगी। इस प्रकार कोई भी मनुष्य नोटों को जमा करके धनी बनने की कोशिश न करेगा बल्कि उसे शीघ्र-अति-शीघ्र खर्च करना ही हितकर समझेगा। परिणामतः मुद्रा का चक्र (Circulation of Currency) निरंतर गति से चलेगा और सामूहिक व्यवसाय में वृद्धि होगी; साथ ही टिकटों की बिक्री का धन सार्वजनिक हित में लगाया जायेगा

---

१. उत्तरी पश्चिमीय सीमा प्रांत के पठानों में अब भी यह प्रथा कार्य कर रही है।

2. What every body wants to know about money—G. C. H. Cole.

अथवा सिक्कों के सञ्चालन विभाग का खर्च पूरा होगा। इस सम्बन्ध में दो-चार अन्य बातें ध्यान में रखना आवश्यक है। पुलिस, सेना, सरकार, रेल तथा अन्य बड़ी-बड़ी कम्पनियों के लिए तो यह सरल हो सकता है कि पैसों के बजाय लोगों को जीवन की आवश्यकता दें परन्तु सभी के लिए यह सम्भव होगा, सो बात नहीं। हम बाजार में गये, वहाँ से कुछ चीज ली जो हमारे चाहने पर भी हम से अकेले ढोकर घर नहीं लायी जाती। एक कुली की हमने सहायता ली। उसको मजदूरी कौन देगा? हमारी सरकार? हमारी पंचायत? हमारी कम्पनी? इस प्रकार खासा झमेला खड़ा हो जायगा। उस कुली को हम चावल, दाल, कुर्ता या धोती देते रहें तो हमें ऐसे ही सैकड़ों कामों के लिए एक अलग से जेनरल स्टोर और श्रमिकों को "सेल डिपो" रखना पड़ेगा। फिर समस्या हल कैसे हो?

मैं बहुत पहले ही कह चुका हूँ कि ऐसे दैनिक व्यवहार के लिए छोटे-छोटे सिक्के काम में आते हैं; उनका बस यही उपयोग है; उन्हें जमा करके व्यावसायिक उलट-फेर नहीं की जाती। इसलिए उनकी चलन को स्वीकार कर लेना न तो हानिकर है, और न हमारे वस्तु-विनिमय (Barter) के मार्ग में बाधक ही। उत्पादक वर्ग तो, चाहे छोटा किसान हो या बड़ा कारीगर, पञ्चायत की देख-रेख में अपनी उत्पत्ति का सहयोगी बैंक, सहयोगी संस्था, या साप्ताहिक हाट के द्वारा अदल-बदल करके अपनी आवश्यकता को पूरी करेगा परन्तु नौकरी पेशावाले सरकारी 'राशन' के अतिरिक्त अन्य चीजों की पूर्ति छोटे सिक्कों अथवा घटोत्तर नोटों द्वारा करेंगे। यहाँ यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये कि उत्पादक वर्ग इन सिक्के या नोटों के सदुपयोग से वंचित कर दिया जायेगा, सो बात नहीं। रेल, सवारी, या घर की गाड़ी, डाकखाने का महसूल, छोटी-मोटी मजदूरी, इत्यादि अनेकों बातें हैं जिनकी पूर्ति इन सिक्के या नोटों से की जायेगी।

हमें यह जानना चाहिये कि अमेरिका में मजदूरी भी चेकों द्वारा चुकाई जाती है। यह ठीक है कि अमेरिकन और भारतीय मजदूरी में बड़ा अन्तर है और भारतीय मजदूरी का नगण्य रूप चेकों द्वारा नहीं चुकाया जा सकता परन्तु हमें तो केवल यह देखना है कि मजदूरी चुकाने के लिए मुद्रा अनिवार्य वस्तु नहीं; हम तो वास्तव में वर्तमान बैंक चेक, हुण्डी इत्यादि सभी को समूल उड़ा देने की सलाह दे रहे हैं। हमारा लक्ष्य वस्तु-विनिमय पर है जो पंचायतस्थ; सहयोगी संस्था और बैंक

(जैसा कि बताया जा चुका है), सरकारी राशन, साप्ताहिक हाट छोटे सिक्के और "घटोत्तर नोटों" के साथ व्यवस्थित होगा।

छोटे सिक्के और "घटोत्तर नोट" दैनिक व्यवहार में लाये जायेंगे; "घटोत्तर" नोटों के "बड़े-रूप" (Bigger Denominations) का बड़ी-बड़ी लेन-देन में सदुपयोग होगा। प्रस्तुत विधान में ताँबे का पैसा, एकन्नी, चवन्नी, और अठन्नी—केवल यही चार धातु-मुद्रा होंगी। रुपया केवल "घटोत्तर नोट" के रूप में होगा। उनमें १), १०), १००) के—केवल ३ नोट होंगे। १००) के नोट न हों तो ठीक ही है; यदि उनका रखना अनिवार्य हो ही जाय तो उनकी "घटंत" अवधि में कमी या उनके "घटंत" मूल्य में वृद्धि करनी होगी। इस प्रकार हम दैनिक व्यवहार और देशस्थ व्यापार इत्यादि में निर्बन्ध और निर्भय रूप से कार्य कर सकेंगे।

सिक्के और नोट

(स) अब रही वैदेशिक व्यापार की बात; उसमें हमारे घटोत्तर नोटों का प्रयोग सफल न हो सकेगा। इसके लिए हम अमेरिका के समान "स्वर्ण सनद" का प्रस्ताव करेंगे[1]। हमारा वैदेशिक व्यापार राष्ट्र-सभा के "अनुमति-पत्र" (License) पर निर्भर होगा। राष्ट्र सभा आवश्यक जाँच-पड़ताल, और देशीय आवश्यकताओं तथा अपने स्वर्ण कोष को ध्यान में रखकर ही किसी व्यक्ति को वैदेशिक व्यापार की आज्ञा देगी; इस प्रकार सर्वप्रथम हम मुद्रा के विनिमय दर की उलझनों से बच जायेंगे क्योंकि यह सनदें "रूपक" नहीं, वास्तविक होंगी; हुण्डियों की परेशानी भी न रहेगी और इन सब की रही-सही कमी को हम आवश्यकतानुसार "वैदेशिक व्यापार डिपो" (Foreign Trade Depots) द्वारा पूरी करेंगे जहाँ प्रमाणानुसार हमारा स्वर्ण कोष[2] रहेगा और आवश्यकतानुसार उसका उपयोग हो सकेगा। हमारे इस प्रस्ताव का यह अर्थ नहीं कि सोना या चाँदी देकर ही हम बाहर से व्यापार करेंगे। जहाँ तक सम्भव होगा हमारा

हमारा वैदेशिक व्यापार

---

१. हिलटन यंग कमीशन ने भी अपनी [Gold Bullion Standard] रिपोर्ट में ऐसी ही सिफारिश की है।

२. सोने के स्थान में यह चाँदी भी रख सकते हैं। यह ठीक है कि सोना या चाँदी का भी भाव चढ़ता-उतरता है परन्तु कम से कम हमारा विधान एक निश्चित धातु से बँधा तो रहेगा।

वैदेशिक व्यापार भी केवल वस्तु-विनिमय के आधार पर चलेगा[1] परन्तु आवश्यकता पड़ने पर हम एक धातु का सहारा लेने के लिए तत्पर तो रहेंगे। हमें यह न भूलना चाहिये कि हम या तो वस्तु-विनिमय या अपनी निश्चित धातु के आधार पर ही व्यापार करेंगे, बाह्य मुद्रा को न हम स्वीकार करेंगे, न उनसे या उनकी उलट-फेर से हमें कोई वास्ता होगा। साथ ही साथ हमारी इन सनदों का स्वयं हमारे अपने देश के आन्तरिक व्यवहार में कोई उपयोग न हो सकेगा। वह कागज से भी रद्दी समझे जायेंगे। विदेशों में भी इनका केवल व्यावसायिक लेन-देन में ही उपयोग होगा। यदि कोई चाहे कि विदेशों में उन्हें जुटा कर सोना-चाँदी ले ले और फिर उसे देश में लाकर गाड़ रक्खे, इस बला से बचने के लिए उस निश्चित धातु का गैर-सरकारी आयात-निर्यात वर्जित कर देना होगा।

"नैशनल कूपन" और 'रेल वारण्ट'

(द) अब एक बात और रह जाती है। यदि हम विदेश में सैर-तफरीह के लिए जायें या विदेशी लोग हमारे देश में आयें तो किस मुद्रा का सहारा लेंगे ? इसके लिए हमें "नैशनल कूपन" (राष्ट्रीय चिट्ठी) का विधान करना पड़ेगा; उसी प्रकार जैसे रेलों में टिकट लेने के लिए माईलेज-कूपन या पुलिस और सेना के वारण्ट चलते हैं अथवा कुक कम्पनी का अन्तर्राष्ट्रीय चेक चलता है। बाहर से आनेवालों को उनके ही देशीय दूतावासों से हमारी राष्ट्र सभा का कूपन प्राप्त हो जायगा। उनके बदले हमारा देश सम्बद्ध देश से उक्त मूल्य की वस्तु पदार्थ, सोना, चाँदी या अपने देशवालों के लिए उनके देश में उतनी ही सुविधा का हकदार होगा।

(य) "वस्तु-विनिमय-बैंक"

विदेशों में बड़े-बड़े दूकानदार अपने ग्राहकों को 'कूपन-बुक' दे रखते हैं। लोगों को जब कोई चीज लेनी होती है तो वे तत्काल पैसा न देकर

१. यह कोई अव्यावहारिक या नयी बात नहीं है। विश्व का इतना बड़ा युद्ध अमेरिका के "लेन्ड और लीज" के बल पर ही चला जिसे शुद्ध रूप में हम वस्तु विनिमय ही कहेंगे। भिन्न-भिन्न देशों के बीच बहुत सी लेन-देन इसी प्रकार हो रही है। जवाहर लाल ने अमेरिका से इसी आधार पर १०००००० टन गेहूँ माँगा था।

इन दूकानों से वही कूपन देकर माल ले लेते हैं। महीने के अन्त में अथवा दूसरी कूपन-बुक माँगते समय दूकानदार ग्राहकों से प्राप्त हुए कूपनों को लौटाकर उतना ही धन प्राप्त कर लेता है। इसे एक प्रकार से दूकानदारों की 'उपभोक्ता-चेक-बुक' (Consumers Cheque Book) कहना चाहिये। ३९-४५ ई० युद्ध के परिणामस्वरूप भारत में रेजकारियों के अभाव में भारतीय होटल और दूकानवाले रेजकारी न लौटाकर लोगों को कूपन दे दिया करते थे और लोग पुनः पैसा न देकर उन्हीं कूपनों द्वारा उक्त स्थानों से माल प्राप्त कर लेते थे। बम्बई में दूध के व्यापारी ग्राहकों को कूपन-बुक दे दिया करते हैं। ग्राहक रोज दूध का नकद चुकता न करके उन्हीं कूपनों को देकर दूध ले लेता है। अन्त में दूधवाला कूपन ग्राहक को वापस करके उतने ही पैसे पा लेता है। इन कार्यकारी और प्रचलित उदाहरणों को देखते हुए हम सहज ही प्रस्ताव कर सकते हैं कि प्रत्येक गाँव या नगर की स्थानीय पञ्चायत अपने सदस्य नागरिक को "कूपन-बुक" दे दिया करेगी। लोग इन कूपनों का किसी से भी, कोई चीज (अन्न, वस्त्र, दूध, दही, लोहा, सोना, ईंट, पत्थर), मजदूरी अथवा टिकट घर से टिकट लेने या सरकारी कर या फीस आदि में व्यवहार कर सकेंगे। इन कूपनों को "वस्तु-विनिमय-बैंक" में लौटाकर लोग आवश्यक वस्तु प्राप्त कर लेंगे। रेल या डाक विभाग इन कूपनों का सम्बद्ध पञ्चायत के सरकारी खाते से लेखा-जोखा कर सकेंगे ठीक उसी प्रकार जैसे "रेल वारेन्ट" या "माइलेज कूपन" का व्यवहार होता है।

इस सम्बन्ध में दो-चार बातों पर ध्यान देना आवश्यक होगा—पहले तो यह कि 'कूपन-बुक' को सर्वमान्य बनाने के लिए उन्हें देनेवाली पञ्चायतों के अस्तित्व को राष्ट्र-सभा के अन्तर्गत कानूनी स्वीकार करना होगा। दूसरे यह कि ये कूपन केवल कूपन से करेन्सी नोट या दर्शनीय हुण्डी न बन जायँ इसलिए "कूपन-बुक" से एक बार फट जाने पर उन्हें "वस्तु-विनिमय-बैंक" में लौटा ही देना पड़ेगा। यदि कोई चाहे कि एक से प्राप्त कूपन दूसरे को देकर कुछ ले, सो असंभव होगा। इस दुर्व्यवहार को रोकने के लिए कूपन पर उसे कूपन-बुक से फाड़ते समय, पानेवाले का नाम, देनेवाले का हस्ताक्षर तथा तिथि डाल देना होगा। व्यापारी वर्ग ऐसे कूपनों को धन राशि स्वरूप एकत्र करके साम्पत्तिक विषमता या अनुचित व्यवहार न प्रारम्भ कर दे इसलिए उन्हें पाने की तिथि से एक मास के अन्दर ही, जब तक कि इसमें कोई प्रामाणिक बाधा न उपस्थित हो

जाय, "वस्तु-विनिमय-बैंक" के पास लौटा ही देना होगा। यथार्थतः ये कूपन एक प्रकार से बैंकों के "नान-नेगोशियेबिल" चेकों के रूप में ही व्यवहृत होंगे। यहीं लोगों की अतिरिक्त और आवश्यक आय की भी जाँच करने में सहायता मिलेगी।

संक्षेप में हम देखते हैं कि 'वस्तु-विनिमय बैंक' के द्वारा हम मुद्रा के स्थान में सहज ही वस्तु-विनिमय का प्रादुर्भाव कर सकते हैं।

यहाँ "विनिमय माध्यम" के एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग पर विचार कर लेना परम आवश्यक प्रतीत हो रहा है। समाज की सीमित और प्रारम्भिक स्थिति में वस्तु का वस्तु से बड़ी सुगमतापूर्वक विनिमय होता है। किसान जुलाहे को अन्न देकर कपड़ा ले लेता है। परन्तु यह बात बहुत क नहीं चल पाती। किसान के पास अन्न है परन्तु आवश्यकता उसे सालम मिश्री या केशर की आ पड़ी है। ये दोनों चीजें उसके गाँव में किसी के पास नहीं हैं। ऐसी दशा में वह किसान क्या करेगा? क्या वह सिर पर गेहूँ लादकर केशर वाले को ढूँढ़ता फिरेगा? ऐसी ही परिस्थितियों के लिए 'विनिमय-माध्यम' का आविष्कार हुआ था। किसान अपना गेहूँ देकर एक ऐसी चीज प्राप्त कर लेता था जिसे जरूरत पड़ने पर केशर वाले को देकर वह केशर प्राप्त कर लेता था। प्रारम्भिक दशा में यह माध्यम भी उसी प्रकार सीमित रूप का हुआ करता था जैसे कौड़ी आदि। परन्तु जब समाज में ऐसी चीजों का व्यवहार होने लगा जो बहुत दूर से चलकर आती थीं (जैसे काश्मीर के केशर का बंगाल के गाँव में व्यवहृत होना) तो स्वभावतः ऐसे माध्यम की माँग हुई जिसकी सर्वत्र समान रूप से माँग हो और समान आदर हो। इसीलिए धीरे-धीरे सोने का महत्त्व स्थापित हुआ। परन्तु सोना कहीं खोटा न हो इसलिए वह ऐसे आदमी के नाम से चलने लगा जो सोने की असलियत का प्रमाण बन सके। यह आदमी था राजा; राजा ने सरकार का रूप धारण किया। सोना भी धीरे-धीरे सिक्का बन गया। सिक्का बनकर वह सोना भी नहीं रहा, ताँबा, निकिल और कागज बन गया। इन सारी बातों को हम ऊपर अच्छी तरह समझ चुके हैं। इन सारी बातों पर अच्छी तरह विचार करके हम यह भी समझ चुके हैं कि सिक्के का वर्तमान रूप क्या होना चाहिये।

उपर्युक्त सारे प्रस्तावों का सारांश निम्न रूप से हुआ—

(१) नाना प्रकार की नित्य-नैमित्तिक आवश्यकताओं के लिए धातु-मुद्रा (छोटे-छोटे सिक्के यानी पैसा, एकन्नी, चवन्नी, और अठन्नी) होगी।

(२) रुपया, केवल घटोत्तर नोटों के रूप में—१), १०), १००)—रहेगा।

(३) वैदेशिक व्यापार के लिए स्वर्ण-सनद चलेगी।

(४) 'वस्तु विनिमय' को सफल और सार्थक बनाने के लिए पंचायतस्थ गाँव-बैंक या सहयोगी संस्थाओं के द्वारा ही कार्य तथा लेन-देन होगी। इस बात को स्पष्ट रूप से ध्यान में रखना होगा कि सम्बद्ध क्षेत्र से छोटा या बड़ा, जो भी व्यापार होगा वह केवल ग्राम पंचायतों के अन्तर्गत वस्तु-विनिमय-बैंक या सहयोगी सभाओं के द्वारा ही होगा। बाहरी व्यापार किसी भी दशा में व्यक्ति के हाथ में न रह सकेगा क्योंकि इससे गाँव की सामूहिक सुव्यवस्था सुनिश्चित नहीं रह सकती। बाह्य व्यापार व्यक्ति के हाथ में रहने से मुनाफाखोरी का घातक रोग उत्पन्न हो सकता है, सामाजिक विषमता को गति मिल सकती है और गाँव का सारा आर्थिक संतुलन नष्ट हो सकता है। इन सारी बातों को ध्यान में रखते हुए एक मात्र रास्ता यही रह जाता है कि—

(अ) स्थानीय तौर पर व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए तो व्यक्ति वस्तु-विनिमय को वैयक्तिक रूप से हाथ में ले सकता है—

(ब) प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं के ऊपर की सारी उत्पत्ति अर्थात् सम्पूर्ण आधिक्य वस्तु विनिमय-बैङ्क में जमा कर दे जो आवश्यकता पड़ने पर उसकी जमा पूँजी के रूप में काम देगा।

(स) समाज की सामूहिक सुख-समृद्धि के लिए प्रत्येक बाहरी व्यापार व्यक्ति के हाथ में नहीं, ग्राम पंचायतों के हाथ में रहेगा।

(५) 'रेल वारण्ट' या 'माइलेज कूपनों' के समान ग्राम्य पंचायतों के 'कूपनों' का उपयोग।

अब सिक्के, नोट और कूपनों के व्यवहार क्षेत्र को भी समझ लेना चाहिये। सिक्के या नोट तो स्वभावतः सार्वदेशिक और "अवैयक्तिक" (Impersonal) होंगे, जैसा कि मैंने "स्वतंत्र" और "स्वगामी"

शब्दों से परिचय कराया है। परन्तु 'कूपन' बिल्कुल वैयक्तिक चीज होंगे और इनका व्यवहार क्षेत्र एक प्रकार से निश्चित और सीमित होगा। साधारणतः ये गाँव या जिले से आगे न बढ़ सकेंगे यानी कूपन "स्थानीय" महत्त्व रखेंगे।

परिशिष्ट

(१)

खाद

खाद का सवाल एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस पर थोड़ा स्वतंत्र रूप से विचार करने की जरूरत है। रासायनिक खाद पर मूल पुस्तक में विचार किया गया है। रासायनिक खाद हर तरह से शुद्ध और स्वस्थ खेती के लिए हानिकर सिद्ध हुई है। विश्व के अनेक अधिकारी और अनुभवी वैज्ञानिकों ने इसका प्रमाण पूर्वक विरोध किया है। इसलिए गोबर, मल-मूत्र तथा अन्य 'कम्पोस्ट' खादों का उपयोग ही श्रेष्ठ दीखता है। परन्तु गोबर और 'कम्पोस्ट' खादों के उपयोग का अर्थ है—

(१) गोबर का उपयोग ईंधन के रूप में निषिद्ध कर दिया जाये। गोबर के निषेध का अर्थ है ईंधन की समस्या। आज यह देश की बहुत बड़ी समस्या है और इस समस्या के हल पर बहुत गम्भीरतापूर्वक विचार करने के बाद ग्रामोद्योग संघ ने मगन चूल्हे का आविष्कार किया है। मगन चूल्हा सर्वत्र आसानी के साथ जलाया जा सकता है। इसके इस्ते-माल से समय और शक्ति की बचत होती है। स्वास्थ्य की रक्षा होती है। जो ईंधन की जरूरत रह जाती है उसके लिए लकड़ी आदि का उप-योग होने से गोबर को खाद के लिए बचाया जा सकेगा। लकड़ी आदि भी गाँवों में दुर्लभ हो रही है। परन्तु इसका उपाय गाँव के सामूहिक चरागाह के समान गाँवों के किनारों पर सामूहिक वन्य-शृङ्खला खड़ी करनी होगी। भारत सरकार के वन महोत्सव का यही महत्त्व है। गाँवों के किनारों पर ऐसे वृक्ष लगाये जा सकते हैं जो गाँवों को लकड़ी देने के साथ ही दूसरे उद्योग-धन्धों में भी काम आ सकें जैसे बबूल चमड़ा उद्योग का प्रमुख साधन है। ग्रामीण औषधियों में भी इसकी जरूरत होती है। बड़े-बड़े वृक्ष ही नहीं, झाड़ियों को भी खड़ा किया जा सकता है। इन सबसे गाँव की ईंधन समस्या तो हल होगी ही, वर्षा का जल बेकार बह कर चले जाने के बजाय ये उसे रोक कर धरती के लिए संचित रखेंगी। आज पृथ्वी ऊसर और बंजर होती जा रही है; इसे रोकने के लिए जंगल और झाड़ी की सख्त जरूरत है। जंगल और झाड़ियाँ पानी

भी कारण बनती हैं। इन जंगल और झाड़ियों के बढ़ते हुए अभाव से ही वर्षा का अभाव बढ़ता जा रहा है। इसे तत्काल रोकने की जरूरत है। थार की मरुस्थली तेजी के साथ गंगा की उपजाऊ तलहटी को हड़पने के लिए बढ़ती आ रही है। इसे रोकने के लिए सरकार ने जंगलों की योजना बनाई है। गाँव उजड़े जा रहे हैं। इस दुर्दशा को तत्काल रोकने की जरूरत है। कौन पेड़ काटे और कौन बेचे जा सकते हैं, कौन नहीं—इन सब का स्पष्ट विधान करना होगा।

दूसरा प्रश्न है कम्पोस्ट का। इस श्रेणी में मनुष्य का मल-मूत्र सबसे कीमती खाद है। परन्तु आज यह अपार सम्पत्ति यों ही विनष्ट हो रही है। इसके लिए गाँवों में व्यक्तिगत और सामूहिक टट्टी और पेशाब-घरों की व्यवस्था करनी होगी।

इस प्रकार खाद की समस्या तो हल होगी ही, गाँवों के जीवन में क्रान्ति उत्पन्न होगी। हम देखते हैं टट्टियों की व्यवस्था न होने से गाँव वालों को महान कष्ट है। वर्षा और धूप में, जाड़े और अँधेरी रात में भी बाहर जाना पड़ता है। कष्टकर और अस्वास्थ्यकर होने के साथ ही स्त्री तथा रोगियों के लिए तो यह व्यवस्था अभिशाप बनी हुई है। इस अभिशाप से मुक्ति प्राप्त करना है। इस सम्बन्ध में किसी भी रचनात्मक आश्रम से सलाह और सहायता प्राप्त की जा सकती है।

इस सम्बन्ध में भी श्री पुरुषोत्तम दास टण्डन का सुझाव है कि गाँव का प्रत्येक घर १ या २ एकड़ में बने जिसके साथ ही साग सब्जी के बाग हों; वहीं-टट्टी घर भी हो ताकि मल-मूत्र का भी खाद बनाने और बरतने का साधन सबको सुलभ हो सके।

इस तरह हम देखते हैं कि खाद्य से खाद और खाद से सम्पूर्ण गाँव की पुनर्रचना का सवाल जुड़ा हुआ है। रचनात्मक दृष्टि से प्रश्न को हाथ में लेते ही सारा चक्र अपने आप गतिमान हो उठता है।

(२)

हजारा नोट

सन् ४६ के शुरू होते न होते भारत सरकार ने काले कानूनों द्वारा ५००), १०००) तथा १००००) के नोटों को रद्द कर दिया और उन्हें एक

का आदेश दिया गया। इन नोटों के लौटानेवालों से अनेकों असंगत खाना-पूरी की भी माँग की गयी, और सरकारी दृष्टि से इन उत्तरों के संतोषप्रद होने से इन नोटों के भुगतान का विशेष सम्बन्ध था। सरकार के प्रकाशित उद्देश्यों का संक्षिप्त तात्पर्य्य यही प्रतीत हुआ कि इन बड़े नोटों का चोर-बाजार, घूस-खोरी तथा आय-कर के हड़पने में प्रयोग होने के कारण उन्हें रद्द कर दिया गया था। दुखद विरोधाभास तो यह है कि सरकार ने अपनी आज्ञा को प्रजा रक्षार्थ घोषित किया और प्रजा ने इसे एक स्वर से सरकारी विश्वासघात पुकारा। नेता, वकील, पत्रकार और अर्थशास्त्री—सबने इसे अनुचित बतला कर भय और शंका की दृष्टि से देखा। इन नोटों तथा अन्य सभी रूपक मुद्रा के सम्बन्ध में 'नवभारत' का अपना स्पष्ट एवं अपरिवर्तनीय मत है कि इनकी यथार्थता और प्रचलन केवल एक राजाज्ञा मात्र है जो सहज ही बन-बिगड़ सकती है। प्रचलित मुद्रा-विधान, विशेषतः इन बड़े नोटों का अस्तित्व तो नव-भारत को सिद्धांततः अमान्य है। रूपक मुद्रा का अस्तित्व तो और भी उपहासप्रद एवं शंकाजनक होता है, जहाँ सरकार के "मेटैलिक रिजर्व" और "करेन्सी बैंकिंग" द्वारा उनकी शत-प्रति-शत जमानत नहीं की गयी है। नोटों का रूप जितना ही बड़ा होता जायगा उतनी ही अधिक व्यावसायिक उलट-फेर, चोर-बाजारी, घूसखोरी, सामाजिक दुराचार एवं साम्पत्तिक विषमता उत्पन्न होगी। इसीलिए नवभारत ने १००) से बड़े नोटों का प्रस्ताव ही नहीं किया है और इन नोटों को भी केवल प्रस्तावित घटोत्तर रूप में ही मान्य किया है।

(३)

आध्यात्मिक श्रम

श्रम सिद्धान्तों पर यथेष्ट रूप से विचार किया जा चुका है। पुस्तक के बिल्कुल प्रारम्भ में ही हमने जेवान की अर्थ व्याख्या का उल्लेख किया है। उसी आधार पर हमें श्रम के सम्बन्ध में भी यही कहना पड़ता है कि यदि हमारे श्रम और कार्य से केवल भौतिक प्राचुर्य्य का विधान हो रहा है तो निश्चय ही उससे मानव समाज का कोई तात्विक कल्याण नहीं हो सकता—न हुआ है, न हो रहा है, न होगा! वैज्ञानिकों की समस्त कृतियाँ सुख-

शान्ति के स्थान में दुख-दारिद्र्य, संहार और अशान्ति को जन्म दे रही हैं। क्यों ? क्योंकि हमारे कार्यों का लक्ष्य केवल भौतिक सिद्धि मात्र रह गया है। तनिक ध्यान से विचारिये—एक मजदूर दिन भर के कठिन परिश्रम से १) कमाकर घर लाता है। संध्या समय वह निश्चिंत होकर भोजन करता है। उसे आत्म तृप्ति प्राप्त है। दूसरा व्यक्ति हिन्दुस्तानी पुलिस का दारोगा है। वह दिन भर के अपने जालिमाना ढंग से १००) ऐंठ लेता है। परन्तु हम देखते हैं कि दारोगा की आत्मा आँख की भारी किरकिरी के समान उसके शरीर में चुभती रहती है। इस प्रकार मजदूर और दारोगा की कमाई की तुलना करने से परिणाम यही निकलता है कि जब तक हमें अपने श्रम और कार्यों में आत्म संतोष न प्राप्त हो, मानव समाज के वास्तविक सुख का निर्माण हो ही नहीं सकता।

सारांश यह कि हमारे श्रम का लक्ष्य भौतिक ही नहीं, आध्यात्मिक तुष्टि भी होनी चाहिये। परिणामतः हमारा समस्त श्रम विधान ही अहिंसात्मक रूप धारण कर लेता है जो नवभारत के रचनात्मक निर्माण का तात्विक रहस्य है।

(४)

'रुपये का चक्र' बनाम 'पण्यों का चक्र'

मुद्रा-स्फीति और विस्फीति का विवेचन करते हुए कहा गया है कि इस समय भारत को आर्थिक संकट से मुक्ति प्राप्त करने का एक मात्र रास्ता यह है कि उत्पादक श्रम की एक सुनिश्चित योजना द्वारा भारत की साम्पत्तिक निधि में स्थायी रूप से संवृद्धि की जाये। वहीं यह स्पष्ट कर दिया गया है कि मुद्रा-स्फीति के निराकरण के लिए पश्चिमी अर्थशास्त्रियों की मुद्रा-विस्फीति वाली नीति से काम नहीं चलेगा।

प्रचलित अर्थशास्त्र की एक प्रमुख उक्ति है 'सर्क्युलेशन आव् मनी।' इसका अर्थ यह होता है कि 'रुपये का चक्र' चलता रहना चाहिये। रुपये को गाड़ रखने से उसकी उपयोगिता घट जाती है। जितना ही अधिक उसका उलट-फेर होगा, उतना ही अधिक वह काम में आयेगा यानी उतनी ही अधिक उत्पत्ति और व्यापार में वृद्धि होगी।

परन्तु मैं कहता हूँ कि इस समय भारत को 'रुपये के चक्र' से बड़ी

है। भारत की वर्तमान अभावपूर्ण दुर्दशा का अंत केवल इसी एक उक्ति से हो सकता है।

यह कार्य केन्द्रीय सरकार के फर्मानों से नहीं सम्पन्न होगा। इसके लिए दृढ़ संकल्प होकर व्यवस्था पूर्वक कार्य करने की आवश्यकता है। इस कार्य में गो-पालन, कृषि, खादी और ग्रामोद्योगों को आधार बनाना होगा। इसमें देश की विभिन्न रचनात्मक संस्थाओं का सक्रिय संचालन और पथप्रदर्शन प्राप्त करना चाहिये। गाँव पंचायतें तथा सहयोगी संस्थाओं को माध्यम बनाना होगा।

आज देश भर में किसी न किसी रूप में गाँव पञ्चायतें काम कर रही हैं। परन्तु खेद है कि हमारी सारी पञ्चायती और सहयोगी व्यवस्था केन्द्रित उद्योगों के सहारे ही खड़ी हुई है। विकेन्द्रित के विरुद्ध केन्द्रित व्यवस्था 'मुद्रा नीति' (मनी एकॉनॉमी) के सहारे से ही चलती है और स्वभावतः यहाँ, उसी 'सर्क्युलेशन आव् मनी' यानी 'रुपये के चक्र' में फँसना पड़ता है, 'मुद्रा-स्फीति' और 'मुद्रा-विस्फीति' जिसके प्रचण्ड लक्षण हैं। इसका साक्षात् रूप यह है कि हमारी गाँव पंचायतें केन्द्रों की दी हुई वस्तुओं की वितरण एजेन्सियाँ मात्र रह जाती हैं जहाँ परमिट और राशन कार्डों पर आये दिन मार हुआ करती है। परन्तु यदि हमें सचमुच इस आर्थिक संकट से बाहर निकलना है तो 'रुपये के चक्र' से निकल कर 'पण्यों के चक्र' को अपनाना होगा और इसके लिए गाँव पंचायतों को दिल्ली कॉटन मिल या टाटा कम्पनी के कोटे पर नहीं, स्वयं अपने ही गाँवों की उत्पत्ति को स्वामित्व पूर्वक हाथ में लेकर स्थितिभूत होना पड़ेगा।

'पण्यों का चक्र' सफल गति को प्राप्त हो ही नहीं सकता यदि हमारी गाँव पंचायतों में स्वावलम्बन की सञ्जीवनी न हो, यदि उनका अस्तित्व उत्पत्ति और वितरण पर आधारित न हो। ऊपर के उल्लेख से साफ हो गया होगा कि उपर्युक्त रीति से 'पण्यों का चक्र' चल जाने पर मुद्रा-स्फीति और मुद्रा-विस्फीति के प्रश्न स्वतः निर्मूल हो जाते हैं। ग्रामोद्योगों के आधार पर उत्पादन और उत्पत्ति हो और उसी प्रकार उनका सुवितरण हो तो यह प्रश्न अपने आप महत्त्वहीन हो जाता है कि रुपये का मूल्य क्या है, पौण्ड और डालर से उसका रिश्ता क्या है। यहाँ डालर की कमी के कारण धन-धान्य की कमी नहीं पैदा होती। इसीलिए यह भी तै हो जाता है कि अधिक आय और अधिक उत्पत्ति की दृष्टि से 'पण्यों के चक्र'

के लिए विकेन्द्रित व्यवस्था की शरण लेना होगा। देश के अपार धन-बल और जन-बल को गतिमान करने के लिए कलमय उद्योगवाद से काम न चलेगा। हो सकता है कि उस प्रकार विदेशों से लम्बी रकम और लम्बे अरसे के बाद बड़ी-बड़ी महँगी मशीनें मँगा कर बड़े केन्द्रों में पैदावार की जा सके, फिर भी देश का अधिकांश भाग केन्द्रों की ओर मुँह उठाये निरीह और निराश्रितों के समान बेकार पड़ा रहेगा। जनता के सच्चे पौरुष और पुरुषार्थ का पूर्ण रूपेण लाभ मिलना तो असंभव सा ही है। केन्द्रीय उद्योगवाद में जो उत्पत्ति होती है वह यातायात और वितरण के घातक गोरखधंधे में पड़कर निर्मूल हो जाती है। कारखानों में, केन्द्रों में, रेलवे की गोदामों और बन्दरगाहों में, चुंगी और सप्लाई दफ्तरों में, माल सड़ा करते हैं, दूसरी ओर जनता उन्हीं चीजों के अभाव में त्रस्त होती रहती है। चीजें जब अपने लक्ष्य स्थान पर पहुँचती हैं तो उनका वास्तविक मूल्य बहुत कुछ नष्ट हो चुका रहता है।

अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि देश को प्राणघातक संकट से बाहर ले आना है तो 'रुपये के चक्र' को छोड़कर 'पण्यों के चक्र' पर आना होगा और यह काम विकेन्द्रित विधान से ही संभव होगा जहाँ गाँव पंचायतें स्वावलम्बन पूर्वक उत्पादन और वितरण की सुनिश्चित योजना द्वारा राष्ट्रीय सुख-समृद्धि की स्वसम्पन्न इकाइयाँ बनी हों, एक गाँव से दूसरे गाँव, गाँव से नगर, और फिर सारे देश में चक्र चलता जायेगा। यहाँ बच्चा-बच्चा काम में लगा होगा। हमें नीचे से ऊपर चलना है, ऊपर से नीचे नहीं आना है; हम कुछ केन्द्रों में कुछ लोगों के द्वारा उत्पत्ति करके उसे प्राण-शोषक व्यवस्था, यातायात के दुरूह झुरमुट, और सप्लाई विभाग की अभेद्य शृंखला में फँसा नहीं रखना चाहते। हम चाहते हैं कि सब लोग तेजी से काम में लगे हों, बच्चा-बच्चा उत्पादन कर रहा हो और जीवनावश्यकताएँ सरल और सीधी वितरण व्यवस्था द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान में तेजी के साथ पहुँचती जायें।

इस पक्ष पर वर्तमान परिस्थितियों के प्रसंग में जरा और साफ होकर विचार कर लेने की जरूरत है। आज हमारी सरकार देश की उत्पत्ति बढ़ाने के लिए परेशान है परन्तु इसके लिए वह बड़े-बड़े कारखानों की स्थापना को ही अलम बना रही है। आचार्य कृपालानी ने अपनी पुस्तक 'पॉलटिक्स आव् चर्खा' (पृष्ठ १६) में १६३८ ई० की परिस्थितियों में एक मामूली कारखाने के लिए ४० लाख रुपये की लागत का अनुमान

किया है। वहीं उन्होंने चर्खा संघ के उसी वर्ष के आँकड़ों का निम्नलिखित रूप से विवेचन किया है :—

चर्खा संघ की पूंजी लगभग ४० लाख थी। इसके द्वारा ३ लाख ५० हजार व्यक्तियों को कताई, बुनाई, बढ़ई, रंगरेज, छिप्पी और धोबी आदि के काम में व्यस्त रखा गया। लगभग १००० उत्पत्ति और विक्रय-केन्द्र काम कर रहे थे जिसके संगठन में लगभग ३००० संगठन-कर्ता लगे हुए थे। यह सारा काम लगभग ५० हजार गाँवों में फैला हुआ था। यह सारी पूँजी देश में ही लगी हुई थी। इसलिए इसके अधिकांश भाग को मजदूरों की ही कमाई मानना पड़ेगा। उस समय के संगठन-कर्ताओं की मासिक आय २५–३०) थी जो उच्चकोटि के कुशल कारीगरों के बराबर थी।

परन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया है इतने से शायद एक मामूली सा ही कारखाना खुल पाता जिसका अधिक भाग विदेशों में मशीनें खरीदने के लिए भेज दिया जाता। इस कारखाने के एक-एक कल-पुर्जे बाहर से ही मँगाने पड़ते हैं। इस कारखाने में एक दर्जन से अधिक संगठन-कर्ता नहीं लग सकते और यदि यह पूरी शक्ति से काम करे तो इसमें १५०० से अधिक व्यक्तियों की गुंजाइश नहीं हो सकती।

इस तरह यदि हम इन कारखानों में लगे हुए लोगों की आर्थिक विषमता को नजर अंदाज भी कर दें तो भी बात यही रह जाती है कि आज, अधिक न सही, अस्तित्व रक्षा के लिए भी देश को कारखानों की नहीं, विकेन्द्रित उद्योग की आवश्यकता है ताकि 'पण्यों का चक्र' गतिमान हो सके।

(५)

ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त

(यह गांधी विचार धारा का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है। भाई किशोरलाल जी मश्रूवाला ने इसका महत्त्वपूर्ण विवेचन अपनी पुस्तक "गांधी और साम्यवाद" के पृष्ठ ७८–८६ पर किया है। यह पूरा अध्याय वहीं से उद्धृत किया जा रहा है।)

ट्रस्टीशिप क्या है, इसे जानने के पहले हम यह जान लें कि वह क्या नहीं है क्योंकि इस विषय में कुछ गलत मान्यताएँ लोगों ने बना ली हैं।

कुछ लोग मानते हैं कि आज जिन आदमियों के हाथ में जायदाद, सत्ता के स्थान, अधिकार वगैरह का कब्जा आ गया है—परन्तु जिन्हें सच्चे या झूठे सबब देकर दूसरे लोग हथियाने की कोशिश करते हैं—उनके द्वारा उन्हें दूसरे के हाथ में न जाने देने के लिए यह एक आकर्षक नाम की आड़ में खड़ी की हुई ढोंगी रुकावट है। 'जो लोग ये माँगें पेश करते हैं, उनकी अपेक्षा हम ही उनका ज्यादा अच्छा प्रबन्ध कर सकते हैं और हम ही जनता को ज्यादा से ज्यादा लाभ दे सकते हैं। हमारे विरोधियों में से किसी में या जनता में से किसी में ऐसा कार-भार चलाने की ऐसी योग्यता और कुशलता नहीं है। इसलिए प्रजा के ट्रस्टी (हितचिन्तक) के नाते हमें ही इन स्थानों पर रहना चाहिए। नालायक लोगों के हाथ में उन्हें सौंप दें तो वह हमारी कर्तव्य-भ्रष्टता होगी।' ऐसी-ऐसी दलीलें करके सच्चे दावेदारों को अपने हकों से वंचित रखने के लिए यह ट्रस्टीशिप का ढोंगी सिद्धान्त खड़ा किया गया है। अंग्रेजी राज्य-कर्ता भारत पर अपना अधिकार बनाये रखने के लिए कितने ही वर्षों तक ऐसी ही दलीलें दिया करते थे। वे कहते थे कि 'हम किसके हाथ में सत्ता सौंपें ? प्रजा तो बिलकुल निरक्षर, पिछड़ी हुई और बेसमझ है। उसमें मेल नहीं है; तरह-तरह जाति-पाँत, धर्म वगैरह के झगड़े हैं। उसके नाम से आन्दोलन करनेवाले नेता धूर्त हैं। सत्ता के लिए भीतर ही भीतर झगड़नेवाले हैं। वे अपना ही स्वार्थ खोजनेवाले हैं। वे भारत में शान्ति कायम नहीं रख सकेंगे। इस कारण से बालक जैसी निरक्षर और अज्ञान प्रजा के संरक्षक के नाते भारत का कब्जा नहीं छोड़ा जा सकता है।'

लेकिन अंग्रेज भारत का शासन मुफ्त में या बिलकुल उचित माना जा सके उतना ही मेहनताना लेकर नहीं करते थे; इस कारण लोगों की दृष्टि में अंग्रेजों की यह ट्रस्टीशिप की दलील देश को अपने अधीन बनाये रखने का एक बहाना ही थी।

फिर कानून के मुताबिक नियुक्त किये हुए ट्रस्टियों के बारे में भी ऐसे अनुभव कई बार होते हैं। किसी नाबालिग की जायदाद के ट्रस्टीशिप की दलील देश को अपने अधीन बनाये रखने का एक बहाना ही था। ट्रस्टी या संरक्षक उसके बालिग हो जाने के बाद भी जायदाद का कब्जा और हिसाब उसे सौंप देने के बजाय विलम्ब और टालमटोल करते हैं तथा उसका कारण यह बताते हैं कि उसमें अभी जायदाद का इन्तजाम करने की

योग्यता नहीं है। ऐसे ट्रस्टियों को जायदाद का सच्चा मालिक धूर्त समझता है और उन पर विश्वास नहीं करता।

ऐसे अनुभवों के कारण खुद 'ट्रस्टी' शब्द और 'ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त', दोनों की साख घट गई है और यह कल्पना ही कई लोगों को नापसन्द हो गई है। आज के प्रगतिवादी माने जानेवाले राजनीतिज्ञों को यह शक हो गया है कि चूँकि गान्धी जी राजाओं, जमींदारों, पूँजीपतियों और दूसरे सत्ताधारी लोगों के प्रति मित्रता का भाव रखते थे, इसलिए उनके हित साधन के लिए गान्धी जी ने यह शब्द-जाल होशियारी से खड़ा कर दिया है, और उनके हाथ में अपनी जायदाद और सत्ता से चिपटे रहने का एक हथियार दे दिया है।

फिर यह भी मान लिया जाता है कि बहुत उदार और दान वृत्ति का आदमी गांधी जी की दृष्टि से आदर्श ट्रस्टी कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए, यदि कोई राजा या लखपती ऐसा हो, जो व्यक्तिगत रूप में बहुत सादा जीवन बिताता हो, कभी-कभी बड़े दान देता हो, जिसने कुछ अच्छी संस्थाएँ कायम की हों या अपनी जायदाद के एक अच्छे भाग का धर्मादा ट्रस्ट बनाया हो; इसके साथ ही जो नौकर-चाकरों पर बड़ी ममता रखता हो, गरीबों के प्रति रहम दिल हो, अतिथियों का अच्छा सत्कार करता हो, मित्रों को मुसीबत में मदद देनेवाला हो, अनैतिकता के बड़े-बड़े दोषों से मुक्त हो और धर्म-कर्म में श्रद्धा रखता हो, तो गांधी जी कह देंगे कि उसने ट्रस्टी के सारे फर्ज अदा कर दिये। यह देखने की जरूरत नहीं कि वह अपने कुटुंबी जनों को कैसे आराम से रखता है, कमाई और जायदाद का कितना भाग अपने लिए खर्च करता है और किस तरह से कमाई करता है।

पर ये मान्यताएँ निराधार हैं। 'ट्रस्टी' शब्द कानूनी परिभाषा का है; और कानून समय-समय पर इसमें जो अर्थ भर दे तथा ट्रस्टी के कर्तव्यों और हकों की जो सीमा बाँध दे, वह गान्धी जी के सिद्धान्त के दायरे में आनेवाले ट्रस्टियों को भी लागू होगी। इसके साथ-साथ कानून के दायरे में न आनेवाली, किन्तु नैतिक दृष्टि से अनिवार्य मानी जानेवाली मर्यादाएँ भी उन्हें लागू होती हैं। सन् १६३६ में "गान्धीवाद समाजवाद" नाम से एक लेखमाला मैंने 'हरिजन बन्धु' में दी थी। खुद गान्धी जी ने

उसका सम्पादन किया और उसे सुधारा था। उसमें मैंने ट्रस्टीशिप के ढ़ङ्ग को इ तरह समझाया था—

"शोषण और प्रवंचन को रोकने का प्रश्न निजी सम्पत्ति के प्रश्न से जुड़ा हुआ है और प्रायः यह माना जाता है कि ये दोनों एक ही हैं। 'गान्धीवाद समाजवाद' की चर्चाओं में अधिकतर इसी पर गरमागरम वाद-विवाद होता है। सच पूछा जाय तो इस विषय में गान्धी जी के विचार उग्र से॰ उग्र साम्यवादी की अपेक्षा भी आगे बढ़े हुए हैं। उनके सिद्धान्त के अनुसार तो किसी भी मनुष्य के पास किसी भी प्रकार का परिग्रह न होना चाहिए। जायदाद के व्यक्तिगत परिग्रह को (निजी सम्पत्ति की प्रथा को) वे सह लेते हैं; इसका कारण यह नहीं है कि (निजी) सम्पत्ति या परिग्रह का उन्हें मोह है, या वे मनुष्य जाति की उन्नति के लिए (निजी) सम्पत्ति का संग्रह जरूरी मानते हैं; बल्कि उसका कारण यह है कि व्यक्तिगत परिग्रह को बढ़ाने और जुटाने की प्रथा को मिटाने का कोई सत्याग्रही मार्ग उन्हें अभी तक नहीं मिला है। मेरा ख्याल है कि सभी पंथों के समाजवादी मानव जाति के सुख के लिए धन दौलत और जायदाद के संग्रह को जरूरी मानते हैं। गान्धी जी इसे सिद्धान्त के रूप में स्वीकार नहीं करते। व्यावहारिक दृष्टि से इसका विचार करते हुए गान्धी जी इस बात को समझते हैं कि आज ही उस वक्त की कल्पना नहीं की जा सकती जब कि मनुष्य-जाति परिग्रह छोड़ने को तैयार हो जायगी। अतः विचार के लिए सिर्फ इतनी ही बात रह जाती है कि जिन लोगों के कब्जे में धन दौलत और जायदाद हो, वे उसे किस दृष्टि से अपने पास रक्खें या किन शर्तों पर उसे उनके पास रहने दिया जाय? गान्धी जी कहते हैं कि कोई भी जायदाद किसी एक व्यक्ति के अधिकार में हो या कई व्यक्तियों के बने किसी मंडल के हाथ में हो, और वह अधिकार उन्होंने उस वक्त के कायदे के मुताबिक पाया हो या गैर कानूनी तौर पर पाया हो, तो वे उसे अपने पास निजी उपयोग के लिए नहीं, बल्कि समाज की ओर से समाज के भले के लिए ही रख सकते हैं। यानी उन्हें समझाना चाहिए कि वे उस जायदाद के 'ट्रस्टी' या संरक्षक हैं। इस 'ट्रस्टी' शब्द के कारण बहुत कुछ गलतफहमी पैदा हो गई है। इसकी वजह तो यह है कि अभी लोग इस बात के समझने के आदी नहीं हुए हैं कि गान्धी जी कहते हैं और............अंग्रेज राजनीतिज्ञों ने भी कई बार कहा है कि भारत में ब्रिटिश सरकार का अस्तित्व भारतीय जनता के कल्याण लिए के और

उसके ट्रस्टी के रूप में है। लेकिन हमें अनुभव तो यह हुआ है कि इस भाषा के अनुसार आचरण करने की उनकी नीयत रत्ती भर भी नहीं है। अब हम समझ चुके हैं कि इस तरह की भाषा का प्रयोग करके निरे दम्भ और अतिशयोक्ति भरे शब्दों द्वारा हमें भुलावे में डालने की उनकी नीयत है।..........इसी प्रकार जब गान्धी जी कहते हैं कि जिनके पास धन दौलत और जायदाद है वे उसके मालिक नहीं बल्कि ट्रस्टी हैं, तब उनके इन शब्दों को वाणी का अलंकार मात्र मान लिया जाता है। उनके टीकाकारों के मन में इस प्रकार का भी शायद अस्पष्ट-सा ख्याल रहता है कि कानून के रूप से बने हुए और धर्म के रूप से बने हुए ट्रस्टियों के फर्ज में कुछ भेद होता है। परन्तु गांधी जी ऐसा कोई भेद नहीं मानते। गांधी जी की यह आदत ही नहीं कि किसी सिद्धान्त को आचरण का रूप देने के साधन न होते हुए भी उसका प्रतिपादन करने बैठ जायँ। वे यह मानते हैं कि मनुष्य के सुखपूर्वक निर्वाह के लिए जितना आवश्यक है, उसे छोड़ कर शेष सारे अधिकार का उपभोग दूसरों की इजाजत से ही किया जा सकता है, फिर भले वह इजाजत लाचारी से दी गई हो या अज्ञान के कारण। लेकिन लाचारी के मिटने और उसकी जगह शक्ति का उदय होने और अज्ञान का स्थान ज्ञान को प्राप्त हो जाने पर उस अतिरिक्त जायदाद पर सिर्फ ट्रस्टी के नाते ही अधिकार रह सकता है। अगर जरूरत है तो जनता को बलवान और ज्ञानवान बनाने की। और जब हम सोचते हैं कि इसके लिए किस प्रकार का बल पैदा करना चाहिये, तो हमें पता चलता है कि जनता में उत्पन्न किया जानेवाला यह बल अहिंसक ही होना चाहिये, बशर्ते कि हम यह चाहते हों कि आज जिनके पास जायदाद नहीं है उनके अधिकार में जायदाद और सम्पत्ति के आते ही वे भी आज के सम्पत्तिवालों की तरह जालिम और अत्याचारी न बनें।

उस समय मैंने एक बात स्पष्ट नहीं की थी क्योंकि वह खुद मुझे ही स्पष्ट नहीं थी। वह यह था :—

ट्रस्ट मानी जानेवाली जायदाद का हकदार मालिक कौन और उसके उपभोग में हिताधिकारी कौन? ऐसे ट्रस्ट में किस प्रकार की जायदाद का समावेश होता है? तथा गांधी जी की दृष्टि से खानगी जायदाद का प्रकार और प्रमाण कैसा हो?

वहाँ मैं यह समझाने का प्रयत्न करता हूँ कि ट्रस्टीपन का सिद्धान्त खानगी और गैर खानगी जायदाद का भेद नहीं करता। चाहे जिसके

कब्ज में हो, चाहे जिस प्रकार की हो और चाहे जितने प्रमाण में हो; पदार्थमात्र ट्रस्ट-जायदाद है। इतना ही नहीं बल्कि इसमें स्थूल जायदाद और सूक्ष्म (आँखों से स्थूल रूप में न दिखनेवाली) जायदाद का भी भेद नहीं किया जाना चाहिये। उसी तरह सिर्फ जायदाद नहीं, बल्कि अधिकार के स्थानों, नेग दस्तूरी, मजदूरी की शारीरिक शक्ति व हेलन केलर जैसी अंधी और गूँगी-बहरी स्त्री के बुद्धि-चातुर्य्य पर भी ट्रस्टीपन का सिद्धान्त ला होता है। किसी अपंग आश्रम में कोई बिना हाथ-पैर का आदमी हो, पर उसमें भी यदि कोई नियन्त्रण शक्ति हो, तो वह भी उसका ट्रस्टी माना जायेगा। संक्षेप में, पागल न बन चुके आदमी में जो कुछ अपने अधीन रहनेवाली शक्ति हो, उस सबका वह एक ट्रस्टी के नाते अधिकारी और प्रबन्ध करनेवाला है।

तब इन सबका मालिक कौन? गांधी जी कहते हैं—ईश्वर। यह सारा जगत ईश्वर का ही है। और उसमें जो कुछ भी स्थूल और सूक्ष्म या सजीव या निर्जीव तत्व हैं, वे सब ईश्वर के ही हैं। उदाहरण के लिए किसी कारखाने के शेयर होल्डर, डाइरेक्टर, मैनेज़िंग एजेण्ट, वैज्ञानिक या मजदूरों में से कोई एक वर्ग या सब मिल कर भी उसके मालिक नहीं कहे जा सकते। और खुद सरकार भी उसकी मालिक नहीं कही जा सकती। उस कारखाने को चलाने के लिए ही वे सब तरह-तरह के मदद-गार हैं। और कारखाने को अच्छी तरह चलाने के लिए ही वे अलग अलग तरह का हिस्सा लेनेवाले और अलग-अलग कर्तव्य और अधि-कार रखनेवाले माने जायेंगे। हर एक को ईमानदारी से अपना कर्तव्य पूरा करना चाहिये और वैसे काम करते हुए अपने उपभोग के लिए वे उचित मेहनताना ले सकते हैं परन्तु अधिक बच जाय तो वे उसके मालिक नहीं हैं।

जगत के सब कुछ पर ईश्वर का ही स्वामित्व है। कोई मनुष्य या सारी मनुष्य-जाति भी किसी चीज या अधिकार की मालिक नहीं है। यह सिद्धान्त शेयर होल्डरों, मैनेजरों, निष्णातों या मजदूरों के नफे के प्रमाण में डिविडेण्ड, कमीशन, बोनस वगैरह पाने के दावों को खतम कर देता है। भगवान ने मनुष्य के लिए दुनिया पैदा की है और उसे सब चराचर पर अधिकार दिया है, यह सिद्धान्त मानने लायक नहीं है। जो कुछ उसे मिला है, उसका किफायतशारी से उपयोग करने और अपने हर काम का हिसाब देने के लिए वह बँधा हुआ है। अपनी सारी कुश-

लता, योग्यता, शक्ति वगैरह का कारखाने को लाभ देनेवाला आदमी (जरूरत हो तो) उसमें से अपना मेहनताना ले। लेकिन वह उसकी जरूरत पुरता ही हो सकता है, उसके काम या बुद्धि की कीमत के प्रमाण में नहीं। उदाहरण के लिए यदि एक लंगड़ा चौकीदार सिर्फ एक स्टूल पर बैठ कर कारखाने में जाने-आनेवाले माल की जाँच करने जितना ही काम कर सकता हो, और उसे पूरी लगन से करता हो, तो वह पूरा सामान्य मेहनताना लेने का और लंगेड़पन के कारण उसे थोड़े ज्यादा की जरूरत हो, तो वह भी पाने का पात्र माना जायेगा जब कि कारखाने का इंजीनियर या सशक्त मजदूर केवल सामान्य मेहनताना ही ले सकता है। फिर मैनेजिंग एजेण्ट को किसी दूसरी तरह के काम से या दूसरी जगह से मेहनताना मिलता हो, तो यह हो सकता है कि वह इस काम के लिए कुछ भी न ले। पैसे के रूप में मिलनेवाले लाभ या मेहनताना पर से किसी भी आदमी की कीमत या कुशलता का अन्दाज नहीं लगाया जा सकता।

फिर ईश्वर ही सब का मालिक है, इस सिद्धान्त से यह ठहरता है कि सरकार, डाइरेक्टर, या मजदूर, किसी को भी मनमाने ढंग से उस जायदाद का नाश करने का अधिकार नहीं है। हमारी जायदाद का हम जो चाहे करेंगे, इस दावे के लिए यहाँ कोई गुंजाइश ही नहीं है।

(विषयान्तर होते हुए भी यह कहना अनुचित न होगा कि आज नैतिक क्षेत्र में यह जो कहा जाता है कि विषय-तृप्ति स्त्री-पुरुष के शरीर के उपयोग का व्यक्तिगत सवाल है, उसका यह सिद्धान्त निषेध करता है। मनुष्य को मिली हुई कोई भी शक्ति उसकी अपनी चीज नहीं है। जिस तरह कोई सशक्त आदमी मेहनत करने से इनकार नहीं कर सकता उसी तरह वह अपने शरीर, बुद्धि या इन्द्रियों की शक्ति को बरबाद करने का अधिकार भी नहीं जता सकता।)

मालिकी—हक के इस खुलासे के बाद तीसरा सवाल यह उठता है कि तब इस सारी जायदाद हिताधिकारी कौन है। उसका जवाब यह है कि सारी सृष्टि। उदाहरण के लिए एक कारखाने के नफे के हकदार उसे चलाने में हाथ बँटानेवाले ही हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता। परन्तु हर एक चीज का सबके साथ मिलकर ही उपयोग किया जा सकता है और उसमें मनुष्येतर प्राणियों को भी नहीं भुलाया जा सकता।

बेशक मनुष्य की दृष्टि के अनुसार ही इस सिद्धान्त पर अमल होगा। पहले तो वह स्थानीय क्षेत्र में लागू किया जायेगा। वहाँ भी मनुष्य

दूसरे प्राणियों के बजाय मनुष्य जाति को ही पहले पसन्द करेगा। परन्तु जैसे-जैसे उसकी दृष्टि, साधन और सम्पत्ति विशाल होते जायेंगे, वैसे-वैसे उसके अमल का क्षेत्र बढ़ाना उसका फर्ज होगा। और वे जितनी हद तक बढ़ाये जा सकें उतनी हद तक बढ़ाये जाने चाहियें। अगर दुनिया के किसी दूसरे हिस्से में मनुष्य को कष्ट हो, तो एक स्वावलम्बी और स्वयंपूर्ण गाँव को भी अपनी सारी पैदावार का खुद ही उपयोग करने का हक है। और यदि उन पीड़ित लोगों के पास उस गाँव के लिए कोई उपयोगी चीज न हो, या कोई चीज देने की उनमें शक्ति ही न हो, तो उससे अपनी चीजों के लिए कोई कीमत भी उस गाँव वाले नहीं माँग सकते।

मनुष्य की खानगी जायदाद किस प्रकार की और कितनी हो सकती है इसका जबाव देना अब सरल है। काम करनेवाले के नाते एक आदमी के लिए सामान्य नियम से जो मेहनताना ठहराया गया हो और उसकी यदि उसे जरूरत भी हो तो उसका वह विवेक के साथ उपभोग कर सकता है। यदि ऐसा न हो और निकट भविष्य में भी उसकी जरूरत न पड़े तो जिसे उसकी जरूरत हो, उसे दे देना चाहिये या अपने क्षेत्र के सामान्य कोष में उसे जमा करा देना चाहिये।

इस सिद्धान्त को समझ लेने के बाद यह समझना कठिन नहीं कि गांधी जी एक तरफ से जमीन, कारखाना वगैरह छीन लेने की नीति का और दूसरी तरफ से उसका मुआवजा देने की नीति का भी क्यों विरोध करते थे। यदि आज के जमींदार उद्योगपति वगैरह ट्रस्टीपन का सिद्धान्त स्वीकार करते हों तो उनसे जमीन, कारखाने वगैरह का कब्जा छीन लेने की जरूरत ही नहीं रह जाती और यह ठीक भी नहीं है। पहला प्रयत्न उनसे यह सिद्धान्त स्वीकार कराने का होना चाहिये। मुआवजा देने का सुझाव इसलिए ठीक नहीं है कि कभी किसी ट्रस्टी को हटाया जाय तो उसे मुआवजा देने का कायदा नहीं है। अगर वे ट्रस्टी के फर्ज अदा न करना चाहें और मालकी का दावा करते हों, तो उनका वह दावा माना नहीं जा सकता। ऐसी हालत में उन्हे हटाकर नई व्यवस्था करने की आवश्यकता अपने आप पैदा होती है। इसलिए मुआवजे का प्रश्न ही नहीं उठता।

(६)

ग्राम लक्ष्म

इधर कोरा ग्रामोद्योग केन्द्र और गांधी-निधि के तत्वाधान में गोबर से गैस बनानेवाले एक यंत्र का प्रयोग चल रहा है। गोबर और मल-मत्र

से इस यंत्र द्वारा सरलतापूर्वक गैस बना लिया जाता है; गैस ईंधन और प्रकाश की समस्या हल कर देती है और गोबर तथा मल-मूत्र फिर भी उत्तम और उपयोगी खाद बना रहता है। इसीलिए इस यंत्र को 'ग्राम-लक्ष्मी' का नाम दिया गया है। इस यंत्र से ग्राम स्वालम्बन गाँवों के आधार पर सधेगा और इंधन की समस्या भी हल होगी।

(७)

जापानी धान खेती

कोरा ग्रामोद्योग केन्द्र तथा गांधी निधि के तत्त्वाधान में धान की उत्कृष्टतम रीति से खेती करने के सफल उदाहरण हमारे सामने आये हैं। भारतीय कृषि में नयी जान पैदा करने के लिए इस पद्धति पर विचार करना अत्यावश्यक है। धान ही नहीं, अन्य चीजों में भी इस प्रयोग से स्वावलम्बी और संतुलित कृषि को सार्थक बनाने की सम्भावनाएँ हैं।

(८)

स्वालम्बी गाँव

हमने मूल पुस्तक में कृषि और तत्सम्बन्धित समस्याओं पर विचार करते हुए संतुलित कृषि और स्वावलम्बी गाँवों की आवश्यकताओं पर जोर दिया है। यहाँ उसी सम्बन्ध में हम एक लाख व्यक्तियों के लिए संतुलित कृषि के आधार पर कुल जमीन की आवश्यकता का एक नकशा दे रहे हैं। इसे देखकर एक महत्त्वपूर्ण बात यह समझ में आयेगी कि संतुलित कृषि करने से यही नहीं कि समाज सबल और स्वावलम्बी बनेगा, खाद्य समस्याएँ हल होंगी, बल्कि बात यह भी होगी कि प्रति व्यक्ति जमीन की आवश्यकता कम हो जायगी। नकशे को देखने से पता चलेगा कि एक लाख व्यक्तियों के लिए लगभग ७७००० एकड़ जमीन की जरुरत होगी। प्रति व्यक्ति औसत ·७५ एकड़ होगी यानी ५ सदस्यों के परिवार के लिए ३.७५ एकड़ जमीन चाहिये।

भू-दान-यज्ञ पर विचार करते हुए हमने देखा है कि विनोबा जी ने प्रति परिवार ५ एकड़ की मात्रा निर्धारित की है। इसे विरोधियों ने "अपर्याप्त" (Non-Economic Holding) बताने की चेष्टा की है। अतः नकशे से स्पष्ट हो जायेगा कि विनोबा जी की योजना वैज्ञानिक और आर्थिक, दोनो है। यहीं यह भी स्पष्ट हो जाता है कि संतुलित कृषि के कारण धरती पर से जन-संख्या का दबाव अपने आप कम हो कर प्रत्येक गाँव सरलतापूर्वक स्वावलम्बी बन सकता है।

एक लाख व्यक्तियों के लिए खाद्य और भूमि के आङ्कड़े

पदार्थ	तोले प्रति दिन	जीवन-मान	सेर प्रति वर्ष	आवश्यक भूमि, एकड़ों में	बीज तथा घास के लिए १५% अतिरिक्त भूमि	भूमि का योग, एकड़ों में	भूमि प्रति शत
अन्न	४०·००	१६००	१८२·५०	४३,४००	६,५१०	४९,९१०	६५·२
दाल	५·००	२००	१२·८०	५,४००	८१०	६,२१०	८·२
गुण	५·००	२००	२२·८	१,२००	१८०	१,३८०	१·८
मेवा	२·५०	१४५	११·४०	२,६००	३९०	२,९९०	८·४
तेल	१·२५	१५५	५·७०	३,०००	४५०	३,४५०	
घी	१·२५	—	५·७०	—	—	—	—
दूध	३०·००	२४०	१३६·८५	—	—	—	—
सबजी	२०·००	४८	९१·२५	१,६००	२४०	१,८४०	२·४
आलूआदि	१०.००	१००	४५·६२	१,०००	१५०	१,१५०	१·५
फल	१०·००	५२	४५·६२	९००	१३५	१,०३५	१·४
रूई			६.२५	६,५००	१,१२५	८,६२५	११·३
योग		२८४०		६६,६००	९,९९०	७६,५९०	१००·०

नोट—यह नकशा श्री भगवान दास केला के "सर्वोदय अर्थशास्त्र," पृष्ठ १६५ से उद्धृत किया गया है।

शब्द-सूची

इस सूची में जिन पृष्ठों के नीचे विन्दु लगा है उनमें सम्बद्ध शब्द अनेक अर्थ में और अनेक दृष्टि कोण से प्रयुक्त हुये हैं। इसलिए पूरे पृष्ट तथा उनकी टिप्पणियों को देखना लाभ प्रद होगा। टिप्पणियों के लिए 'ट' का प्रयोग हुआ है।

अंग्रेज़ ५४ ट, २५३
अंग्रेज़ी क़ानून २०६
अकबाल, सर १० ट
'अकर्म' ४६
अकर्मण्य ४६
अकर्मण्यता ५३
अकाल २५१, ५२, ७३, ७४, ८५
अकाल, बंगाल का ३०७
अकिंचन परिव्राजक १२६
अखिल भारत ग्रामोद्योग संघ १२०
अखिल भारत चर्खा संघ ५४ ट
अग्रसर जातियाँ, संसार की १८
अर्घ : वैल्यू, कीमत ४ ट
अर्घ व्याख्या, जेवॉन की ४
अचल निधि २२२
अचल सम्पत्ति २१३, १८, १६, २०, २१, २२, २४ ट, ३१, ३२, ३३
अचल सम्पत्ति, अविभाज्य २२०, ३१, ३३
अचल सम्पत्ति, सारे गाँव की २२२
अछूत ६१
अज्ञानता, खाद्य २६३
अड़चनें, यातायात २५८
अति उपज : Over Production ३३, ३४, ४०
अतिरिक्तार्घ : Surplus Value ३०
अतिरिक्त आय २१२, १३, १५, १६, २०, २१, २३, २३ ट, ३०, ६६
अतिरिक्तांश, सम्पत्ति का २२०
अति वृष्टि २५८
अर्थ, वर्ण का १७४
अर्थ-नीति (Economic Order) १०, २८, ३२
अर्थ-नीति, नव भारत की ५४
अर्थ-नीति, केन्द्रित ४०
अर्थ शास्त्र ३, ४, ८, ६ ट, १०
अर्थ शास्त्री ५७
अदल-बदल ४३
अदल-बदल, जीवनावश्यक १२, ३३६
अधः पतन ४८
अर्धांगिनी, स्त्रियाँ ८५
'अधिक अन्न उपजाओ' २५१, ६०
अधिक उत्पादन १६६
अधिकार ५४, ५५, १४५
अधिकार : शक्ति ५५
अधिकार-प्राप्ति ५२
अधिकार, मनुष्य का स्वाभाविक २०५
अधिकार, सम्पत्ति पर १०३ ट, २१६
अधिकार, साम्पत्तिक सदुपयोग का २००
अधिकार क्षेत्र, सरकार और संस्थाओं का २४२
अध्यक्षता, माता पिता की संयुक्त २१४ट
अध्यापक ६२, १००, १६४, १६७, १६८, १६१
अध्यापक, नयी तालीम के २६३
अध्यापक, शाला में शिशु के २६६
अध्यापन ६२, १६५, ६७, ६८, ७४, ६१
अनंत क्रांति ३४
अनर्थ : Bad Economy २४३
अनर्थ (Non Economic) १२ ट
अनर्थ, राष्ट्रों का ५२, ५५

अन अर्न्ड : अनुपार्जित २१३, २३ ट,
अनाज ४८, २३५, ३६, ४३, ५२, ५३, ५४, ६५, ८१, ८२
अनाचार ३३८
"अनात्मवादी द्वान्द्वात्मक भौतिकवाद" ११४
अनाथालय १०८
अनाथालय, सरकारी २२७
अनावृष्टि २५८
अनावश्यक कार्य ४६, १६०, १६० ट
अनावश्यक सम्पत्ति, परिवार की २२
अनासक्तियोग, गांधी जी का गीता भाष्य १७८
अनुत्पादक कार्य १६०, १६० ट
अनुत्पादक प्राणी २२६
अनुत्पादक संघर्ष ३४
अनुमति (लाइसेन्स) २५७, ३४६
अनुपात, कार्य और श्रम का १८ ट
अनुपात, कार्य और उत्पत्ति का १४६
अनुसंधान, सैद्धान्तिक ५८
अन्तर, देशस्थ ६४
अन्तर्द्वन्द्व (डायलेक्टिक्स) १३६, ४०, ४१, ४३, ४४, ४६, ५८
अन्तर्पूर्ति, विभिन्न जीवन-मान की ६४, ३००
अन्तर्राष्ट्रीय पंचायत ३८
अन्तर्राष्ट्रीय परावलम्बन १२, ४१, ४१ ट, ५६, ६६
अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय ४१ ट
अन्तर्संघर्ष १४०, ४६
अन्न २१, २३, ४८, ५३, १०४, २३४, ३५, ४०, ४१, ४३, ४६, ४७, ४८, ४६, ५१, ५४, ५५, ५८, ५६, ६०, ६५, ८२, ८६, ८६, ३०७
अन्न का प्रश्न : गाय का प्रश्न २४६
अन्न दाता २३४, ४३
अन्नपूर्णा, पुस्तक २६८
अन्न-पूर्णता, गाँवों की २६३
अन्न, लोगों का फाजिल २४२, ४३
अन्याय, ज़मीन सम्बन्धी २६३
अन्योन्याश्रित, धन और शक्ति ५५
अन्योन्याश्रित, संयुक्त परिवार और संयुक्त सम्पत्ति २०८
अपनत्व २००, ०१
अपव्यय, शक्ति और सम्पत्ति का १६६
अपारिवारिक सूत्र २३०
'अपिण्ड–अगोत्र' : (Exogamy) ६३, ६४
अपूर्ण कार्य १८ ट, ३४ट
"अपूर्ण खेती" २४६, ५०
अपूर्ण श्रम १६०
अपरिग्रह १७६
अप्राकृतिक आडम्बर २२
अप्राकृतिक, व्यक्तिगत व्यवस्थाएँ १५
अप्राकृतिक विस्तार ६४
अफलातून, दार्शनिक ११४, १५, ३४
अफीम ४७
अफीम, काश्तकार २३४
अफीम, बच्चों को २७०
अभयदान, समाज का : संयुक्त विधान १८१

अभाव ३३
अभाव, खाद्यों का २५७
अभावग्रस्त क्षेत्र २५७, ५८
अभाव, सामाजिक स्थिति का ६१
अभाव, मौलिक स्वतंत्रता का :
अभाव, समाज सतुलन का २८६
अभाव, संतुलित कृषि का : विच्छेद, समाज में २६०
अभिन्नता, समाज की सामूहिक १६४
अभ्यास, उत्पादन प्रक्रिया का ३२१, २२
अमीर, बहु-पत्नी पोषक ८३
अमीर लोग २६६
अमेरिका १६, ३३, ६६, ६६, १३६, ७६, ६५, २३७, ४१, ४४, ५३
अमेरिकी श्रीमक १५६
अम्बेडकर, डॉ० २०८
अमृत बाज़ार पत्रिका, दैनिक ५२ ट, २७५, २७५ट, ७७ ट, ८०
अरब ६२, १७६
अरस्तू, युनानी दार्शनिक ११४, १५
"अर्न्ड" : उपार्जित २१३, २३ ट, २४ ट
'अलकोहल' २०
अवकाश १४६, ५०, ५१, ५२
अवकाशयुक्त कार्य १५६
अवधि, आयु और समय १६१, ६२
अवयव, केन्द्र के ५६
अविनाशी (मुद्रा) १३
अशोषणात्मक : अहिंसात्मक ५४
अश्वत्थामा, महाभारत के महारथी १७४
असंतुलित भोजन २३६, ६३, ६४
असमानता, प्राकृतिक ४२
असमानता, लोगों की १६५
असमानता, व्यक्ति की स्थितिवत १६६
असलियत, भारत में जन वृद्धि की २७५
असलियत, सरकारी नोटों की २२३, २४, २५
असामाजिक व्यक्ति २१४
असामूहिक वैयक्तिक क्रियात्मक शक्ति ४२
असामूहिक : विकेन्द्रित ४२
अस्त्र, समाज की आर्थिक सुरक्षा का १८१
अस्तित्व, पारिवारिक सदस्य का स्वतंत्र २२२
अस्तित्व, विरोधी का लोक संग्रहार्थ ५४
अस्तित्व, व्यक्ति का चेतन २५६
अस्तित्व, समाज का ५०, १५८,
अस्तेय १७६
अस्पृश्य १६५
अस्पृश्यता १७५
"अस्वस्थ सम्पत्ति" ४८
अहमदाबाद ४४, ४६, ६४, १८५, २५०, ७५ ट
अहिंसा ७३ ट
अहिंसात्मक मार्ग, सम्पूर्ण क्रांति का ३१६
अहिंसात्मक रीति १६७
अहिंसात्मक समाज ५५
अक्षत योनि, विधवा ८३ ट
ऑकरायड, डा० २७७
आँकड़ात्मक गणना ५८, ६०
आँकड़े ५७, ५८, ५६, ६०
आँकड़े, धरती के बुनियादी २७३
आँकड़े, नोटों की जमानती द्रव्य के ३२४, २५,
आकांक्षा, शान्ति की १०३
आकरात्मक आधार (Structural-Basis) ४४

आकारात्मक भेद, कार्य विभाजन की आवश्यकता १०४
आकार-प्रकार, समाज का १७७
आइस्क्रीम २१
आज़ाद, मौलाना १६४ ट
आज़ादी, भोजन के अभाव में २३५
आटा १६६, २४६, ८६,
आत्म तुष्टि, वैयक्तिक १५७
आत्म रक्षात्मक नीति, फ्राँस की ६३
आत्मा : चेतन ११४
आत्यंतिक ध्यय, नवभारत का २३१
आत्यंतिक हित चिंतन, व्यष्टि का ११७
आर्थिक अस्थिरता, कारण १४
आर्थिक आयोजन ४६, ६२, ६६
आर्थिक आयोजन, नवभारत का १४
आर्थिक उलट-फेर ३४५
आर्थिक जीव ४
आर्थिक गठन, भारत का २८५
आर्थिक दृष्टि, सामाजिक जीवन की ५५
आर्थिक दृष्टि कोण, नवभारत का १४
आर्थिक नीति, नवभारत की १६
आर्थिक निर्माण १३६, ८७
आर्थिक निर्माण का उत्तरदायित्व १०
"आर्थिक पर्याप्त" Economic २६४, ६६, ६८
आर्थिक बल, किसान को २८६
आर्थिक मान, लोगों का १६२
आर्थिक विकास, पश्चिम का १३०
आर्थिक विधान ६, १०
आर्थिक विधान, भारत का ३,१२,१६५
आर्थिक विवेचन (क्या ?) ७
आर्थिक वैषम्य, कारण १३
आर्थिक व्यवस्था ६०, ६१, ६४
आर्थिक व्यवस्था, विश्व की ६४, १३०
आर्थिक संगठन, भारत का ११
आर्थिक समतुलन, समाज का, २१२
आर्थिक समतुलन, गाँवों का ३५३
आर्थिक सुरक्षा, समाज की १८१
आर्थिक स्वरूप, किसी देश का ११
आर्थिक स्वार्थ, कारख़ानों का २०
आर्थिक स्वार्थ, समाज का १३३
आर्थिक क्षति, देश की २४०
आदमी १५, २५, २४८
आदमी, गाँव के २४६
आदमी, भोजन की समस्या में २४७
आदमी, सेना और शिक्षण में २४७
आदिम वासी १००
आधार, आकारात्मक ४४
आधार (बनावट), मशीनों का ४६
आधार, उत्पादन का ६१, ६२
आधार, चर्खात्मक १६१
आधार, भारतीय मुद्रा का ३२८
आधिक्य (Surplus) ४३, ४४, १८६ ३३०, ३५३
आधिक्य, निर्यात योग्य १६७
आधिक्य, प्राकृतिक ६४
आधिक्य, सामाजिक ४६
आधिक्य क्षेत्र २५७
आधिभौतिक, विचारधारा ११४, ११७
आधिपत्य, उत्पादन के साधनों पर २०५
आध्यात्मिक विकास २६
आध्यात्मिक श्रम ३५६, ३६०
आध्यात्मिकता १२६

आनन्द १५१, ५३
आनन्द, जीवन का १०३
आनन्द, सामाजिक जीवन में १४०
आन्तरिक संघर्ष १४४,
आबादी (जनसंख्या) १३५, ३६, २५०, ८१
आबादी हिन्दुस्तान की २३५, ५०
आबादी, दिल्ली की २७५ ट
आबादी, भारत की ग्रामीण % २९१
आबादी, शहरों की २८१
आबादी : अन्न की आवश्यकता २५०
आमूल परिवर्तन, शिक्षण नीति में १८९
आय ५६
आय, भारत की राष्ट्रीय ५६
आयतन १२१
आयात, गैर सरकारी १९५
आयात-निर्यात ४९
आयात-निर्यात, गाँवों का २९९
आयात-निर्यात, विलास का ३०२
आयात-निर्यात, स्त्रियों का ९५
आयु, उत्तराधिकारी की २२६
आयोजन, राष्ट्रीय १८ ट
"आयोजित अर्थ विधान" ७५
आयोजित उत्पादन Planned Production ४७
आर्य जाति ९७
आर्य समाज मन्दिर १७४
"आवश्यक आय" २१२, १३, १५, १९, २०, २३, २३ट, ९६
आवश्यकता २०, ४०
आवश्यकताएँ, मूल भूत १६, २६३
आविष्कार, वैज्ञानिक ८८
आश्रम, जीवन के चार भाग १७७
आश्रमस्थ जीवन २९
आश्रमस्थ व्यवस्था २८ ट
आस्ट्रेलिया ६९, २३७
इकाई, गाँव की १८४
इकाई, चेतन १५
इकाई, पारिवारिक १८४
इकाई, समाज की व्यक्ति रूपी १८२
इंगलैण्ड १८ ट, १९, २३, ६३, ६५, ६६, ६९, १६०, ६१, ९५, २३७
इंगलैण्ड, युद्ध ग्रस्त २९७
'इण्डियन टी मार्केट एक्स्पैंशन बोर्ड २०
इटली २३
इतिहास १४६, ८८
इतिहास, सामाजिक जीवन का १०४
इस्लाम ६२
इष्ट, चर्खे का २९
इन्वेस्टमेण्ट : लागत २२३ ट
ईंधन ३५७
ईसा १४७
ईरान १९ ट
उत्तरदायित्व, आर्थिक निर्माण का १३९, ८७
उत्तरदायित्व, उत्पत्ति का १२४
उत्तरदायित्व, कार्य का १९८
उत्तरदायित्व, पारिवारिक १८२
उत्तरदायित्व, बच्चों का १०८
उत्तरदायित्व, लेन-देन का ५१
उत्तरदायित्व, शासकीय एवं सामूहिक ५६
उत्तरदायित्व, समाज का २२२, २७, ३३
उत्तरदायित्व, समाज के आर्थिक जीवन का १३९

उत्तरदायित्व, समाज का सामूहिक १६३
उत्तर प्रदेश, गेहूँ की जमीन ३०७
उत्तराधिकार २१५, १७, १८, २०, २२, २५, २६, २७, २६, ३१
उत्तराधिकार : राष्ट्रीय निधि २१७, १८
उत्तराधिकार, संयुक्त २२१, २५
उत्तराधिकार, परम्परा ६३ ट
उत्तराधिकार व्यवस्था २१५
उत्तराधिकारी २१७, २६, ३०
उत्थान, सामाजिक ६८
उत्पत्ति ११ ट, २०, २४, २६, ३४, ४०, ४३, ४६, ७४, १०४, ०६, ०८, २४, ३०, ३१, ३६, ४६, ५६, ८५, ८६, २०५
उत्पत्ति, सन्तति की १४१
उत्पत्ति, समाज की २२६
उत्पत्ति स्थान, कच्चा माल १२
उत्पादक, कच्चे माल के २३४
उत्पादक कार्य १५१
उत्पादक क्रम १५४
उत्पादक दृष्टिकोण, श्रम विभाजन में १०१
उत्पादक मशीनें १८८
उत्पादक वर्ग १८६, ३३४
उत्पादक श्रम १०२, ०४, ०५, ०६, ८६, ८७
उत्पादक श्रम, समाज का १०२
उत्पादक ११, १८, १६, २०, २१, २६, २७, २६, ३०, ३२, ३४, ३५, ३६, ३७, ३८, ३६, ४०, ४२, ४३, ४४, ४६, ४७, ४६, ५०, ५१, ५५, ५६, ६१, ६२, ६३, ७०, ७१, १२५, २७, ३०, ५२, ८६, ६५, ६६, २०५, ०६, ४६, ७६, ८०, ३०७
उत्पादन, अन्न का २४८,
उत्पादन, गाँव की जरूरी चीजों का २६६
उत्पादन, दो स्वरूप ३७
उत्पादन, द्वितीय कोटि ४६
उत्पादन, पूँजीवादी व्यवस्था ३०
उत्पादन, प्राथमिक ४६
उत्पादन, भारत का ७१
उत्पादन, व्यक्ति का २०३
उत्पादन, स्वावलम्बी तरीकों से ३०८
उत्पादन केन्द्र, नया २१३
उत्पादन क्रम, भूगोल जन्य ६१
उत्पादन नीति ४८
उत्पादन पद्धति २०, २६
उत्पादन रीति २८
उत्पादन यंत्र ३०५
उत्पादन योजना २०५
उत्पादन व्यवस्था, नव भारत की १८५, २३० ट
उत्पादन शक्ति ४४
उत्पादन शक्ति, धरती की १३६, २४४
उत्पादन व्यय ३२
उत्पादस साधन २८, ३१, ३६, २०५, ०६
उदय, सम्पत्ति का २०३
उद्भव, सम्पत्ति का १०५
उद्यम, पारिवारिक २२६
उद्यमस्थ आधार, कार्य विभाजन की सफलता के लिए १०४
उद्योग ५५, ६४, १५६, ७८, ७६, ३०६
उद्योग (मजदूरी) १७६

उद्योग, कृषि के १६२
उद्योग, कृषि जन्य २५०, ५२
उद्योग, जापानी नमूने पर २५०
उद्योग, ब्रिटेन में ६४
उद्योग, प्राकृतिक २४६
उद्योग और उत्पादन, भारतोय ६४
उद्योग-धन्धे ६१, ६२
उद्योग-धन्धे, रचनात्मक २६८ ट
उद्योगपति, साधन सम्पन्न २७५
उद्योग-वाद १३०, ८८
उद्योग, वनस्पति घी का २४०
उद्योगवादी २४६, ३०६
उद्योगवादी वर्ग २७५
उद्योग व्यवस्था, चर्खात्मक २७६
उद्योग व्यवस्था, मशीनाश्रित १८६, ६६
उद्योग व्यवस्था, हिंसात्मक ६४
उद्देश्य, कार्यों का १४६
उन्नति ७२, ७३
उन्नति, भारत की साम्पत्तिक ७४
उन्माद रोग, न्युयार्क में १२५
उपकर्म, शन्ति रक्षा का १०३
उपज, १२, १८ ट, २३, ३०, ३३, ४०, ४१ ट, ५१, ५८, ६२, ६७, १२३, २४, ४८, ४६, २७५
उपज, पण्यों की पारिमाणिक १६२
उपज, व्यावसायिक चीजों की २३६
उपजशक्ति, समाज रचना पर प्रभाव १२१
उपभोक्ता ४८
उपभोक्ता पदार्थ ३६, ४२
"उपभोक्ता चेक बुक" ३५१
उपभोक्ता वर्ग १८६
उपभोग ३७, ३६, ४६, ५२
उपभोग, व्यक्ति का साम्पत्तिक २०३
उपभोग, सम्पत्ति का सामान्य २०४
उप-भेद, लुहार और बढ़ई के ६६ ट
उप-वर्ग, सिकान के ६६ ट
उप-विभाजन, कार्यों का १०४
उपयोग, धरती का २५६
उपयोग, राष्ट्रीय,-अन्तर्राष्ट्रीय ३८
उपयोग ,मशीनों का ३००
उपयोग, सम्मिलित ३७
उपयोगिता, गुणहीन होने से नष्ट १६७
उपयोगिता (युटिलिटी वैल्यू), बस्तुओं की २४३
उपयोगिता, सम्पत्ति की २१६
उपहास, दुखद ३०३
उलट-फेर, कल पुर्जों की ५०
उष्णता, दक्षिण भारत की ६६
ऊँच-नीच १६४, ६५, ७५, ७८, ७६
ऊँचा मान, जीवन का ३०६
ऊँचा स्तर, जीवन का २७८, ७६, ८०, ३०६
ऊँची कीमत, अन्न की २४३
'एक मनुष्यात्मक उद्योग-व्यवस्था' ४५, ४६, ४८, ५१, ५२, ५४, ५६
'ए. म. उ. व्यवस्था' : 'निःकल उत्पादन' ५१
ए. म. उ. व्य., लाक्षणिक अर्थ ५४
एक तंत्र : केन्द्रीय शासन ८४
एक नारीत्व ६७ ट
'एक-पति'—'एक-पत्नी' ८५
'एक-व्रत' ८५, ८६
एकत्रीकरण (Accumutlation) ३०, ३१

एकांगी कल्पना, राजनीतिक स्वातंत्र्य की ५४
एकांगी क्रांति ३०४
एकांगी हिंसा ५४
एकाधिकार २६, २६ ट, ३०, ५६, ६२, १३१, ८८
एकाधिकार, कार्यों का ६१, १५५
एकाधिकार, मशीनों का गुण १८८
एकाधिकार, सम्पत्ति पर १८८
एस. एल. दोशी, प्रो० २७५, २७७ट, ८०
एंगल्स, जर्मन विचारक ११५
ऐठम बम ७३ ट
ऐतिहासिक निष्कर्ष ५८
ऐतिहासिक पद्धति ६३
ऐतिहासिक समीक्षा ६१
ऐहिक जीवन, मनुष्य का ६५
औद्योगिक आधार, वर्णों का १७६
औद्योगिक कार्य १५६
औद्योगिक केन्द्र २७८
औद्योगिक केन्द्रीकरण २८०
औद्योगिक क्रांति ४८
औद्योगिक क्रांति, सामूहिक बेकारी की जननी १८८
औद्योगिक जीवन, समाज का १७८
औद्योगिक प्रगति २४१
औद्योगिक रचना ५५
औद्योगीकरण ४७, ६२, ६३, २७८, ७६, ८१, ३०७
औद्योगीकरण : शहरी सभ्यता २७८
"औसत" ५८
"औसत आय" (Income Per Capita) भारत की ५६
औसत पैदावार, भारत में २७४
कंघी ३०७
कच्चा माल ४४, ४६, ५१, ६४, ७०, १२३, ८५, ६७, २८५, ८६
कच्चा माल, उत्पत्ति स्थान १२
कच्चा माल, गाँव का २६६
कच्चा माल, विदेशों का ६४
'कटरे' की सत्ता : Regimentation २६८ ट
कताई ६१, ६२, १५६, ५७, ५८, २६८
कथोपकथन, योजना आयोग का २६६
कद्दू २८३
कन्ट्रोल (नियंत्रण) २४२
कपड़ा १५०, ५७ ट, ६७, २५० ५३, ५४, ५५, ५६
कपड़ा, मिल का २५३, ५४
कपड़े की मिल १४८
कपास १०४, २४०, ४६, ५०, ५७, ५८, ८७
क़ब्जा, राजतंत्र पर ५३
क़ब्जा, सरकारी २०६
कमी, भारत में अन्न की २६६
'कम्पोस्ट' २४५
कर ४६
करी, श्री डब्ल्यु० बी० १६१
करेन्सी नोट २४३, ५७, ३४१, ४१
करेन्सी बैंकिंग ३४२, ४२ ट
कर्घा ४१, ४४, १०४, ४८, ५०
कर्तव्य १४५, ७३, ७४, ८५
कर्तव्य, सन्तान का २२४
कर्तव्य, समाज का १८५, ६३

कर्तव्य, सरकारों का २४३
कर्तृत्व शक्ति, कार्य से १९१
कर्तृत्व शक्ति, व्यक्ति की १३१, ५४, २०३
कर्म १७८
कर्म, व्यक्ति का १५७, ७२, ७३
कर्मकाण्ड ९१, १६३, ७३, २०१
कर्मकाण्ड, स्वाभाविक १५२
कर्म च्युत : समाज च्युत १६५
कर्मठ ज्ञान १७८
कर्मणा, वर्ण १६६, ७२, ७३, ३२०
कर्मयोग १७४
कर्मयोगी १७८
कर्मयोग शास्त्र, गीता का १६३
कर्म विमुखता ४६
कलकत्ता १३५
कल-कारखाना १२, १८, १९, २२, २३, २४, २५, २७, २८ ट, ३४, ३६, ३७, ३८, ४०, ४३, ४८, ४९, ५०, ५१, ५६, ५९, १०७, ०८, २३, २४, २५, २६, ४८, ४९, ५०, ५१, ५२, ५३, ५९, ६०, ६१, ६२, ९०, ९१, ९३, ९६, २०५, ०६, ९०, ३०७
कलचर : संस्कृति १२३
कल-पुर्जे ५०
कल-विशेषज्ञ ४२
कलमय (Mechanised) २८ ट, ३१
कलमय : पूँजीवादी ३१
कलमय : सामूहिक २०४
कलमय उत्पादन २७, ३४, ३६, ४७, ४९, ५०, १६०, २०४
कलमय उद्योग १५२, ६०
कलमय केन्द्र ४९
कलमय केन्द्रीयकरण ५९
कलमय गोरख धंधा ३५
कलमय जीवन २६, २७
कलमयता २४, २६, ६२, १५३, ७७
कलमय बाहुल्य ३३
कलमय युरोप १६०
कलमय विधान १५९
कलमय व्यवस्था ५०, ५१
कलमय संकुचन ४६
कलमय सभ्यता १२७
कलमय (केन्द्रित) समाज १६२
'कलयुग' १६, १०१, २३, ४४२ ६२ ट
'कलेक्टिव् फार्मिंग' : सम्मिलित कृषि ३९
कलोत्पादक मशीनें ४५
कस्बा १२३
कसौटी, किसी भी योजना की २९९
कसौटी, व्यक्ति की सामाजिक १६६
कानपुर १८५, ८६
कानून, अंग्रेजी २०९
काफ़ी (कहवा) २०, २३, ३३
काम १४९, ५०, २२८
काम, किसान का अपूर्ण २४९
काम, किसान का पहला २५२
कारखाने की अर्थनीति : फैक्टरी एकॉनॉमी २०
कार-सान्डर्स, श्री ६८
कारगिर १७, १८
कार्ड, सरकारी (राशन) २४२
कार्य १८ ट, २१, ३४, ९१, ९२, ९९, १४९, ५०, ५१, ५२, ५५, ५६, ५९, ६४, ७९, ८६, ९१, ९२, ९

का , अनावश्यक ४६
का , अवकाश युक्त १५६
कार्य, स्त्री पुरुष के भेद से १५४, ५५
कार्य, सरकारी २५१
कार्य, आयु और समय १६१, ६२
'कार्य काल की खे,' (Shifts) ३१
कार्य भेद, सर्वोदय समाज में ६२
कार्य विभाजन ६८, ६८ ट, १०१, ०३, ०४, ०५, ६५
कार्य व्यस्तता : योग्यता १६१
कार्य युक्त, लोग १६०
कार्य योजना साधन युक्त १६८
कार्य शैली १५२
कार्य शैली, त्रुटिपूर्ण १५०
कार्य शैली, पहले की १५१
कार्य क्षमता, पुरुषों की १०१
कार्य क्षेत्र ६८
काशी १८५
काहिल २६८
किसान ६५, ६६ ट, १०१, ०४, २३, २६, ५०, ५८, २३४, ३६, ४३, ४६, ५२, ५३, ५७, ८६, ३३०, ३१, ३२, ३३
किसान, खुशहाल २४३, ५७
किसान, गोहत्या के जिम्मेदार २५५
किसान, भारत का ६७
किसान, स्वभाविक उत्पादक ५०
किसानी ६१, ६८, ६६ ट, १०३
किशोर लाल भाई, श्री २६८
कुआँ २३३, ३८, ५८
कुटुम्ब १३२, ३३, ८५, २१८
कुटुम्ब व्यवस्था, भारतीय २०७
कुठाराघात, समाज के अस्तित्व पर २६४
कूपन ३५१, ५३
कूपन बुक ३५०, ५१
कुमारप्पा, श्री जे० सी० १२०
कुम्भ, मेला १६६
कुसंस्कृति : Bad Culture २७
कृत्रिम अन्तर्द्वन्द्व १४४
कृत्रिम मूल्य ३३७
कृपालानी, आचार्य ६
कृषक २३४
कृषक वर्ग १६२
कृषि ६२, ६६ ट, १८३, ८४, ६३, २३४, ४८, ५१, ५६, ६३, ६६, ६१, ६६
कृषि जन्य बेकारी १६२
कृषि प्रधान भारत ६२
कृषि प्रधान, विकेन्द्रीकरण ६४
कृषि, ब्रिटेन में ६४
कृषि, भारत में १६२, ६३
कृषि, व्यक्ति प्रधान २६६
कृषि, संतुलित २५६
कृषि, सामूहिक १५, २६६ ट
कृषि, सम्मिलित और सहयोगी २६६ ट
कृषि, स्वयंपूर्ण २५२
कृष्ण, भगवान ६३, १४६, ७४, ७८
केन्द्र ३७, ४६, ५६, ६०, १२१, २०४
केन्द्र, औद्योगिक २७८
केन्द्र, सर्वग्राही २६७ ट
केन्द्र, सरकारी एवं व्यवस्थापक ५६
केन्द्रवाद २६०

केन्द्रवादी ढंग ५६
केन्द्रापसारी सभ्यता १२१
केन्द्रित : मूल्यहीन २१७
केन्द्रित : सामूहिक ४२
केन्द्रित अर्थनीति ६०
केन्द्रित पद्धति : शहरी पद्धति १२१
केन्द्रित व्यवस्था १२४
केन्द्रित शक्ति ४२
केन्द्रीय उद्योग ५५
केन्द्रीय उद्योग, अनुपभोग्य वस्तुओं के स्रष्टा ३०६
केन्द्रीय पंचायतें २२८
केन्द्रीय शासन : 'एक तंत्र' ८४
केन्द्रीकरण २७, ३८, ५५, ६०, ६६, १२३, २५, ३१, २५० ६६
केन्द्रीकरण, औद्योगिक २८०, ३०६
केन्द्रीकरण, कलमय ५६
केन्द्रीकरण, मशीनों का गुण १८८
केन्द्रीकरण, यंत्र तंत्र का ३१०
केन्द्रीकरण, सम्सत्ति का १८६
केन्द्रोन्मुखी, सभ्यता १२१
केरल, डा० २४५
केला २८२
केलॉग, डा० चार्ल्स० ई० १३६
केसलर, प्रो० ८१ट
कैकेय, देश ६३
कैकेयी, रानी ६३
कैनाडा ३८
'कोकोकोला' (पेय) २१
कोयला २०, ३८, ४४, ५६, ५७, ६६
कोल्हू ४१, ४४
कौटिल्य अर्थशास्त्र ८३ट
कौटुम्बिक जीवन १६३
कौटुम्बिक विधान १८०, ८१
कौटुम्बिक विस्तार ८५
कौटुम्बिक व्यवस्था ८३ट
कौटुम्बिक व्यवस्था, भारत की १७६, ८०, ८३
,, : समाज वादी संगठन १८०
,, : सम्मिलित जीवन का उत्कृष्टतम रूप १८०
कौटुम्बिक व्यवस्था, भूमि की सुरक्षा के लिए १८३
कौटुम्बिक सम्पत्ति २०७
क्रप्स, जर्मन कारखाना १७१
क्रय शक्ति ३५, १६५, ३४४
क्रय शक्ति : जीवन सुविधा १६५
क्रयशक्ति, आनुपातिक १६६ट
क्रयशक्ति, वर्तुलाकार १६४
क्रयशक्ति, स्थायी २५१
क्रांति ५१
क्रांति, एकांगी ३०४
क्रांति, सर्वांगीण ३०४
क्रांतिकालीन दशाएँ ५२
क्रापॉटकिन, राजकुमार १०३ ट, ३८ ट, ४२
क्रियात्मक शक्ति :Motive Force २६, ३६, ४२, ६३
क्रियात्मक शक्ति, दाम्पत्य की ६२
क्रियात्मक शक्ति, व्यक्ति की २०३
क्षति, साम्पत्तिक १६०
क्षत्रीय ६४, ६७, १४६, ६६, ६८, ७८
क्षत्रीयत्व १७४
क्षेत्र, उत्पादन का ४६
'क्षेत्रस्थ सम्पन्नता' १६, २६०, ६४, ६७ट

खपत २०, ४०, ४३, १२३, २०५
खम्भे, तार के १६४, ६५
खरीद, अन्न की, वैयक्तिक आधार २४३
खरीदार १६
खाद २५३, ५४, ३५७, ५८
खाद, रासायनिक २३६
खादी २५२, ६३, ८६
खादी केन्द्र ३८, ५७
खाद्य २५७, ५८
खाद्य, बनाने खाने की विधि २८७
खाद्य प्रयोग, इङ्गलैण्ड के १६०
खाद्य समस्या २६३, ६६
खाद्य समस्या, भारत की २८१, ८६
खाद्य सामग्री १४२, २६६
खानें ३८, ५७,
'खूराक की कमी और खेती', पुस्तक २८३
खेत २०२, ५४
खेतिहर, ज़मीन २७८, ८२
खेतिहर, मनुष्य ८६, १२३
खेती ६१, ६०, ६८, १०३, ०४, ६३, २०२, ४४, ४८, ५०, ५१, ५४, ५५, ५७
खेती, अमेरिका की २४४
खेती, अनुत्पादक २१८८
खेती, अनुमति (License) से २८८
खेती, अपूर्ण २४६, ५०, ८५
खेती-किसानी २४८
खेती, कुदाल-फावड़ों से २६७
खेती, गन्ने और जूट की २७५
खेती, चीन जापान में २६७
खेती, पूर्ण २४६, ८५
खेती, भारतीय संस्कृति का आधार १२८
खेती, भारत में २४४
खेती, सम्मिलित एवं सहयोगी २६७८
'खेप' (Shifts) ३१, ३३, ३४
गंगा ५३, ६१, ६५, ६६, १७५, २१६
गंगा की घाटी, उत्कृष्टतम शाकाहारी सभ्यता की जननी १२२
गंगा जल, साम्पत्तिक रूप २१६
गंगोत्री ६५
गढ़-बन्दी, सामाजिक ६१
गढ़ियाँ, एकधिकारों की ६२
गणना, आंकड़ात्मक ५८
गणित औसत: Arithmetical Mean ५८
गति, उत्पादन की ३०७
गतिक्रम, विकासमान सृष्टि का १४६
गतिक्रम, व्यक्ति के व्यक्तित्व का ११४
गतिक्रम, व्यक्ति की मौलिक समानता का १६६
गद्दारी, मुल्क के साथ २६०
गद्दीनशीनी ८४
गन्ना २०, ४८, ५०, २३६, ५७, ७५, ८६, ८६, ३०७
गन्ने वाले, मिलों के क्रीत दास २८६
ग़रीब २५
ग़रीब, गाँव का २८२
ग़रीबी १६, ५६
ग़रीबी, भारत की २६६, ७८
गर्भकालीन शिथिलता ८८
गर्भ-पात १०७, २५, २५०, ७५, ८१
गर्भावस्था ८८
गल्ला वसूली २४३, ५७

गांगुली, डा० २४५
गाँधी—महात्माजी ५, ६८—१, ६, १०, ५२, ५२८, ५३, ५४८, ५८, ६५, ६१, ६२, १४६, ५४८, ५६, ५७८, ६५, ६६, ६७, ७४, ७७, ७८, ७६, ८६, ६४, २२६, ४६, ५५, ६३, ६६, ८३, ३०४, १०
गाँधी योजना : विश्व धर्म १७६
गाँधी वाद ६, ६८ १—२, १०, ५४, १७८, ७६, २१६
'गाँधी वाद की रूपरेखा', पुस्तक ६८, १४०८
गाँधी विचारधारा ५, २६७८
गाँव ५६, १५१, ७५, ८४, ८६, २२२, ४६, ५७
गाँव : परिवारों के समूह २८६
गाँव : हिन्दुस्तान १२७, २६, ३३
गाँव, साम्पत्तिक इकाई १८४
गाँव पंचायत ३८, १६४, २२८, ४२, ४३, २५७, ६३
गाँव बैंक ३५३
गाँव वाले : ग्राम पंचायत २२८
गाँव समिति, पैदावार के लिए २५३
गारण्टी; भोजन की २९८
गार्हस्थथ्य १३६
गार्हस्थ्य, प्राचीन १०६
गार्हस्थ्य जीवन, श्रीगणेश ६५
गार्हस्थ्य बन्धन : स्त्री पुरुष का नैमित्तिक सहयोग १०५
गार्हस्थ्य विकास ६८
गार्हस्थ्य विधान १६
गार्हस्थ्य संचालन १०३
गार्हस्थ्य सम्बन्ध १०७
गार्हस्थ्य, सुदृढ़ : शांति प्रियता : स्थायित्व १०३, २१६
गार्हस्थ्य, सुख-सम्पदा का मूल्य ११
गाय २४७, ५३, ५४, ७२
गाय, भारतीय संस्कृति में २४६
गुजरात ४४, ६६
गुड़ २०, ४७
गुण, व्यक्ति का १७२, ७३
गुणनफल, कलमय उत्पादन का ३६
गुणात्मक वृद्धि, सम्पत्ति की २०६
गुलाम, स्वतंत्र ४०
गुलामी १५२, ५३
गुलामी, मशीनों की १२४
गुलामी, स्त्रीयों की ६०
गुरुकुल २१४
गृह उद्योग : Cottage Industay ४५, २५०
गृह उद्योग, जापान के २५०
गृह उद्योग, पंचायतस्थ २५१
गृह देव ६६
गृह युद्ध १६, ६३
गृह लक्ष्मी ६६
गृहस्थ १३६
गृहस्थाश्रम ८१, ८२, ८४, ८६, ८७, ६०, ६८, १०२, ०५, ०६, ०७, ०८
गृहस्थी ६०
'गिल्ड्स' (औद्योगिक एवं सामाजिक संस्थाएँ) युरोप में १७०
गीता १७८
'गीता रहस्य', पुस्तक ७३८

गेहूँ २०, २३, ३३, ६३, २३४, ३६
४६, ५१, ५७, ८६, ३०७
गेहूँ, राशन में २३६
गैस १०७
गोचर, भूमि २५३, ५५
गोद (दत्तक) २३२
गोदाम, खाद्यों की स्थानीय २५७
गोदाम, गल्ले की २४२, ८८
गोदावरी ६६
गोधन २५३, ५४
गो पालन ६२, १६८, ६२, २४६, ४६,
५२, ५४, ५५
गोवध निषेध २४६
गोबर, खाद २५३, ३७०
गो माता २५३, ५४, ५५
गो रक्षा १३८, २४७, ५३, ५४
गो रक्षा, भारतीय संस्कृति का आधार २४६
गो हत्या २५५
गोरिल्ला १४१
गो सेवा २४६, ४७
ग्राम, सम्पन्न १५१
'ग्राम लक्ष्मी' ३७०
ग्रामीण विधवा १७६
ग्रामीण समाज १२६
ग्राम्य चिकित्सा १६३
ग्रामोद्योग ३६, १३३, ६३, ६५, २४८,
५०, ५१, ८६, ८६, ६६, ६६
ग्रामद्योग, भारत में १६२
ग्रामोद्योग भण्डार, सड़कों के निकारे ३०२
ग्रामोद्योग संघ २८३, ३५७
ग्रामोद्योगी भारत १६०
ग्राम्य पंचायती व्यवस्था ३७
ग्राम्य वातावरण, भारत का १६२ ट
ग्राम्य विस्तार ११, २८ ट
ग्राम्य व्यवस्था, भारत की १८०
ग्राम्य व्यवस्था, वर्ण प्रधान १७५
ग्राम्य सभ्यता : केन्द्रापसारी १२१, २६, २७
ग्राम्य सभ्यता : भारतीय (विकेन्द्रित)
सभ्यता १२१
ग्राम्य सभ्यता, वर्ण प्रधान १७६
ग्राम्य सम्पन्नता ५१, ३३१, ३१ ट, ३२ट
ग्रेगरी पिंकस, डा० २२ ट, १३५, ३३५
"घटंत अवधि," नोटों की ३४६
"घटंत मूल्य," नोटों का ३४६
घटक, व्यक्ति ११७, १६६
घटोटोत्तर नोट ३४७, ५३
घड़ १०८
घराना ८४, ८७
घानी ४१, २५२, ७६
घी १६६, २४६, ५४
घी, नक़ली २६
घी-दूध २४६
घोड़ा १४०
चकबन्दी २४६
चक्की १००, ५६, २५२
चक्र, संगठन और विकास का
पारस्परिक ८०
चक्र, सामाजिक विकास का १७७
चरागाह २३३, ४७, ५७, ८४
चरागाह, गाँव का सामूहिक ३५७
चरित्र, देश-देश का ६३
चर्खा २६, ३४, ३६, ४०, ४१,
४२, ६८, १४८, ५७, ५८, ६८,
६२, ६७, ६८, २५५, ८०, ३१०

चर्खा, अहिंसा का प्रतीक ३१०
चर्खा, क्रांति का अग्रदूत १८६
चर्खा, स्वावलम्बन का केन्द्र बिन्दु ३१०
चर्खात्मक : विकेन्द्रित २०४, ०६
चर्खात्मक आधार १६१, २०६
चर्खात्मक उत्पादन ३६, १५२, ८६
६७, २०४, ०६
चर्खात्मक चीजें १६६
चर्खात्मक पंचायतें १६८
चर्खात्मक मशीनें २६, ३६
चर्खात्मक योजना ६५
चर्खात्मक रीति १६६, १६६ट
चर्खात्मक विकेन्द्रीकरण २७६, ८०
चर्खात्मक विधान १५२, ५३, ८६,
६४, २०४, १७, ७६
चर्खात्मक व्यवस्था ४२, ५५
चर्खात्मक (विकेन्द्रित) समाज १६२, २०६
चर्खात्मक साँचा १७६
चर्खात्मक स्वदेशी १६७
चर्खा संघ २७६
चर्खे का इष्ट २६
चर्खे का प्रतीकात्मक अर्थ ४२
चंचलता, मूल्यों की ५७
चमगादड़ २३
चमड़ा २४७
चल सम्पत्ति २१३, १६, २०, २२, ३१
चाकलेट २८१
चातुर्वर्ण्य विधान १६३
चाय २०, २३६
चारा २५७
चार्ल्स ई० केलॉग, डा० २६८
चावल २१, २६, ६६, ६६ट,
१६६, २४६, ५१, ६६, ३०७
चावल, अरवा २६६
चावल, उसना २६६
चावल, ढेंकी से ३०७
चावल, धान से ३०७
चावल, मिल का २४१
चावल, मिल कुटा २६६
चावल, मिल से ३०७
चावल, हाथ कुटा २४६
चिकित्सा, ग्राम्य १६३
चींटी १४१
चीन ६४, ६६, १३६, २६७, २६७ट
चीनी (खाद्य) २०, ४७, १४६, ६६,
२३६, ५८, ८१
चीनी, मिल की २८१
चीनी, चीन देश के निवासी ४७
चूहे २३, १४१
चेक, 'नान-नेगोशियेबिल' ३५२
चेक, बैंक के ३४५, ४८
चेतन १५, ११५, १६, १७, २०, ५३
चेतन : आत्मा ११४
चेतन श्रम १०७
चेतन शक्ति ११७
चेतन सत्ता ११७, २०, ८४
चेतन मय स्वधर्म और स्वभाव ६५
चेतनस्वरूप, व्यक्ति का ४२
चेतना ११५
चेतना : रासायनिक प्रक्रिया ११४
चेतना, व्यक्ति की ६५
चोर वृत्ति २२७
छूट, साम्पत्तिक २१५, २२

जंगल २४७, ३५८
जगत ११५,१६,४६
जड़ १५, ११५, १६
जड़तंत्र ३१०
जड़वाद ३१०
जड़वाद : पूँजीवाद १५
जड़वाद, पश्चिमी २५०
जड़वादी १२०
जड़वादी तरीका, भू-वितरण का २६२
जनबल, गाँव से दूर २४८
जनवृद्धि, भारत में १६१, ६२, २७५, ७७, ७८
जनवृद्धि, भारतीय, के साधन ११
जनवृद्धि : लोक शक्ति ६०
जनक : स्वामी २००
जनक, सम्पत्ति का : व्यक्ति २००
जनता २४२, ४४, ४६, ५२, ५८, ६१, ७५, ८३
जनता, औद्योगिक २७८
जनता, खेतिहर २७८, ८२
जनता, सबल और स्वावलम्बी २५२, ३०८
जनन १५०
जनन निग्रह २७, २८, १३६, ६२, २७३, ७५, ७८, ८०, ८१
जनन पीड़ा १५०
जन सिद्धांत, मालथस के २८०
जन सत्ता १४७
जन संख्या ११८, २७, ६८८, ६६८, ८४, १३५, ३५७, ७३, ७४, ८०, ८१, ८५
जन संख्या, तुलनात्मक अध्ययन २७६
जन संख्या, मद्रास शहर में २७७
जन शक्ति २६८ ट
जन शक्ति, खेती किसानी से दूर २४४
जन शक्ति, देश की २४६
जनाधिक्य ११८,२८,४६,६६८, १३५
जनक्षय १३५
जन्मना, वर्ण १६६, ७२, ७३, ७४, ३२०
जन्म निरोध, भारत में २७७
जमशेद पुर ४४, ४५
ज़मानत, सिक्कों की सरकारी ३२४
जमाव, बरसाती पानी का २५८
ज़मीन २३३, ४४, ५७, ७४, ७५, ८२, ८३, ८६, ६२, ६३, ६५, ६६, ६७, ६८
ज़मीन, सारे गाँव की १८३
ज़रूरत, बेकार चीज़ों की ३०७
जर्मन जनता ६३
जर्मन सरकार २३
जर्मनी १६, २३, ६२, ६३, २३७
जल १६६
जल, वर्षा का ३५७
जलमार्ग ३८
जलवायु ६२, ६७, ७०, १६०, २७४
जलवायु, भारत का ६७, १५६, २७४
जवाहर लाल, पं० १००, १६४, २३६, ८१
जहाज ११७, ८३, ८५
जहाजरानी, ब्रिटिश ६४
जातियाँ, संघर्ष प्रिय ८३
जातीय विशेषता ६२, ६३
जातीय स्वभाव, ब्रिटेन का ६२
जातीय स्वभाव, फ्रांस का ६३
जाथार और बेरी, अर्थशास्त्री १६७
जानवर, गाँव के २८४

जापान १६, २३, ६६, २६७, २६७ट
जपानी नमूमा, उद्योगों का २५०
जाली कार्ड, राशन के २५७ट
ज़िम्मेदारी, खाद्योत्पादन में बालकों की २६६
ज़िम्मेदारी, दोहरी २६८
ज़िम्मेदारी नदियों के बाँध की २५६
ज़िम्मेदारी, परिवारों की २१२
ज़िम्मेदारी समाज पर सदस्यों की २६६
जीवन ११८, ४१, ७८
जीवन, कलमय २६
जीवन, जड़वादी १८६
जीवन, नक़ली २८०
जीवन, प्रकृति का रासायनिक क्रम १५
जीवन, सम्मिलित (Corporate) ४३, ५५
जीवन, व्यक्ति का नैतिक १३६
जीवन, व्यक्ति का वाह्य और आंतरिक १३८
जीवन, स्वस्थ २७७
जीवन, स्त्री-पुरुष का १०५
जीवन क्रम, समाज का ४६
जीवन धर्म, व्यक्ति का २८५
जीवन तत्व (विटामिन) १६०, २६२
जीवन दृष्टि २४३
जीवन, मनुष्य का १८८
जीवन, राष्ट्र का २५६
जीवन की उन्नति शील पद्धति : सभ्यता ११६
जीवन के मूल लक्ष्य १४३
जीवन पदार्थ ४३
जीवन मान : कैलरी २६१, ६५, ७०
जीवन पद्धति, भिन्न-भिन्न १२०
जीवन मान, कृत्रिमता पूर्वक ऊँचा ६४
जीवन योजना ६२
जीवन विकास १४६
जीवन विभाग, व्यक्ति का : आश्रम १७६
जीवन शक्ति (शरीर की गर्मी) २६१
जीवन संघर्ष २३, ४८, ८६, ८८ ६५, १०७, ४२, ४३, ८७, २२७
जीवन स्तर २७८, ७६, ८०, ३०६
जीवन सुविधा ३४, ८१
जीवन सुविधा : क्रय शक्ति १६५
जीवनाधिकार ५४
जीवनावश्यकता १४६
जीवनावश्यकता, पूर्ति ४३, ५१, ६१, ६२
झरिया ३८, ५६
झवेर चन्द माणकलाल, श्री २४०
झारखण्ड ६६
टट्टी १५६
टट्टियाँ, गाँवों में ३५८
टण्डन जी, श्री पुरुषोत्तमदास ३५८
टाटा का कारखाना १५६
टाटा नगर ४४, ५५, ५६
टॉसिग, प्रो० १६, ३०ट, १८८
'टेस्ट ट्यूब बच्चे' २४ट
टैक्स ४७, ४८
'ट्रस्टीशिप' : 'संरक्षण' २६३ से ६६
ट्राम १२४
ट्राट्सकी ३४
ट्रेवल्यान, इतिहासकार ७३
ट्रैक्टर ६६, २३८, ३६, ४६, ४७, ६०
'डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी' ३३
डाक ख़ाना ३८
डारविन, प्रकृतिवादी विद्वान १४१
डिस्ट्रिक्ट बोर्ड ५५

'डेली मेल' (इंगलैंण्ड का पत्र) २४८
ढंग, केन्द्रवादी ५६
ढरीपन, खारखाने का १६२
ढाँचा, मानव जगत का ६०, ६१
ढेकी २५२
तकावी २५१
तत्व, पदार्थों के मूल में १३६
तत्व, समाज के आधारात्मक १३६
तदरूपता, व्यक्ति व्यक्ति की १४४
'तरक्की २६७
तरीके, उत्पादन के ३०८
तरीके, श्रम के १५०
तरीके, समाज के साझेदारी ३०८
तलाक १०७, ०८, २५
ताजमहल २१
ताड़ गुड़ २५२
तात्विक आधार, वर्णाश्रम का १७७
तात्विक गठन, भोजन का २६२
तात्विक परिवर्तन ६२
तात्विक विरोध (अन्तर्द्वन्द्व) १३६
तादात्म्य, सृष्टि क्रम में ११७
तानाशाही : totalitariainsm २६८८
तार ३८
तार के खम्भे १६४, १६५
तिब्बत ८०
तिलक जी ७३८, १६३
तुर्की ६२
तेज़ी-मन्दी ५०
तेज़ी-मन्दी, शहर और कारखानों की २७६
तेलंगाना (हैदराबाद) २६२
तेल १०७, २४६
तेल, मिलों का २८६
तेल घानी २८६
तेलहन ६६, ७४
तेलहन २४६, ५७
त्याग १२६
त्याग, समाज का आधार ५२
त्रिविध सूत्र, सामाजिक क्रांति का २६३
थार, मरूस्थली ६७
दंगे, साम्प्रदायिक ५०
दजला-फरात ६१
दत्तक व्यवस्था २२१८, ३२
दबाव, अन्न पर २८६
दमन ५२
दम्पति ८०, ६३
दम्पति विधान ८०, ८२, ६२, १०७, ६३
दयानन्द, स्वामी ६४८
दरबारी जीवन १३०
दरिद्रता २५, १६३
दर्शन, मार्क्स १३६
दलाल : मिडिलमन ३३३
दहेज २२४, २४८
दक्षिण अमेरिका १३६
दान २१५, २६, ३०, ३१
दाम, कैनाडा की दवाओं का ३४२
दामोदर बाँध २३८
दामोदर योजना २५६
दाम्पत्य ८०
दाम्पत्य चक्र ६५
दाम्पत्य जीवन ८०, १०६
दाम्पत्य प्रेम ८६
दाम्पत्य विधान, सुख सम्पदा का सूत्र ११
दाम्पत्य शास्त्र ६४,
दारिद्र्य १५१

दारिद्रय, भारतका ६६८
दावत २८७
दावा, भारत सरकार का २३५
दास ४०, १४५
दासता : विवशता ४२
दासता, विदेशी ५५
दासता, स्त्रियों की ८७, ८८
दासियाँ ८४
'दाय भाग', परिवार २०७, २५
'दि डिसेण्ट ग्राव् मैन', पुस्तक १४१
दिल्ली ५५,५६,२२१,८६,२७५८,३०७
दीवालियापन, समाज का ३०७
दुःख : दारिद्रय ३०
दुरंगी, शोषणात्मक ५६
दुर्भिक्ष ५१, ५६, ६८ द
दुष्काल ५१, ६८
दूकानदार ३३४
दूकानें, अन्न की २१
दूध २४६, ५४, ७१, ८१
दूध, गाय का २७१
दूध, बकरी का २७१
दूध, भैंस का २७१
दूध, माँ का २७१
दूध, मक्खनियाँ २६६
दूध घी २५५, ५६
दृष्टि, वस्तुओं में उपयोगिता की २४३
दृष्टि, वस्तुओं में रुपये (मनी) की २४३
दृष्टिकोण, भोजन में सरकारी २४१
दृष्टि भेद, जड़ चेतन का १५
देन, गांधी वाद की १७६
देवी जोन ८६
देश, अकाल पीड़ित २३६
देशस्थ अन्तर ४
देशी, शोषण ५
द्रोणाचार्य्य १७४
द्रौपदी ६३
द्वन्द्व १६
द्वन्द्व न्याय, शाश्वत ११५
द्वन्द्वात्मक पद्धति ११५
"द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद" (प्रधानवाद)—
Dialectical Materialism ११४
द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी ११५
द्वन्द्वात्मक विकास १४०
द्वन्द्वात्मक सिद्धांत १४०
द्वितीय कोटि (Secondary type), उत्पादन ४६
द्वितीय विभाजन, कार्यों का (आकारात्मक : Strunctural) १०४
द्वितीय विभाजन, श्रम का ६८, ६६, १०१
धन, गाँवों का १३३
धन, विकेन्द्रित ५५
धनवान १३०
धरती ३६, १८४, २४८, ५६, ५७, ३०७
धरती, अनुत्पादक २१८ट
धर्म, व्यक्ति का भोजन सम्बन्धी २६१
धर्मशाला २१४
धर्मोपदेशक १२६
धातु-मुद्रा (छोटे-सिक्के) ३५३
धान २४६, ८६, ३०७
धार्मिक मुहर, पण्डित-पुजारियों की ६४
धीरेन भाई, श्री २५२
धुरी, समाज संघटन की ५०
धुनाई ६२
ध्रुव ६१

धोती १४८
धोबी १०४, ६४, ६५, ७४
नकली घी ४७,
नकली जीवन २८०
नकली बच्चे : Test Tube Babies
२२, २२ ट, २४ ट
नगर पंचायत ३८
नगर संस्कृति : पाश्चात्य सभ्यता १२८
नदी २०५
'नफ़ाखोरी ३२, ३३, ३४
नया समाज १३६
नयी तालीम ६२, १७७, ७८, ७६, ८६, ६४, २६३, ३०४, २२
नयी तालीम, प्रगति की ओर संयोजित चेष्टा ३१२
नयी तालीम : बुनियादी तालीम ३१७
नयी तालीम, भावी समाज का आधार ३१०
नयी तालीम, वर्ग समस्या का हल ३१४
नयी तालीम, स्वावलम्बन की क्रियात्मक शक्ति ३१०, ११
नयी तालीम, श्रेणी परिवर्तन का अहिंसात्मक मार्ग ३१५
नयी सभ्यता २६
नर कंकाल ५७
नर मेध १६
'नल-कूप' २४५, ४६
नव जीवन कार्यालय २८३
नव भारत ३, २ ट, ८, ६, १२ ट, १४, १५, १६, २४, २६, ३६, ४८, ५३, ५४, ५६, ५६, ६२, ६४, ७१, ७३, १५२, ५८, ५६, ८४, ८५, ८६, २२४
नव शिक्षा १६७, ७७, ८६
नहरें ३८, ५६, २०५, ५८
नाग-फांस, विलायती उद्योग पतियों का २४७
नागरिक, सीधा-सादा २४४
नारियल ३०७
नारी, विवाहिता ६६
नारी धर्म ६५
नारी, समाज का आदि सूत्र १६२
नारवे १७६
नाविकता, ब्रिटेन का जातीय गुण ६२
नास्तिक ११५
निकास, बरसाती पानी का २५८
नियोग ८४
नियोजन, केन्द्रित और विकेन्द्रित का ५६
निरीहता २२७
"निर्धारण शक्ति', व्यक्ति की ६५
निराकरण, मशीनों का (De-mechanisation) ४६
निर्यात ३८
निर्यात, कच्चे माल का १६७
निर्यात योग्य (For Export) ३८, ४४, ५६
निर्यात योग्य, उत्पादन ४३
निर्यात योग्य, पदार्थ ४४, ४५
निःकल (De-mechanised) २७ट
निःकल उत्पादन, नव भारत का १८५
निःकल विस्तार २८
निष्कर्ष, ऐतिहासिक ५७, ६०
निष्क्रीयता, आयु जनित २२६
नीच-ऊँच १६४, ६५, ७५, ७७, ७६
नींव, रचनात्मक पद्धति की २६६

नीत्शे, दार्शनिक २०४

नीति शास्त्र ६

नील, नदी ६१, २३६

नेल-पॉलिश २८१

नैतिक जीवन, व्यक्ति का १६३

नैतिक स्तर, जनता का ३०८

नैतिक ह्रास, जनता का ३०६

नैतिकता १२०, ३०

नैमित्तिक सहयोग, स्त्री-पुरुष का :

गार्हस्थ्य बन्धन १०५

"नैशलन कृपन" (राष्ट्रीय चिट्ठी) ३५०

"नेशनल प्लैनिंग कॅमेटी" १८७

नोट (करेन्सी, सिक्के) ३३५ ट, ४१, ४३, ४४ट, ४५, ४६, ५३,

नोट, घटोत्तर ३४७, ४६

न्युयार्क, पागलों की संख्या १२५

पंचायत ५५, ५६, १२६, २४२, ४३, ४४, ५२, ८४, ३४७

पंचायत, अन्न और वस्त्र के लिए २५२

पंचायत, प्रजातंत्रात्मक ३४६

पंचायतें : केन्द्रों की वितरण एजेन्सियाँ २४२

पंचायतें, शासन की आधार-भूत इकाई २४४

"पंचवर्षीय योजना" १८७

पक्का माल १२८, ८५, ६७

पटेल, सरदार १००

पराय १६ट, ४८, ५६

'पराायों का चक्र' ३६०, ६१, ६२

पणिक्कर, सरदार के. एम. २८०

पतन, विश्व का ७३ट, १५३

पति भक्ति, हेलेन की ६२

"पति लोक" ८६, ६५

पति-व्रत, धर्म ८६

पत्तियाँ १४४

पत्नि-भक्त ८६

पत्नि व्रत ८६

पत्नी ६३, ६४

पदार्थ, निर्याता योग्य ४४

पनचक्की ४१

परती २४४, ५५, ७४

परम वाहुल्य Super-Abundance ३१, ३३, ३४

परस्परता, लोगों की १६५

पराधीनता, राजनीतिक ५२

परावलम्बन २६२

परावलम्बन, अन्तर्राष्ट्रीय १२, ४१ ५६, ६६, ३३१, ३३१ट, ३३२ट

परिमाण, उत्पादन का ३०७

परिमाण योग, श्रम फल का १६१

परिवर्तन, रूप या तात्विक ६२,६४

परिवर्तनीयता, संसार की १३६

परिवर्तनीयता, समाज की १७५

परिवार २१२,१३,१५,१६,२१,२२,२३, २५ ट,२६,२७,२८,२६,३२,४३

परिवार, ज़मीन के आधार पर २६६

परिवार, सामाजिक इकाई १८२

परिव्राजक, अकिंचन १२६

परिश्रम १८ ट, १५३

परोक्ष, वैवाहिक सम्बन्ध ६४

पशु १४०

पशु, जुगाली करने वाले १४०

पशु बल २०४
पशु वृति, दाम्पत्य सम्बन्ध में ८५
पश्चिमी कल्पना, सामूहिक कृषि की २६४
पश्चिमीय घाट ६६
पश्चिमीय पंजाब ६३
पश्चिमीय राष्ट्र १३०
पश्चिमीय सभ्यता: शहरी सभ्यता १२८
पश्चिमीय समाज १३०
पक्षी १४०
पाकिस्तान ६६
पाट (जूट) ३०७
पात्र, दान का २२६
पादार्थिक (Physical), पूँजी का स्वरूप ३०, ३१
पादार्थिक उत्पादन, जीवनावश्यकता की पूर्ति १६७
पादार्थिक वृद्धि : साम्पत्तिक वृद्धि १६७
पानी ३७
'पॉपुलेशन ट्रेन्ड इन इण्डिया', पुस्तक २७७ टि,
पावनार आश्रम, विनोबा जी का २६७
पारस्परिक भेद, प्राथमिक कार्यों का १०१
पारस्परिक श्रम ३३८
पारस्परिक संघर्ष १४२
पारस्परिक सहयोग १४२, ३३८
पारस्परिकता, अधिकार और कर्त्तव्य की अनिवार्य २०८
पारस्परिकता, गाँव वालों की ३३८
पारिवारिक उत्तरदायित्व १८२
पारिवारिक उद्यम २२६
पारिवारिक जीवन १८३
पारिवारिक बन्धन, वैयक्तिक विकास विरोधी १८०
पारिवारिक माध्यम, वैयक्तिक स्वामित्व में २२०
पारिवारिक मर्यादा २२६, २८
पारस्परिक विनिमय ५१
पारिवारिक संचालन २१५
पारिवारिक संरक्षण २२४
पारिवारिक सम्पत्ति २१२, १३ १४ टि, २१, २२, २५ टि, ३२
पारिवारिक सुरक्षा २१३
पारिवारिक, स्वामित्व २२१
पारिवारिक स्वार्थ २२६
पारिश्रमिक ३१, १८६
पारिश्रमिक, श्रम का सम्पूर्ण १८२
पारिश्रमिक, स्वच्छंद १८२
पालन-पोषण, माता-पिता का २२४
पालन-पोषण, नस्ल का १४२
पालन-पोषण, सन्तान का ८२, ८३टि, १०८
पाश्चात्य कल्पना, ज़मीन के पुनर्वितरण की २६८ टि,
पाश्चात्य सभ्यता : नगर संस्कृति १२८
पाश्चात्य संस्कृति १२६
पाश्चात्य समाज १३०
पिता २२०
पिता, परिवार में २०७
पितृ-भक्ति ८४
पुजारी ८३, १७५, २१३
पुत्र ८३, ८४, ८६, ९०, २०७, १२, २०, २१, २२
पुत्र, अयोग्य २१७

पुत्री ६०, २१२, २०, २२, २४
पुत्री, विवाहोपरांत २१२, २४, २४ ट
पुनर्विवाह ८३ ट
पुरस्कार, श्रम का सम्पूर्ण १८१
पुरानी तालीम (शिक्षा पद्धति) ३१८
'पुखी' ८४
पुरुष ८३ ट, ८७, ८६, ६०, ६१, ६३, ६५, ६८, ६६, १००, ०१, ०२, ०७, ०८, ५४, ५५, ५६, २८१
पुरुष, स्त्री रूपी १०७
पुलिस ४७, ४८, ४६, ५२
पूँजी ११, १५, २६, ३०, ३१, ३५, १६५, ३३४
पूँजी, वनस्पति मिलों की २७६
पूँजीपति ३२, ३३, १३१, ८२
पूँजीपति, श्रेणी बद्ध ३३४
पूँजीवाद १५, १८ ट, ३२, ३५, ३६; ३७, ३८, ४४, १२०, २५, ३०, ३१, ८८
पूँजीवाद, सरकारी १६८
पूँजीवादी १८, २२, ३३, ३४, १२१
पूँजीवादी : कलमय ३१
पूँजीवादी अर्थनीति ३२
पूँजीवादी शोषण २७
"पूर्ण खेती" २४६
पूर्ण मजदूरी १८ ट, ३४ ट
पूर्ति १८ ट, २०, ६१
पूर्व संस्कार ६७
पूर्वीय घाट ६६
पृथक स्थिति, व्यक्ति की १६६
पृथ्वी ४८, १२१, २३४, ६१, ३०६
पृथ्वी, उत्पत्ति का साधन मात्र १८४
पृथ्वी, वस्तु वदार्थ का मूल स्रोत ३०६
पृथ्वी, सम्पत्ति का स्रोत २३४
पेशे, गाँवों में विभिन्न ३३६
पेस्ट्री, न्युयार्क की २६३
पैदाइश (संख्या) १३५, ३६
पैदावार १४६, २५४, ५७, ७४, ७५
पैदावार, आदमी की १५
पैदावार, कारखानों से ३०७
पैदावार, समाज संगठन पर प्रभाव १२१
पैतृक सूत्र ८२
पैसा १२७, ४६, २५१, ३३३, ३४, ३८ट
पोर्ट्स माउथ, लार्ड २३१
पौण्ड पावना ३२८, ३६, ४४
प्रकृति १५, २२
प्रकृति, मूल ११४, १५
प्रकृति, सृष्टि का उपादान कारण ११४
प्रकृति द्रोही २८१
प्रणालियाँ, समाजवादी ५१
प्रचण्ड बाजार . Intensive Market १६७
प्रजावाद ६३
प्रजातंत्र, अफलातून का १३४
प्रचुरता ३०७, १३
प्रतिनिधित्व १४४
प्रतिस्पर्धा १६, ४४, १७६
प्रतिस्पर्धा, युग का नियम १४६
प्रतिहिंसा ७२
प्रतीक, शोषण और दमन का ५२
प्रत्यक्ष सत्य : Axiomatic Truth ६०
प्रभाव १६ट

प्रभुता, पूँजी पर ३०
प्रमुख लक्षण मनुष्य का ११३
प्रवास काल, हिरनों का १४०
प्रवृत्ति, मनुष्य की श्रम से बचने की ३१२, १३
प्राकृतिक असमानता ४२
प्राकृतिक आधिक्य ६४
प्राकृतिक उपकरण : चेतना ११४
प्राकृतिक जीवन २२, २४, ४७
प्राकृतिक प्राचुर्य्य ६६
प्राकृतिक महत्व, स्त्री पुरुष का १०७
प्राकृतिक विधान २४
प्राकृतिक वैषम्य १४४
प्राकृतिक सम्पत्ति १६६
प्राकृतिक साधन ६१
प्राणी १४१, ४२
प्राणी, अनुत्पादक २२६
प्राणी, सेन्द्रिय १४२
प्राचीन परम्परा, भारत की १६३, २१६
प्राचीन व्यवस्था ५६
प्राथमिक आवश्यकता, उन्नति की १२ट
प्राथमिक आवश्यकता, सबल राष्ट्र की ५६
प्राथमिक आवश्यकताएँ, मनुष्य की १०१
प्राथमिक आवश्यकताएँ, गाँव की २५७
प्राथमिक (Primery) उत्पादन ४६
प्राथमिक कार्य १०१
प्राथमिक कार्य विभाजन, उद्यमस्थ (functional) १०३, ०४
प्राथमिक ज़िम्मेदारी, समाज की २२८
प्राथमिक विभाजन, श्रम का ६८, ६६, १०१
प्रादेशिक विभिन्नता ६३
प्रेरणा, उत्पादन की ४४
'प्रोग्राम', राजनीतिक ५१
प्रोफेसर ६२, १००
प्रोलेटेरियट : श्रमिक ३१
प्रौढ़ शिक्षा १७४
प्लास्टिक के कंघे २१
'प्लैनिंग कॅमिटी' १३६
फल, ताजे २६८
'फावड़ों की खेती', पुस्तक २६७
फ्रांस ६३
फिरके ६१
"फुर्सत" १४६
फैक्टरी एकॉनामी : कारखाने की अर्थ नीति २०
फैक्टरी ऐक्ट १५१
फैशन २१
'फ्रैगमेन्टेशन' (धरती के टुकड़े) २१८ट
फोर्ड, श्री ५०, १७१
बङ्गाल ४४, ५६, ६६, ६७, ३०७
बँटवारा, धरती का २१८ट, ४६, ५६, ६५
बंटवारा, साम्यवादी २७, २२६
बकरी २७२
बकरी के बच्चे १४०
बचत २२६
बचत, वैयक्तिक २२४, २५
बच्चे ८७, १००, ०१, ०३, ०८, ५०, २२७, ५४, ६४, ६६, ७०, ७१
बच्चे, नकली (test tube-babies) २२, २४ट
बच्चे, परिवार में २८१
बढ़ई ६६ट, १०१, ०३, ४६, ५२, ५३, २६५
बद्दू ८६
बद्दू समाज ११८

बनावट, समाज की १३३, ३६
बन्दर २३, २५, २५६
बन्धन, मनुष्य के ३३८
बपौती ८१, ८४, १४५, ५१
बब्बर शेर १४१
बम्बई ४६, ६४, १३५, ८५, ८६, २५०
"बम्बई क्रॉनिकल", दैनिक पत्र २२
बरसाती पानी २५८
बरार ६६
बर्बादी, अन्न की २८६
बलवान १३०
बहु-नारीत्व ९७८
बहु-पति विधान (Polygamy) ८०, ८२, ८४, ८५, ८६, ९०
बहु-पत्नि विधान (Polyandry) ८०, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ९०
बाँटना, कुछ का सबको, ५२
बांटने का काम : अधिकार ५५
'बाई-प्रोडक्ट्स' २०
बाकू ७८
बाज़ार १०८, २३
बाज़ार-हाट १२७
बाटा जूते की कं० ३६, १४६
बाढ़ २५८, ५९
बांध २५६
बाबू वर्ग ३१३
बाप ८१, २३३
बालकन १९८
बाल्टिक १९८
बारदाना (बोरे) ३०७
बाहरी व्यापार ३५३
बाहुल्य (Abundance) ३१, ३३
बिजली ३७, ४२, ४६, १०७, २०५
बिजली के बल्ब ३८
बिनौला ३४०
बिलिंक, श्री २४८
बिहार, गेहूँ की जमीन ३०७
बी० के० सरकार, श्री २७७८
बीमा, गरीबी का प्राकृतिक १८१
बुद्ध भगवान १४६
बुद्धि-बल, गाँव से दूर २४८
बुनाई ६१, ६२, १५६, ५८
बुनियाद, सर्वोदय की २३४
बुनियादी चीजें, जनता की २५८
बुनियादी जरूरत, जीवन की २६४
बेकार ३२, ३३, ३४, ४८, ५१, १५१, ६०, २२६, ७६, ८६,
बेकारी १८, १६, २५, ३३, ४४, ४८, १०८, ३६, ५१, ५२, ६१, ८७, ८८, ८६, ९०, ९१, ९२, ९३, ९४, ९५, ९७, ९८, २७६
बेकारी और राजस्व १९४
बेकारी, अस्वास्थ्य के कारण १९३
बेकारी, कृषि जन्य १९२
बेकारी, ग्रामोद्योगों के अभाव में १९३
बेकारी, जनवृद्धि से १९२
बेकारी, युग धर्म १८८
बेकारी, रूस में १८८
बेकारी, शासन प्रणालियों से १९४
बेकारी का भत्ता (dole) १८८, २८, ३२
बेगार १५३
बे-जमीन, कोई नहीं २२२, ९३,
बेटी २३३

बेविज़ॉन १२१, ३४
बे-रोजी ४८
'बेरी-बेरी', रोग २६, २४१, ६४
बैंक २०५
'बैंक आव् इंगलैण्ड १७१
बैल २४६, ४७, ५३, ५४, ५५
बौद्ध ११५
ब्रह्मचर्य्य १३६
ब्रह्मपुत्र ६६
ब्राजीलियन काफी ३३
ब्राह्मण ६१, ६२, १४५, ४६, ५५, ५६, ६५, ६६, ६७, ६८, ६९, ७३, ७५, ७८
ब्राह्मणत्व १६६, ७२, ७३, ७४
ब्रिटिश जहाजरानी ७१
ब्रिटिश द्विप समूह ६२
ब्रिटेन २४ ८, ६२, ६३, ६४, ७०
ब्रितानिया बिस्कुट २६३
ब्रेल्सफ़र्ड, श्री एच० एन० १६१
भगवान कृष्ण १४५
भगवान दास केला, श्री ३७२
भत्ता, बेकारी का १८८, २८
भत्ता, वैवाहिक १५
भयावह सत्य ५६
भाई-बहन ८४
भाग, मानव जीवन के चार १३६
भाप १०७
भारत ४८, ५३, ५५, ५६, ६२, ६३, ६४, ६५, ७०, ७४, ९१, १३३, ३६, ५२, ५३, ५९, ६०, ६१, ७९, ८६, ९५, २३९
"भारत और भोजन", पुस्तक २३४८, ८८ ८
भारत, कच्चे मालका उत्पादक २८५,८६
भारत, खेतिहर आवश्यकता २०९
भारत, मानसूनाश्रित १९२
भारत, श्रम प्रधान देश १९५
भारत सरकार २०, १५३, ८६, ९५, ९८, २३५, ४६, ४८
भारतन कुमारप्पा, डा० १२०
भारतीय कुटुम्ब व्यवस्था २०७
भारतीय गाँव १३३
भारतीय ग्रामोद्योग १३३
भारतीय जलवायु १५९
भारतीय दरिद्रता २७५
भारतीय परिस्थितियाँ, पश्चिम के विपरीत १२
भारतीय रीति, वर्ण व्यवस्था १६२
भारतीय वैभव २१
भारतीय श्रमिक १५९, ६१
भारतीय संस्कृति १७९
भारतीय सभ्यता ११, १२, १२१
भारतीय समाज १३४, ७७, ८०, ९३
भारतीय समाज रचना १३९
भारतीयता ९९, १७९
भिखमंगे ७
भिन्नता, वैयक्तिक कार्यों की १६४
भिक्षा वृत्ति १६८
भीड़, भूखी २६०
भुखमरी २५२, ५७
भू-दान २६४
भू-दान, सामाजिक क्रांतिकी पीठिका २९३

भू-दान-यज्ञ १८३, ८४, २२२, ९२,
९३, ९४, ९८, ९९, ३७१
भू-दान योजना २९६
भूख १४९, ५१
भूमि २३४
भूमि, उत्पादन का साधन २०५
भूमि, गौ माता की २५३
भूमि, धान की २४१, ४९, ८६
भूमि, पूँजी का मुख्य-आधार १८३
भूमि, विश्व की खेतिहर २७३
भूमि व्यवस्था २९१
भूमि समस्या, चीन जापान की २९८८
भूमि हीन, % २९२
भ्रूण हत्या २७५, ८१
भेड़िया १४०
भेद, ज्ञानी और कर्मयोगी का १७८
भेद, देश काल का १०४
भेद, पुत्र और पुत्री का ९०
भेद, प्रोफेसर और मजदूर का ९२
भेद, मनुष्यों के बीच ९२
भेद, मिट्टी का गृह रचना में १२२
भेद, समाज में राजनीतिक ९०
भेद, स्त्री पुरुष का ९०, ९२, ९९, १५६
भेद, स्वार्थों में तात्विक १४३
भेद-भाव, कार्यों का ९१, ९२
भैंस २५४, ५५, ५६
भोजन २३, २४, २८८, ३२, ८२, १६०
२३४, ३५, ३७, ५१, ५७, ६०, ६१,
६५, ६९, ८३, ८४
भोजन, अपुष्ट-अपूर्ण २६१, ६३
भोजन, असंतुलित २६३, ६४
भोजन, जीवन का मूल प्रश्न २३५
भोजन, दोष पूर्ण २६२, ६३
भोजन, नमूने का २६५
भोजन, युद्ध और संघर्ष में २३६
भोजन, संतुलित २३६, ६४
भोजन, समतोल २६५, ६८, ६९
भोजन, समुचित-संपूर्ण २६२
भोजन व्यवस्था, शाला के शिशुओं की २६९
भोजन शास्त्र, शिक्षण में २६३
भोजन समस्या २४१, ४४, ४८, ५०
५१, ५६, ५७, ६४, ६८, ७८,
७९, ८०, ८४
भोजन समस्या, भारत की २५०, ५१,
५९, ६०
भोजनागार में भूख पीड़ा १८७
भौगोलिक परिस्थितियाँ ६१, ६२, ६३
भौगोलिक प्राधान्य ६१, ६२, ६३, ६५,
६९
भौगोलिक विशेषता ६४, ६६
भौगोलिक सत्य ६२, ६६
भौगोलिक स्थिति ६२, ६९
भौगोलिक स्थिति, आर्थिक स्वरूप
का आधार ११
भौतिक ११७
भौतिक प्राचुर्य्य ६२, ६७
भौतिकवाद, द्वन्द्वात्मक ११४
भौतिकवाद, मार्क्स का ११५
भौतिकवादी ११४
भौतिक सभ्यता ५२
भौतिक सुख २९
भौमिक बँटवारा २४६
भौमिक बनावट, भारत की ६९, ७०
भ्रम, काम का १५०

आमरी दशा, मनुष्य की ६७
मंगरौठ, गाँव १८४, २२२
मँहगा, उत्पादन ४६
मँहगी ४६, १६६ ट
मँहगाई, चीजों की १६६
मँहगी सरकार २०५
मक्खन २४६
मक्खनिया दूध २६६
मगन चर्खा १९८
मगन चूल्हा ३५७
मगन दीप १९८
मछलियाँ १०१
मछुआ २०१
मज़दूर १६, २७, ३०, ४०, ५०, ६२, १२४, २५, २८, ३१, ४८, ४९, ५१, ५६, ८५, २०१
मज़दूर, टाटा का १५९
मज़दूरी १८८ट, ९१, ३४, ४०, ४८, १६५
मज़दूरी, अनाज आदि में १५१
मज़दूरी, काम की १४८, ५०
मज़दूरी, चर्खात्मक चीजों में १६६
मज़दूरी, मिलों की २४६
मज़दूरी का बीमा २८
मट्ठा २६१, ७१
मठाधीश २१४, २७, २६
"मत्स्य न्याय" १४०ट
मद्रास, धान की ज़मीन ६६, ३०७
मधु मक्खी १६२
मध्यकाल, रामराज और कलयुग का १५४
मध्य प्रदेश ३८, २४०
मध्यम श्रेणी १२५
मनुष्य १७, २२, २३, २५, ३०, ३६, ४०, ४८, ५०, ६०, ६१, ७५, ८०, ६०, ६७ट, १०७, १३, १५, १८, २३, २७, ३१, ४०, ४१, ५३, ७०, ७६, ७६, ८८, ८६, २०१, ४८, ५०, ६८ट, ३०५
मनुष्य, पादार्थिक दृष्टि से ११३
मनुष्य, मशीन का पुर्जा १५३, ८८, ८६, ३१०
मनुष्य, सामाजिक जीव ११७
मनुष्यता १३०
मनुस्मृति ८०
'मनी क्राप' : पैसे वाली फसल ३०७
मनोरञ्जन १४६, ५१
मन्दिर १७५, २१३, १४
मन्दी ३३, ३५, ५०
ममता, संतान की ६०
ममता, मिलकियत की १०३
मर्यादा, कार्य और श्रम की १७६
मर्यादा पुरुषोत्तम राम ८६
मशीन १७, १८, १८ट, १६, २०, २२, २३, २५, २६, २६, ३०, ३१, ३२, ३६, ३८, ४०, ४१, ४२, ४३, ४४, ४५, ४६, १०७, १०८, १२३, १२४, १२५, १२६, १२७, १३१, १४८, १४६, १५१, १५३, १७७, १८८, १८६, १६१, १६२, १६६, २३८, २६६
मशीन, उत्पादन का साधन १८८
मशीनें, विदेशी २३८
मशीनकरण ३१, ३२, ३३
मशीनवाद ३३
महत् प्रकृति ११४

महत्व, अध्यापक वर्ग का २६४
महाजनी युक्तियाँ ३४३
महाभारत ८५, १४६
महिषि २५४
महिषि धन २५४
माँ ८१, १५०, २२८, ७१
माँग १९, २०, ३३, १३०, ४९
'माँग और पूर्ति' ३३६
माँ-बाप ८४, २६६
माइलेज कूपन ३५१, ५३
माता २६४
माताएँ, मजदूरी करनेवाली २७०
माता-पिता ८४, २२२, २४, २५, ३०
मातृ-स्नेह ८३८
मातृत्व २८१
माध्यम १२, ३३४, ३५
माध्यम (साधन : Means) १३
माध्यम, एक उदाहरण ३३६
माध्यम, बनाम मूल ३३८
माध्यम, पारिवारिक और पंचायती २८६
माध्यम, आर्थिक रोगों का स्रोत ३४१, ४२
माध्यम, सरकार का पंचायती २५७
माध्यम, सरकारी नियमन ३३४, ३५
मान, मज़दूरी का सामूहिक ४८
मानचेस्टर ६४
मान दण्ड, कारख़ाने का ३०७
मानव १८, ८६, १०८
मानव, नगण्य २०१
मानव जीवन ११७
मानव विकास ५४, ८०
मानव समष्टि ११७
मानव समाज ५१, १०४, १९, २३, ४२, ४८, ८८
मानवता २४, ४८, १३५
मानवता, चर्खात्मक चीजों में १९५
मानसून २८५
मानी (अर्थ), शिक्षा के २६४
मान्यता, समाज की १३५
माप-दण्ड, श्रम फल का १६१
माप-दण्ड, सामूहिक जीवन का १८२
माया, पैसे की ३३४
मार्क्स ३०, ३१, ३३, ३४, ६०, ६३, ११४, १५, १६, ४०, ४१, ४६, ५८
मार्क्स दर्शन १३९
मार्क्सवाद ३१, ३६, ११४, ३९
मार्क्सवाद : भौतिक वाद, शुद्ध ११४
मार्क्सवादी ३२, ३४, ३६, ११४, १५, ४०
मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मक विकास ३४
मार्ग कर ३०२
मालथस, अर्थशास्त्री २८०
मालवा ६६
मालाबार ८०
मालिक ३०, ४०, ५०, १२५, ४८, ४९, ५१, २०२
'मास प्रोडक्शन' : 'सामूहिक उत्पादन' ३९
मासिक धर्म ८८
मास्को ६४
मिट्टी, गृह निर्माण पद्धति में १२२
मिट्टी, भारत की २७४
मिट्टी का तेल २०, २५, ७४
'मिडिलमन' : दलाल : दूकानदार ३३३
मिताक्षरा, परिवार २०७, ०८, २५

मिल २०, ४४, ४७, ५०, १४८, ५१, ८५, २४४, ४६, ५४, ५५, ५६, ५७, ७५, ७६
मिलें, गाँवों में २६६
मिल, चावल की २४१
मिलें, चीनी और जूट की २७५
मिलें, वनस्पति २७५
मिल बहिष्कार २६६
मिलें, सूती २८०
मिलकियत १०३, २०२
मिल मालिक ५०, १२४
मुँहताजी : दासता और केन्द्रीकरण २८६
मुदालियर, सर ५७
मुद्रा १२, १३, १४
मुद्रा : क्रय शक्ति ३४३
मुद्रा : सरकारी आज्ञा मात्र ३४४
मुद्रा चक्र (Circulation of Money) ३४७
मुद्राधिपत्य : अधिपत्य का केन्द्रीकरण ३३६, ४०
मुद्रा नीति (Money Economy) १२, १३, १४
मुद्रा नीति, वस्तु विनिमय और सहकारिता ३३०
मुद्रा विस्फीति ३२८, २६
मुद्रा विधान ३३४, ३८, ३६
मुद्रा विधान, परिवर्तनीय परिस्थितियाँ ३४३
मुद्रास्फीति १६, ३२६, २८, २६
मुद्रास्फीति, सरकारी तरीके, निराकरण ३२६
मुनाफा ३२, ३३, १२५, १४६, ६५
मुनाफाखोरी ३५३
मुफ्तखोर २२७
मुफ्तखोरी १५१, ६३, २०५
मुफ्तखोरी : बेकारी १६३
मुसलमान ६२
मुहम्मद, हजरत १४६
मूँगफली २३६, ४०, ५७, ७५, ८६
मूल, उन्नति का ७२, १४१
मूलोच्छेदन, बेकारी का १८६
मूलोच्छेदन, वैषम्य का १४६
मूल तत्व : 'मैटर' ११५
मूल प्रकृति ११४, १५
मूल प्रेरणा, वर्ण विधान की १६६
मूल लक्ष्य, जीवन के १४३
मूल्य ४८, ५७
मूल्य, मानव का १५
मूल्य, वस्तुओं का वास्तविक ४६
मूल्य युक्त : विकेन्द्रित सम्पत्ति २१७
मूल्य हीन : केन्द्रित सम्पत्ति २१७
मृत्यु कर २३१, ३२
मृत्यु (संख्या) १३५
मेटैलिक रिजर्व ३४२
मेमने १४०
मैक्सिको ७४
मैगनीज़, खनिज ३८
मोची १४८
मौलिक समानता, व्यक्ति की १६६
मौलिक स्वतंत्रता २८६
म्युनिसिपल राज ५५
म्युनिसिपैल्टी, टाटा नगर की ५५
यंत्र, उत्पादन के ३०५
यंत्र-युग १०६, ८८

यंत्रों की मर्यादा १८६
यज्ञोपवीत १६८, ७१, ७४
'यह स्वराज कैसा', पुस्तक २५२
यातायात २५८, ३००, ०१, ०२
यादव ६३
युद्ध १६, ५१, ५२, ८२, ८३, ६०, ६४, ६६, १२५, २६
युनान ६२, ६४
युनानी दार्शनिक ११३
युरोप ६६, १५६, ७१, २४१
योग्यतम (Fittest) १४१, ४२
योग्यता, कार्य व्यस्तता की १६१
योग्यता, जीवन की २६४
योजना आयोग, भारत का २६८
योजनाएँ, नव भारत की २२०
योजनाएँ, नव भारत की उत्पादन ७५
रचना, औद्योगिक और सामाजिक ५५
रचना, मशीनों की ४२
रचना, विकेन्द्रित आकार ४२
रचना, समाज की ६२
रचना, स्थायी ५६
रचनात्मक कार्य-क्रम ५४ट
रचनात्मक दृष्टिकोण, नव भारत का ५६
रचनात्मक पद्धति, गाँधी विचारधारा की २६७ट
रचनात्मक पीठिका, भू-दान की २६८ट
रण नीति (स्ट्रेट्जी) २३७
रसद २६५
रसद विभाग २६३, ६५ट
रहट ४१
रहन-सहन १४३
रक्षण, व्यक्ति का १४२
रक्षा, हिन्दू धर्म की २५४
राज ४०, ५३, १०४, ५३
राज तंत्र ५३
राज यंत्र ५३
राजनीति ५४, ६२
राजनीति, भारत की सच्ची २८४, ६८
राजनीतिक कारण : वितरण व्यवस्था ५५
राजनीतिक पराधीनता ५२
राजनीतिक प्रोग्राम ५१
राजनीतिक भेद, श्रीगणेश ६०
राजनीतिक स्थिति, मनुष्य की ८१
राजनीतिक स्वातंत्र्य ५४, ५४ ट, १८६
राजस्व, और बेकारी १६४
"राजस्व और हमारी दरिद्रता", पुस्तक २७६ट
राजा १२६, ४५
राजेन्द्र प्रसाद, डा० २८१
राज्य (सरकार) ५४
राबर्ट साल्टर, श्री २७३
राम, मर्यादा पुरुषोत्तम ८६
रामराज : शासन विहीन समाज १७८
रामराज, विकेन्द्रित २६०
राम वनवास ८५
रॉयल्टी, पुश्तैनी २२४ ट
राशन, सरकारी २६१
राशन कार्ड, सरकारी २३६
राष्ट्र १६, १४६, ४६, ६७, ८६, २३४
राष्ट्र, जर्जर और निःस्वत्व २६३
राष्ट्र, पश्चिमी १३०
राष्ट्र, सुखी और समृद्धि शाली १६०
राष्ट्र वाद, नव भारत का १२ट
रासायनिक खाद २३६, ४४, ४५

रॉसचाइल्ड्स, बैंक १७१
राष्ट्रीय : केन्द्रित १५
राष्ट्रीय आयोजन १८ ट
राष्ट्रीय निधि २३१
राष्ट्रीय नियोजन ७५, १५३, ८६, ६८
राष्ट्रीय नीति, यातायात सम्बन्धी ३०२
राष्ट्रीय पंचायत ३८, ४५
राष्ट्रीय व्यवस्था ५६
राष्ट्रीय सम्पत्ति १६०, २५२
राष्ट्रीय समृद्धि २६०
राष्ट्रीय सरकार ३५
राष्ट्रीयता, आयु जनित २२६
"रिजर्व" ३२४, ४२, ४२ ट
रीति, उत्पादन २८
रीति-नीति ६२, ६३
रीति-रिवाज ६२
रूई २३, ३३, ४४, ६६, १५७
रूपरेखा, नव भारत की ६०
रूपक मुद्रा (token money) ३४४, ५६
रुपया ३२३
रुपया, परिभाषा ३३५ ट
रुपया : क्रय शक्ति ३४४
रुपये का चक्र ३६०, ६१, ६२,
रूप रेखा, सामाजिक व्यवस्था की ३०८
रूमानिया १६ट
रूस १८ ट, १६, १६ ट, ३४, ४१ ट, ६२, ६३, ६६, १३६, ७६, २५३
रेडियो, शिक्षण में १६१
रेलें ३७,३८,४६,५६,१२४,८३,८५
रेल वारएट ३५०, ५३
रोग १४६
रोजी ४८, २७६
रोम २२१
रोमन ६७
रोमन वैभव १३४
लंकाशायर ६४
लखनऊ ५६
लक्षण १६, २६, ५२
लक्षण, अर्थशास्त्र के नये ५
लक्षण, नवभारत की अर्थ नीति का ५४
लक्षण, भारतीय समाज का १८०
लक्ष्मी बाई, महारानी ८६
लक्ष्य ५३, ६०
लक्ष्य, खाद्य तथा औद्योगिक उत्पादनों का ३००
लक्ष्य, नवभारत का १२ट
लक्ष्य, श्रम और उत्पादन का ३३३
लक्ष्यहीन ५०
लड़की ८२
लड़के ८२
लड़के, गाँव के २४८
लागत ३४, १२५, ४६, ८६, २२३ट
लाक्षणिक अर्थ, ए. म. उ. व्य. का ५४
लाक्षणिक परिवर्तन ३०, ३३, ३४
लाभ-लिप्सा १३१
'लिट्रेरी डाइजेस्ट' (पत्रिका) २३
लिनलिथगो, लार्ड १३८
लेन-देन, व्यक्तियों की २२८
लेनिन २०४
"लैसेज फेयर" : व्यक्ति की स्वच्छन्दता ३७, १२०, ८१, ८३
लोकतंत्र, अमेरिका का १८८
लोक व्यवस्था १०८

लोक शक्ति : जनवृद्धि ६०
लोकशाही २६८
लोकसंग्रह ४६, १६१
लोहा २०, ४४८, ६६
लोहा, भोजन में २७२
लोहार ६६ ट, १०१, ०३, ४६, २६५
लौंग ३३
वंशगत संगठन, मानव समूहों का ६७ट
वंशज, ब्राह्मणों का १६६, ७२
वंशावली ८२, ८४
वकालत १२६
वन महोत्सव ३५७
वनस्पति की मिलें २७६
वनस्पति घी २०,४०,७५,१६५,२०६
वन्य सम्पत्ति, भारत की १६५
वर्ग ६१
वर्ग, कार्यों के एकाधिकार से १५५
वर्ग, वर्णों द्वारा १६६
वर्ग-भेद १६०, ६२
वर्ग-भेद, निराकरण ३१८
वर्ग-भेद, बनाने और बरतने वालों का ५१
वर्ग-भेद, सम्पूर्ण ५२
वर्ग-भेद, स्त्री पुरुष का १००
वर्ग-युद्ध १६०
वर्ग-संघर्ष ३१०
वर्ग समस्या ३१३
वर्ण १७६, ७७, ७६
वर्ण, अर्थ १७४
वर्ण, कर्मणा १७२, ७३
वर्ण, जन्मना १६६, ७२, ७३
वर्ण, धर्म १७७, ७६
वर्ण परिवर्तन १७३, ७४
वर्ण विधान ८६, १६३, ६६, ६७, ६८, ६६, ७६
वर्ण विधान : श्रम विभाग रूपी समाज व्यवस्था १६८
वर्ण विहीन-वर्ग विहीन १८६
वर्ण व्यवस्था १६६, ६७, ६६, ७०, ७२, ७६, ६३
वर्ण व्यवस्था, न्यायाधीश रूपी १७६
वर्ण व्यवस्था, भारतीय १६२ट, ६३, ७६
वर्ण व्यवस्था : सामाजिक श्रम विभाग १२८, २६
वर्णाश्रम, धर्म १७५, ७७
वर्तमान दशा, जगत की १४४
वर्तमान सभ्यता १३४
वर्तुल, कुटुम्ब और समाज का १३३
वर्धा-पद्धति (शिक्षण) १८६, ६०
वसीयत २१५, ३०, ३१
वसीयतनामा २२६
"वसुधैव कुटुम्बकम" २१०
वसूली, अन्न की पंचायतों द्वारा २४१
वस्तु (साध्य : End) १३
वस्तु-उत्पादक मशीनें ४५, ४६
वस्तु पदार्थ (नश्वर) १३
वस्तु विनिमय (Barter) १३, ३३६ट, ३६, ४६, ५२, ५३
वस्तु विनिमय, पंचायतस्थ ३४८
"वस्तु विनिमय बैंक" २६६, ३५०, ५१, ६२, ५३
वस्तुस्थिति, भारत की आर्थिक १२
वस्त्र ५३,६८,६६ट,१०४,२५०,६६
वस्त्र समस्या १०४, ०५

वातावरण, उत्पत्ति के लिए १०६
वाद, परिभाषा ६८
वानप्रस्थ १३६
वानस्पतिक उपज ६२
वायुयान ३८
वाहक, उपज के १२४
विंध्य ६६
विकास २६, २६, ४७, ५०, ७२, ६०, ६२, ६४, ६५, ६८, १४०, ४१, ४३, ४६, ५२, २२७
विकास, विश्व का २७५
विकास, सम्पत्ति का २२८
विकास, स्वदेशी ढंग से १६८
विकास क्रम, समाज का १७७
"विकासमान", अर्थ १६८
विकास स्वातंत्र्य : व्यक्तित्व १३१
विकेन्द्रित : असामूहिक ४२
विकेन्द्रित : मूल्य युक्त, सम्पत्ति २१७
विकेन्द्रित अधिकार ५४
विकेन्द्रित अर्थ नीति ६०
विकेन्द्रित उद्योग ५५
विकेन्द्रित धन ५५
विकेन्द्रित रचना ४२
विकेन्द्रित व्यवस्था १२४, २१७
विकेन्द्रीकरण २६, ४२, ५५, ५६, ६४, २८६, ६८ट
विकेन्द्रीकरण, औद्योगिक २६७ ट
विकेन्द्रीकरण, गाँधी दृष्टि से २६७ट
विकेन्द्रीकरण, चर्खात्मक २७६, ८०
विकेन्द्रीकरण, नवभारत का ६४
विकेन्द्रीकरण, सम्पत्ति का १८६
विचार स्वातंत्र्य : व्यक्तित्व १३१, २०३
वितरण २७, ३८, ४३, ४४, ४५, ५६, ७१, १३०, ८६, २०५
वितरण, उत्पत्ति का २०५
वितरण, क्रय शक्ति का १६५
वितरण, भारत का ७१
वितरण, वैयक्तिक बचत का २३५
वितरण, सम्पत्ति का २०५
वितरण, सार्वदेशिक ५१
वितरण व्यवस्था : राजनीतिक कारण ५५
विदुर १७१
विदेशी दासता ५५
विद्यार्थी १०६
विधवा ८३ ट
विधवा, ग्रामीण १७६
विधवा विवाह ८३ ट
विनाश : गुणहीनता १६७
विनिमय १२, १३, ३३०, ३२ ट
विनिमय, अंतर्राष्ट्रीय ४१ ट
विनिमय, पारस्परिक ५१
विनिमय, मनुष्योपयोगी ३३६
विनिमय केन्द्र, ब्रिटेन, विश्व का ६२
विनिमय दर ३४३
विनिमय बाजार, लंदन का ६४
विनिमय माध्यम ३३१, ३२, ३२ ट, ३३, ३५, ३७, ३८, ३६, ४१, ५२
विनिमय माध्यम, अप्राकृतिक आधार ३३८
विनिमय माध्यम, स्वतंत्र और स्वगामी ३३२, ३३, ३४
विनिमय माध्यम, वर्तमान मुद्रा विधान ३३६
विभाजन, सम्पत्ति का २२१

विरोध, स्वामित्वांतर में २१५
विनोबा जी ३६, १८३, २२२; ६२, ६३, ६४, ६५, ६७, ६८, ३७१
विवशता : दासता ४२
विवाह शास्त्र ८६
विवाहिता ६६
विवेचन, सैद्धांतिक ६०
विशेषज्ञ १७, ४१, ४२
विशेषाधिकार, ब्राह्मण का १७८
विश्राम ३४, १४८, ४६
विश्व क्रांति ३४
विश्व युद्ध ३५, ३०७
विश्व संहार ४७
विश्वामित्र १७३, ७४
विश्वास, सिक्कों में सार्वजनिक ३२८
विषमता २६२
विषमता, अंतर्राष्ट्रीय और सामाजिक विनिमय माध्यम से ३३५
विषमता, विनिमय दरों से ३४५
"विस्तार" ६०
विस्तार, केन्द्र का व्यक्ति विरोधी शोषक ५६
वृद्ध ११४, ४४, ३०२
वेतन, वस्तुओं में १२८
'वेद और चर्खा', पुस्तक १५८ ट
वेल्स, श्री एच. जी. ५३
वैज्ञानिक ११६
वैज्ञानिक आविष्कार ८८
वैज्ञानिक, कलयुग का २२
वैचारिक परिवर्तन, मनुष्य का २६
वैचरिक भित्ति २१
वैदेशिक व्यापार ३४३, ४५, ५३
वैदेशिक व्यापार, धातु के आधार पर ३४६, ५०
वैदेशिक व्यापार, वस्तु विनिमय रूपी ३५०
'वैदेशिक व्यापार डिपो' ३४६
वैभव १५३
वैमनस्य १६
वैयक्तिक : असामूहिक, क्रियात्मक शक्ति ४२
वैयक्तिक उत्पादन ३७, ३८
वैयक्तिक कर्म १५७
वैयक्तिक कृषि १८४
वैयक्तिक बचत २२४, २५
वैयक्तिस पैमाना, स्वामित्व का १८६
वैयक्तिक मशीनें ४०, ४१, ४५
"वैयक्तिक वस्तु उत्पादन" ४०
वैयक्तिक वस्तु उत्पादक मशीन ४२
वैयक्तिक वैषम्य २०५
वैयक्तिक वैषम्य, सामाजिक साम्य में १६५
वैयक्तिक सम्पत्ति ८३, २१४, १६, ५६
वैयक्तिक सुख २६०
वैयक्तिक स्वच्छन्दता ५६
वैयक्तिक स्वामित्व ३८, ४०, २०१, ०२, ०५, ०६, १४, १५, १७, १८, २२
वैवाहिक रूप, साम्पत्तिक स्वामित्वांतर का २३१
वैश्य १४६, ६६, ६८, ७८
वैश्या २१३, २६
वैषम्य १४३, ४४, ४५, ४६, ६५, २०५, १५, १६, २१, २३८
वैषम्य, अनुत्पादक २२६
वैषम्य, प्राकृतिक २२६

वैषम्य, समाज में, साम्पत्तिक स्वामित्व से १६६
वैषम्य सामाजिक १६४, २०५
वैषम्य, सामाजिक स्वार्थों के अनुकूल २२६
व्यक्ति २०३,१३,१४,१५,१८,६८ट
व्यक्ति, समाज का अंग ११३
'व्यक्ति और राज,' पुस्तक ११५,१६,६४ट
•व्यक्ति उपयोगी पदार्थ : उपभोक्ता पदार्थ ३६
व्यक्तिवाद १२०, ८१, ८३, २०७, ०८, ०६, १६, ५६
व्यक्तिवादी १२०
व्यक्तित्व ३०, १३१, ५१,५३, ६६, ८०, ६१, ११३, २६४
व्यक्तित्व : विचार स्वातंत्र्य १३१, २०३
व्यक्तित्व का ह्रास : समूहवाद १३७
व्यक्तित्व, क्रियात्मक शक्ति ११३, १७, ८८, २०३, १५, ५६
व्यवस्था, कलमयी ५०, ५१
व्यवस्था, कौटुम्बिक ८३ट
व्यवस्था, नवभारत की चर्खात्मक ५६
व्यवस्था, पूरे काम की २६८
व्यवस्था, प्रकृतिस्थ स्वावलम्बी ६४
व्यवस्था, राष्ट्रीय ५६
व्यवस्था, समाजवादी ४०
व्यवस्थापक, वर्ग ३१५
व्यवस्थपिका सभा ५४ ट
वस्था भ्रष्ट, समाज ५०
व्यय, उत्पादन का ३२
व्यष्टि ६५,११३,१६,२०,५८,६१,६६
व्यष्टि, समष्टि की चेतन इकाई ११७,५६
व्यापार १६, ५६
व्यापार, बन्दरों का अमेरिकी २५६
व्यापक (Extensive) बाजार १६७
व्यापारी ६६, १२६, ७४
व्यापारी, अनाज के २६८
व्यापारी, बैल के २५५
व्यापारीकरण, कृषि और उद्योग का ७०
व्यापारीकरण, उत्पादन का १२
व्यापारी जाति, ब्रिटेन ६२
शक्कर ४७, ५०
शक्ति ५३
शक्ति : अधिकार ५५
शक्ति, उत्पादन की ४४
शक्ति, सहयोग की १४०
शक्ति, समाज की सम्मिलित ५४
शक्ति उत्पादक मशीनें ४५, ४६
शरणार्थी समस्या २५१
शरीर संवर्द्धन, भोजन से २६२
शहर १२३
शहरीकरण, ग्राम्य सभ्यता का १२७
शहरी पद्धति : केन्द्रित पद्धति १२१
शहरी सभ्यता : अस्वस्थकर जीवन २७८
शहरी सभ्यता : केन्द्रोन्मुखी सभ्यता १२१, २५, ८८
शहरी समाज १२५
शांति ७२
शांति, सामाजिक १४
शांति प्रियता : सुदृढ़ गार्हस्थ्य : स्थायित्व १०३
शाकाहारी सभ्यता, संसार की उत्कृष्टतम १२२

शारीरिक विभिन्नता, स्त्री पुरुष की ६१
शाला व्यवस्था, नयी तालीम की ३११, १२
शाश्वत द्वन्द्व न्याय ११५
शासक ६०, ६१, १४५
शासकीय वर्ग, कृत्रिम १६७
शासकीय हस्तक्षेप, समाज में १८२
शासन १४
शासन दण्ड, समाज का १९३
शासन यन्त्र १६७
शासन विहीन समाज : राम राज्य १७८
शासित ६०, ६१, १४५
शास्त्रोक्ति ८३
शाहजहाँ, कैद में ८५
शिकारी १४६
शिशु २६६, ७०, ७२
शिक्षक, और रेडियो १६१
शिक्षण ६२, १००
शिक्षण केन्द्र, नयी तालीम के ३११
शिक्षण नीति, सरकार की २४८
शिक्षण प्रणाली, पठित बेकारों की जननी २४८
शिक्षण पद्धति, देश की उत्पादक २४९
शिक्षण पद्धति, उत्पादक उत्पन्न करनेवाली २४९
शिक्षण पद्धति, प्राचीन ३१२
शिक्षा, अनिवार्य ३२१
शिक्षा, पाश्चात्य २०८
शिक्षा, बालकों के जीवन की सही २६४
शिक्षा, वर्तमान : शुद्ध बौद्धिक २४८
शिक्षा पद्धति, भोजन शास्त्र २६३
शीत, हिमालय की ६६
शुद्धतम प्रणाली, कार्य और श्रम की १५३
शुद्धता : सरलता ४३
शुद्ध श्रम १५६
शूद्र ६२, १५५, ५६, ६५, ६६, ६८, ६९, ७०, ७४, ७५, ७८, ७९
शृङ्गार देवी, स्त्री ८८
शोषण १०, २७, ३०, ५२, ५५, १८७
शोषणात्मक दुरंगी ५६
शोषणात्मक व्यवस्था ७२
श्रम ११, १५, १८८, ३४, ९९८, १०४, ०८, ४८, ४९, ५०, ५१, ५२, ५३, ५६, ५९, ६७, ७६, ७९, ८१, ८५, ८६, ९१, ९३, ९५, ३१८, १९, ३४
श्रम, चेतन १०७
श्रम, मानव का १०८
श्रम, विभाजित १०४
श्रम, सामाजिक १५८, ६३
श्रम, स्त्री-पुरुष का सम्मिलित १०६
श्रम और कार्य, स्त्री-पुरुष का सम्मिलित १०५
श्रम और विश्राम, स्त्री-पुरुष का सम्मिलित १०५
श्रम और सहयोग १०६
श्रम कर्त्ता १५३
श्रम का आधार, स्त्री-पुरुष के भेद से १५४
श्रम काल : Labour Time १९०
श्रम जीवी वर्ग १३१
श्रम फल १५९, ६०, ६१, ६२
श्रम बल १६१
श्रम भेद, स्त्री पुरुष का ९२
श्रम पूर्ण समाज १८७, ८९
श्रम पूर्ण सहयोग, व्यक्तियों के २२७

श्रम प्रणाली, संवर्षापेक्षी १५९
श्रम प्रधान विकेन्द्रीकरण ६४
श्रम विधान, गाँव प्रधान १६३
श्रम विधान, दोष युक्त १८७
श्रम विधान, भारत का १५८, ६१
श्रम विधान, मशीनाश्रित १५६
श्रम विधान, सच्चा १६१
श्रम विभाग, कार्यों का १६५
श्रम विभाग, समाज का १६६
श्रम विभाग, श्रेणी हीन समाज का ३२०
श्रम विभाजन ६८, ६८ट, ६६, ६६ट, १०१, ०२, ०४, ०५
श्रम विभाजन, संघर्ष कालीन ६०
श्रम विभाजन, कार्य विभाजन का दूसरा कदम १०५
श्रम विभाजन, भारतीय रीति १६२
श्रम व्यवस्था, ज्ञानमय १७८
श्रम सिद्धांत १७८
श्रम संगठन, नव भारत का १८
श्रम समुदाय ३७
श्रम समझौता, स्त्री-पुरुष का ६६
श्रम साध्य पूँजी (Variable Capital) ३०, ३१, ३४
श्रमाधार, मनुष्य का १७१
श्रमिक ३१, १८५
श्रमिक : प्रोलेटेरियट ३१
श्रमिक, इंगलैण्ड का १६२
श्रमिक, भारतीय १५६, ६१
श्रमिक, युरोपीय और अमेरिकी १५६
श्रमिक ढांचा, समाज का १७८
श्रमिक वर्ग (Labour) १८४, ३३४
श्रमिक समुदाय २६, ३१
श्रमिक साँचा १८५
श्रीगणेश, गृहस्थाश्रम का १०६
श्रेणी विभाजन ३१८, १६
संकुचन ४६
संकुचन, कल प्रेरित केन्द्रित २६
संकुचित ४६
संकुचित जीवन, युनान का ६२
संख्या, पारिवारिक सदस्यों की २२२ ३२, ३३
संगठन ६८, १४७
संगठन, मानव समूहों का वंशगत ६७ट
संगठन, समाज का ६६, २१८
संगठन शक्ति, मनुष्य की ८१
संघ निष्ठा १२६
संघर्ष २३, ३४, ६१, १४१, ४२, ४५, ५७
संघर्ष, पारस्परिक १४२
संघर्ष, पारिवारिक सदस्यों में २१६
संघर्ष कालीन समाज ८४
'संघर्ष या सहयोग', पुस्तक १०३ट ४०ट, ४२ट
संतति १४१
संतान ८१, ८२, ८३, ८३ट, ८४, ६०, ६४, २१२, १४ट, २४, २५, २६, ६४
संतान, गरीबों की २५, ६६ट
संतानोत्पत्ति २६, २८ट, २६ट, ८२, १३६
संतानोत्पादन २८ट, ६६ट, ८१ट, १०७
संतुलन, समाज का २८८
संतुलित कृषि १८३, २५६, ५८, ८८, ६०, ६१

संतुलित दृष्टि, व्यक्ति की २६१
संतुलित चेष्टाएँ २६१
संतुलित भोजन २३६, ६४, ८८, ६१
संन्यास १२६, ३६, २१५
संन्यासी १७८
संपुष्ट समाज २०८
संयुक्त उत्तराधिकार २२५
संयुक्त निधि २२०
संयुक्त परिवार १८१, ८२, ८४, २०७, ०८, ०६, १०, १३, १४, १८, २०, २२, २४, ३१
संयुक्त परिवार : सच्चा लोक तंत्र २०७
संयुक्त विधान, समाज का अभय दान १८१
संयुक्त व्यवस्था १८२, ८३, ८५, २०७
संयुक्त व्यवस्था : समाज का कर्तव्य विधान १८५
संयुक्त सम्पत्ति १८४, २०८, ०६, १० १३, १८, २२
संयुक्त स्वामित्व २०७, ०६, १५
संरक्षक, सम्पत्ति का २०७
संसार ११६, २०, ३२, ३३, २०१
संसार, दैनिक २४ ट, ५४ट
संस्कार १२२, २३
संस्कृति १२२, २३,
संस्कृति : सामूहिक संस्कार : कलचर १२३
संस्कृति, भारतीय १७६
संस्थाएँ, सामाजिक १४७
सकार्यता, समाज की १६७
सच्चा मूल्य, सम्पत्ति का २०४
सच्चा लोक तंत्र : संयुक्त परिवार २०७
सच्चा सदस्य, परिवार का २२६
सच्चा हल, श्रम का १५२
सच्ची माँग १४६
सजीव समष्टि ३१०
सञ्चय, पारिवारिक ८३ट
सञ्चय, साम्पत्तिक ८६
सञ्जीवन, कार्यों का प्रमुख भाग १५२, ५३
सट्टे बाज़ी : Speculation ३४५
सड़क ३८, ५६, २५१
सती १०, ६६
सतीत्व ६२
सत्ता १३०
सत्ता, वैयक्तिक सम्पत्ति की २५६
सत्ताधारी १३१
सत्य ७३ट
सत्यार्थ प्रकाश, धर्म ग्रंथ ६४ट
सद् गृहस्थ १०, ६६
सद्वृत्ति, मनुष्य की अन्तर्हित ३१०
सदस्य, कुटुम्ब और परिवार के १८५, २०६, १०, १३, २१, २२, २७, २६, ३०, ३२
सदस्य, पारिवारिक उद्यम में २२६
सदस्य, संयुक्त परिवार के २२४, २६
सदस्यता, संयुक्त परिवार की २१०
सपिण्ड-सगोत्र (Endogamy) ६३, ६४
सफलता, भू-दान की २६६
सफेद चीनी २०, ४७
सभ्य ११६
सभ्यता ११६, २०, २१, २२, ३५
सभ्यता : जीवन की उन्नतिशील पद्धति ११६

सभ्यता, टाटा नगर की ५५
सभ्यता, नयी २६
सभ्यता, पुरुषों की मिलकियत ८८
सभ्यता, बेबिलॉन की १३४
सभ्यता, भौतिक ५२
सभ्यता, वर्तमान १३४
"सम असम्पन्नता" २३०
समझौता, स्त्री पुरुष का ८६
समता २६६
समता, जोर-जुल्म से २६३
समता, सामाजिक १६४
समतोल भोजन २६५, ६८, ६६
'समन्वयात्मक संपूर्ण' ३७
समन्वित धारा, खेती-ग्रामोद्योग की २५१
समरूपी समाज १६३ट
समष्टि ६५, ११३, १६, २०, ५७, ५८, ६१, ६६
समष्टि की रक्षा, वैयक्तिक कर्म से १५७
समस्या, ईंधन की ३५७
समस्या, काम देने की १५२
समस्या, बाढ़ की २५८
समस्या, भारतीय भोजन की २४१, ४४
समस्या, भारतीय शिशुओं की २६६
समस्या, लेन-देन की ५१
समस्याएँ, केन्द्रित समाज की ३०५
समस्याएँ, वर्णगत १६८
समय, भोजन का २६६
समाज १४, १५, २६, ३०, ३४, ४०, ४६, ५०, ५१, ५४, ७२, ८२ ८४, ८६, ८७, ६०, २०८, ०६ १२, १३, १४, १८, १६, २१, २२, २४, २५, २६, २७, २८, २६, ३२, ३३, ६६, ३०७
समाज, अवैयक्तिक (Impersonal) २१४
समाज, अहिंसात्मक ५५
समाज, आर्थिक और सामाजिक औद्योगीकरण में ३०८
समाज, नया १३६
समाज, संघर्ष कालीन ८४
समाज, पूँजीवादी, सृष्टि और विकास ३१३
समाज, वर्ग व वर्ण हीन ६२
समाज, विभिन्न स्वार्थी कुचक्र में १४५
समाज, सभ्य-असभ्य ११६
समाज, समृद्धि शाली १६५
समाज, स्वयंपूर्ण २६१
समाज, स्वावलम्बी ३०८
समाज, सहयोगी ३०८
समाज, श्रेणी विहीन ६२, १४०
समाज चक्र १६३, ६५, ६७
समाज च्युत १६५
समाज दण्ड १४७
समाज दर्शन २६७ ट
समाज धर्म २५०
समाज नीति २७
समाज रचना ६२
समाजवाद ४६, २१६
'समाजवाद', पुस्तक ४ट, ११५, १६, ४३ट
समाजवादी ३१, ३३
समाजवादी व्यवस्था ४०, ४१ट
समाज विज्ञान ५६
समाजवादी समुदाय ३२
समाज व्यवस्था ५०
समाज व्यवस्था, उत्पादन विधि पर ३०५

समाज व्यवस्था, व्यक्तिगत
शिक्षण में ३०६
समाज व्यवस्था, स्वदेशी १६७
समाज व्यवस्था, स्वावलम्बी ३०८
समाज शास्त्र ८०, १४६
समाज शास्त्र, भारतीय १०, ११
समाज शास्त्री ८६
समाज संगठन ८४, ८७, १२१, २२
समाज संचालक ८६
समाज हित १४१, ६८
समान अवसर ३२१
समानता २६६
समानता, नपी-तुली २३०
समानता, ब्राह्मण-शूद्र की स्थितिवत १७८
समानता, लोगों का १६५
समानता, व्यक्ति की मौलिक १६६
समानत, साम्यवादी २२६, ३०
समुदाय ५०
समुदाय, बेकार और क्षुधा पीड़ित २८६
समुदाय वाद १३१
समुदाय वादी १३१
समूह १५, ३८, ५०, ५४, ११५, १७,
२०, २२, ३०, ३१, ८४, २०५, ०६
समूह, अस्वस्थ व्यक्तियों का १६०
समूह, परावलम्बी व्यक्तियों
का झुण्ड २०४
समूह, स्वावलम्बी इकाइयों का २०४
समूहकरण, राष्ट्रों का कृत्रिम १२ट
समूहवाद (कम्युनिज्म) ३७, ४६, १२०,
२५, ३०, ३१, ३७, ८८, २४७, ५६
समूहवाद : व्यक्तित्व का ह्रास १३७
समूहवाद, रूस का १८८
समूहवादी १८ ट, १६ ट, १२०, ३०
समूहवादी पद्धति : जड़वादी १२१,
२६६ ट
समूहवादी स्वामित्व २०६
समीकरण, सृष्टि का १४६
सम्पत्ति ४, ३४ ट, ३७, ४७, ४८,
८३, ८३ ट, १०२, ०३ ट, ०४,
०५, ०८, ५६, ६०, ६७, ८१,
८६, ८८, ६५, ६६, २००, ०४,
०७, १४, १५, १६, १६, २०,
२३ट, २५, २५ ट, २७, २८,
२६, ३०, ३१, ३२, ३४
सम्पत्ति : सामाजिक शब्द २१६
सम्पत्ति : सामाजिक शब्द २१६
सम्पत्ति, अधिकाधिक मूल्यवान २१७
सम्पत्ति, दूसरों के उपयोग से २१६
सम्पत्ति, पारिवारिक २३२
सम्पत्ति, प्राकृतिक २००
सम्पत्ति, भारत की वन्य १६५
सम्पत्ति, लावारिस २२१
सम्पत्ति, विकेन्द्रित २१७
सम्पत्ति, वैयक्तिक ८३, २५६, ५८
सम्पत्ति, व्यक्ति को सामाजिक देन २१६
सम्पत्ति, समाज और राष्ट्र की १६७
सम्पत्ति, सम्मिलित परिवार की १२८
सम्पत्ति का उदय, वैयक्तिक कार्य से २०३
सम्पदा, समाज की १०२
सम्पन्नता ६६, २८०
सम्पन्नता, ग्राम्य ५१
सम्पन्नता, पारिवारिक माध्यम से २२८
सम्पन्नता, क्षेत्रस्थ १६
सम्पूर्ण ५८

सम्पूर्ण उत्तर दायित्व, सरकार का १००
सम्पूर्ण कृषि १८३, २५८
सम्पूर्ण पारिश्रमिक, श्रम का १८२, ६०
सम्पूर्ण पुरस्कार, श्रम का १८१
सम्पूर्ण स्वातंत्र्य १५१
सम्पूर्ण स्वामित्व २०५
सम्पूर्णानन्द, श्री ४ट, ११५, १६,४३ट
सम्पूर्णता, काम की १४८
सम्पूर्णता, समाज की १४६
सम्प्रदाय ६१
सम्मिलित उत्तरदायित्व १८३
सम्मिलित उत्तर दायित्व, कार्यों का १००
सम्मिलित उपयोग ३७
सम्मिलित कृषि १८४
सम्मिलित कृषि : कलेक्टिव् फार्मिंग ३६
सम्मिलित जीवन ४३
सम्मिलित परिवार १२८
सम्मिलित विकास २१७
सम्मिलित व्यवहार, लोगों का १७८
सम्मिलित शक्ति, समाज की ५४
सम्मिलित श्रम, व्यक्तियों का १५८
सम्मिलित श्रम, स्त्री पुरुष का १०६
सम्मिलित श्रेय ५१
सम्मिलित (Corporate) समाज १८३
सम्मिलित सुख ३७
सम्मिलित स्वार्थ रक्षा १६४
सम्मिलित हित, समाज का २१८
सरकार ६, ६ ट, १४, ३४५, ५६, ६७, ८१, १०८, १०३, ०५, ०६, ३८, ८३, ८४,
सरकार, दिल्ली की अति संगठित ५५
सरकार, भारत की १६५, ६६
सरकारी, कानून १०८
सरकारी केन्द्र १०८
सरकारी नोट (रुपया) ३२३, २४
सरकारी भत्ता (Dole) १७१, ७६ ८७, २२७
सरकारी रक्षण २८
सरकारी राशन २६१
सरकारी रूप, विनिमय माध्यम का ३३७
सरकारी सिक्का २४३
सरकारी स्वामित्व २०६
सरकारी हस्तक्षेप २०६, ३०
सरकारें, प्रांतीय और केन्द्रीय २४४
सरदार ८३, १४७
सरदारी ८१, ८४
सरलता : शुद्धता ४३
सरलता, मशीनों की ४३
सरसो २४६
सर्व व्यापकता (Universality) कार्यों की १५६, ५७ट
सर्व-सुयोग्यों का जीवनाधिकार (Survival of the Fittest) १८७
सर्वांगीण क्रांति ३०४
सर्वोच्च स्थिति, समाज की १२६
सर्वोदय—गांधीवाद ६ ट, ६२, १८०
सर्वोदय दृष्टि, कार्यों की ६१
सर्वोदय योजना, कुटुम्ब प्रधान १८१
सर्वोदय समाज ६२
सवाल, पेट भरने का २६०
सस्ता, उत्पादन ४६
सस्ती ४८, ४६, १६६ट
सहकारिता २८४
सहधर्मिणी, स्त्रियाँ ८५

सहयोग १४१, ४२, ४६, ४७, ५८ ६७, ७८, ८१, २१४, ३३८
सहयोग : साझेदारी ३०८
सहयोग, समाज का आधार ५३
सहयोग, समाज का बीज १५८
सहयोग, सामाजिक ५२
सहयोग भावना, प्राणियों की ८१३
सहयोग व्यवस्था : वैवाहिक सम्बन्ध ९५
सहयोग शक्ति १४०
सहयोगी कृषि ३६, १८४
सहयोगी बैंक ३४६, ४७
सहयोगी संस्था ३४६, ५३
सहारा, मरुस्थली ६१
सही रास्ता, स्फीति और विस्फीति ३२६
सांख्य, भारतीय दर्शन ११४, १५
साँड़ १३८, २४७
साग २८३
साझेदारी : सहयोग ३०८
सातवलेकर, पं० १५८८
साधक मशीनें ४५, ४६
साधन (माध्यम : Means) १३
साधन : माध्यम (मुद्रा) ३३४, ३६
साधन, उत्पादन के २८, ३६, ३६, २०५, ०६
साधन, उपज के १२४
साधन, अन्न का २७५
साधन, कच्चे माल के ५१
साधन, पैसा ? १२७
साधन, भोजन के २७४
साधन, शोषणात्मक ५४
साधन, श्रम के १५०
साधन बनाम साध्य ३३८
साधन यंत्र ४५
साध्य : आवश्यकता (मुद्रा) ३३४
साध्य : वस्तु (End) १३, ३३६
साध्य, पैसा ? १२७
सामञ्जस्य, श्रम-सञ्जीवन का विकासमान १५३
सामञ्जस्य, स्त्री-पुरुष के कार्यों का ६६
सामन्त १४५
सामन्त शाही १५३
सामाजिक अस्तित्व, भारत का २०६
सामाजिक उत्थान ६८
सामाजिक उत्तरदायित्व, दाम्पत्य जीवन का १०६
सामाजिक अवयव ५०
सामाजिक अस्थिरता १८०
सामाजिक आदान-प्रदान ५०
सामाजिक आधिक्य (Social surplus) ४६, ५१
सामाजिक उत्पत्ति २२६८
सामाजिक उत्पादन ३०८
सामाजिक कार्य १५६
सामाजिक जामा (आवरण) ६४
सामाजिक जीवन ४३, १४०, ८१, ८२
सामाजिक जीवन, आर्थिक पहलू ५५
सामाजिक जीवन, व्यक्ति १०३
सामाजिक धरातल, लोगों का १६२
सामाजिक प्रेरणाएँ ६१
सामाजिक बनावट ६२, ६३, १३३
सामाजिक भेद, स्त्री-पुरुष का ६२
सामाजिक महत्त्व, पूँजीवाद का १२०
सामाजिक माहात्म्य, गृहस्थाश्रम का १०२

सामाजिक रचना ५५
सामाजिक राशन २२७
सामाजिक विकास २६, ८१, ८२, १६७ ९२, २२७
सामाजिक विषमता ३५३
सामाजिक वैषम्य १४५,६४,२०१,०५
सामाजिक व्यवस्था २२७, ३०८
सामाजिक शक्ति ८८
सामाजिक श्रम १५८, ६३, ७२, ७८
सामाजिक शांति १४, ८५
सामाजिक संगठन ६५, १४८, ३३८
सामाजिक संतुलन २१६, २८६
सामाजिक संतुलन, देश का २६०
सामाजिक संरक्षण २३०
सामाजिक संस्कृतियाँ ६५
सामाजिक संस्थाएँ १४७
सामाजिक समता १६४, ७६
सामाजिक समस्याएँ ३०
सामाजिक सम्पत्ति ३४ ८, ५३, १०६
सामाजिक सम्पत्ति, वैयक्तिक, का सामूहिक रूप १०६
सामाजिक सहयोग ५२
सामाजिक साम्य, वैयक्तिक वैषम्य से १६५
सामाजिक सुदृढ़ता २२७, ३२
सामाजिक सुरक्षा २६३
सामाजिक सूत्र ३३८
सामाजिक सेवा ६२
सामाजिक स्थिति, मनुष्य की ६१
सामाजिक स्वतंत्रता २३०
सामाजिक स्वरूप; मनुष्य की ६१
सामाजिक स्वामित्व, सम्पत्ति का २१४, २१४८
सामाजिक हित ४०
सामाजिकता १४२
सामाजिकता, मनुष्य की ५०
सामुद्रिक तट-विस्तार, भारत का ७१
'सामूहिक अर्थ व्यवस्था' ६२
सामूहिक अस्तित्व, राष्ट्र और समाज का १४६, ६३
सामूहिक उत्पत्ति १३१
सामूहिक उत्पादन ३७, ३८, ३६
सामूहिक उपज ५१, १४६
सामूहिक एकत्रीकरण ५१
सामूहिक कर्तृत्व १६३
सामूहिक कल्याण २६३
सामूहिक कृषि १८३, २५८, ६४, ६६८
सामूहिक कृषि : कलेक्टिव् फार्मिंग ३६
सामूहिक धर्म, समाज का १६३
सामूहिक जीवन ३३८
सामूहिक मान, मजदूरी का ४८
सामूहिक विकास १४३, ८०
सामूहिक विभाग, श्रम का १७६
सामूहिक व्यवस्था, गाँव की ३५३
सामूहिक शक्ति ३४
सामूहिक श्रम १६७
सामूहिक संस्कार : संस्कृति १२३
सामूहिक सामञ्जस्य २१६
सामूहिक सञ्चालन २१४
सामूहिक समानता १६६
सामूहिक सहयोग १६७, ६८
सामूहिक सहयोग : सामाजिक श्रम १५८, ६६
सामूहिक स्वामित्व ३८, ३६, ४०, २०३, ०५, ०६, ०७

सामूहिक स्वामित्व : केन्द्रीय शासन २०३
सामूहिक स्वार्थ १४३
सामूहिक हस्तक्षेप ४२
सामूहिक ह्रास, समाज का १६१
सामूहिकता, जड़वादी २४७
साम्पत्तिक आयतन ८५
साम्पत्तिक उत्तराधिकार २२५
साम्पत्तिक उत्पत्ति १६१, ८५
साम्पत्तिक उत्पत्ति, उत्पादक श्रम की शर्त १०६
साम्पत्तिक उत्पत्ति, गृहस्थाश्रम का अन्योन्याश्रय १०७
साम्पत्तिक उत्पत्ति, भारत की ७४
सम्पत्तिक उपभोग, व्यक्ति ? २०३
साम्पत्तिक उलट-फेर २२६, ३१
साम्पत्तिक केन्द्रीकरण ६०
साम्पत्तिक चक्र १६५, २००
साम्पत्तिक जटिलता : माध्यम जटिलता ३४०
साम्पत्तिक पहलू, श्रम का १३६
साम्पत्तिक विकास २०४, २८, ३२
साम्पत्तिक वितरण २१५
साम्पत्तिक विधान २८
साम्पत्तिक विनाश २६
साम्पत्तिक विभाजन २२८, ३२
साम्पत्तिक विस्तार २६, ३०
साम्पत्तिक विषमता, समाज में १८६, २३१
साम्पत्तिक वृद्धि : पादार्थिक वृद्धि १६७
साम्पत्तिक वैषम्य ४३, २२३ ट
साम्पत्तिक संगठन, देशका २१३
साम्पत्तिक संतुलन २२६
साम्पत्तिक सञ्चय २६, ८६, १०८ ६६, २२४
साम्पत्तिक सञ्चालन, व्यक्ति ? २०३
साम्पत्तिक सञ्चालन, समाज का २१८
साम्पत्तिक सुरक्षा ८३ट, २२३ट
साम्पत्तिक सूत्र, स्त्री का ८३ट
साम्पत्तिक स्थायित्व ८३ट
साम्पत्तिक स्थिति ६६ट
साम्पत्तिक स्थिति, परिवार की २२८
साम्पत्तिक स्वामित्व ८३ट, ११४, ६६ २१३, १४, २५, २६, २७, २६
साम्पत्तिक स्वामित्व, परिवार गत २२६
साम्पत्तिक स्वामित्वांतर २१७, ३१
साम्पत्तिक ह्रास : बेकारी और विनाश १६६
साम्पत्तिक क्षय १६६, २०२, ०५, ०६
साम्पत्तिक क्षति १६०
साम्पत्तिक क्षति, राष्ट्र की १६२
साम्प्रदायिक दंगे ५०
साम्प्रदायिकता ३३८
साम्य ३६, ३७
साम्य, मतभेदों में १४३
साम्यवादी बँटवारा २७, २२६
साम्यवादी समानता २२६
साम्राज्यवाद, ब्रिटेन का ६४
सार्वजनिक जीवन १२५
सार्वजनिक निधि, समाज की २२२
सार्वजनिक निधि, सामूहिक सञ्चालन २१४
सार्वजनिक सूत्र २३१
सार्वदेशिक वितरण ५१
साली, वर्ष भर की मजदूरी १२७
सावित्री ८६
साक्षात पीढ़ी, वंश की २१०, १२

सिंगर मशीन ४१
सिंचाई २३८, ४५, ४६, ५८
सिंध सरकार ५७
सिंधु, नदी ६१
सिक्का ३२३, ३६, ३७, ४१, ४२
४२८, ४३, ४३८, ४८, ५३
सिक्का, सरकार पर सार्वजनिक कर्ज ३२४
सिद्धांत ५८
सिद्धांत, खण्डित १४०
सिद्धांत, द्वन्द्वात्मक विकास का १४०
सिद्धांत, नवभारत के ६४
सिनेमा ३७, १५१
सिलाई की मशीनें ३८, १३२
सीता, सती ६२, ८६
सीतारम्मैया, डा० पट्टाभी १२०
'सीता-राम': कृषि और ग्रामोद्योग २९९
"सीलिंग" (अधिकतम) २९५
सीलोन ८०
सीमा, खेती की २४९
सुख १०३
सुख, सम्मिलित ३७
सुख-दुख, स्त्री-पुरुष का १०५
सुख-भोग, फ्रांस का जातीय स्वभाव ६३
सुख-समृद्धि ४०, १०४, ११३, १३४
१८१, १८६, २२२
सुख-समृद्धि, मनुष्य की वास्तविक १७६
सुख-समृद्धि, सामूहिक २७५
सुख-सम्पदा ११,२४,२६,५१,५२,१०७
सुख-स्वातंत्र्य, समाज का ५१
सुख-शांति ८२
सुखद दम्पति १०५
सुदृढ़ता, मूल्यों की ५७
सुनार १०१
सुन्दर वन ६६
सुभद्रा ९३
सुरक्षा, संतति की १४१
सुरक्षित कोष, सिक्कों के लिए
सरकारी• ३२४
सूत ९९८, १०५, ४८, ६८
सूती मिल १९८, २८०
सूत्र, कच्चे माल के असामूहिक ५१
सूरत ६४
सृजन शक्ति, व्यक्ति की १३१
सृष्टि ११६, ४१, ४२, ४३, ४५
सृष्टि का उपादान कारण : प्रकृति ११४
सृष्टि, वर्गों की १५५, ५६
सृष्टि-क्रम ११६, १७
सृष्टि विस्तार, स्त्री-पुरुष ७९
सैद्धांतिक आधार, उत्पादन का ६१
सैद्धांति विवेचन ९०
सैद्धांतिक स्थिति, नवभारत की ७३
सेना ४७, ४८, ४९, ९२, १६४, २४८
सेनाएँ, ग्रामीण क्षेत्र में २४८
सेना नायक १६४
सेन्द्रीय प्राणी १४२
सेवा १७४
सैनिक ८२, ८९, ९०८, १६४, ७४, २४८
सैनिक, अनुत्पादक २४८
सैनिक नीति, सरकार की २४८
सैनिक वर्ग २४८
सोना ६६
सोरोकिन, प्रो० २७
सौतिया डाह ८५
सौदागर, नेल-पालिश के २३४

सौदागरी प्रभुत्व १३
स्टालिन २०४
स्ट्रेची, श्री जान ३०८, १८८
स्त्री ८३८
स्त्री, जुलाहे, किसान, मछुए की १०१,०५
स्त्रियाँ, गरीब २७०, ७१
स्त्रियाँ, मजदूरी में १५०
स्त्रियाँ, सहधर्मिणी-अर्धाङ्गिनी ८५
स्त्री धन २०७, ११
स्त्री-पुरुष, सृष्टि विस्तार में ७६
स्त्री स्वातंत्र्य १०७
स्थान च्युत समाज ५०
स्थानांतरण, उद्योगों का २५०
स्थानीय आवश्यकता ३८
स्थानीय पंचायत ३८, ४५
स्थानीय मशीनें ४१
स्थायित्व : शांति प्रियता : सुदृढ़ गार्हस्थ्य १०३
स्थायित्व, कार्यों का १०३
स्थायित्व, मनुष्य का १०३
स्थायी पूँजी : Constant Capital ३४
स्थायी रचना ५६
स्थायी स्वार्थ, परिवार में २३२
स्थिति, व्यक्ति की पृथक १६६
स्थितिवत असमानता, कार्यों की १६६
स्पर्धा १३०
स्वच्छंद व्यक्तिवाद २०६
'स्वच्छंद संयोग' : Promiscuity ८१, ८२, ८५, ८६, ६०८
स्वच्छन्दता, व्यक्ति की निर्बाध : Laisser Faire ३९ २०, ८१, २०७, ०६, १५
स्वच्छन्दता, वैयक्तिक ५६, १४६, २०६, १०
स्वतंत्र, सम्पूर्णतः ५४
स्वतंत्र कुटुम्ब १०३
'स्वतन्त्र गुलाम' ४०
स्वतन्त्रता ५३
स्वतन्त्रता, मौलिक २८६
स्वतन्त्रता, राजनीतिक ५४८
स्वत्व ५३, ५४
स्वदेशी १३२, ३३, ६७
स्वदेशी समाज, विश्व की स्वावलम्बी इकाई १६७
स्वधर्म और स्वभाव, व्यक्ति का ६५, १७२, ७३
स्वभाव, प्राणी का १२३
'स्वयंवर' ८६
स्वराज ५४८
स्वरूप परिवर्तन ६२
स्वर्ण कोष, नोटों के पीछे ३२७
'स्वर्ण सनद' ३४३८, ४६
स्व-सम्पन्न १६, ४२
स्व-सम्पन्न विस्तार ६७
स्व-सम्पन्नता १२, १६, २६, ४१८, ५६, ६७
स्व-सम्पन्नता, भारतीय ६६
"स्वस्थ जीवन" ४८
स्वयंपूर्ण कृषि २५२
स्वातंत्र्य, उपभोग का ३६
स्वातंत्र्य युद्ध, भारत का ५३
स्वातंत्र्य, व्यक्ति का ४६
स्वाभाविक उत्पादक, किसान ५०
स्वामित्व ३८, ३९, ४०, ४३, ५३, ५४, १८४, २०५, ०६, ०७, ०८, १२, १३, २४, २५, २६

स्वामित्व, पृथ्वी का १८४
स्वामित्व, मशीनों का १२५
स्वामित्व, समूह का २०३
स्वामित्व, सम्पत्ति पर १६६, २१३
स्वामित्व, सम्पूर्ण २०५
स्वामित्व, सरकारी २०६
स्वामित्व, स्वतंत्र-चेतन २४७
स्वामित्वांतर २१४,१५,१७,२५,२६
स्वामी ४०,१४५,८५,८६,२०२, ०७
स्वामी, सम्पत्ति का २२०
स्वामी : जनक २००
स्वार्थ ३७, ४०, २०६, २६, ३३८
स्वार्थ, मनुष्य स्वभाव १८
स्वार्थ, व्यक्ति और समूह का १८४
स्वार्थ, व्यक्ति-परिवार, भिन्न-अभिन्न २१६
स्वार्थ,साम्पत्तिक चक्र में वैयक्तिक २००
स्वार्थ, व्यक्ति-व्यक्ति के १४३, ४५
स्वावलम्बन २६, २८०
स्वावलम्बन, गाँधी विचारधारा में २६७ट
स्वावलम्बन, गाँवों का २६३
स्वालम्बन, जमीन के आधार पर २६२
स्वालम्बन, व्यक्ति की पारिवारिक माध्यम से २२४, २७, ६५
स्वावलम्बन, समाज का २४६
स्वावलम्बी १६, १६३
स्वालम्बी अर्थ नीति ३१०
स्वावलम्बी आधार, सामाजिक ढाँचे ३०६
स्वावलम्बी गाँव ३७१
स्वावलम्बी समाज व्यवस्था ३१०
स्वावलम्बी साम्योग २९८
स्वाश्रय १६
स्वाश्रयी १६
हक़, जमीन पर २६२, ६४, ६५
हक़, बेटी का २३३
हज़ारा नोट ३५८, ५६
हत्या, गौओं की २५४
"हमें क्या खाना चाहिए?," पुस्तक २७७ट
हम्माम ३६७
हरिजन ६१,१५६, ६५
हरिजन, गाँधीजी का साप्ताहिक १७६, ६०ट, २४६, ६८
हरिद्वार १६६
हल बैल २४६
हवाई जहाज़ ३८
हस्तक्षेप, समाज में कृत्रिम शासकीय १६७, २०६, १६
हस्तक्षेप, समूह का अप्राकृतिक २०६
हस्तक्षेप, सरकारी २३०
हस्तिनापुर १२१
हार, जर्मनी की २३७
हावर्ड विश्वविद्यालय २२ट
ह्रास, समाज २६
ह्रास, मनुष्य का सर्वाङ्गीण १५३
ह्रास, शारीरिक और मानसिक १५१
हिंसा ५५, ७२
हिंसा, एकांगी ५४
हिंसा, निराशा का प्रमाण ३१६
हिंसात्मक संघर्ष ६१
हित, सामाजिक ४०
हिन्दुस्तान ६६, २३७, ४१, ५२, ६०
हिन्दुस्तान-पाकिस्तान ६३ट
हिन्दुस्तान : गाँव १२७
हिन्दू ६२, १६२ट
हिन्दू क़ानून २०८

'हिन्दू-कोड', विधेयक ८३८, २०८, ३३
हिन्दू धर्म ८३८, २५४
हिन्दू शास्त्र १३६
हिन्दू समाज ६२, ११८, ७६
हिम[illegible]य ५४८, ६६
हि[illegible] १४०
हि[illegible]न यङ्ग कमीशन, सिफारिशें ३२८, ३४६८
हीगेल, जर्मन दार्शनिक ५३, ११५
हीरा ६६
हुण्डियाँ ३४५, ४६
हेतू, वर्ण परिवर्तन १७४
हेलेन, युनान की पौराणिक नारी ६२, ८६
होमर शान्ट्ज, श्री २७३

नवभारत की रचना से सम्बन्धित कुछ चुनी हुई

पुस्तकों की सूची

अन्नपूर्णा—विनोबा जी और जेफर्स
अहिंसा की शक्ति—रिचर्ड बी. ग्रेग
अर्थशास्त्र की रूप रेखा—दयाशंकर दुबे
आदर्श भारत की रूप रेखा—गांधी जी
आधुनिक अर्थशास्त्र—पी. सी. जैन
उपयोगिता वाद—स्टुअर्टमिल (अनुवाद)
एक धर्म युद्ध—महादेव देसाई
कल-युग—रामकृष्ण शर्मा
कोरा भात खेती—गांधी स्मारक निधि
कौटिल्य अर्थशास्त्र—डा० प्राणनाथ
खुराक की कमी और खेती—गांधी जी
गो सेवा—गांधी जी
गांधीवादी योजना—श्रीमन्नारायण अग्रवाल
गांधीवादी विधान—श्रीमन्नारायण अग्रवाल
ग्रामों के सुधार की एक योजना—कुमारप्पा जी
ग्राम आन्दोलन क्यों?—कुमारप्पा जी
ग्राम स्वावलम्बन की ओर—दादाभाई नाइक
गांधीवाद की रूप-रेखा—रामनाथ सुमन
गांधी मार्ग—आचार्य कृपालानी
गांधी और साम्यवाद—मश्रूवाला जी
गांधी और समाजवाद—काका कालेलकर
गांधी विचार दोहन—मश्रूवाला जी
ग्राम संजीवन—भारतन कुमारप्पा
गांधी और स्टालिन—लुई फिशर
ग्राम सेवा—गांधी जी
घरेलू कताई की आम बातें—कृष्णदास गांधी
घरेलू कताई की आम बातें— ,,
चीन की आवाज़—पं० सुन्दरलाल
चावल—ग्रामोद्योग संघ
चर्खे की तात्विक मीमांसा—कृष्णदास जाजू
चर्खा संघ का इतिहास—चर्खा संघ
चर्खा बनाम मिल—सिद्धराज ढड्ढा
ज़मीन का बँटवारा और भू-दान-यज्ञ—रामानन्द मिश्र
तेल घानी—झवेर भाई पटेल
ताड़ गुड़—गजानन नाइक
तरक्की किसे कहा जाये—कुमारप्पा जी
नयी तालीम—धीरेन्द्र मजूमदार
नियोजन समिति—विनोबा जी, कुमारप्पा जी
इटावा का घर फूँक तमाशा—प्रो० रंग
नागरिक शास्त्र—ओम प्रकाश केला
पौण्ड पावना—कुमारप्पा जी
प्रतिनिधि शासन—स्टुअर्ट मिल (अनुवाद)

बुनियादी शिक्षा—गांधी जी
भारत और भोजन—राम कृष्ण शर्मा
भारतवर्ष का आर्थिक इतिहास—
कृष्णदत्त भट्ट
भारतीय सम्पत्ति शास्त्र—डा० प्राणनाथ
भारत में गाय—डा०सतीशचन्द्र दास गुप्त
भू-दान प्रश्नोत्तरी—विनोबा जी
भारत में दुर्भिक्ष—गणेशदत्त शर्मा
महिलाओं से—गांधी जी
मधुमक्खी पालन—अमृत राव घाटगे
मगन चूल्हा—ग्रामोद्योग संघ
मगन दीप— ,, ,,
मुद्रास्फीति और उसके कारण—कुमारप्पाजी
महात्मा गांधी—आचार्य कृपालानी
मगन चर्खा—नन्दलाल न० पटेल
'मनुस्मृति'—(लाहौर संस्करण-
हिन्दी भाष्य)
और विनिमय—ओमप्रकाश केला
यह स्वराज कैसा ?—धीरेन्द्र मजूमदार
यंत्रों की मर्यादा—गांधी जी
युरोप गांधी वादी दृष्टि से—कुमारप्पा जी
युग की महान चुनौती—धीरेन्द्र मजूमदार
यजुर्वेद—(लाहौर संस्करण, हिन्दी भाष्य)
रचनात्मक कार्यक्रम—गांधी जी
राजस्व और हमारी दरिद्रता—
कुमारप्पा जी
वर्ण व्यवस्था—गांधी जी
विनोबा के विचार—विनोबा जी
विश्व संघ की ओर—भगवानदास केला
व्यक्ति और राज—सम्पूर्णानन्द
वेद और चर्खा—पं० सातवलेकर
शिक्षा में अहिंसक क्रांति—तालीमी संघ
सर्वोदय—गांधी जी
सर्वोदय—रामकृष्ण शर्मा
स्वराज की असली लड़ाई—
धीरेन्द्र मजूमदार
सफाई विज्ञान—धीरेन्द्र मजूमदार
स्त्रियों की समस्याएँ—गांधी जी
सच्ची शिक्षा—गांधी जी
सर्वोदय संस्थान—गांधी जी और विनोबा जी
संत विनोबा और भू-दान-यज्ञ—विनोबा जी
स्त्री पुरुष मर्यादा—मश्रूवाला जी
सोया बीन—एस. के. धर्माधिकारी
सर्वोदय अर्थशास्त्र—भगवानदास केला
स्थायी समाज व्यवस्था—कुमारप्पा जी
सर्वोदय तत्व दर्शन—डा०गोपीनाथ धावन
सर्वोदय योजना—सर्वोदय समिति
स्वावलंबी गाँव (आङ्कड़े)—
दादाभाई नाइक
स्वराज शास्त्र—विनोबा जी
समाजवाद—सम्पूर्णानंद
संघर्ष या सहयोग—प्रिंस क्रोपॉटकिन
(अनुवाद)
सत्यार्थ प्रकाश—स्वामी दयानंद
समग्र ग्राम सेवा की ओर—धीरेन्द्र-
मजूमदार
सोने की माया—मश्रूवाला जी
साँख्य शास्त्र—लाहौर संस्करण
हरिजन—गांधी जी
हिन्द स्वराज—गांधी जी
हमारा देश—भास्कर राव विद्वाँस
हमें क्या खाना चाहिये—झवेर-

हिन्दू कोड बिल—भारत सरकार
ऋग्वेद—(लाहौर संस्करण) हिन्दी भाष्य
A Discipline for Non-Violence—R. B. Gregg.
Adult Education-S. Subarao.
Anti-Duhring—F. Engels.
A Plan for Economic Development.
An Overall Plan for Rural Development—J. C. Kumarappa.
A Mechanistic or Human Society-Wilfred Welock.
A Nation Builder at Work—Pyarelal.
Advanced Economic Theory-J. K. Mehta.
A Questionaries for the Development of Village Industries-A. I. V. I. Assn.
Cent per cent Swadeshi—Gandhiji.
Clive to Keynes—J. C. Kumarappa.
Capital-Karl Marx (Penguin Series 3 Vols.)
Capitalism, Socialism, Villagism—Bhartan Kumarappa
Contemporary Socialogical Theories—P. Sorokin.
Communist Manifesto—Marx and Engels.
China Today-Pt. Sunderlal.
Demand of the Time—Dhirendra Majumdar.
Devaluation—K. C. Lalwani.
Deceptive Oil-Go-Seva Sangh
De-Humunization in Modern Society-Rane-Fulop Miller.
Economics of Khaddar—R. B. Gregg.
Economics of Khadi-Gandhij
Economy of Permanence (2 vols) J. C. Kumarappa.
Economics of Non-Violence J. C. Kumarappa & V. L. Mehta.
Ends and Means—Aldous Huxley.
Food, the deciding Factor—Frank Wokes.
Gandhian Economy—J. C. Kumarappa.
Grinding of Cereals—A. I. V. I. Assn
Gandhi and Gandhism—N. K. Gupta.
Gandhian Plan—S N Agrawal.
Gandhian Technique in the Modern World—Pyarelal
Gandhism and Socialism—Dr. Pattabhi Sitarammaya
History of Materialism—G. Plekhanov.
Higher Education in Relation to Rural India—A. E. Morgan.
Hindu Law—H. S. Gaur.

Health Bulletin 29—Government of India.
India of My Dreams—Gandhiji.
Indian Economics—Jathar and Beri.
Indian Political Economy-Ranade.
Latest Fad—J.B. Kripalani.
Man and the Sate—W. E. Hocking.
Nation's Voice—Gandhiji.
Non Violence in Peace and War (2 vols) Gandhiji.
Nai Talim aud Social Order-Wilfred Wellock
Oil Mills VS. Ghani—A. V. I. Assn.
Our Food Problem—J. C. Kumarappa.
Politics-Aristotle
Politics of Charkha—J. B. Kriplani.
Practical Non-Violence—K. G. Mashruwala
Public Finance and Our Poverty-J.C. Kumarappa.
Present Economic Situation-J. C. Kumarappa.
Peace and Prosperity ,,
Planned Economy- ,,
Power Or Peace—Wilfred Wellock.
Political Philosophy of Mahatma Gandhi—Dr. G. N. Dhawan.
Problems of Rupee—Dr. Ambedkar.
Political Dictionary—Harold Laski.
Revolutionary Charkha—Dhirendra Majumdar.
Reflections on the Gandhian Revolution—Y. G. Krishnamurti.
Rural England-Lord Portsmouth.
Rebuilding Our Villages—Gandhiji.
Republic (4 Vols.)-Plato.
Selections from Gandhi—N. K. Bose.
Studies in Gandhism—N. K. Bose.
Self Restraint VS. Self Indulgence—Gandhiji.
Survey of Matur Taluka—J. C, Kumarappa.
Science and Progress—J. C. Kumarappa.
Socialism Reconsidered—Mino Masani.
Selected Works--I. V. Michurin.
Selected Works (2vols.)—Lenin.
Socialism and Ethics—Howard Selsom.
Selected Works (2vols.)—Marx.
Shape of Things to Come—H. G. Wells.

Satyagraha—R. B. Divakar.
Social and Political Ideas of Måhatma Gandhi—Alexander Horace.
The Economics of Inheritance-Josiah Wedgwood.
The Case for Federal Union-W. B. Curry.
The Problems of India—Dr. K. S. Shelvankar.
The Philosophy of Work—J. C. Kumarappa.
The Third Way—Wilfred Wellock.
The Challenge of Our Time-Wilfred Wellock.
Towards Non Violent Socialism—Gandhiji.
The Educational Philosophy of Mahatma Gandhi—M. S. Patel.
The Principles of Sociology Herbert Spencer.
The Origin of Species—Darwin.
The Descent of Man— ,,
The Principles of Economics-Prof. Taussig.
The Nature of Capitalist Crisis—John Strachy.
To The Women—Gandhiji.
The Principles of Economics—Alfred Marshall.
The Nature and Significance of Economic Science—Lionel Robbins.
Unitary Basis of Democracy-J. C. Kumarappa.
War A Factor of Production-J. C. Kumarappa.
Women and Social Injustice Gandhiji.
Women and Village Industries J. C. Kumarappa.
Which Way Lies Hope—R. B. Gregg.
What Everybody Wants to know About Money—C. D. H. Cole.
Young India—Gandhiji.

REPORT

1. Industrial Survey Comm. Report, C. P. & Berar Govt., '37.
2. Agrarian Comm. Report A. I. C. C.
3. Planning Comm. Report.

पत्र-पत्रिकाएँ

सर्वोदय
Hrijan.
A. B. Patrika.
Literary Digest.
ग्रामोद्योग पत्रिका